सचित्र महाभारत

भाषा-टीका

षष्ठ अङ्क ।

जिसका संशोधन

महामहोपाध्याय श्री माधव शास्त्री भाण्डारी प्रधानाध्यापक ओरियण्टल
कालेज, लाहौर ने अत्यन्त सावधानी के साथ प्रामाणिक और
प्राचीन प्रतियों के आधार पर किया है ।

और

जिसका टीका

काशी निवासी विद्वद्वर श्रीराम शास्त्री तैलंग

ने

बड़े परिश्रम से अत्यन्त सरल हिन्दी-भाषा में की है ।

प्रकाशक :—

लक्ष्मणदास प्यारेलाल जैन,
अध्यक्ष—संस्कृत पुस्तकालय, लाहौर ।

द्वितियावार) मूल्य १२॥)

सिरफ टाइटल पेज मराठरंस प्रेस, अनारकली लाहौर में से छपा

वनपर्व।

विषयानुक्रमणिका।



व्याध उवाच—अनतिक्रमणीया वै ब्राह्मणा मे द्विजोत्तम ।
शृणु सर्वमिदं वृत्तं पूर्वदेहे ममाऽनघ ॥ २१ ॥
अहं हि ब्राह्मणः पूर्वमासं द्विजवरात्मजः ।
वेदाध्यायी सुकुशलो वेदांगानां च पारगः ॥ २२ ॥
आत्मदोषकृतैर्ब्रह्मन्नवस्थामाप्तवानिमाम् ।
कश्चिद्राजा मम सखा धनुर्वेदपरायणः ॥ २३ ॥
संसर्गाद्धनुषि श्रेष्ठस्ततोऽहमभवं द्विज ।
एतस्मिन्नेव काले तु मृगयां निर्गतो नृपः ॥ २४ ॥
सहितो योधमुख्यैश्च मंत्रिभिश्च सुसंवृतः ।
ततोऽभ्यहन्मृगांस्तत्र सुबहूनाश्रमं प्रति ॥ २५ ॥
अथ क्षिप्तः शरो घोरो मयाऽपि द्विजसत्तम ।
ताडितश्च ऋषिस्तेन शरेणाऽऽनतपर्वणा ॥ २६ ॥
भूमौ निपतितो ब्रह्मन्नुवाच प्रतिनादयन् ।
नाऽपराध्याम्यहं किंचित्केन पापमिदं कृतम् ॥ २७ ॥
मन्वानस्तं मृगं चाऽहं संप्राप्तः सहसा प्रभो ।
अपश्यं तमृषिं विद्धं शरेणाऽऽनतपर्वणा ॥ २८ ॥

सनातन धर्म का ज्ञान नहीं हो सकता। मुझे जान पड़ता है कि तुम किसी विशेष कारण से या भवितव्यता-वश शूद्र-योनि में उत्पन्न हुए हो। मैं जानना चाहता हूँ कि किस कर्म के फल से तुम्हें यह शूद्र योनि मिली है ॥१८।२०॥

व्याध ने कहा—हे द्विजवर! ब्राह्मणों की आज्ञा को मैं किसी तरह नहीं टाल सकता। इसलिए मैं अपने पूर्व जन्म का वृत्तान्त कहता हूँ, सुनिए। मैं पूर्व जन्म में ब्राह्मण था। मैं एक श्रेष्ठ ब्राह्मण के घर उत्पन्न हुआ था। वेदों और वेदाङ्गों का मैं पूरा पण्डित था। हे भगवन्! अपने ही दोष से मेरी यह दशा हुई है। पूर्व जन्म में धनुर्वेद के विद्वान् एक राजा मेरे मित्र थे। उनके साथ रहने से मैं भी बाण-विद्या का जानकार हो गया ॥२१।२४॥

एक समय वे राजा अपने प्रधान-प्रधान योद्धा मन्त्री आदि को साथ लेकर शिकार खेलने गये। उनके साथ मैं भी था। वन में एक आश्रम के पास हम लोगों ने अनेक मृगों का शिकार किया। दैव-योग से मेरा चलाया हुआ बाण एक ऋषि को जा लगा। ऋषि उसी समय पृथ्वी पर गिर पड़े। उन्होंने आर्तनाद करते हुए कहा—मैंने किसी का कुछ अपराध नहीं किया था; फिर यह पाप कर्म किसने किया? हे ब्रह्मन्! मैं यह समझकर कि एक मृग मारा है जब पास गया तब देखा कि एक ऋषि पड़े

अकार्यकरणाच्चापि भृशं मे व्यथितं मनः ।
तमुग्रतपसं विप्रं निघ्नन्तं महीतले ॥ २९ ॥
अजानता कृतमिदं मयेत्यहमथाऽब्रुवम् ।
क्षंतुमर्हसि मे सर्वमिति चोक्तो मया मुनिः ॥ ३० ॥
ततः प्रत्यब्रवीद्वाक्यमृषिर्मां क्रोधमूर्च्छितः ।
व्याधस्त्वं भविता क्रूर शूद्रयोनाविति द्विज ॥ ३१ ॥

इतिश्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणिब्राह्मणव्याधसंवादेपंचदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

तड़प रहे है । अपने इस अनुचित कर्म को देखकर मुझे बड़ा दुःख हुआ । दुखी होकर मैंने पृथ्वी पर छटपटाते हुए उन तपस्वी ऋषि से कहा—हे भगवन्! बिना जाने मुझसे यह अपराध हुआ है, इसलिए क्षमा कीजिए। मुनि ने क्रोध से अधीर होकर कहा—रे क्रूर! तू व्याध होकर शूद्र-योनि में जन्म लेगा। ॥२५।३१॥

वनपर्व का दो सौ पन्द्रह अध्याय समाप्त हुआ ॥२१५॥

अथ षोडशाधिकद्विशततमोऽध्याय ॥२१६॥

व्याध उवाच—एवं शप्तोऽहमृषिणा तदा द्विजवरोत्तम ।
अभिप्रसादयमृषिं गिरा त्राहीति मां तदा ॥ १ ॥
अजानता मयाऽकार्यमिदमद्य कृतं मुने ।
क्षंतुमर्हसि तत्सर्वं प्रसीद भगवन्निति ॥ २ ॥
ऋषिरुवाच—नाऽन्यथा भविता शाप एवमेतदसंशयम् ।
आनृशंस्यात्त्वहं किंचित्कर्ताऽनुग्रहमद्य ते ॥ ३ ॥
शूद्रयोन्यां वर्तमानो धर्मज्ञो हि भविष्यसि ।
मातापित्रोश्च शुश्रूषां करिष्यसि न संशयः ॥ ४ ॥
तया शुश्रूषया सिद्धिं महत्त्वं समवाप्स्यसि ।

दो सौ सोलह अध्याय ॥ २१६ ॥

व्याध ने कहा—हे द्विजश्रेष्ठ ! ऋषि के यों शाप देने पर मैंने उनको मनाते हुए हाथ जोड़कर कहा—रक्षा कीजिए । हे ब्रह्मन् ! मैंने बिना जाने यह अनुचित कार्य किया है, इसलिए प्रसन्न होकर मेरा अपराध क्षमा कीजिए । ऋषि ने कहा—मेरा शाप कदापि मिथ्या नहीं हो सकता ; परन्तु मुझे तुम्हारे क्षमा की प्रार्थना करने पर दया आ गई है, इसलिए इतनी कृपा करता हूँ कि तुम शूद्र-योनि में उत्पन्न होकर भी पिता माता की सेवा करोगे और तुमको धर्म का ज्ञान बना रहेगा । पिता माता की

जातिस्मरश्च भविता स्वर्गं चैव गमिष्यसि ॥ ५ ॥
शापक्षये तु निर्वृत्ते भविताऽसि पुनर्द्विजः ।
एवं शप्तः पुरा तेन ऋषिणाऽस्म्युग्रतेजसा ॥ ६ ॥
प्रसादश्च कृतस्तेन ममैव द्विपदां वर ।
शरं चोद्धृतवानस्मि तस्य वै द्विजसत्तम ॥ ७ ॥
आश्रमं च मया नीतो न च प्राणैर्व्ययुज्यत ।
एतत्ते सर्वमाख्यातं यथा मम पुराऽभवत् ॥ ८ ॥
अभितश्चापि गंतव्यं मया स्वर्गं द्विजोत्तम ॥ ९ ॥

ब्राह्मण उवाच—एवमेतानि पुरुषा दुःखानि च सुखानि च ।
आप्नुवंति महाबुद्धे नोत्कंठां कर्तुमर्हसि ॥ १० ॥
दुष्करं हि कृतं कर्म जानता जातिमात्मनः ।
लोकवृत्तांततत्त्वज्ञ नित्यं धर्मपरायण ॥ ११ ॥
कर्मदोषश्च वै विद्वन्नात्मजातिकृतेन वै ।
कंचित्कालमुष्यतां वै ततोऽसि भविता द्विजः ॥ १२ ॥
सांप्रतं च मतो मेऽसि ब्राह्मणो नाऽत्र संशयः ।
ब्राह्मणः पतनीयेषु वर्तमानो विकर्मसु ॥ १३ ॥
दांभिको दुष्कृतः प्राज्ञः शूद्रेण सदृशो भवेत् ।

मेरा के प्रभाव से महासिद्धि पाकर तुम्हें पूर्व जन्म की याद बनी रहेगी और स्वर्गधाम मिलेगा ॥१।५॥

मेरा यह शाप समाप्त होने पर फिर तुम्हें ब्राह्मण की योनि मिल जायगी । हे द्विजश्रेष्ठ! उन उग्र-तेजस्वी ऋषि ने शाप देकर इस प्रकार कृपा कर दी। मैंने ऋषि के शरीर से बाण निकालकर उन्हें उनके आश्रम में पहुँचा दिया । वे मरे नहीं, अच्छे हो गये । हे भगवन्! पहले जिस घटना के कारण मुझे यह नीच योनि प्राप्त हुई है और पीछे शाप से छुटकारा पाने पर मैं जैसे स्वर्ग को जाऊंगा, सो सब मैंने आपको सुना दिया ॥६।९॥

कौशिक ने कहा—हे महाबुद्धिमान् पुरुष ! मनुष्य इसी तरह सुख और दुःख पाया करते हैं। इस कारण इसके लिए तुमको खेद न करना चाहिए। हे लोक-चरित्र के तत्त्व को जाननेवाले, हे धर्मात्मा! तुमने अपनी जाति को जानकर भी शिकार खेला, जो ब्राह्मण के लिए सब तरह अनुचित है । इस कर्म-दोष का फल कुछ दिन तुमको अवश्य भोगना ही पड़ेगा । उसके पश्चात् तुम ब्राह्मणयोनि में जन्म पाओगे । इस योनि में भी तुम ब्राह्मण ही जान पड़ते हो; क्योंकि जो ब्राह्मण ऐसे कर्मों में लगा हुआ है जिनसे वह पतित हो सकता है, जो ब्राह्मण

यस्तु शूद्रो दमे सत्ये धर्मे च सततोत्थितः ॥ १४ ॥
तं ब्राह्मणमहं मन्ये वृत्तेन हि भवेद् द्विजः ।
कर्मदोषेण विषमां गतिमाप्नोति दारुणाम् ॥ १५ ॥
क्षीणदोषमहं मन्ये चाभितस्त्वां नरोत्तम ।
कर्तुमर्हसि नोत्कंठां त्वद्विधा ह्यविषादिनः ।
लोकवृत्तानुवृत्तज्ञा नित्यं धर्मपरायणाः ॥ १६ ॥
व्याध उवाच—प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छारीरमौषधैः ।
एतद्विज्ञानसामर्थ्यं न बालैः समतामियात् ॥ १७ ॥
अनिष्टसंप्रयोगाच्च विप्रयोगात्प्रियस्य च ।
मनुष्या मानसैर्दुःखैर्युज्यंते चाऽल्पबुद्धयः ॥ १८ ॥
गुणैर्भूतानि युज्यंते वियुज्यंते तथैव च ।
सर्वाणि नैतदेकस्य शोकस्थानं हि विद्यते ॥ १९ ॥
अनिष्टं चाऽन्वितं पश्यंस्तथा क्षिप्रं विरज्यते ।
ततश्च प्रतिकुर्वंति यदि पश्यंत्युपक्रमात् ॥ २० ॥
शोचतो न भवेत्किंचित्केवलं परितप्यते ।
परित्यजंति ये दुःखं सुखं वाऽप्युभयं नराः ॥ २१ ॥

पाखण्डी, घमण्डी और दुराचारी है, वह शूद्र के तुल्य है; और जो शूद्र इन्द्रियदमन, सत्य और धर्म पर प्रीति रखता है उसे मैं ब्राह्मण ही समझता हूँ। मनुष्य अच्छे चरित्र से ही ब्राह्मण हो सकता है। तुम कर्म दोष से नीच गति को प्राप्त हुए हो। इस समय मुझको तुम्हारा वह कर्म-दोष सब तरह क्षीण हो गया जान पड़ता है। इसलिए अब तुमको खेद नहीं करना चाहिए। तुम्हारे ऐसे लोक वृत्तान्त के जाननेवाले धर्मात्मा लोग कभी खेद नहीं करते ॥१०।१६॥

व्याध ने कहा—हे ब्रह्मन्! मन के दुःख को बुद्धि से और शरीर के दुःख को औषध आदि से मिटाना चाहिए। ज्ञान की यही शक्ति है। ज्ञानी को बालकों के समान खेद या विलाप न करना चाहिए। थोड़ी समझ के मूर्ख ही किसी अनिष्ट का संयोग या किसी प्रिय वस्तु का वियोग होने पर मानसिक दुःख से व्याकुल होते हैं। संसार में आकर सुख और दुःख सभी को भोगने पड़ते हैं; कुछ एक को ही शोक और दुःख नहीं होता। लोग अनिष्ट घटना को देखते ही तुरन्त ऊब जाते हैं, और यदि उसका आरम्भ ही देखते हैं तो उसका प्रतिकार करने लग जाते हैं। किन्तु उसके लिए केवल शोक करने से कुछ नहीं होता; सन्ताप ही हाथ लगता है। इसलिए ज्ञान से सन्तुष्ट बुद्धि-

त एव सुखमेधंते ज्ञानतृप्ता मनीषिणः ।
असंतोषपरा मूढाः संतोषं यांति पंडिताः ॥ २२ ॥
असंतोषस्य नास्त्यंतस्तुष्टिस्तु परमं सुखम् ।
न शोचंति गताध्वानः पश्यंतः परमां गतिम् ॥ २३ ॥
न विषादे मनः कार्यं विषादो विषमुत्तमम् ।
मारयत्यकृतप्रज्ञं बालं क्रुद्ध इवोरगः ॥ २४ ॥
यं विषादोऽभिभवति विक्रमे समुपस्थिते ।
तेजसा तस्य हीनस्य पुरुषार्थो न विद्यते ॥ २५ ॥
अवश्यं क्रियमाणस्य कर्मणो दृश्यते फलम् ।
नहि निर्वेदमागम्य किंचित्प्राप्नोति शोभनम् ॥ २६ ॥
अथाऽप्युपायं पश्येत दुःखस्य परिमोक्षणे ।
अशोचन्नारभेतैवं मुक्तश्चाऽव्यसनी भवेत् ॥ २७ ॥
भूतेष्वभावं संचिंत्य ये तु बुद्धेः परं गताः ।
न शोचंति कृतप्रज्ञाः पश्यंतः परमां गतिम् ॥ २८ ॥
न शोचामि च वै विद्वन्कालाकांक्षी स्थितो ह्यहम्।
एतैर्निदर्शनैर्ब्रह्मन्नवसीदामि सत्तम ॥ २९ ॥

मान् मनुष्य सुख या दुःख, दोनों को छोड़कर सुखी होने का यत्न करते हैं ॥१७।२२॥

मूढ़ लोग असन्तोषी होते हैं, और ज्ञानी लोग सदा सन्तुष्ट रहते हैं। असन्तोष का अन्त नहीं है, वह बढ़ता ही जाता है। इसलिए, सन्तोष ही परम सुख है। जिन्होंने ज्ञान-मार्ग को पा लिया है वे शोक नहीं करते; क्योंकि वे परम गति पर लक्ष्य रखते हैं। खेद करना उचित नहीं है। खेद भयङ्कर विष है। वह क्रुद्ध सर्प की तरह मूर्ख के प्राण हर लेता है। सङ्कट आने पर जो कोई खेद करता है उस, तेज से हीन, पुरुष में पुरुषार्थ नहीं समझना चाहिए ॥२३।२५॥

कार्य करने से उसका फल मिलता ही है। उद्योग से उदासीन रहने पर भला नहीं हो सकता। इसलिए दुःख आ पड़ने पर, विषाद में न पड़कर, उस दुःख से छुटकारे का उपाय करना चाहिए। शोक से बचकर कार्य का आरम्भ करना चाहिए। जो कोई इस तरह तत्परता के साथ उद्योग करता है वह अवश्य अपने दुःख या विपत्ति को दूर कर सकता है। तत्त्वज्ञान के पारदर्शी लोग प्राणियों के विनाशशील होने का विचार करके कभी शोक नहीं करते। वे सदा परम गति पर लक्ष्य रखते हैं। हे ब्रह्मन्! मैं भी शोक नहीं करता। समय की बाट जोहता हुआ इसी शरीर में रम रहा हूँ। ऊपर कहे गये

ब्राह्मण उवाच—कृतप्रज्ञोऽसि मेधावी बुद्धिर्हि विपुला तव ।
नाऽहं भवंतं शोचामि ज्ञानतृप्तोऽसि धर्मवित्॥ ३० ॥
अपृच्छे त्वां स्वस्ति तेऽस्तु धर्मस्त्वां परिरक्षतु ।
अप्रमादस्तु कर्तव्यो धर्मे धर्मभृतां वर ॥ ३१ ॥
मार्कण्डेय उवाच—बाढमित्येव तं व्याधः कृतांजलिरुवाच ह ।
प्रदक्षिणमथो कृत्वा प्रस्थितो द्विजसत्तमः ॥ ३२ ॥
स तु गत्वा द्विजः सर्वां शुश्रूषां कृतवांस्तदा ।
मातापितृभ्यां वृद्धाभ्यां यथान्यायं सुसंशितः ॥ ३३ ॥
एतत्ते सर्वमाख्यातं निखिलेन युधिष्ठिर ।
पृष्टवानसि यं तात धर्मं धर्मभृतां वर ॥ ३४ ॥
पतिव्रताया माहात्म्यं ब्राह्मणस्य च सत्तम ।
मातापित्रोश्च शुश्रूषा धर्मव्याधेन कीर्तिता ॥ ३५ ॥
युधिष्ठिर उवाच—अत्यद्भुतमिदं ब्रह्मन्धर्माख्यानमनुत्तमम् ।
सर्वधर्मविदां श्रेष्ठ कथितं मुनिसत्तम ॥ ३६ ॥
सुखश्राव्यतया विद्वन्मुहूर्त इव मे गतः ।
न हि तृप्तोऽस्मि भगवञ्शृण्वानो धर्ममुत्तमम्॥ ३७ ॥

इति श्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वणिमार्कंडेयसमास्यापर्वणिब्राह्मणव्याधसंवादे षोडशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

लक्षणों को देखकर मैं कभी खेद नहीं करता ।२६।२९।

कौशिक ने कहा—हे धर्मज्ञ ! तुम ज्ञानी हो। तुम्हारी बुद्धि अथाह है। तुम सदा पाप से दूर रहते हो। इसलिए मैं तुम्हारी इस हीन योनि के लिए शोक नहीं करता। हे नरश्रेष्ठ! अब मैं जाना चाहता हूँ। तुम्हारा भला हो और धर्म सदा तुम्हारी रक्षा करे। धर्म के पालन में सदा सावधान रहना ॥३०।३१॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर! तब व्याध ने हाथ जोड़कर कौशिक को विदा किया। व्याध की प्रदक्षिणा करके कौशिक अपने घर को चल दिये। घर जाकर वे सब तरह से माता-पिता की सेवा करने लगे। हे युधिष्ठिर ! तुमने धर्म के विषय में मुझसे जो पूछा था वह, और पतिव्रता का माहात्म्य, ब्राह्मणों की महिमा, धर्मव्याध का कहा हुआ माता-पिता की सेवा का माहात्म्य, यह सब मैंने विस्तार के साथ तुमको सुना दिया ॥३२।३५॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे ब्रह्मन् ! आपने यह अद्भुत श्रेष्ठ धर्म-कथा हमको सुनाई। यह कथा सुनने में हमको ऐसा सुख मिला कि इतना अधिक समय पल भर की तरह व्यतीत हो गया। हे धर्मज्ञ पुरुषों में श्रेष्ठ ! इतना सुनकर भी धर्म-कथा से मेरा जी अभी नहीं भरा ॥३६।३७॥

वनपर्व का दो सौ सोलह अध्याय समाप्त हुआ ॥२१६॥

अथ सप्तदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२१७॥

वैशम्पायन उवाच—श्रुत्वेमां धर्मसंयुक्तां धर्मराजः कथां शुभाम् ।
पुनः पप्रच्छ तमृषिं मार्कंडेयमिदं तदा ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच—कथमग्निर्वनं यातः कथं चाप्यंगिराः पुरा ।
नष्टेऽग्नौ हव्यमवहदग्निर्भूत्वा महाद्युतिः ॥ २ ॥

अग्निर्यदा त्वेक एव बहुत्वं चाऽस्य कर्मसु ।
दृश्यते भगवन्सर्वमेतदिच्छामि वेदितुम् ॥ ३ ॥

कुमारश्च यथोत्पन्नो यथा चाऽग्नेः सुतोऽभवत् ।
यथा रुद्राच्च संभूतो गंगायां कृत्तिकासु च ॥ ४ ॥

एतदिच्छाम्यहं त्वत्तः श्रोतुं भार्गवसत्तम ।
कौतूहलसमाविष्टो याथातथ्यं महामुने ॥ ५ ॥

मार्कण्डेय उवाच—अत्राऽप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
यथा क्रुद्धो हुतवहस्तपस्तप्तुं वनं गतः ॥ ६ ॥

यथा च भगवानग्निः स्वयमेवांऽगिराऽभवत् ।
संतापयंश्च प्रभया नाशयंस्तिमिराणि च ॥ ७ ॥

पुरांऽगिरा महाबाहो चचार तप उत्तमम् ।
आश्रमस्थो महाभागो हव्यवाहं विशेषयन् ॥

दो सौ सत्तरह अध्याय ॥२१७॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजेन्द्र ! यह धर्मचर्चा से परिपूर्ण पवित्र कथा सुनकर युधिष्ठिर ने मार्कण्डेय मुनि से पूछा—हे भगवन् ! अग्नि ने वन के भीतर क्यों प्रवेश किया ? अग्नि के अन्तर्द्धान होने पर महातेजस्वी अङ्गिरा ऋषि ने कैसे उनका रूप रख-कर देवताओं को हव्य पहुँचाया ? वास्तव में अग्नि के एक होने पर भी, यज्ञ आदि कार्यों के समय, उसके कई रूप होने का कारण क्या है ? कृपा करके यह भी कहिए कि भगवान् कार्तिकेय का जन्म कैसे हुआ । वे अग्नि के पुत्र कैसे हुए ? महादेव के वीर्य से उनका जन्म कैसे हुआ ? गङ्गा और कृत्तिकाएँ उनकी माता क्योंकर हुईं ? यह सब वृत्तान्त सुनने के लिए मुझे बड़ा कौतूहल हो रहा है ॥१-५॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—हे महाबाहो ! अग्नि कुपित होकर तप करने के लिए जैसे जल के भीतर चले गये, भगवान् अङ्गिरा ने स्वयं अग्नि होकर जैसे अपनी प्रभा से सब लोकों को प्रकाशित और अन्धकार को दूर किया, उसके सम्बन्ध में पुरातन इतिहास कहता हूँ; सुनो ॥६-७॥

पूर्व समय में महाभाग अङ्गिरा मुनि ने अपने

तथा स भूत्वा तु तदा जगत्सर्वं व्यकाशयत् ॥ ८ ॥
तपश्चरंस्तु हुतभुक् संतप्तस्तस्य तेजसा ।
भृशं ग्लानश्च तेजस्वी न च किंचित्प्रजज्ञिवान् ॥ ९ ॥
अथ संचिंतयामास भगवान्हव्यवाहनः ।
अन्योऽग्निरिह लोकानां ब्रह्मणा संप्रकल्पितः ॥ १० ॥
अग्नित्वं विप्रणष्टं हि तप्यमानस्य मे तपः ।
कथमग्निः पुनरहं भवेयमिति चिंत्य सः ॥ ११ ॥
अपश्यदग्निवल्लोकांस्तापयंतं महामुनिम् ।
सोपासर्पच्छनैर्भीतस्तमुवाच तदाऽगिराः ॥ १२ ॥
शीघ्रमेव भवस्वाऽग्निस्त्वं पुनर्लोकभावनः ।
विज्ञातश्चाऽसि लोकेषु त्रिषु संस्थानचारिषु ॥ १३ ॥
त्वमग्निः प्रथमं सृष्टो ब्रह्मणा तिमिरापहः ।
स्वस्थानं प्रतिपद्यस्व शीघ्रमेव तमोनुद ॥ १४ ॥
अग्निरुवाच—नष्टकीर्तिरहं लोके भवाञ्जातो हुताशनः ।
भवंतमेव ज्ञास्यंति पावकं न तु मां जनाः ॥ १५ ॥
निक्षिपाम्यहमग्नित्वं त्वमग्निः प्रथमो भव ।

आश्रम में ऐसा तप किया कि उनका तेज अग्नि के तेज से भी बढ़ गया। वे अपने उग्र तेज से सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करने लगे। उसी समय अग्निदेव भी जल में तप कर रहे थे। अङ्गिरा के तेज को देखकर सन्ताप से वे मलिन हो गये। तेजस्वी अग्नि व्याकुल होकर उसका कारण कुछ नहीं समझ सके। वे सोचने लगे कि मैं तप कर रहा हूँ, इससे मेरा अग्निभाव नष्ट हो गया है; और इसी से शायद ब्रह्मा ने दूसरे अग्नि को उत्पन्न किया है। "मैं फिर कैसे अग्नि होऊँ?" यों सोचकर अग्निदेव अङ्गिरा के पास गये ॥८।११॥

उन्होंने देखा, अङ्गिरा ऋषि अग्नि के समान अपने तेज से लोकों को ताप पहुँचा रहे हैं। अग्निदेव डरते हुए धीरे-धीरे अङ्गिरा के पास गये। अग्नि को देखकर अङ्गिरा ने कहा—हे अन्धकार को मिटानेवाले! पितामह ब्रह्मा ने पहले आपको ही अन्धकार-नाशक प्रथम अग्नि के रूप से उत्पन्न किया है। आप इस त्रिलोकी में प्रसिद्ध हैं। इसलिए आप शीघ्र ही फिर लोकभावन अग्नि होकर अपना पद ले लीजिए ॥१२।१४॥

अग्नि ने कहा—हे तपोधन! इस समय आप अग्नि का कार्य कर रहे हैं, देवताओं को हव्य पहुँचाते हैं, इससे मेरी कीर्त्ति जगत् से उठ गई है। लोग अब आपको ही अग्नि जानेंगे, मुझे नहीं। इसलिए अब

भविष्यामि द्वितीयोऽहं प्राजापत्यक एव च ॥ १६ ॥

अंगिरा उवाच—कुरु पुण्यं प्रजास्वर्ग्यं भवाऽग्निस्तिमिरापहः ।
मां च देव कुरुष्वाऽग्ने प्रथमं पुत्रमंजसा ॥ १७ ॥

मार्कंडेय उवाच—तच्छ्रुत्वांऽगिरसो वाक्यं जातवेदास्तदाऽकरोत् ।
राजन्बृहस्पतिर्नाम तस्याऽप्यंगिरसः सुतः ॥ १८ ॥
ज्ञात्वा प्रथमजं तं तु वह्नेरांगिरसं सुतम् ।
उपेत्य देवाः पप्रच्छुः कारणं तत्र भारत ॥ १९ ॥
स तु पृष्टस्तदा देवैस्ततः कारणमब्रवीत् ।
प्रत्यगृह्णंस्तु देवाश्च तद्वचोंऽगिरसस्तदा ॥ २० ॥
तत्र नानाविधानग्नीन्प्रवक्ष्यामि महाप्रभान् ।
कर्मभिर्बहुभिः ख्यातान्नानार्थान्ब्राह्मणेष्विह ॥ २१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि मार्कंडेयसमास्यापर्वणि आंगिरसे सप्तदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २१७॥

मैं अग्नि-पद को छोड़ता हूँ। आप ही प्रथम-अग्नि का पद लिये रहिए। मैं द्वितीय 'प्राजापत्य' अग्नि होकर रहूँगा। अङ्गिरा ने कहा—हे देव! आप ही अन्धकारनाशक और देवताओं को हव्य पहुँचानेवाले अग्नि का पद स्वीकार करें। आप ही प्रजा के स्वर्ग जाने के साधन और उनके पुण्य कर्मों के सहायक बनें और मुझे भी अपने अंश से उत्पन्न एक तेजस्वी पुत्र दें ॥१५-१७॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर! अङ्गिरा के वचन सुनकर, उनकी प्रार्थना मानकर, अग्नि ने अपना पद ग्रहण कर लिया। अङ्गिरा को अग्नि ने एक पुत्र भी दिया। वह पुत्र देवगुरु बृहस्पति हैं। देवताओं ने जब सुना कि अङ्गिरा के पहला पुत्र, अग्नि के अंश से उत्पन्न हुआ है तब उन्होंने आकर अङ्गिरा से इसका कारण पूछा। अङ्गिरा ने उनको सब वृत्तान्त कह सुनाया और कहा कि यह मेरा पुत्र तुम लोगों का गुरु होगा। देवताओं ने अङ्गिरा की यह बात मान ली। हे राजा युधिष्ठिर! अग्नि अनेक प्रकार के हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में जुदे-जुदे कर्मों के बल महातेजस्वी अग्नियों की अलग-अलग कल्पना है। उनमें अलग-अलग प्रयोजन सिद्ध होते हैं। मैं उन सबका वर्णन करता हूँ; सुनो ॥१८-२१॥

—o—

वनपर्व का दो सौ सत्रह अध्याय समाप्त हुआ॥ २१७॥

अथ अष्टादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२१८॥

मार्कंडेय उवाच—ब्रह्मणो यस्तृतीयस्तु पुत्रः कुरुकुलोद्वह ।
तस्याऽभवत्सुभा भार्या प्रजास्तस्यां च मे शृणु ॥ १ ॥

बृहत्कीर्तिर्बृहज्ज्योतिर्बृहद्ब्रह्मा बृहन्मनाः ।
बृहन्मंत्रो बृहद्भासस्तथा राजन्बृहस्पतिः ॥ २ ॥
प्रजासु तासु सर्वासु रूपेणाऽप्रतिमाऽभवत् ।
देवी भानुमती नाम प्रथमांऽगिरसः सुता ॥ ३ ॥
भूतानामेव सर्वेषां यस्यां रागस्तदाऽभवत् ।
रागाद्रागेति यामाहुर्द्वितीयांऽगिरसःसुता ॥ ४ ॥
यां कपर्दिसुतामाहुर्दृश्यादृश्येति देहिनः ।
तनुत्वात्सा सिनीवाली तृतीयांऽगिरसः सुता ॥ ५ ॥
पश्यत्यर्चिष्मती भाभिर्हविर्भिश्च हविष्मती ।
षष्ठींमंगिरसः कन्यां पुण्यामाहुर्महिष्मतीम् ॥ ६ ॥
महामखेष्वांगिरसी दीप्तिमत्सु महामते ।
महामतीति विख्याता सप्तमी कथ्यते सुता ॥ ७ ॥
यां तु दृष्ट्वा भगवतीं जनः कुहुकुहायते ।
एकानंशेति तामाहुः कुहूमंगिरसः सुताम् ॥ ८ ॥

इति श्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणिआंगिरसोपाख्यानेऽष्टादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

दो सौ अठारह अध्याय ॥२१८॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—हे कुरुकुलश्रेष्ठ ! ब्रह्मा के तीसरे पुत्र अङ्गिरा थे । उनकी स्त्री का नाम शुभा था । उसके गर्भ से अङ्गिरा के जो लड़की-लड़के हुए उनका ब्योरा सुनो । अङ्गिरा के बृहत्कीर्ति बृहज्ज्योति, बृहद्ब्रह्मा, बृहन्मना, बृह-मन्त्र, बृहद्भास और बृहस्पति, ये सात पुत्र हुए । अङ्गिरा की पहली कन्या का नाम भानुमति है । वह उनकी सब सन्तानों से बढ़कर रूपवती है । दूसरी कन्या का नाम रागा है । उस पर सबका अनुराग अधिक होने के कारण उसका यह नाम पड़ा । तीसरी कन्या का नाम सिनी-वाली है । इसे सब लोग रुद्रसुता कहते हैं । कृश होने के कारण यह देख भी पड़ती है और नहीं भी देख पड़ती ॥१-५॥

चौथी कन्या का नाम अर्चिष्मती है । इसकी कान्ति से सब जगत् उद्भासित होता है । इसका एक रूप भी है और अनेक रूप भी है । पांचवीं कन्या का नाम हविष्मती है । इसके द्वारा देवताओं को हवि प्राप्त होता है । छठी कन्या का नाम माहिष्मती है । सातवीं कन्या का नाम कुहू है । दीप्तियुक्त महायज्ञों में यह महामती नाम से प्रसिद्ध है । लोग इसे देखकर अत्यन्त विस्मित होते हैं ॥६-८॥

—o—

वनपर्व का दो सौ अठारह अध्याय समाप्त हुआ ॥२१८॥

अथ एकोनविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२१९॥

मार्कंडेय उवाच—बृहस्पतेश्चांद्रमसी भार्याऽऽसीद्या यशस्विनी ।
अग्नीन्साऽजनयत्पुण्यान्षडेकां चापि पुत्रिकाम् ॥ १ ॥
आहुतिष्वेव यस्याऽग्नेर्हविषाऽऽज्यं विधीयते ।
सोऽग्निर्बृहस्पतेः पुत्रः शंयुर्नाम महाव्रतः ॥ २ ॥
चातुर्मास्येषु यस्येष्ट्यामश्वमेधेऽग्रजः पशुः ।
दीप्तो ज्वालैरनेकाभैरग्निरेकोऽथ वीर्यवान् ॥ ३ ॥
शंयोरप्रतिमा भार्या सत्यासत्याऽथ धर्मजा ।
अग्निस्तस्य सुतो दीप्तस्तिस्रः कन्याश्च सुव्रताः ॥ ४ ॥
प्रथमेनाऽऽज्यभागेन पूज्यते योऽग्निरध्वरे ।
अग्निस्तस्य भरद्वाजः प्रथमः पुत्र उच्यते ॥ ५ ॥
पौर्णमासेषु सर्वेषु हविषाऽऽज्यं स्रुवोद्यतम् ।
भरतो नामतः सोऽग्निर्द्वितीयः शंयुतः सुतः ॥ ६ ॥
तिस्रः कन्या भवंत्यन्या यासां स भरतः पतिः ।
भरतस्तु सुतस्तस्य भरत्येका च पुत्रिका ॥ ७ ॥
भरतो भरतस्याऽग्नेः पावकस्तु प्रजापतेः ।
महानत्यर्थमहितस्तथा भरतसत्तम ॥ ८ ॥

दो सौ उन्नीस अध्याय ॥२१९॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे महाराज ! बृहस्पति की यशस्विनी भार्या का नाम चान्द्रमसी है । उसके गर्भ से बृहस्पति के छः अग्नि और एक कन्या, सात बालक हुए । आहुति देते समय जिस अग्नि में केवल घी छोड़ा जाता है और चातुर्मास्य, अश्वमेध, अग्निष्टोम यज्ञों में जिस बलि का अग्रभाग मिलता है, उस उग्र तेज से पूर्ण और अनेक रङ्ग की लपटों से प्रदीप्त अग्नि का नाम 'शंयु' है । ये बृहस्पति के प्रथम पुत्र हैं । शंयु की स्त्री का नाम सत्या है । परम रूपवती सत्या धर्म की बेटी है । शंयु के एक तेजस्वी पुत्र और तीन कन्याएँ हुईं । पुत्र का नाम 'भारद्वाज' हुआ । ये सबके अग्रज हैं, और यज्ञ में प्रथम आज्यभाग इन्हें मिलता है ॥१-५॥

शंयु के, दूसरी स्त्री से, 'भरत' नाम के द्वितीय पुत्र का जन्म हुआ । इस स्त्री से तीन कन्याएँ भी हुईं । भरत इन तीनों बहनों से बड़े थे । इनको पौर्णमास्य यज्ञ में घी की आहुति मिलती है । भरत के 'भारत' नाम का एक पुत्र और 'भारती' नाम की एक कन्या हुई । भारत के 'पावक' नाम का पुत्र हुआ । पावक अग्नि अत्यन्त पूजनीय हैं, इसलिए इन

भरद्वाजस्य भार्या तु वीरा वीरस्य पिंडदा ।
प्राहुराज्येन तस्येज्यां सोमस्येव द्विजाः शनैः॥ ९ ॥
हविषा यो द्वितीयेन सोमेन सह युज्यते ।
रथप्रभूरयाध्वानकुंभरेताः स उच्यते ॥ १० ॥
शरय्वां जनयत्सिद्धिं भानुं भाभिः समावृणोत् ।
आग्नेयमानयन्नित्यमाह्वाने ह्येष सूयते ॥ ११ ॥
यस्तु न च्यवते नित्यं यशसा वर्चसा श्रिया ।
अग्निर्निश्च्यवनो नाम पृथिवीं स्तौति केवलम् ॥ १२ ॥
विपाप्मा कलुषैर्मुक्तो विशुद्धश्चाऽर्चिषा ज्वलन् ।
विपापोऽग्निः सुतस्तस्य सत्यः समयधर्मकृत् ॥ १३ ॥
आक्रोशतां हि भूतानां यः करोति हि निष्कृतिम् ।
अग्निः स निष्कृतिर्नाम शोभयत्यभिसेवितै ॥ १४ ॥
अनुकूजंति येनेह वेदनार्ताः स्वयं जनाः ।
तस्य पुत्रः स्वनो नाम पावकः स रुजस्करः ॥ १५ ॥
यस्तु विश्वस्य जगतो बुद्धिमाक्रम्य तिष्ठति ।
तं प्राहुरध्यात्मविदो विश्वजिन्नाम पावकम् ॥ १६ ॥

का दूसरा नाम 'महान्' भी है। राजन्! शंयु के पहले पुत्र भरद्वाज की स्त्री का नाम वीरा था। वीरा के पुत्र का नाम 'वीर' हुआ। ब्राह्मण लोग, सोम की तरह, आज्य से इन वीर की भी पूजा करते हैं। इन्हें सोम के साथ द्वितीय आज्यभाग मिलता है। इन्हें रथप्रभु, रथध्वान और कुम्भरेता भी कहते हैं ॥९।१०॥

इन वीर की स्त्री का नाम शरयू है। शरयू में इनके 'सिद्धि' नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। सिद्धि ने अपनी प्रभा से सूर्य को फीका कर रक्खा है। सूर्य के छिप जाने पर सिद्धि ने अग्निदैवत यज्ञ किया। आह्वान-मन्त्र में यही कहा जाता है। [सुवर्ण की कान्ति को मिथ्या (झूठा=फीका) कर दिया है, इसी से इनका दूसरा नाम 'मिथ्या' है। इनकी आराधना करने से सुवर्ण-लाभ होता है।] बृहस्पति के दूसरे पुत्र का नाम 'निश्च्यवन' है। वे यश, ब्रह्मतेज और श्री से कभी च्युत नहीं होते, इसी से उनका यह नाम पड़ा वे केवल पृथ्वी की स्तुति करते हैं। उनके पुत्र का नाम 'सत्य' है। वे समय-धर्म के प्रवर्तक, निष्पाप, विशुद्ध और प्रभापुञ्ज से सदा उद्भासित हैं। उनकी अच्छी तरह सेवा करने से मनुष्यों की शोभा बढ़ती है। संसार की यन्त्रणा से पीड़ित लोगों को निष्कृति (छुटकारा) देनेवाले होने के कारण वही 'निष्कृति' नाम से भी प्रसिद्ध हैं। 'सत्य' के पुत्र का नाम

अंतराग्निः स्मृतो यस्तु भुक्तं पचति देहिनाम् ।
स यज्ञे विश्वभुङ्नाम सर्वलोकेषु भारत ॥ १७ ॥
ब्रह्मचारी यतात्मा च सततं विपुलव्रतः ।
ब्राह्मणाः पूजयंत्येनं पाकयज्ञेषु पावकम् ॥ १८ ॥
पवित्रा गोमती नाम नदी यस्याऽभवत्प्रिया ।
तस्मिन्कर्माणि सर्वाणि क्रियंते धर्मकर्तृभिः ॥ १९ ॥
वडवाग्निः पिबत्यं भो योऽसौ परमदारुणः ।
ऊर्ध्वभागूर्ध्वभाङ्नाम कविः प्राणाश्रितस्तु यः ॥ २० ॥
उदग्द्वारं हविर्यस्य गृहे नित्यं प्रदीयते ।
ततः स्विष्टं भवेदाज्यं स्विष्टकृत्परमः स्मृतः ॥ २१ ॥
यः प्रशांतेषु भूतेषु मन्युर्भवति पावकः ।
क्रुद्धस्य तु रसो जज्ञे मन्ये तां चाऽथ पुत्रिकाम् ॥ २२ ॥
स्वाहेति दारुणा क्रूरा सर्वभूतेषु तिष्ठति ।
त्रिदिवे यस्य सदृशो नास्ति रूपेण कश्चन ।
अतुलत्वात्कृतो देवैर्नाम्ना कामस्तु पावकः ॥ २३ ॥
संहर्षाद्धारयन्क्रोधं धन्वी स्रग्वी रथे स्थितः ।
समरे नाशयेच्छत्रूनमोघो नाम पावकः ॥ २४ ॥

'स्वन' है । इनके द्वारा पीड़ित होकर लोग चिल्लाते हैं, इसी से इनका नाम स्वन है । वे पीड़ा पहुँचाने वाले अग्नि हैं ॥११।१५॥

बृहस्पति के तीसरे पुत्र का नाम 'विश्वजित्' है । वे सारे विश्व की बुद्धि को अपने वश में किये हुए हैं, इसी से पण्डितों ने उनका नाम विश्वजित् रक्खा है । सब लोकों में प्रसिद्ध 'विश्वभुक्' नाम के अग्नि बृहस्पति के चौथे पुत्र हैं । वे प्राणियों के शरीर में रहकर खाये हुए पदार्थों को पचाते हैं । वे सदा ब्रह्मचारी, संयत और विपुल प्रभा-युक्त हैं । ब्राह्मण लोग पाकयज्ञ में इनकी पूजा करते हैं । गोमती नदी इनकी प्रिया है । धर्मकर्म करनेवाले लोग इसी नदी के तट पर सब क्रियाएँ करते हैं । जो परम दारुण वाड़वाग्नि रूप से जल सोखते हैं, प्राणवायु के आश्रित हैं और ऊर्ध्वगति के कारण 'ऊर्ध्वभाक्' नाम से प्रसिद्ध हैं, वे 'कवि' नाम के अग्नि बृहस्पति के पांचवें पुत्र हैं ॥१६।२०॥

जिस अग्नि में उत्तर से शुद्ध हवि डाला जाता है उसे स्विष्टकृत् कहते हैं । वे 'स्विष्टकृत्' अग्नि बृहस्पति के छठे पुत्र हैं । वे हवनीय पदार्थों को

उक्थो नाम महाभाग त्रिभिरुक्थैरभिष्टुतः ।
महावाचं त्वजनयत्समश्वासं हि यं विदुः ॥ २५ ॥

इतिश्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वणिमार्कंडेयसमास्यापर्वणिआंगिरसोपाख्यानेएकोनविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्याय

अच्छी तरह आहुत करते हैं, इस कारण भी उनका नाम स्विष्टकृत् है । इनके सिवा और भी अग्नि हैं। सब प्राणियों के शान्त रहने पर जो अग्नि प्रकट होता है उसका नाम 'मन्यु' है । उनके क्रूर स्वभाव-वाली, दारुण क्रोधमयी स्वाहा नाम की कन्या है । उसका दूसरा नाम मन्यन्ती भी है। वह सब प्राणियों में रहती है । एक अग्नि का नाम 'काम' है । स्वर्ग में भी उनके समान रूपवान् कोई नहीं है, इसी कारण देवताओं ने उनका यह नाम रक्खा है । एक अग्नि का नाम 'अमोघ' है । वे क्रोध धारण किये, धनुष और माला लिये, रथ पर चढ़, हर्ष के साथ शत्रुओं का नाश करते हैं । एक और अग्नि 'उक्थ' हैं। वे कर्मफल और मोक्ष प्राप्ति का कारण हैं, इसी से उनको उक्थ कहते हैं । तीन उक्थों से उनकी स्तुति की जाती है । वेदज्ञ लोग उनको वेदवाक्य का मूल कारण और मुक्तिरूप विश्राम का निमित्त कारण मानते हैं ॥२१।२५॥

—०—

वनपर्व का दो सौ उन्नीस अध्याय समाप्त हुआ ॥२१९॥

अथ विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२२०॥

मार्कंडेय उवाच—काश्यपो ह्यथ वासिष्ठः प्राणश्च प्राणपुत्रकः ।
अंग्निरांगिरसश्चैव च्यवनस्त्रिपु वर्चकः ॥ १ ॥
अचरन्त तपस्तीव्रं पुत्रार्थे बहुवार्षिकम् ।
पुत्रं लभेयं धर्मिष्ठं यशसा ब्रह्मणा समम् ॥ २ ॥
महाव्याहृतिभिर्ध्यातः पंचभिस्तैस्तदा त्वथ ।
जज्ञे तेजो महार्चिष्मान्पंचवर्णः प्रभावनः ॥ ३ ॥
समिद्धोऽग्निः शिरस्तस्य बाहू सूर्यनिभौ तथा ।
त्वङ् नेत्रे च सुवर्णाभे कृष्णे जंघे च भारत ॥ ४ ॥

दो सौ बीस अध्याय ॥२२०॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—काश्यप, वासिष्ठ, प्राण पुत्र प्राणक, आङ्गिरस च्यवन और त्रिवार्चा, ये पांचों ऋषि ब्रह्मा के समान यशस्वी और धर्मनिष्ठ पुत्र पाने के लिए बहुत वर्षों तक कठोर तपस्या करते रहे । महाव्याहृति मन्त्रों के द्वारा ध्यान करने से एक महाप्रभा से पूर्ण, पाँच वर्ण का, ज्वालायुक्त, तेजोमय पुरुष उत्पन्न हुआ । उसका सिर प्रज्वलित अग्नि के समान था । दोनों हाथ सूर्य-सदृश थे । त्वचा और नेत्रों की आभा सुवर्ण की सी थी । दोनों जाँघें काले रङ्ग की थीं। पूर्वोक्त पांच ऋषियों

पंचवर्णः स तपसा कृतस्तैः पंचभिर्जनैः ।
पांचजन्यः श्रुतो देवः पंचवंशकरस्तु सः ॥ ५ ॥
दशवर्षसहस्राणि तपस्तप्त्वा महातपाः ।
जनयत्पावकं घोरं पितॄणां स प्रजाः सृजन् ॥ ६ ॥
बृहद्रथंतरं मूर्ध्नो वक्त्राद्वातरसाहरौ ।
शिवं नाभ्यां बलादिंद्रं वाय्वग्नी प्राणतोऽसृजत् ॥ ७ ॥
बाहुभ्यामनुदात्तौ च विश्वे भूतानि चैव ह ।
एतान्सृष्ट्वा ततः पंच पितॄणामसृजत्सुतान् ॥ ८ ॥
बृहद्रथस्य प्रणिधिः काश्यपस्य महत्तरः ।
भानुरंगिरसो धीरः पुत्रो वर्चस्य सौभरः ॥ ९ ॥
प्राणस्य चाऽनुदात्तस्तु व्याख्याताः पंचविंशतिः ।
देवान्यज्ञमुषश्चाऽन्यान्सृजन्पंचदशोत्तरान् ॥ १० ॥
सुभीममति भीमं च भीमं भीमबलाबलम् ।
एतान्यज्ञमुषः पंच देवानां ह्यसृजत्तपः ॥ ११ ॥
सुमित्रं मित्रवंतं च मित्रज्ञं मित्रवर्धनम् ।
मित्रधर्माणमित्येतान्देवानभ्यसृजत्तपः ॥ १२ ॥

की तपस्या से उत्पन्न होने के कारण उस पुरुष का नाम पाञ्चजन्य हुआ। उनसे पाँचों ऋषियों का वंश चला ॥१।५॥

महातपस्वी पाञ्चजन्य ने पितरों का वंश चलाने के लिए दस हज़ार वर्ष तक तप करके घोर दक्षिणाग्नि को उत्पन्न किया। उन्होंने पहले मस्तक से बृहत् को, मुख से रथन्तर को, नाभि से शिव को, बल से इन्द्र को, प्राण से वायु को, बाहुओं से उदात्त और अनुदात्त स्वरों को, मन को, पांच ज्ञानेन्द्रियों को और महाभूतों को उत्पन्न किया। उसके पश्चात् अपने पितरों का वंश चलाने के लिए और पांच पुत्र उत्पन्न किये। उन पुत्रों में प्रणिधि से वासिष्ठ बृहद्रथ का, महत्तर से काश्यप का, भानु से च्यवन का, सौभर से त्रिवर्चा का और अनुदात्त से प्राण का वंश चला। फिर पाञ्चजन्य ने यज्ञ में विघ्न डालनेवाले पन्द्रह देवरूप असुरों को भी उत्पन्न किया ॥६।१०॥

उनका विवरण यों है—सुभीम, अतिभीम, भीम, भीमबल और अबल नाम के असुरों को पहले उत्पन्न किया। उनके पश्चात् सुमित्र, मित्रवान्, मित्रज्ञ, मित्रवर्द्धन और मित्रधर्मा, इन पांच को उत्पन्न किया। अन्त को सुरप्रवीर, वीर, सुवेश, सुवर्चा और सुरनिहन्ता, इन पांच की सृष्टि की। इस प्रकार पांच-पांच का एक दल है। ये देवरूप असुर पृथ्वी पर

सुरप्रवीरं वीरं च सुरेशं च सुवर्चसम् ।
सुराणामपि हंतारं पंचैतानसृजत्तपः ॥ १३ ॥
त्रिविधं संस्थिता ह्येते पंच पंच पृथक्पृथक् ।
मुष्णंत्यत्र स्थिता ह्येते स्वर्गतो यज्ञयाजिनः ॥ १४ ॥
तेषामिष्टं हरंत्येते निघ्नंति च महद्धविः ।
स्पर्धया हव्यवाहानां निघ्नंत्येते हरंति च ॥ १५ ॥
बहिर्वेद्यां तदादानं कुशलैः संप्रवर्तितम् ।
तदेते नोपसर्पंति यत्र चाऽग्निः स्थितो भवेत् ॥ १६ ॥
चिताग्निरुद्वहन्नाज्यं पक्षाभ्यां तत्प्रवर्तिते ।
मंत्रैः प्रशमिता ह्येते नेष्टं मुष्णंति यज्ञियम् ॥ १७ ॥
बृहदुक्थतपस्यैव पुत्रो भूमिमुपाश्रितः ।
अग्निहोत्रे हूयमाने पृथिव्यां सद्भिरिज्यते ॥ १८ ॥
रथंतरश्च तपसः पुत्रोऽग्निः परिपठ्यते ।
मित्रविंदाय वै तस्मै हविरध्वर्यवो विदुः ॥ १९ ॥
मुमुदे परमप्रीतः सहपुत्रैर्महायशाः ॥ २० ॥

इति श्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वणिमार्कंडेयसमास्यापर्वणि गिरसोपाख्याने विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

रहकर स्वर्गस्थित यज्ञकर्त्ताओं के यज्ञ फल को नष्ट कर देते है। ये अन्य अग्नियों की ईर्ष्या से यज्ञ करनेवालों के इष्ट फल को हर लेते हैं और महत् हवि को भी नष्ट कर डालते हैं। इनका कार्य ही यज्ञ-फल को हरना है ॥११।१५॥

इसी कारण यज्ञकर्म में निपुण याज्ञिक लोग यज्ञशाला की बहिर्वेदी में इनका भाग रख देते हैं। फिर ये वहाँ नहीं जाते जहां अग्नि की स्थापना होती है। कुण्ड में सञ्चित अग्नि पक्षों के द्वारा, इनके वहां पहुंचने में, रुकावट डालता है। मन्त्रों के द्वारा शान्त किये जाने पर ये यज्ञ के फल को नहीं हरते। इनके सिवा तप नामक अग्नि के पुत्र बृहदुक्थ पृथ्वी पर स्थित हैं। अग्निहोत्र यज्ञ का अनुष्ठान होते समय सज्जन लोग उनकी भी पूजा करते हैं। तप अग्नि के दूसरे पुत्र रथन्तर नामक अग्नि हैं। वे बृहस्पति से भी श्रेष्ठ हैं। अध्वर्यु लोग उन्हें मित्रविन्द, अर्थात् महाविराट के समान, मानते है। महायशस्वी पाञ्चजन्य इन प्रिय पुत्रों को पाकर परम प्रसन्न हुए ॥१६।२०॥

—०—

वनपर्व का दो सौ बीस अध्याय समाप्त हुआ ॥२२०॥

अथ एकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२२१॥

मार्कण्डेय उवाच—गुरुभिर्नियमैर्जातो भरतो नाम पावकः ।
अग्निः पुष्टिपतिर्नाम तुष्टः पुष्टिं प्रयच्छति ।
भरत्येष प्रजाः सर्वास्ततो भरत उच्यते ॥ १ ॥
अग्निर्यश्च शिवो नाम शक्तिपूजापरश्च सः ।
दुःखार्तानां च सर्वेषां शिवकृत्सततं शिवः ॥ २ ॥
तपसस्तु फलं दृष्ट्वा संप्रवृत्तं तपो महत् ।
उद्धर्तुकामो मतिमान्पुत्रो जज्ञे पुरंदरः ॥ ३ ॥
ऊष्मा चैवोष्मणो जज्ञे सोऽग्निर्भूतस्य लक्ष्यते ।
अग्निश्चापि मनुर्नाम प्राजापत्यमकारयत् ॥ ४ ॥
शंभुमग्निमथ प्राहुर्ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
आवसथ्यं द्विजाः प्राहुर्दीप्तमग्निं महाप्रभम् ॥ ५ ॥
ऊर्जस्कारान्हव्यवाहान्सुवर्णसदृशप्रभान् ।
ततस्तपो ह्यजनयत्पंच यज्ञसुतानिह ॥ ६ ॥
प्रशांतेऽग्निर्महाभाग परिश्रांतो गवां पतिः ।
असुराञ्जनयन्घोरान्मर्त्यांश्चैव पृथग्विधान् ॥ ७ ॥
तपसश्च मनुं पुत्रं भानुं चाऽप्यंगिराः सृजत् ।

दो सौ इक्कीस अध्याय ॥२२१॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर! पूर्वोक्त भरत नाम के अग्नि विशेष नियमों से युक्त हैं। उनका दूसरा नाम पुष्टिमति भी है। ये सन्तुष्ट होने पर पुष्टि देते हैं। प्रजा का भरण-पोषण करने के कारण ये भरत कहलाते हैं। शिव नाम से प्रसिद्ध अग्नि सदा शक्ति की उपासना करते हैं। वे सब दुःखपीड़ित मनुष्यों का भला करते हैं, इसी से उनका नाम शिव है। तपस्या के फल से अमित ऐश्वर्य पाने के लिए उत्पन्न अग्नि का नाम पुरन्दर है ॥१।३॥

सब प्राणियों में व्याप्त ऊष्मा नामक अग्नि ऊष्मा (गर्मी) से उत्पन्न हुए हैं। मनु नामक अग्नि ने प्राजापत्य यज्ञ किया था। एक महातेजस्वी अग्नि का नाम शम्भु है। एक अग्नि का नाम आवसथ्य है। उन महाप्रभायुक्त प्रदीप्त अग्नि की पूजा आवसथ यज्ञ में होती है। तप नामक अग्नि के ऊर्जस्कर नाम से प्रसिद्ध पाँच पुत्र हुए। ये सब सुवर्ण के समान प्रभायुक्त हैं और देवताओं को हव्य पहुंचाते हैं। उन्हें यज्ञ में सोमरस का भाग मिलता है। अस्ताचल में जाने से थके हुए सूर्य भगवान्

बृहद्भानुं तु तं प्राहुर्ब्राह्मणा वेदपारगाः ॥ ८ ॥
भानोर्भार्या सुप्रजा तु बृहद्भासा तु सूर्यजा ।
असृजेतां तु षट् पुत्राञ्शृणु तासां प्रजाविधिम् ॥ ९ ॥
दुर्बलानां तु भूतानामसून्यः संप्रयच्छति ।
तमग्निं बलदं प्राहुः प्रथमं भानुतः सुतम् ॥ १० ॥
यः प्रशांतेषु भूतेषु मन्युर्भवति दारुणः ।
अग्निं स मन्युमान्नाम द्वितीयो भानुतः सुतः ॥ ११ ॥
दर्शे च पौर्णमासे च यस्येह हविरुच्यते ।
विष्णुर्नामेह योऽग्निस्तु धृतिमान्नाम सोऽगिराः॥ १२ ॥
इंद्रेण सहितं तस्य हविराग्रयणं स्मृतम् ।
अग्निराग्रयणो नाम भानोरेवाऽन्वयस्तु सः ॥ १३ ॥
चातुर्मास्येषु नित्यानां हविषां योनिरग्रहः ।
चतुर्भिः सहितः पुत्रैर्भानोरेवाऽन्वयः स्तुभः ॥ १४ ॥
निशा त्वजनयत्कन्यामग्नीषोमावुभौ तथा ।
मनोरेवाऽभवद्भार्या सुषुवे पंच पावकान् ॥ १५ ॥
पूज्यते हविषाग्र्येण चातुर्मास्येषु पावकः ।

अग्नि के नाम से प्रसिद्ध हैं। उन्होंने घोररूपवाले असुरों और मनुष्यलोक-वासी अनेक प्रकार के प्राणियों की सृष्टि की है। तब अग्नि के मनु नामक अग्नि उत्पन्न हुए। अङ्गिरा से प्रजापति भानु अग्नि की उत्पत्ति हुई। वेदज्ञ ब्राह्मण उन्हें बृहद्भानु भी कहते हैं ॥४।८॥

सूर्य की कन्या, श्रेष्ठ पुत्र उत्पन्न करनेवाली बृहद्भासा, भानु की स्त्री है। उनके छ पुत्र हुए। उनका हाल सुनो। भानु के पहले पुत्र का नाम बलद है। वे दुर्बल प्राणियों को बल देते हैं। दूसरे पुत्र का नाम मन्युमान् है। वे शान्त प्राणियों में दारुण मन्यु (क्रोध) के रूप से स्थित हैं। तीसरे पुत्र धृतिमान् अङ्गिरा हैं। उनको विष्णु भी कहते हैं। दर्श और पौर्णमास यज्ञों में उन्हें हवि दिया जाता है ॥९।१२॥

चौथे पुत्र आग्रयण हैं। वे इन्द्र के साथ आग्रयण हवि पाते हैं। पाँचवें पुत्र का नाम अग्रह है। वे चातुर्मास्य यज्ञ में आग्नेय आदि आठ हवियों के भाग पाते हैं। इनके चार पुत्र भी हैं। भानु के छठे पुत्र का नाम स्तुभ है। इनके सिवा भानु के निशा नाम की एक कन्या और अग्निषोम नाम के पुत्र भी हुए। मनु नामक अग्नि के रेवा नाम की स्त्री में पाँच अग्नि उत्पन्न हुए। हे राजा युधिष्ठिर! चातुर्मास्य यज्ञ में पर्जन्य (इन्द्र) के

पर्जन्यसहितः श्रीमानग्निर्वैश्वानरस्तु सः ॥ १६ ॥
अस्य लोकस्य सर्वस्य यः प्रभुः परिपच्यते ।
सोऽग्निर्विश्वपतिर्नाम द्वितीयो वै मनोः सुतः ॥ १७ ॥
ततः स्विष्टं भवेदाज्यं स्विष्टकृत्परमस्तु सः ।
कन्या सा रोहिणी नाम हिरण्यकशिपोः सुता ॥ १८ ॥
कर्मणाऽसौ बभौ भार्या स वह्निः स प्रजापतिः ।
प्राणानाश्रित्य यो देहं प्रवर्त्तयति देहिनाम् ॥ १९ ॥
तस्य सन्निहितो नाम शब्दरूपस्य साधनः ।
शुक्लकृष्णगतिर्देवो यो बिभर्ति हुताशनम् ।
अकल्मषः कल्मषाणां कर्त्ता क्रोधाश्रितस्तु सः ॥ २० ॥
कपिलं परमर्षिं च यं प्राहुर्यतयः सदा ।
अग्निः स कपिलो नाम सांख्ययोगप्रवर्त्तकः ॥ २१ ॥
अग्रं यच्छंति भूतानां येन भूतानि नित्यदा ।
कर्मास्विह विचित्रेषु सोऽग्रणीर्वह्निरुच्यते ॥ २२ ॥
इमानन्यान्समसृजत्पावकान्प्रथितान्भुवि ।
अग्निहोत्रस्य दुष्टस्य प्रायश्चित्तार्थमुल्वणान् ॥ २३ ॥

साथ हवि के अग्रभाग को प्राप्त करनेवाले अग्नि का नाम वैश्वानर है ॥१३।१६॥

सब लोकों के प्रभु कहलानेवाले, मनु के दूसरे पुत्र, विश्वपति नाम के अग्नि हैं। उनका दूसरा नाम स्विष्टकृत् भी है। हिरण्यकशिपु की कन्या रोहिणी उनकी स्त्री हैं। प्राणवायु का आश्रय लेकर देहधारियों के शरीर को कामों में लगानेवाले अग्नि का नाम सन्निहित हैं। वे शब्द और रूप के साधन हैं। शुक्ल (निवृत्ति मार्ग) और कृष्ण (प्रवृत्ति मार्ग) फल के विधाता, स्वयं पाप-स्पर्श से रहित होकर सकाम कर्म-रूप पाप के प्रचारक, क्रोध के आधार रूप अग्नि का नाम कपिल है। विद्वान् लोग इन्हीं को सांख्य-योगशास्त्र के कर्ता महर्षि कपिल कहते हैं ॥१७।२१॥

एक अग्नि का नाम अग्रणी है। सब लोग इन्हीं अग्नि में सब प्राणियों के लिए 'अग्र' अर्पण करते हैं। बलिवैश्वदेव के पश्चात् मनुष्य-यज्ञ के लिए दिये जानेवाले अन्न को अग्र कहते हैं। दूषित अग्निहोत्र के प्रायश्चित्त के लिए इन सबको और अन्य बहुत से घोररूप प्रसिद्ध अग्नियों की सृष्टि हुई है। यदि ये सब अग्नि किसी तरह वायु के द्वारा परस्पर छू जायँ (क्योंकि इन सब अग्नियों की स्थापना अलग-अलग की जाती है), तो शुचि नामक अग्नि में अष्टाकपाल नाम की इष्टि करनी चाहिए ॥२२।२५॥

संस्पृशेयुर्यदाऽन्योन्यं कथंचिद्वायुनाऽग्नयः ।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्या वै शुचयेऽग्नये ॥ २४ ॥
दक्षिणाग्निर्यदा द्वाभ्यां संसृजेत तदा किल ।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्या वै वीतयेऽग्नये ॥ २५ ॥
यद्यग्नयो हि स्पृश्येयुर्निवेशस्था दवाग्निना ।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्या तु शुचयेऽग्नये ॥ २५ ॥
अग्निं रजस्वला वै स्त्री संस्पृशेदग्निहोत्रिकम् ।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्या वसुमतेऽग्नये ॥ २७ ॥
मृतः श्रूयेत यो जीवः परेयुः पशवो यदा ।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्या सुरभिमतेऽग्नये ॥ २८ ॥
आर्तो न जुहुयादग्निं त्रिरात्रं यस्तु ब्राह्मणः ।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्या स्यादुत्तराग्नये ॥ २९ ॥
दर्शं च पौर्णमासं च यस्य तिष्ठत्प्रतिष्ठितम् ।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्या पथिकृतेऽग्नये ॥ ३० ॥
सूतिकाग्निर्यदा चाग्निं संस्पृशेदग्निहोत्रिकम् ।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्या चाऽग्निमतेऽग्नये ॥ ३१ ॥

इति श्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वणिमार्कण्डेयसमास्यापर्वणिगिरसोपाख्यानेएकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

और, यदि अपने स्थान पर प्रज्वलित इन अग्नियों को दावानल का स्पर्श हो जाय, तो भी शुचि अग्नि में अष्टाकपाल इष्टि करनी चाहिए । यदि रजस्वला स्त्री अग्निहोत्र के अग्नि को छू जाय, तो वसुमान् अग्नि में अष्टाकपाल इष्टि करनी चाहिए। अग्निहोत्र के समय किसी की मृत्यु की सूचना मिले, अथवा अपने यहां का कोई पशु मरकर घर को अशुद्ध कर दे, तो सुरभिमान् नाम के अग्नि में अष्टाकपाल इष्टि करनी चाहिए। रोगपीड़ित होने के कारण यदि कोई ब्राह्मण तीन दिन तक अग्निहोत्र न कर सके तो उसे तन्तुमान् (उत्तराग्नि) नामक अग्नि में अष्टाकपाल इष्टि करनी चाहिए। यदि कोई ब्राह्मण समय पर दर्श और पौर्णमास यज्ञ न कर सके, तो उसे पथिकृत् अग्नि में अष्टाकपाल इष्टि करनी चाहिए। यदि अग्निहोत्र की अग्नि से सूतिकागृह की अग्नि छू जाय, तो अग्निमान् अग्नि में अष्टाकपाल इष्टि करनी चाहिए ॥२६।३१॥

—०—

वनपर्व का दो सौ इक्कीस अध्याय समाप्त हुआ ॥ २२१ ॥

अथ द्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२२ ॥

मार्कण्डेय उवाच—आपस्य मुदिता भार्या सहस्य परमा प्रिया ।
भूपतिर्भुवभर्ता च जनयत्पावकं परम् ॥ १ ॥
भूतानां साऽपि सर्वेषां यं प्राहुः पावकं पतिम् ।
आत्मा भुवनभर्तेति सान्वयेषु द्विजातिषु ॥ २ ॥
महतां चैव भूतानां सर्वेषामिह यः पतिः ।
भगवान्स महातेजा नित्यं चरति पावकः ॥ ३ ॥
अग्निर्गृहपतिर्नाम नित्यं यज्ञेषु पूज्यते ।
हुतं वहति यो हव्यमस्य लोकस्य पावकः ॥ ४ ॥
अपां गर्भो महाभागः सत्वभुग्यो महाद्भुतः ।
भूपतिर्भुवभर्ता च महतः पतिरुच्यते ॥ ५ ॥
दहन्मृतानि भूतानि तस्याऽग्निर्भरतोऽभवत् ।
अग्निष्टोमे च नियतः क्रतुश्रेष्ठो भरस्य तु ॥ ६ ॥
स वह्निः प्रथमो नित्यं देवैरन्विष्यते प्रभुः ।
आयांतं नियतं दृष्ट्वा प्रविवेशाऽर्णवं भयात् ॥ ७ ॥
देवास्तत्रापि गच्छंति मार्गमाणा यथादिशम् ।
दृष्ट्वा त्वग्निरथर्वाणं ततो वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

दो सौ बाईस अध्याय ॥ २२२ ॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजेन्द्र ! सह नाम के अग्नि ने अपनी बहुत प्यारी पत्नी मुदिता के गर्भ से अद्भुत नाम के अग्नि को उत्पन्न किया। अद्भुत नामक अग्नि भुवनभर्ता और आत्मा हैं; इसी से विद्वान् ब्राह्मण उनको सब प्राणियों का स्वामी कहते हैं। वे महातेजस्वी भगवान् पावक वायु आदि महाभूतों के अधिपति हैं। यज्ञों में गृहपति अग्नि के नाम से उनकी पूजा की जाती है। अद्भुत के पुत्र भरत नाम के अग्नि हैं। वे लोगों की दी हुई आहुतियों को देवताओं तक पहुँचाते हैं। वही जल की उत्पत्ति का स्थान हैं। वे महातपस्वी, महाअद्भुत, प्राणियों को जगानेवाले, पृथ्वी के पति, त्रिभुवन का भरण करनेवाले और महत्पति हैं ॥१।५॥

वही मृत प्राणियों के शरीर को भस्म करते हैं। उन भरत के पुत्र क्रतुश्रेष्ठ नाम के अग्नि हुए। अग्निष्टोम यज्ञ में नियत नाम से उनकी पूजा होती है। एक समय उन्हीं प्रथम-अग्नि सह को सब देवता ढूँढ रहे थे, इसी समय नियत अग्नि को आते देखकर उनके भय से 'सह' समुद्र के भीतर चले गये। देवता लोग चारों ओर उनको खोजते हुए उसी स्थान पर

देवानां वह हव्यं त्वमहं वीर सुदुर्बलः ।
अथ त्वं गच्छ मध्वक्षं प्रियमेतत्कुरुष्व मे ॥ ९ ॥
प्रेष्य चाऽग्निरथर्वाणमन्यं देशं ततोऽगमत् ।
मत्स्यास्तस्य समाचख्युः क्रुद्धस्तानग्निरब्रवीत् ॥ १० ॥
भक्ष्या वै विविधैर्भावैर्भविष्यथ शरीरिणाम् ।
अथर्वाणं तथा चापि हव्यवाहोऽब्रवीद्वचः ॥ ११ ॥
अनुनीयमानो हि भृशं देववाक्याद्धि तेन सः ।
नैच्छद्वोढुं हविः सोढुं शरीरं चापि सोऽत्यजत् ॥ १२ ॥
स तच्छरीरं संत्यज्य प्रविवेश धरां तदा ।
भूमिं स्पृष्ट्वाऽसृजद्धातून्पृथक् पृथगतीव हि ॥ १३ ॥
पूयात्स गंधं तेजश्च अस्थिभ्यो देवदारु च ।
श्लेष्मणः स्फाटिकं तस्य पित्तान्मारकतं तथा ॥ १४ ॥
यकृत्कृष्णायसं तस्य त्रिभिरेव बभुः प्रजाः ।
नखास्तस्याऽभ्रपटलं शिराजालानि विद्रुमम् ॥ १५ ॥
शरीराद्विविधाश्चाऽन्ये धातवोऽस्याऽभवन्नृप ।
एवं त्यक्त्वा शरीरं च परमे तपसि स्थितः ॥ १६ ॥

पहुँचे । उधर मह ने अथर्वा-अग्नि (तीव्र तप करनेवाले अङ्गिरा) को देखकर उनसे कहा—हे वीर ! मैं बहुत ही दुर्बल हो गया हूँ; इसलिए तुम पिङ्गलोचन अग्नि का रूप धारण करके देवताओं को हव्य पहुँचाओ और मेरा प्रिय करो ॥६।९॥

अथर्वा से यों कहकर सह अग्नि दूसरी जगह चले गये । मछलियों ने देवताओं को उनका पता बता दिया । अग्नि ने इससे कुपित होकर उन्हें शाप दिया कि तुमको अनेक प्रकार से प्राणी खाया करेंगे । मछलियों से यों कहकर अथर्वा से अग्नि ने पूर्वोक्त वचन कहे । देवताओं ने अग्नि से बहुत कुछ कहा-सुना; परन्तु अग्नि ने सम्पूर्ण हव्य ले जाने का काम स्वीकार करना नहीं चाहा । वे शरीर छोड़कर पृथ्वी के भीतर घुस गये । अग्नि ने यों पृथ्वी में प्रवेश करके अपने शरीर से अनेक प्रकार की मैनसिल आदि धातुओं की सृष्टि की। उनके मुह से गन्ध और तेज, हड्डियों से देवदारु, कफ से स्फटिक (बिल्लौर), पित्त से मरकत मणि और यकृत् से काला लोहा उत्पन्न हुआ । पूर्वोक्त काष्ठ, लोहा और पत्थर से प्रजा के अनेक काम निकलते हैं । हे भरतश्रेष्ठ! उनके नखों से मेघ और नसों से मूँगे के पेड़ उत्पन्न हुए। उनके शरीर से इस प्रकार और भी अनेक धातुएँ उत्पन्न हुईं ॥१०।१५॥

अग्नि जब इस तरह अपना शरीर छोड़कर

भृग्वंगिरादिभिर्भूयस्तपसोत्थापितस्तदा ।
भृशं जज्वाल तेजस्वी तपसाऽऽप्यायितः शिखी॥ १७ ॥
दृष्ट्वा ऋषिं भयाच्चापि प्रविवेश महार्णवम् ।
तस्मिन्नष्टे जगद्भीतमथर्वाणमथाऽऽश्रितम् ।
अर्चयामासुरेवैनमथर्वाणं सुरादयः ॥ १८ ॥
अथर्वा त्वसृजल्लोकानात्मनाऽऽलोक्य पावकम् ।
मिषतां सर्वभूतानामुन्ममाथ महार्णवम् ॥ १९ ॥
एवमग्निर्भगवता नष्टः पूर्वमथर्वणा ।
आहूतः सर्वभूतानां हव्यं वहति सर्वदा ॥ २० ॥
एवं त्वजनयद्धिष्ण्यान्वेदोक्तान्विबुधान्बहून् ।
विचरन्विविधान्देशान्भ्रममाणस्तु तत्र वै ॥ २१ ॥
सिंधुं नदं पंचनदं देविकाऽथ सरस्वती ।
गंगा च शतकुंभा च शरयू गण्डसाह्वया ॥ २२ ॥
चर्मण्वती मही चैव मेध्या मेधातिथिस्तदा ।
ताम्रावती वेत्रवती नद्यस्तिस्रोऽथ कौशिकी ॥ २३ ॥
तमसा नर्मदा चैव नदी गोदावरी तथा ।
वेणोपवेणा भीमा च वडवा चैव भारत ॥ २४ ॥
भारती सुप्रयोगा च कावेरी मुर्मुरा तथा ।
तुंगवेणा कृष्णवेणा कपिला शोण एव च ॥ २५ ॥

आत्मविचाररूपी निरुपाधि समाधि में स्थित हुए, तब भृगु और अङ्गिरा आदि महर्षियों ने तप के प्रभाव से उनको फिर उठाया, अर्थात् उनकी समाधि छुड़ा दी। तब वे तप के तेज से पूर्ण होकर बड़े वेग से प्रज्वलित हो उठे किन्तु अथर्वा आदि ऋषियों के तेज को देखकर भय के मारे वे फिर महासागर में घुस गये। अग्नि के नष्ट होने से व्याकुल और भयभीत हुए देवता आदि सबने अथर्वा का आश्रय लिया और वे उन्हीं की पूजा करने लगे। तब अथर्वा ने सबके सामने समुद्र को मथकर अग्नि से भेंट की और उनको प्रकट किया। इस प्रकार वे पहले विनष्ट हुए अग्नि भगवान् अथर्वा के द्वारा बुलाये जाने के कारण प्रकट होकर, सब प्राणियों का हव्य देवताओं तक पहुंचाते हैं ॥१६।२०॥

अथर्वा ऋषि ने महासागर में जाकर और अनेक देशों में भ्रमण करके वेदोक्त अनेक अग्नियों

एता नद्यस्तु धिष्ण्यानां मातरो याः प्रकीर्तिताः॥ २६ ॥
अद्भुतस्य प्रिया भार्या तस्य पुत्रो विभूरसिः ।
यावंतः पावकाः प्रोक्ताः सोमास्तावंत एव तु ॥ २७ ॥
अत्रेश्चाऽप्यन्वये जाता ब्रह्मणो मानसाः प्रजाः।
अत्रिः पुत्रान्स्रष्टुकामस्तानेवाऽऽत्मन्यधारयत् ॥ २८ ॥
तस्य तद्ब्रह्मणः कायान्निर्हरंति हुताशनाः ।
एवमेते महात्मानः कीर्तितास्तेऽग्नयो मया ॥ २९ ॥
अप्रमेया यथोत्पन्नाः श्रीमंतस्तिमिरापहाः ।
अद्भुतस्य तु माहात्म्यं यथा वेदेषु कीर्तितम् ॥ ३० ॥
तादृशं विद्धि सर्वेषामेको ह्येषु हुताशनः ।
एक एवैष भगवान्विज्ञेयः प्रथमोऽङ्गिराः ॥ ३१ ॥
बहुधा निःसृतः कायाज्ज्योतिष्टोमः क्रतुर्यथा ।
इत्येष वंशः सुमहानग्नीनां कीर्तितो मया ।
योऽर्चितो विविधैर्मंत्रैर्हव्यं वहति देहिनाम् ॥ ३२ ॥

इतिश्रीमन्महाभारते मार्कंडेयसमास्यापर्वणिआंगिरसोपाख्यानेअग्निसमुद्भवेद्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

की (बृहस्पति, शंयु आदि के पहले कहे गये क्रम से) सृष्टि की । हे भारत ! सिन्धु, पञ्चनद, देविका सरस्वती, गङ्गा, शतकुम्भा, सरयू, गण्डकी, चर्मण्वती, मही, मेध्या, मेधातिथि, ताम्रावती, वेत्रवती, कौशिकी, तमसा, नर्मदा, गोदावरी, वेणा, उपवेणा, भीमा, मरुद्रा, बड़वा, भारती, सुप्रयोगा, कावेरी, मुर्मुरा, तुङ्गवेणा, कृष्णवेणा, कपिला और शोण आदि नदियां इन सब अग्नियों की जननी मानी गई हैं ॥२१।२६॥

अद्भुत अग्नि की भार्या का नाम प्रिया है । उनके पुत्र विभूरसि नाम अग्नि हैं । जितने अग्नि कहे गये, उतने सोम (सोमयाग) हैं । वे सोम ब्रह्मा के मानस पुत्र अत्रि के वंश में उत्पन्न हुए हैं। अत्रि ने पुत्र पाने की अभिलाषा से पूर्वोक्त अग्नियों को शरीर में धारण किया था । वे अग्नि उनकी ब्रह्मकाया से प्रकट हुए हैं । हे कौरव ! ये पूर्वोक्त अप्रमेय, श्रीमान्, अन्धकार-नाशक अग्नि जिस तरह उत्पन्न हुए सो मैंने तुमको सुना दिया । वेद में अद्भुत अग्नि का माहात्म्य जैसा कहा गया है वैसा ही माहात्म्य तुम सब अग्नियों का जानो ; क्योंकि अग्नि एक ही हैं । भगवान् अङ्गिरा ही प्रथम अग्नि है । ज्योतिष्टोम यज्ञ के भेदों की तरह इन्हीं के शरीर से एक अग्नि अनेक होकर प्रकट हुए हैं। अग्नि का यह बहुविस्तृत वंश मैंने तुमको सुना दिया । एक ही अग्नि अनेक होकर विविध मन्त्रों के द्वारा देहधारियों को हव्य पहुँचाते हैं ॥२७।३२॥

वनपर्व का दो सौ बाईस अध्याय समाप्त हुआ ॥ २२२॥

अथ त्रयोविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२२३॥

मार्कंडेय उवाच—अग्नीनां विविधा वंशाः कीर्तितास्ते मयाऽनघ ।
शृणु जन्म तु कौरव्य कार्तिकेयस्य धीमतः ॥ १ ॥
अद्भुतस्याऽद्भुतं पुत्रं प्रवक्ष्याम्यमितौजसम् ।
जातं ब्रह्मर्षिभार्याभिर्ब्रह्मण्यं कीर्तिवर्धनम् ॥ २ ॥
देवासुराः पुरा यत्ता विनिघ्नंतः परस्परम् ।
तत्राऽजयन्सदा देवान्दानवा घोररूपिणः ॥ ३ ॥
वध्यमानं बलं दृष्ट्वा बहुशस्तैः पुरंदरः ।
स सैन्यनायकार्थाय चिंतामाप भृशं तदा ॥ ४ ॥
देवसेनां दानवैर्हि भग्नां दृष्ट्वा महाबलः ।
पालयेद्वीर्यमाश्रित्य स ज्ञेयः पुरुषो मया ॥ ५ ॥
स शैलं मानसं गत्वा ध्यायन्नर्थमिदं भृशम् ।
शुश्रावाऽऽर्तस्वरं घोरमथ मुक्तं स्त्रिया तदा ॥ ६ ॥
अभिधावतु मां कश्चित्पुरुषस्त्रातु चैव ह ।
पतिं च मे प्रदिशतु स्वयं वा पतिरस्तु मे ॥ ७ ॥
पुरंदरस्तु तामाह माभैर्नास्ति भयं तव ।
एवमुक्त्वा ततोऽपश्यत्केशिनं स्थितमग्रतः ॥ ८ ॥

दो सौ तेईस अध्याय ॥२२३॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे निष्पाप ! मैं अग्नि के विविध वंशों का वर्णन कर चुका । अब अद्भुत अग्नि के अद्भुत पुत्र, परम तेजस्वी, कीर्तिवर्द्धन, कार्तिकेय जैसे ब्रह्मर्षियों की पत्नियों से उत्पन्न हुए, उसका ब्योरा सुनो । पूर्व समय में देवता और दैत्य एक दूसरे के प्रबल शत्रु थे । वे अवसर पाकर एक दूसरे को मारने का यत्न किया करते थे । घोर दानवगण सदा जीतते और देवता हारते थे । दानवों के द्वारा अपनी सेना का नाश होते देखकर इन्द्र को एक सेनापति की बड़ी चिन्ता हुई । उन्होंने सोचा की एक ऐसे महाबली वीर पुरुष को ढूँढ़ना चाहिए, जो अपने बल से दानवों को मारकर देवसेना की रक्षा कर सके ॥१-५॥

इसके लिए वे मानस पर्वत पर गये । एक समय वे एकाग्र होकर यही सोच रहे थे, इसी समय उनको एक स्त्री के मुँह से दीन वचन सुन पड़े कि "कोई पुरुष रक्षा के लिए मेरे पास आवे और वह या तो मुझ पति दे, अथवा आप ही मेरा पति हो जाय।" तब "तुम्हें भय नहीं है" कहकर इन्द्र उस स्त्री के पास गये । जाकर देखा कि गदा हाथ में

किरीटिनं गदापाणिं धातुमंतमिवाऽचलम् ।
हस्ते गृहीत्वा कन्यां तामथैनं वासवोऽब्रवीत् ॥ ९ ॥
अनार्यकर्मन्कस्मात्त्वमिमां कन्यां जिहीर्षसि ।
वज्रिणं मां विजानीहि विरमाऽस्याः प्रबाधनात्॥ १० ॥
केश्युवाच—विसृजस्व त्वमेवैनां शक्रैषा प्रार्थिता मया ।
क्षमंते जीवतो गंतुं स्वपुरं पाकशासन ॥ ११ ॥
एवमुक्त्वा गदां केशी चिक्षेपेंद्रवधाय वै ।
तामापतंतीं चिच्छेद मध्ये वज्रेण वासवः ॥ १२ ॥
अथाऽस्य शैलशिखरं केशी क्रुद्धो व्यवासृजत् ।
तदाऽऽपतंतं संप्रेक्ष्य शैलशृंगं शतक्रतुः ॥ १३ ॥
विभेद राजन्वज्रेण भुवि तन्निपपात ह ।
पतता तु तदा केशी तेन शृंगेण ताडितः ॥ १४ ॥
हित्वा कन्यां महाभागां प्राद्रवद्भृशपीडितः ।
अपयातेऽसुरे तस्मिंस्तां कन्यां वासवोऽब्रवीत् ।
काऽसि कस्याऽसि किंचेह कुरुषे त्वं शुभानने॥ १५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आंगिरसोपाख्याने स्कन्दोत्पत्तौ केशिपराभवे त्रयोविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्याय. ।।२२३।।

लिये, धातुओं से शोभित पर्वत की तरह, किरीट-धारी केशी एक कन्या को हाथ पकड़कर खींच रहा है। तब इन्द्र ने उससे कहा—अरे नीच कर्म करने-वाले! तू इस कन्या को क्यों खींच रहा है ? मैं वज्रधारी इन्द्र हूँ। इस कन्या को मत सता, छोड़ दे ॥९।१०॥

केशी ने कहा—हे इन्द्र! तुम इस कन्या की आशा को छोड़ दो। इसे पाने की मुझे इच्छा है। हे इन्द्र! मैं तुम्हें क्षमा किये देता हूँ, इसलिए प्राण लेकर अपने स्थान को चले जाओ। अब इन्द्र को मारने के लिए केशी ने गदा चलाई तो इन्द्र ने बीच में ही वज्र से वह गदा काट डाली। तब कुपित होकर केशी ने इन्द्र पर एक पर्वत का शिखर फेंका किन्तु इन्द्र के प्रहार से वह भी टूट-फूटकर गिर पड़ा। ऊपर से टूटकर वह शिखर केशी के ऊपर ही गिरा। शिखर की चोट खाकर, उस कन्या को छोड़कर, केशी वेग से भाग गया। असुर के भाग जाने पर इन्द्र ने उस कन्या से पूछा—हे सुन्दरी! तुम कौन हो ? किसकी स्त्री हो ? यहाँ क्या कर रही हो ! ॥११।१५॥

वनपर्व का दो सौ तेईस अध्याय समाप्त हुआ ॥२२३॥

अथ चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२२४॥

कन्योवाच—अहं प्रजापतेः कन्या देवसेनेति विश्रुता ।
भगिनी मे दैत्यसेना सा पूर्वं केशिना हृता ॥ १ ॥
सदैवाऽऽवां भगिन्यौ तु सखिभिः सह मानसम् ।
आगच्छावेह रत्यर्थमनुज्ञाप्य प्रजापतिम् ॥ २ ॥
नित्यं चाऽऽवां प्रार्थयते हर्तुं केशी महासुरः ।
इच्छत्येनं दैत्यसेना न चाऽहं पाकशासन ॥ ३ ॥
सा हृताऽनेन भगवन्मुक्ताऽहं त्वद्बलेन तु ।
त्वया देवेंद्र निर्दिष्टं पतिमिच्छामि दुर्जयम् ॥ ४ ॥

इंद्र उवाच—मम मातृष्वसेयी त्वं माता दाक्षायणी मम ।
आख्यातुं त्वहमिच्छामि स्वयमात्मबलं त्वया ॥ ५ ॥

कन्योवाच—अबलाऽहं महाबाहो पतिस्तु बलवान्मम ।
वरदानात्पितुर्भावी सुरासुरनमस्कृतः ॥ ६ ॥

इंद्र उवाच—कीदृशं तु बलं देवि पत्युस्तव भविष्यति ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तव वाक्यमनिंदिते ॥ ७ ॥

कन्योवाच—देवदानवयक्षाणां किन्नरोरगरक्षसाम् ।
जेता यो दुष्टदैत्यानां महावीर्यो महाबलः ॥ ८ ॥

दो सौ चौबीस अध्याय ॥२२४॥

उस कन्या ने कहा—मैं प्रजापति की जगत्प्रसिद्ध कन्या देवसेना हूँ। मेरी बहन का नाम दैत्यसेना है। केशी पहले उसको हर ले गया है। प्रजापति की आज्ञा लेकर हम दोनों बहनें, क्रीड़ा करने के लिए, सखियों के साथ इस मानस पर्वत पर आया करती थीं। महासुर केशी नित्य हमें हरने की घात में लगा रहता था। दैत्यसेना तो केशी को चाहती थी; किन्तु मुझे वह पसन्द नहीं था। हे भगवन्! केशी मेरी बहन को हर ले गया और आज मुझे भी हरे लिये जा रहा था परन्तु आपके बल से मेरी रक्षा हो गई। हे देवेन्द्र! अब मुझे आप एक दुर्जय पति बता दीजिए ॥१।४॥

इन्द्र ने कहा—हे शोभने! तुम मेरी मौसी की लड़की हो। मेरी माता भी दक्ष की बेटी है। तुम अपनी शक्ति का वर्णन करो। देवसेना ने कहा—हे महाबाहु! मैं तो अबला हूँ; परन्तु मेरा पति, पिता के वरदान से, महाबली होगा; देवता और दैत्य, सभी उसे प्रणाम करेंगे। इन्द्र ने कहा—देवी! मैं सुनना चाहता हूं कि तुम्हारे पति का बल कैसा होगा। देवसेना ने कहा—हे देवराज! जो स्वयं

यस्तु सर्वाणि भूतानि त्वया सह विजेष्यति ।
स हि मे भविता भर्ता ब्रह्मण्यः कीर्तिवर्धनः ॥ ९ ॥

मार्कंडेय उवाच—इन्द्रस्तस्या वचः श्रुत्वा दुःखितोऽचिंतयद्‍भृशम्।
अस्या देव्याः पतिर्नास्ति यादृशं संप्रभाषते ॥ १० ॥
अथाऽपश्यत्स उदये भास्करं भास्करद्युतिः ।
सोमं चैव महाभागं विशमानं दिवाकरम् ॥ ११ ॥
अमावास्यां प्रवृत्तायां मुहूर्ते रौद्र एव तु ।
देवासुरं च संग्रामं सोऽपश्यदुदये गिरौ ॥ १२ ॥
लोहितैश्च घनैर्युक्तां पूर्वां संध्यां शतक्रतुः ।
अपश्यल्लोहितोदं च भगवान्वरुणालयम् ॥ १३ ॥
भृगुभिश्चांऽगिरोभ्यश्च हुतं मंत्रैः पृथग्विधैः ।
हव्यं गृहीत्वा वह्निं च प्रविशंतं दिवाकरम् ॥ १४ ॥
पर्व चैव चतुर्विंशं तदा सूर्यमुपस्थितम् ।
तथा धर्मगतं रौद्रं सोमं सूर्यगतं च तम् ॥ १५ ॥
समालोक्यैकतामेव शशिनो भास्करस्य च ।
समवायं तु तं रौद्रं दृष्ट्वा शक्रोऽन्वचिंतयत् ॥ १६ ॥
सूर्याचंद्रमसोर्घोरं दृश्यते परिवेषणम् ।
एतस्मिन्नेव रात्र्यंते महायुद्धं तु शंसति ॥ १७ ॥

स्वभाव से ही महाबली और महापराक्रमी होंगे, जो तुम्हारे साथ देवता, दानव, यक्ष, किन्नर, नाग, राक्षस, दुष्ट दैत्य और अन्य प्राणियों को जीतेंगे, वही कीर्ति बढ़ानेवाले ब्रह्मनिष्ठ पुरुष मेरे पति होंगे ॥८।९॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं कि कन्या के वचन सुनकर इन्द्र बहुत दुःखित हुए और सोचने लगे कि जैसा पति यह चाहती है वैसा तो संसार में कहीं देख नहीं पड़ता। इसके पश्चात् सूर्य के समान तेजस्वी इन्द्र ने देखा कि सूर्य उदयाचल पर चढ़ रहे हैं और चन्द्रमा उनके शरीर में प्रवेश कर रहे हैं। उस रौद्र मुहूर्त में अमावस आ जाने पर इन्द्र ने उदय पर्वत पर देवासुर-संग्राम देखा। लाल रङ्ग के बादलों ने पूर्व-सन्ध्या को ढक लिया, महासागर का रङ्ग लाल हो गया ॥१०।१३॥

भृगु और अङ्गिरा की सन्तानों ने जुदे-जुदे मन्त्रों से अग्नि का आह्वान किया। अग्नि आहुति और हव्य लेकर सूर्य में प्रवेश करने लगे। अमावस आदि चौबीस पर्व भी सूर्य में उपस्थित हुए। अग्नि

सरितिंसिंधुरपीयं तु प्रत्यसृग्वाहिनी भृशम् ।
शृगालिन्यग्निवक्त्रा च प्रत्यादित्यं विराविणी ॥ १८ ॥
एष रौद्रश्च संघातो महान्युक्तश्च तेजसा ।
सोमस्य वह्निसूर्याभ्यामद्भुतोऽयं समागमः ॥ १९ ॥
जनयेद्यं सुतं सोमः सोऽस्या देव्याः पतिर्भवेत् ।
अग्निश्चैतैर्गुणैर्युक्तः सर्वैरग्निश्च देवता ॥ २० ॥
एष चेज्जनयेद्गर्भं सोऽस्या देव्याः पतिर्भवेत् ।
एवं संचिंत्य भगवान्ब्रह्मलोकं तदा गतः ॥ २१ ॥
गृहीत्वा देवसेनां तामवदत्स पितामहम् ।
उवाच चाऽस्या देव्यास्त्वं साधु शूरं पतिं दिश ॥ २२ ॥
ब्रह्मोवाच—मयैतच्चिंतितं कार्यं त्वया दानवसूदन ।
तथा स भविता गर्भो बलवानुरुविक्रमः ॥ २३ ॥
स भविष्यति सेनानीस्त्वया सह शतक्रतो ।
अस्या देव्याः पतिश्चैव स भविष्यति वीर्यवान् ॥ २४ ॥
एतच्छ्रुत्वा नमस्तस्मै कृत्वाऽसौ सह कन्यया ।
तत्राऽभ्यगच्छद्देवेंद्रो यत्र देवर्षयोऽभवन् ॥ २५ ॥

और चन्द्र को सूर्यगत देखकर—चन्द्रमा और सूर्य की एकता तथा उसमें रौद्र अग्नि का समावेश देखकर—इन्द्र सोचने लगे कि सूर्य और चन्द्रमा का घोर संयोग देख पड़ता है। इससे यह सूचना मिलती है कि रात्रि के अन्त में महायुद्ध होगा ॥१४।१७॥

नदियां उलटी बह रही हैं और उनमें जल की जगह रक्त देख पड़ता है, सियारी सूर्य की ओर मुँह करके बोल रही है, यह रौद्र तेज प्रज्वलित हो रहा है और सूर्य तथा अग्नि से चन्द्रमा का अद्भुत समागम देख पड़ रहा है। ऐसा जान पड़ता है कि चन्द्रमा जो पुत्र उत्पन्न करेंगे वही इस देवी का पति होगा। अथवा ये सर्वगुणवान् सर्वदेवमय अग्नि जो पुत्र उत्पन्न करेंगे वह इस देवी का पति होगा। यों सोचकर इन्द्र उसी समय ब्रह्मलोक को गये। देवसेना को पितामह ब्रह्मा के पास ले जाकर इन्द्र कहने लगे—हे भगवन्! आपको प्रणाम है। आप इस देवी के लिए कोई शूर और योग्य पति बता दीजिए ॥१८।२२॥

ब्रह्मा ने कहा—हे दानवों के शत्रु! तुमने जिस तरह सोचा है उसी तरह एक बलवान् पराक्रमी पुत्र उत्पन्न होकर तुम्हारी सहायता करनेवाला सेनापति और इस देवी का पति होगा। ब्रह्मा के वचन सुनकर इन्द्र ने उन्हें प्रणाम किया। फिर वहां से वे उस कन्या को साथ लिये हुए वसिष्ठ आदि शक्तिशाली ब्रह्मर्षियों की यज्ञशाला में आये। अन्यान्य देवता

वसिष्ठप्रमुखा मुख्या विप्रेंद्राः सुमहाबलाः ।
भागार्थं तपसो धातुं तेषां सोमं तथाऽध्वरे ॥ २६ ॥
पिपासवो ययुर्देवाः शतक्रतुपुरोगमाः ।
इष्टिं कृत्वा यथान्यायं सुसमिद्धे हुताशने ॥ २७ ॥
जुहुवुस्ते महात्मानो हव्यं सर्वदिवौकसाम् ।
समाहूतो हुतवहः सोऽद्भुतः सूर्यमंडलात् ॥ २८ ॥
विनिःसृत्य ययौ वह्निर्वाग्यतो विधिवत्प्रभुः ।
आगम्याऽऽहवनीय वै तैर्द्विजैर्मंत्रतो हुतम् ॥ २९ ॥
स तत्र विविधं हव्य प्रतिगृह्य हुताशनः ।
ऋषिभ्यो भरतश्रेष्ठ प्रायच्छत दिवौकसाम् ॥ ३० ॥
निष्क्रामंश्चाऽप्यपश्यत्स पत्नीस्तेषां महात्मनाम्।
स्वेष्वासनेषूपविष्टाः स्वपंतीश्च यथासुखम् ॥ ३१ ॥
रुक्मवेदिनिभास्तास्तु चंद्रलेखा इवाऽमलाः ।
हुताशनार्चिप्रतिमाः सर्वास्तारा इवाऽद्भुताः ॥ ३२ ॥
स तत्र तेन मनसा बभूव क्षुभितेंद्रियः ।
पत्नीर्दृष्ट्वा द्विजेंद्राणां वह्निः कामवशं ययौ ॥ ३३ ॥
भूयः संचिंतयामास न न्याय्य क्षुभितो ह्यहम्।
साध्व्यःपत्न्यो द्विजेंद्राणामकामाःकामयाम्यहम्॥ ३४ ॥
नैताः शक्या मया द्रष्टुं स्प्रष्टुं वाऽप्यनिमित्ततः ।
गार्हपत्यं समाविश्य तस्मात्पश्याम्यभीक्ष्णशः ॥ ३५ ॥

भी सोमरस पीने के लालच से वहा पर आये। महर्षियों ने प्रज्वलित अग्नि में यथाविधि इष्टि करके देवताओं के लिए आहुति देना प्रारम्भ किया। इस समय परम अद्भुत अग्नि भी, आहुति देने पर, सूर्यमण्डल से निकलकर चुपचाप वहा पर आ गये। महर्षियों के मन्त्रपूत हव्य को लेकर, देवताओं को पहुँचाकर, अग्नि जब वहा से जाने लगे तब उन्होंने देखा कि महर्षियों की स्त्रियों में कोई बैठी हुई है और कोई पड़ी सो रही है ॥२३।३१॥

वे मुनि पत्निया सुवर्ण की वेदी, चन्द्रमा की कला, अग्नि की शिखा और तारागण की पङ्क्ति के समान हृदय को प्रसन्न करनेवाली थीं। उनको देखकर अग्निदेव काम के बाणों से पीड़ित हो गये। उनकी इन्द्रिया विचलित हो गईं, परन्तु उन्होंने उसी

मार्कंडेय उवाच—संस्पृशन्निव सर्वास्ताः शिखाभिः कांचनप्रभाः ।
पश्यमानश्च मुमुदे गार्हपत्यं समाश्रितः ॥ ३६ ॥
निरुष्य तत्र सुचिरमेवं वह्निर्वशं गतः ।
मनस्तासु विनिक्षिप्य कामयानो वरांगनाः ॥ ३७ ॥
कामसंतप्तहृदयो देहत्यागविनिश्चितः ।
अलाभे ब्राह्मणस्त्रीणामग्निर्वनमुपागमत् ॥ ३८ ॥
स्वाहा तं दक्षदुहिता प्रथमं कामयत्तदा ।
सा तस्य छिद्रमन्वैच्छच्चिरात्प्रभृति भाविनी ॥ ३९ ॥
अप्रमत्तस्य देवस्य न च पश्यत्यनिंदिता ।
सा तं ज्ञात्वा यथावत्तु वह्निं वनमुपागतम् ॥ ४० ॥
तत्त्वतः कामसंतप्तं चिंतयामास भाविनी ।
अहं सप्तर्षिपत्नीनां कृत्वा रूपाणि पावकम् ॥ ४१ ॥
कामयिष्यामि कामार्तां तासां रूपेण मोहितम् ।
एवं कृते प्रीतिरस्य कामावाप्तिश्च मे भवेत् ॥ ४२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते मार्कंडेयसमास्यापर्वणि आंगिरसे स्कंदोत्पत्तौ चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२२४॥

समय सोचा कि मेरा यों चञ्चल होना उचित नहीं। ब्राह्मणों की स्त्रियां पतिव्रता और कामनाहीन हैं; इनके प्रति मेरे हृदय में इच्छा उत्पन्न होना उचित नहीं है। मैं अकारण इन्हें न तो छू ही सकता हूं और न देख ही सकता हूं। इसलिए मैं गार्हपत्य अग्नि में प्रवेश करके इनको देखूंगा ॥३२।३५॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—इसके पश्चात् गार्हपत्य अग्नि में प्रवेश करके अग्निदेव ने अपना मनोरथ सिद्ध किया। वे सुवर्ण के रङ्गवाली ऋषि-पत्नियों को देखकर और अपनी ज्वालाओं से छूकर बहुत ही आनन्दित हुए। इस प्रकार कामना के अधीन होकर वे मुनि-पत्नियों को अपना हृदय अर्पण करके बहुत देर तक वहां ठहरे रहे। अन्त को उन्हें पाने की आशा न होने पर उन्होंने देहत्याग का विचार कर लिया। फिर कामाग्नि से व्याकुल अग्नि वन को चले गये। उसी समय दक्ष की कन्या स्वाहा अग्नि पर आसक्त हो रही थी। वह बहुत दिनों से अग्नि का दोष ढूंढ रही थी; पर अग्नि के सावधान रहने से स्वाहा को सफलता नहीं हुई थी। इस समय यह जानकर कि अग्नि वास्तव में काम-पीड़ित होकर वन को जा रहे हैं, स्वाहा ने सोचा कि अग्नि सप्तर्षियों की पत्नियों के रूप पर मोहित हो गये हैं इसलिए मैं उनका रूप रखकर अग्नि को भजूं तो वे भी प्रसन्न होंगे और मेरी इच्छा भी पूर्ण होगी ॥३६।४२॥

वनपर्व का दो सौ चौबीस अध्याय समाप्त हुआ ॥२२४॥

अथ पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२२५॥

मार्कंडेय उवाच—शिवा भार्या त्वंगिरसः शीलरूपगुणान्विता ।
तस्याः सा प्रथमं रूपं कृत्वा देवी जनाधिप ॥ १ ॥
जगाम पावकाभ्याशं तं चोवाच वरांगना ।
मामग्ने कामसंतप्तां त्वं कामयितुमर्हसि ॥ २ ॥
करिष्यसि न चेदेवं मृतां मामुपधारय ।
अहमंगिरसो भार्या शिवा नाम हुताशन ।
शिष्टाभिः प्रहिता प्राप्ता मंत्रयित्वा विनिश्चयम् ॥ ३ ॥

अग्निरुवाच—कथं मां त्वं विजानीषे कामार्तमितराः कथम् ।
यास्त्वया कीर्तिताःसर्वाः सप्तर्षीणां प्रियाः स्त्रियः॥ ४ ॥

शिवोवाच—अस्माकं त्वं प्रियो नित्यं बिभीमस्तु वयं तव ।
त्वच्चित्तमिंगितैर्ज्ञात्वा प्रेषिताऽस्मि तवांतिकम् ॥ ५ ॥
मैथुनायेह संप्राप्ता कामं प्राप्तं द्रुतं चर ।
जामयो मां प्रतीक्षंते गमिष्यामि हुताशन ॥ ६ ॥

मार्कण्डेय उवाच—ततोऽग्निरुपयेमे तां शिवां प्रीतिमुदा युतः ।
प्रीत्या देवी समायुक्ता शुक्रं जग्राह पाणिना ॥ ७ ॥
अचिंतयन्ममेदं ये रूपं द्रक्ष्यंति कानने ।

दो सौ पचीस अध्याय ॥२२५॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं कि हे महाराज ! स्वाहा पहले अङ्गिरा की स्त्री शील गुण-रूपवती शिवा का रूप रखकर अग्नि के पास गई । उसने कहा—हे अग्नि ! मुझे काम सता रहा है इसलिए तुम मेरी इच्छा पूरी करो; नहीं तो मै अपनी जान दे दूगी । हे हुताशन ! मैं महर्षि अङ्गिरा की पत्नी हूँ; मेरा नाम शिवा है । अपनी सखियों से सलाह करके मैं तुम्हारे पास आई हूँ । अग्नि ने पूछा—हे सुन्दरी ! मेरे काम-पीड़ित होने का हाल तुमने कैसे जाना ? और, जिन ऋषि पत्नियों का तुमने उल्लेख किया वे तुम्हारी सखिया कैसी हैं ? ॥१।४॥

स्वाहा ने कहा—तुम हमें सदा से प्रिय हो, पर हम तुमसे छिड़कती थीं । ऋषि-पत्नियों ने तुम्हारे इङ्गित से तुम्हारा अभिप्राय जानकर मुझे तुम्हारे पास भेजा है । मैं रति की इच्छा से आई हूं । इसलिए तुम शीघ्र मेरी इच्छा पूरी करो । मेरे पति मेरी राह देख रहे होंगे; मैं झटपट लौट जाना चाहती हू ॥५।६॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे युधिष्ठिर ! तब अग्नि ने प्रसन्न होकर स्वाहा की इच्छा पूरी की । देवी स्वाहा ने प्रसन्न होकर अग्नि के शुक्र को हाथ

ते ब्राह्मणीनामनृतं दोषं वक्ष्यंति पावके ॥ ८ ॥
तस्मादेतद्रक्ष्यमाणा गरुडी संभवाम्यहम् ।
वनान्निर्गमनं चैव सुखं मम भविष्यति ॥ ९ ॥
मार्कंडेय उवाच—सुपर्णी सा तदा भूत्वा निर्जगाम महावनात् ।
अपश्यत्पर्वतं श्वेतं शरस्तंबैः सुसंवृतम् ॥ १० ॥
दृष्टीविषैः सप्तशीर्षैर्गुप्तं भोगिभिरद्भुतैः ।
रक्षोभिश्च पिशाचैश्च रौद्रैर्भूतगणैस्तथा ॥ ११ ॥
राक्षसीभिश्च संपूर्णमनेकैश्च मृगद्विजैः ।
सा तत्र सहसा गत्वा शैलपृष्ठं सुदुर्गमम् ॥ १२ ॥
प्राक्षिपत्कांचने कुंडे शुक्रं सा त्वरिता शुभा ।
सप्तानामपि सा देवी सप्तर्षीणां महात्मनाम् ॥ १३ ॥
पत्नीसरूपतां कृत्वा कामयामास पावकम् ।
दिव्यरूपमरुंधत्याः कर्तुं न शकितं तया ॥ १४ ॥
तस्यास्तपःप्रभावेण भर्तृशुश्रूषणेन च ।
षट्कृत्वस्तत्तु निक्षिप्तमग्ने रेतः कुरूत्तम ॥ १५ ॥
तस्मिन्कुंडे प्रतिपदि कामिन्या स्वाहया तदा ।
तत्स्कन्नं तेजसा तत्र संवृतं जनयत्सुतम् ॥ १६ ॥

में ले लिया। पीछे वह सोचने लगी कि वन में जो कोई मेरा यह रूप देख लेगा तो मुनिपत्नियों को अग्नि-समागम का कलङ्क अकारण ही लग जायगा। इसलिए मैं इस वीर्य की रक्षा के लिए गरुड़ पक्षी का रूप रख लूँ। तब मैं सुखपूर्वक इस वन से निकल जाऊँगी ॥७।९॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—यों सोचकर स्वाहा ने वही रूप रख लिया। वन से निकलकर उसने देखा कि सामने श्वेत पर्वत है और उस पर तमाम सेंठे का वन लगा हुआ है। दृष्टि से ही जला देने की शक्ति रखनेवाले सात सिर के भयानक नाग, बहुत से राक्षस, पिशाच, भूत, राक्षसी, मृग और पक्षी आदि उस भयानक वन में भरे पड़े हैं। उस दुर्गम पर्वत के ऊपर स्वाहा ने काञ्चनकुण्ड में वह अग्नि का तेज डाल दिया ॥१०।१३॥

हे महाराज! स्वाहा ने इस तरह छः बार छः ऋषियों की पत्नियों के रूप रख-रखकर अग्नि के साथ अपनी इच्छा पूरी की। किन्तु वशिष्ठ की स्त्री अरुन्धती स्वभाव से ही परम पतिव्रता और तेजस्विनी तपस्विनी थीं, इस कारण उनके दिव्य रूप को स्वाहा नहीं रख सकी। स्वाहा ने इस तरह छः बार—प्रत्येक बार प्रतिपदा तिथि को—अग्नि का तेज उसी

ऋषिभिः पूजितं स्कन्नमनयत्स्कंदतां ततः ।
षट्शिरा द्विगुणश्रोत्रो द्वादशाक्षिभुजक्रमः ॥ १७ ॥
एकग्रीवैकजठरः कुमारः समपद्यत ।
द्वितीयायामभिव्यक्तस्तृतीयायां शिशुर्बभौ ॥ १८ ॥
अंगप्रत्यंगसंभूतश्चतुर्थ्यामभवद्गुहः ।
लोहिताभ्रेण महता संवृतः सह विद्युता ॥ १९ ॥
लोहिताभ्रे सुमहति भाति सूर्य इवोदितः ।
गृहीतं तु धनुस्तेन विपुलं लोमहर्षणम् ॥ २० ॥
न्यस्तं यत्त्रिपुरघ्नेन सुरारिविनिकृंतनम् ।
तद् गृहीत्वा धनुःश्रेष्ठं ननाद बलवांस्तदा ॥ २१ ॥
संमोहयन्निवेमान्स त्रीँल्लोकान्सचराचरान् ।
तस्य तं निनदं श्रुत्वा महामेघौघनिःस्वनम् ॥ २२ ॥
उत्पेततुर्महानागौ चित्रश्चैरावतश्च ह ।
तावापतंतौ संप्रेक्ष्य स बालोऽर्कसमद्युतिः ॥ २३ ॥
द्वाभ्यां गृहीत्वा पाणिभ्यां शक्तिं चाऽन्येन पाणिना ।
अपरेणाऽग्निदायादस्ताम्रचूडं भुजेन सः ॥ २४ ॥
महाकायमुपश्लिष्टं कुक्कुटं बलिनां वरम् ।
गृहीत्वा व्यनदद्भीमं चिक्रीड च महाभुजः ॥ २५ ॥

काञ्चनकुण्ड में लाकर डाला। तब उससे ऋषि-पूजित एक पुत्र उत्पन्न हुआ। स्कन्द, अर्थात् स्खलित, तेज से जन्म होने के कारण उस बालक का नाम स्कन्द पड़ा ॥१४।१७॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! स्कन्द के छ सिर, एक पेट, एक गरदन और हाथ, आंख, कान आदि अङ्ग बारह-बारह हुए। वे द्वितीया को कुछ प्रकट, तृतीया को शिशुरूप और चतुर्थी को सब अङ्ग प्रत्यङ्गों से शोभित हो उठे। बिजलियों से शोभित लाल रङ्ग-वाले बादलों से व्याप्त आकाशमण्डल में स्थित तीक्ष्ण तेजवाले सूर्य के समान स्कन्द की कान्ति चारों ओर फैलने लगी। फिर उस तेजस्वी कुमार ने त्रिपुर-दहन महादेव का, दानवदलन विशाल भयानक, धनुष अपने हाथ में लिया ॥१८।२०॥

वह धनुष लेकर महाबली स्कन्द ने घोर सिंहनाद किया। वह शब्द सुनकर सब चराचर प्राणी मोहित से हो गये। स्कन्द का मेघगर्जन के समान सिंहनाद सुनकर चित्र और ऐरावत नाम के

द्वाभ्यां भुजाभ्यां बलवान्गृहीत्वा शंखमुत्तमम् ।
प्राध्मापयत्स भूतानां त्रासनं बलिनामपि ॥ २६ ॥
द्वाभ्यां भुजाभ्यामाकाशं बहुशो निजघान ह ।
क्रीडन्भाति महासेनस्त्रींल्लोकान्वदनैः पिबन् ॥ २७ ॥
पर्वताग्रेऽप्रमेयात्मा रश्मिमानुदये यथा ।
स तस्य पर्वतस्याऽग्रे निषण्णोऽद्भुतविक्रमः ॥ २८ ॥
व्यलोकयदमेयात्मा मुखैर्नानाविधैर्दिशः ।
स पश्यन्विविधान्भावांश्चकार निनदं पुनः ॥ २९ ॥
तस्य तं निनदं श्रुत्वा न्यपतन्बहुधा जनाः ।
भीताश्चोद्विग्नमनसस्तमेव शरणं ययुः ॥ ३० ॥
ये तु तं संश्रिता देवं नानावर्णास्तदा जनाः ।
तानप्याहुः पारिषदान्ब्राह्मणाः सुमहाबलान् ॥ ३१ ॥
स तूत्थाय महाबाहुरुपसांत्व्य च ताञ्जनान् ।
धनुर्विकृष्य व्यसृजद्बाणाञ्श्वेते महागिरौ ॥ ३२ ॥
बिभेद स शरैः शैलं क्रौंचं हिमवतः सुतम् ।
तेन हंसाश्च गृध्राश्च मेरुं गच्छांति पर्वतम् ॥ ३३ ॥

दोनों दिग्गज उनकी ओर दौड़े । बाल सूर्य सदृश तेजस्वी अग्नि-पुत्र महाबाहु कुमार उनको आते देखकर एक हाथ में शक्ति को, एक हाथ में मुर्गे को और दो हाथों में उन दिग्गजों को लेकर भयानक शब्द करते हुए क्रीड़ा करने लगे ॥२१।२५॥

वे अन्य दो हाथों में शङ्ख लेकर बजाने लगे। उस शङ्ख के गम्भीर महाशब्द को सुनकर बड़े-बड़े बली प्राणी भी डर गये । अन्य दो हाथों से वे आकाश को पीटने लगे । उदयाचल पर सूर्य के समान शोभायमान स्कन्द उस पर्वत पर इस भयानक भाव से क्रीड़ा कर रहे थे, मानों तीनों लोकों को पी जायेंगे । अद्भुत पराक्रमी कार्तिकेय उस पर्वत पर बैठकर चारों ओर देखने लगे, क्योंकि उनके छ मुँह थे । वे पर्वत पर से जगत् के विविध भावों को देखकर फिर गरजने लगे। उनके उस घोर शब्द से व्याकुल होकर, डरकर, अनेक वर्ण के सब लोग उनकी शरण में आये ॥२६।३०॥

उस समय जो लोग उनकी शरण में आये वे महाशक्तिशाली पारिषद ब्राह्मण नाम से प्रसिद्ध हुए। फिर महाबाहु कुमार उन शरणागतों को अभय देकर उठ खड़े हुए और धनुष चढ़ाकर श्वेत पर्वत पर बाणों की वर्षा करने लगे । स्कन्द ने हिमवान् के पुत्र उस क्रौञ्च पर्वत को अपने बाणों से तोड़ डाला । हंस और गिद्ध पक्षी, उसी छेद की राह से,

स विशीर्णोऽपतच्छैलो भृशमार्तस्वरान्रुवन् ।
तस्मिन्निपतिते त्वन्ये नेदुः शैला भृशं तदा ॥ ३४ ॥
स तं नादं भृशार्तानां श्रुत्वाऽपि बलिनां वरः ।
न प्राच्यवदमेयात्मा शक्तिमुद्यम्य चाऽनदत् ॥ ३५ ॥
सा तदा विमला शक्तिः क्षिप्ता तेन महात्मना ।
बिभेद शिखरं घोरं श्वेतस्य तरसा गिरेः ॥ ३६ ॥
स तेनाऽभिहतो दीर्णो गिरिः श्वेतोऽचलैः सह ।
उत्पपात महीं त्यक्त्वा भीतः स सुमहात्मनः ॥ ३७ ॥
ततः प्रव्यथिता भूमिर्व्यशीर्यत समंततः ।
आर्ता स्कंदं समासाद्य पुनर्बलवती बभौ ॥ ३८ ॥
पर्वताश्च नमस्कृत्य तमेव पृथिवीं गताः ।
अथैनमभजल्लोकः स्कंदं शुक्लस्य पंचमीम् ॥ ३९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते मार्कंडेयसमास्यापर्वणि आंगिरसे कुमारोत्पत्तौ पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२२५

अब तक सुमेरु पर्वत पर जाते हैं ॥३१।३३॥

विदीर्ण होकर क्रौञ्च पर्वत घोर आर्तनाद करने लगा। उसकी यह दशा देखकर और पर्वत भी चिल्लाने लगे। महाबली कार्त्तिकेय उन पर्वतों के आर्तनाद को सुनकर तनिक भी विचलित नहीं हुए। वे हाथ में शक्ति तानकर गरजने लगे। महात्मा कार्त्तिकेय ने वह शक्ति चलाकर उसी समय श्वेत पर्वत के भारी शिखर को गिरा दिया। फट जाने पर वह श्वेत पर्वत स्कन्द से डरकर पृथ्वी छोड़कर भाग गया। उधर पर्वत का शिखर फटकर ऊपर गिरने से पृथ्वी बहुत ही व्यथित हुई। वह चारों ओर फट गई। स्कन्द की शरण में आने से पृथ्वी फिर प्रबल हो उठी। सब पर्वत भी स्कन्द को प्रणाम करके फिर पृथ्वी पर स्थित हुए। तभी से सब लोग शुक्लपक्ष की पञ्चमी को कार्त्तिकेय की पूजा किया करते हैं ॥३४।३९॥

—o—

वनपर्व का दो सौ पचीस अध्याय समाप्त हुआ ॥२२५॥

अथ षड्विंशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२२६॥

मार्कंडेय उवाच—तस्मिन्जाते महासत्त्वे महासेने महाबले ।
समुत्तस्थुर्महोत्पाता घोररूपाः पृथग्विधाः ॥ १ ॥

दो सौ छब्बीस अध्याय ॥२२६॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे युधिष्ठिर! महासत्त्व महाबली कार्त्तिकेय का जन्म होने पर अनेक प्रकार के घोर उत्पात देख पड़ने लगे। स्त्रियों और पुरुषों में परस्पर विरोध होने लगा। जाड़ा-गरमी

स्त्रीपुंसोर्विपरीतं च तथा द्वंद्वानि यानि च ।
ग्रहा दीप्ता दिशः खं च ररास च मही भृशम् ॥ २ ॥
ऋषयश्च महाघोरान्दृष्ट्वोत्पातान्समंततः ।
अकुर्वञ्शांतिमुद्विग्ना लोकानां लोकभावनाः ॥ ३ ॥
निवसंति वने ये तु तस्मिंश्चैत्ररथे जनाः ।
तेऽब्रुवन्नेष नोऽनर्थः पावकेनाऽऽहितो महान् ॥ ४ ॥
संगम्य षड्भिः पत्नीभिः सप्तर्षीणामिति स्म ह ।
अपरे गरुडीमाहुस्त्वयाऽनर्थोऽयमाहृतः ॥ ५ ॥
यैर्दृष्टा सा तदा देवी तस्या रूपेण गच्छती ।
न तु तत्स्वाहया कर्म कृतं जानाति वै जनः ॥ ६ ॥
सुपर्णी तु वचः श्रुत्वा ममाऽयं तनयस्त्विति ।
उपगम्य शनैः स्कंदमाहाऽहं जननी तव ॥ ७ ॥
अथ सप्तर्षयः श्रुत्वा जातं पुत्रं महौजसम् ।
तत्यजुः षट् तदा पत्नीर्विना देवीमरुन्धतीम् ॥ ८ ॥
षड्भिरेव तदा जातमाहुस्तद्वनवासिनः ।
सप्तर्षीनाह च स्वाहा मम पुत्रोऽयमित्युत ॥ ९ ॥
अहं जाने नैतदेवमिति राजन्पुनः पुनः ।
विश्वामित्रस्तु कृत्वेष्टिं सप्तर्षीणां महामुनिः ॥ १० ॥

आदि द्वन्द्व धर्मों का प्रभाव बढ़ने लगा। ग्रह, दिशाएँ और आकाशमण्डल प्रज्वलित सा हो उठा। पृथ्वी में घोर शब्द हुआ। लोक-रक्षा करनेवाले ऋषि लोग चारों ओर अनेक भयानक उत्पात देख-कर बहुत व्याकुल हुए और शान्ति करने लगे। उस समय चैत्ररथ वन में रहनेवाले लोग कहने लगे कि अग्नि ने सप्तर्षियों की छः पत्नियों से सहवास करके हम लोगों के लिए यह महा अनर्थ खड़ा कर दिया है। जिन लोगों ने इस वन से पक्षी का रूप रखकर स्वाहा को जाते देखा था वे उसी को इन उत्पातों की उत्पत्ति का कारण कहने लगे। किन्तु यह किसी को नहीं मालूम हुआ कि स्वाहा ने यह कर्म किया है। उधर सुपर्णी (पक्षी का रूप रक्खे हुए स्वाहा) ने जब ये बातें सुनीं तब वह स्कन्द को ही अपना पुत्र समझकर धीरे-धीरे उनके पास जाकर कहने लगी—हे बेटा! मैं ही तुम्हारी माता हूँ। उसी समय सप्तर्षियों ने प्रचण्ड प्रतापी पुत्र स्कन्द के उत्पन्न होने का वृत्तान्त सुना तो अरुन्धती के सिवा और

पावकं कामसंतप्तमदृष्टः पृष्ठतोऽन्वगात् ।
तत्तेन निखिलं सर्वमवबुद्धं यथातथम् ॥ ११ ॥
विश्वामित्रस्तु प्रथमं कुमारं शरणं गतः ।
स्तवं दिव्यं संप्रचक्रे महासेनस्य चापि सः ॥ १२ ॥
मंगलानि च सर्वाणि कौमाराणि त्रयोदश ।
जातकर्मादिकास्तस्य क्रियाश्चक्रे महामुनिः ॥ १३ ॥
षड्वक्त्रस्य तु माहात्म्यं कुक्कुटस्य तु साधनम् ।
शक्त्या देव्याः साधनं च तथा पारिषदामपि ॥ १४ ॥
विश्वामित्रश्चकारैतत्कर्म लोकहिताय वै ।
तस्माहर्षिः कुमारस्य विश्वामित्रोऽभवत्प्रियः ॥ १५ ॥
अन्वजानाच्च स्वाहाया रूपान्यत्वं महामुनिः ।
अब्रवीच्च मुनीन्सर्वान्नाऽपराध्यंति वै स्त्रियः ॥ १६ ॥
श्रुत्वा तु तत्त्वतस्तस्मात्ते पत्नीः सर्वतोऽत्यजन् ।
मार्कंडेय उवाच—स्कंदं श्रुत्वा तदा देवा वासवं सहिताऽब्रुवन् ॥ १७ ॥
अविषह्यबलं स्कंदं जहि शक्राऽऽशु मा चिरम् ।
यदि वा न निहंस्येन देवेंद्रोऽयं भविष्यति ॥ १८ ॥

सब पत्नियों को त्याग दिया ॥१-८॥

क्योंकि वनवासी लोग अरुन्धती को छोड़कर शेष छ पत्नियों को ही स्कन्द की माता कह रहे थे। तब स्वाहा ने सप्तर्षियों से आकर कहा—यह पुत्र मेरा है। तुम्हारी पत्नियों ने इस बालक को उत्पन्न नहीं किया है। सप्तर्षियों का यज्ञकार्य समाप्त होने के पश्चात् महामुनि विश्वामित्र गुप्त रूप से कामपीड़ित अग्नि के पीछे गये थे। इस कारण वे सारा हाल जानते थे। वही पहले कुमार के शरणागत होकर उनकी दिव्य स्तुति करने लगे थे। विश्वामित्र ने ही कुमार के तेरह मङ्गल-कर्म और जात-कर्म आदि संस्कार किये थे। विश्वामित्र ने ही लोकहित के लिए कार्त्तिकेय के माहात्म्य का वर्णन, कुक्कुट-साधन, शक्ति साधन, देवी और पारिषदों का साधन आदि कार्य किये, इसी से वे स्कन्ददेव को अत्यन्त प्रिय हैं। विश्वामित्र ने सप्तर्षियों के पास जाकर उनको स्कन्द जन्म का भेद बतलाया। उन्होंने कहा—इसमें तुम्हारी पत्नियों का कुछ अपराध नहीं है, उनका रूप रखकर स्वाहा ने यह पुत्र उत्पन्न किया है। किन्तु आदि से अन्त तक सब हाल सुनकर भी, लोकापवाद के भय से, ऋषियों ने अपनी स्त्रियों को छोड़ ही दिया ॥९-१७॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं कि इधर कार्त्तिकेय के जन्म का वृत्तान्त सुनकर सब देवता इन्द्र से कहने

त्रैलोक्यं सन्निगृह्याऽस्मांस्त्वां च शक्र महाबल ।
स तानुवाच व्यथितो बालोऽयं सुमहाबलः ॥ १९ ॥
स्रष्टारमपि लोकानां युधि विक्रम्य नाशयेत् ।
न बालमुत्सहे हंतुमिति शक्रः प्रभाषते ॥ २० ॥
तेऽब्रुवन्नास्ति ते वीर्यं यत एवं प्रभाषसे ।
सर्वास्त्वयाऽभिगच्छंतु स्कंदं लोकस्य मातरः॥ २१ ॥
कामवीर्या घ्नंतु चैनं तथेत्युक्त्वा च ता ययुः ।
तमप्रतिबलं दृष्ट्वा विषण्णवदनास्तु ताः ॥ २२ ॥
अशक्योऽयं विचिंत्यैवं तमेव शरणं ययुः ।
ऊचुश्चैनं त्वमस्माकं पुत्रो भव महाबल ॥ २३ ॥
अभिनंदस्व नः सर्वाः प्रस्नुताः स्नेहविक्लवाः ।
तासां तद्वचनं श्रुत्वा पातुकामः स्तनान्प्रभुः ॥ २४ ॥
ताः संपूज्य महासेनः कामांश्चाऽऽसां प्रदाय सः ।
अपश्यदग्निमायांतं पितरं बलिनां बली ॥ २५ ॥
स तु संपूजितस्तेन सह मातृगणेन ह ।
परिवार्य महासेनं रक्षमाणः स्थितः शिवः ॥ २६ ॥

लगे—हे देव ! स्कन्द का बल और तेज असह्य हो रहा है, इसलिए शीघ्र उनका नाश कीजिए। यदि आप स्कन्द को मार न डालेंगे तो वे महाबली कुमार सब लोकों को, हमको और आपको भी अपने वश में करके इन्द्रपद पर विराजमान होंगे। देवताओं की इन बातों से व्याकुल होकर इन्द्र ने कहा—इस में सन्देह नहीं कि स्कन्द महाबली हैं और युद्ध में पराक्रम प्रकट करके सब लोकों के विधाता ब्रह्मा का भी संहार कर सकते हैं, तो भी बालक हैं। भला बच्चे को मैं क्या मारूं ? इन्द्र के यों कहने पर देवताओं ने कहा—आप डरपोक हैं, इसलिए ऐसी बात कहते हैं। खैर, अब ये इच्छानुसार पराक्रम प्रकट करनेवाली लोकमातृकाएं स्कन्द के पास जाकर उन्हें नष्ट करें। मातृकाएं स्वीकार करके वहां से चल पड़ीं, पर कार्तिकेय का अप्रतिम बल देख-कर उनके चेहरों पर मुर्दनी छा गई। कार्तिकेय का वध असंभव समझकर वे उनकी शरण में गईं और कहने लगीं—हे महाबली! तुम हमारे पुत्र हो जाओ। हम तुम्हारे स्नेह से अत्यन्त विवश हो रही हैं। यह देखो, हमारे स्तनों से दूध की धारा बह निकली है। इसलिए तुम हमें माता मान लो ॥१८।२४॥

यह सुनकर कुमार ने दूध पीने की इच्छा से उनका सत्कार किया। फिर स्कन्द ने महाबली पिता

सर्वासां या तु मातृणां नारी क्रोधसमुद्भवा ।
धात्री स्वपुत्रवत्स्कंदं शूलहस्ताऽभ्यरक्षत ॥ २७ ॥
लोहितस्योदधेः कन्या क्रूरा लोहितभोजना ।
परिष्वज्य महासेनं पुत्रवत्पर्यरक्षत ॥ २८ ॥
अग्निर्भूत्वा नैगमेयश्छागवक्त्रो वहुप्रजः ।
रमयामास शैलस्थं वालं क्रीडनकैरिव ॥ २९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते मार्कंडेयसमास्यापर्वणि आंगिरसे स्कन्दोत्पत्तौ षड्विंशाधिकद्विशततमोऽध्याय. ॥२२६॥

अग्नि को आते देखकर विधिपूर्वक उनकी पूजा की। मातृकाओं के साथ उन्हें घेरकर अग्नि भी उनकी रक्षा करने लगे। अब मातृकागण के क्रोध से उत्पन्न एक स्त्री शूल हाथ में लेकर, अपने पुत्र की तरह, कार्त्तिकेय की रक्षा करने लगी। क्रूर स्वभाववाली, लाल समुद्र की कन्या, लोहितभोजना, अपने बच्चे की तरह छाती से लगाकर स्कन्द की रक्षा करने लगी। वेद में प्रसिद्ध वैदिक अग्नि, बकरे का रूप रखकर, अपनी बहुत सी सन्तानों के साथ वहाँ आकर कुमार को तरह-तरह के खिलौनों से सन्तुष्ट करने लगे॥२५।२९॥

—o—

वनपर्व का दो सौ छब्बीस अध्याय समाप्त हुआ ॥२२६॥

अथ सप्तविंशाधिकद्विशततमोऽध्याय ॥२२७॥

मार्कंडेय उवाच—ग्रहाः सोपग्रहाश्चैव ऋषयो मातरस्तथा ।
हुताशनमुखाश्चैव दृप्ताः पारिषदां गणाः ॥ १ ॥
एते चाऽन्ये च बहवो घोरास्त्रिदिववासिनः ।
परिवार्य महासेनं स्थिता मातृगणैः सह ॥ २ ॥
संदिग्धं विजयं दृष्ट्वा विजयेप्सुः सुरेश्वरः ।
आरुह्यैरावतस्कंधं प्रययौ दैवतैः सह ॥ ३ ॥

दो सौ सताईस अध्याय ॥२२७॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर! ग्रह, उपग्रह, ऋषि, मातृकागण, अग्नि आदि पारिषदगण और घोर स्वर्गनिवासीगण चारों ओर से घेरकर कार्त्तिकेय की रक्षा करने लगे। जय की इच्छा रखनेवाले इन्द्र ऐरावत पर चढ़कर, वज्र हाथ में लेकर, देवताओं के साथ शीघ्रता से स्कन्द की ओर बढ़े। यद्यपि उनके हृदय में हिंसा का भाव था, परन्तु विजय होने का उन्हें भरोसा न था। देवसेना के योद्धा विचित्र ध्वजा, धनुष और वाहन आदि से सजकर अपनी प्रभा का प्रकाश फैलाते हुए इन्द्र के साथ-साथ चले। सुन्दर वस्त्र पहने, श्री-युत, इन्द्र को अपनी ओर मारने की इच्छा से आते देखकर स्कन्द

आदाय वज्रं बलवान्सर्वैर्देवगणैर्वृतः ।
विजिघांसुर्महासेनमिंद्रस्तूर्णतरं ययौ ॥ ४ ॥
उग्रं तं च महानादं देवानीकं महाप्रभम् ।
विचित्रध्वजसन्नाहं नानावाहनकार्मुकम् ॥ ५ ॥
प्रवरांबरसंवीतं श्रिया जुष्टमलंकृतम् ।
विजिघांसुं तमायांतं कुमारः शक्रमन्वयात् ॥ ६ ॥
विनदन्पार्थ देवेशो द्रुतं याति महाबलः ।
संहर्षयन्देवसेनां जिघांसुः पावकात्मजम् ॥ ७ ॥
संपूज्यमानस्त्रिदशैस्तथैव परमर्षिभिः ।
समीपमथ संप्राप्तः कार्तिकेयस्य वासवः ॥ ८ ॥
सिंहनादं ततश्चक्रे देवेशः सहितैः सुरैः ।
गुहोऽपि शब्दं तं श्रुत्वा व्यनदत्सागरो यथा ॥ ९ ॥
तस्य शब्देन महता समुद्भूतोदधिप्रभम् ।
बभ्राम तत्र तत्रैव देवसैन्यमचेतनम् ॥ १० ॥
जिघांसूनुपसंप्राप्तान्देवान्दृष्ट्वा स पावकिः ।
विससर्ज मुखात्क्रुद्धः प्रवृद्धाः पावकार्चिषः ॥ ११ ॥
अदहद्देवसैन्यानि वेपमानानि भूतले ।
ते प्रदीप्तशिरोदेहाः प्रदीप्तायुधवाहनाः ॥ १२ ॥
प्रच्युताः सहसा भांति व्यस्तास्तारागणा इव ।

भी उनकी ओर बढ़े । महाबली इन्द्र सिंहनाद करते हुए उनकी ओर चले । उससे देव-सेना का उत्साह और आनन्द दूना हो गया । देवता और महर्षि इन्द्र की स्तुति कर रहे थे । इन्द्र ने कार्त्तिकेय के पास पहुँचकर ज़ोर से सिंहनाद किया । वह शब्द सुनकर कुमार भी महासागर की तरह गरजने लगे। कुमार के उस भयानक शब्द को सुनकर देव-सेना अचेत सी हो गई ॥१।१०॥

मारने की इच्छा से देवताओं को अपनी ओर आते देखकर क्रोध के मारे कुमार अपने मुँह से प्रबल अग्नि की ज्वालाएँ उगलने लगे । उनमें जल-भुनकर देवता पृथ्वी पर लोटने लगे । किसी का सिर, किसी का शरीर, किसी के शस्त्र और किसी का वाहन जल गया । इधर-उधर तितर-बितर होकर सब देवता छिन्न-भिन्न तारों के गुच्छे के समान जान पड़ने लगे । जब शरीर जलने लगे तब सब देवता

दह्यमानाः प्रपन्नास्ते शरणं पावकात्मजम् ॥ १३ ॥
देवा वज्रधरं त्यक्त्वा ततः शांतिमुपागताः ।
त्यक्तो देवैस्ततः स्कंदे वज्रं शक्रो न्यपातयत् ॥ १४ ॥
तद्विसृष्टं जघानाऽऽशु पार्श्वं स्कंदस्य दक्षिणम् ।
विभेद च महाराज पार्श्वं तस्य महात्मनः ॥ १५ ॥
वज्रप्रहारात्स्कंदस्य संजातः पुरुषोऽपरः ।
युवा कांचनसन्नाहः शक्तिधृग्दिव्यकुंडलः ॥ १६ ॥
यद्वज्रविशनाज्जातो विशाखस्तेन सोऽभवत् ।
संजातमपरं दृष्ट्वा कालानलसमद्युतिम् ॥ १७ ॥
भयादिंद्रस्तु तं स्कंदं प्रांजलिः शरणं गतः ।
तस्याऽभयं ददौ स्कंदः सह सैन्यस्य सत्तमः ।
ततः प्रहृष्टास्त्रिदशा वादित्राण्यभ्यवादयन् ॥ १८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते मार्कंडेयसमास्यापर्वणि आंगिरसे इन्द्रस्कन्दसमागमे सप्तविंशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

इन्द्र को छोड़कर कुमार के शरणागत हुए जिससे उन्हें शान्ति मिली। इधर देवता जब छोड़कर चले गये तब इन्द्र ने कुमार के ऊपर वज्र चलाया। हे महाराज! इन्द्र के हाथ से छूटा हुआ वह वज्र कुमार के दाहने अङ्ग में लगा। जहां पर वज्र ने घाव किया, वहां से एक युवा पुरुष प्रकट हुआ। वह सुवर्ण का कवच और दिव्य कुण्डल पहने हुए था। उसके हाथ में शक्ति थी। वज्र के प्रवेश से उत्पन्न होने के कारण उस पुरुष का नाम विशाख हुआ। उस कालाग्नि सदृश तेजस्वी पुरुष को देखकर इन्द्र बहुत ही भयभीत हुए। वे स्कन्द की शरण में आये। उन्होंने सेनासहित इन्द्र को अभयदान किया। अब प्रसन्न होकर देवता बाजे बजाने लगे॥११।१८॥

—०—

वनपर्व का दो सौ सत्ताईस अध्याय समाप्त हुआ॥२२७॥

अथ अष्टविंशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२२८॥

मार्कंडेय उवाच—स्कंदपारिषदान्घोरान्शृणुष्वाऽद्भुतदर्शनान् ।
वज्रप्रहारात्स्कंदस्य जज्ञुस्तत्र कुमारकाः ॥ १ ॥

दो सौ अट्ठाईस अध्याय ॥२२८॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर! अब स्कन्द के घोररूप अद्भुत पारिषदों का विवरण सुनो। वज्र के प्रहार द्वारा स्कन्द के शरीर से कुमार ग्रह उत्पन्न हुए। वे दारुण कुमार ग्रह गर्भस्थ और

ये हरंति शिशूञ्जातान्गर्भस्थांश्चैव दारुणाः ।
वज्रप्रहारात्कन्याश्च जज्ञिरेऽस्य महाबलाः ॥ २ ॥
कुमारास्ते विशाखं च पितृत्वे समकल्पयन् ।
स भूत्वा भगवान्संख्ये रक्षंश्छागमुखस्तदा ॥ ३ ॥
वृतः कन्यागणैः सर्वैरात्मीयैः सह पुत्रकैः ।
मातॄणां प्रेक्षतीनां च भद्रशाखश्च कौसलः ॥ ४ ॥
ततः कुमारपितरं स्कंदमाहुर्जना भुवि ।
रुद्रमग्निमुखां स्वाहां प्रदेशेषु महाबलम् ॥ ५ ॥
यजंति पुत्रकामाश्च पुत्रिणश्च सदा जनाः ।
यास्तास्त्वजनयत्कन्यास्तपोनाम हुताशनः ॥ ६ ॥
किं करोमीति ताः स्कंदं संप्राप्ताः समभाषयन् ।
कुमार्य ऊचुः—भवेम सर्वलोकस्य मातरो वयमुत्तमाः ॥ ७ ॥
प्रसादात्तव पूज्याश्च प्रियमेतत्कुरुष्व नः ।
सोऽब्रवीद्बाढमित्येवं भविष्यध्वं पृथग्विधाः ॥ ८ ॥
शिवाश्चैवाऽशिवाश्चैव पुनः पुनरुदारधीः ।
ततः संकल्प्य पुत्रत्वे स्कंदं मातृगणोऽगमत् ॥ ९ ॥
काकी च हलिमा चैव मालिनी बृंहिता तथा ।

उत्पन्न हुए बच्चों को हर ले जाते हैं। वज्रप्रहार के द्वारा स्कन्द के शरीर से शक्तिशालिनी कन्याएँ भी उत्पन्न हुईं। उन कुमारों ने कार्तिकेय को अपना पिता मान लिया। छागमुख होकर अग्नि ने मातृकाओं के सामने कन्या, आत्मीय, पुत्रगण-सहित कुमार कार्तिकेय की रक्षा की थी। इसी से लोग उन्हें पिता कहते हैं। कहीं-कहीं पुत्र की इच्छा रखनेवाले लोग अग्नि को रुद्र और अग्निमुखा स्वाहा को उमा मानकर उनकी उपासना करते हैं। तप नाम के अग्नि ने जिन कन्याओं को उत्पन्न किया था, वे जब स्कन्द के पास आईं तब स्कन्द ने उनसे कहा—कहो, तुम क्या चाहती हो? मैं तुम्हारा कौन सा कार्य करूँ? कुमारियों ने कहा—तुम हमारा यह प्रिय करो कि तुम्हारे प्रसाद से सब लोग हमको माता समझकर हमारी पूजा करें। बारम्बार "ऐसा ही होगा" कहकर स्कन्द ने उनसे कहा—तुम शिवा (शुभ) और अशिवा (अशुभ) दो तरह की मानी जाओगी। तब वे मातृकाएँ स्कन्द को अपना पुत्र मानकर चली गईं ॥१-९॥

काकी, हलिमा, मालिनी, बृंहिता, आर्या, पलाला

आर्या पलाला वैमित्रा सप्तैताः शिशुमातरः ॥ १० ॥
एतासां वीर्यसंपन्नः शिशुर्नामाऽतिदारुणः ।
स्कंदप्रसादजः पुत्रो लोहिताक्षो भयंकरः ॥ ११ ॥
एष वीराष्टकः प्रोक्तःस्कंदमातृगणोद्भवः ।
छागवक्त्रेण सहितो नवकः परिकीर्त्यते ॥ १२ ॥
षष्ठं छागमयं वक्त्रं स्कंदस्यैवेति विद्धि तत् ।
षट्शिरोभ्यंतरं राजन्नित्यं मातृगणार्चितम् ॥ १३ ॥
षण्णां तु प्रवरं तस्य शीर्षाणामिह शब्दते ।
शक्तिं येनाऽसृजद्दिव्यां भद्रशाख इति स्म ह ॥ १४ ॥
इत्येतद्विविधाकारं वृत्तं शुक्लस्य पंचमीम् ।
तत्र युद्धं महाघोरं वृत्तं षष्ठयां जनाधिप ॥ १५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते मार्कंडेयसमास्यापर्वणि आंगिरसे कुमारोत्पत्तौ अष्टविंशाधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२२८॥

और वैमित्रा, ये सातों शिशु की माताएँ है। स्कन्द की कृपा से इनके शिशु नाम से प्रसिद्ध, पराक्रमी, लोहित-लोचन, भयङ्कर, बालक उत्पन्न हुआ। शिशु आठवें वीर गिने जाते हैं किन्तु छागमुख की भी गिनती इसी गण में करने से ये मिलकर नवें हो जाते हैं। यह छागमुख ही कार्त्तिकेय का छठा मुख है। यह अन्य मुखों में प्रधान और सब मुखों को बीच में है। सब मातृकाओं की इस मुख पर बड़ी श्रद्धा है। भद्रशाख ने इसी मुख के प्रभाव से दिव्य शक्ति की सृष्टि की है। हे राजेन्द्र! इस प्रकार शुक्ल पक्ष की पञ्चमी को विविध पार्षदों की सृष्टि और छठ को महाघोर युद्ध हुआ ॥१०।१५॥

वनपर्व का दो सौ अट्ठाईस अध्याय समाप्त हुआ ॥२२८॥

अथ ऊनत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्याय ॥२२९॥

मार्कंडेय उवाच—उपविष्टं तु तं स्कंदं हिरण्यकवचस्रजम् ।
हिरण्यचूडमुकुटं हिरण्याक्षं महाप्रभम् ॥ १ ॥
लोहितांबरसंवीतं तीक्ष्णदंष्ट्रं मनोरमम् ।
सर्वलक्षणसंपन्नं त्रैलोक्यस्याऽपि सुप्रियम् ॥ २ ॥

दो सौ उनतीस अध्याय ॥२२९॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर! सुवर्ण की कलगी से शोभित मुकुट, सुवर्ण का कवच, सुवर्ण की ही माला और लाल वस्त्र पहने हुए कार्त्तिकेय सुन्दर सुवर्णमय आसन पर विराजमान

ततस्तं वरदं शूरं युवानं मृष्टकुंडलम् ।
अभजत्पद्मरूपा श्रीः स्वयमेव शरीरिणी ॥ ३ ॥
श्रिया जुष्टः पृथुयशाः सकुमारवरस्तदा ।
निषण्णो दृश्यते भूतैः पौर्णमास्यां यथा शशी ॥ ४ ॥
अपूजयन्महात्मानो ब्राह्मणास्तं महाबलम् ।
इदमाहुस्तदा चैव स्कंदं तत्र महर्षयः ॥ ५ ॥
ऋषय ऊचु —हिरण्यगर्भ भद्रं ते लोकानां शंकरो भव ।
त्वया षड्रात्रजातेन सर्वे लोका वशीकृताः ॥ ६ ॥
अभयं च पुनर्दत्तं त्वयैवैषां सुरोत्तम ।
तस्मादिंद्रो भवानस्तु त्रैलोक्यस्याऽभयंकर ॥ ७ ॥
स्कंद उवाच—किमिंद्रः सर्वलोकानां करोतीह तपोधनाः ।
कथं देवगणांश्चैव पाति नित्यं सुरेश्वरः ॥ ८ ॥
ऋषय ऊचु —इंद्रो दधाति भूतानां बलं तेजः प्रजाः सुखम् ।
तुष्टः प्रयच्छति तथा सर्वान्कामान्सुरेश्वरः ॥ ९ ॥
दुर्वृत्तानां संहरति व्रतस्थानां प्रयच्छति ।
अनुशास्ति च भूतानि कार्येषु बलसूदनः ॥ १० ॥
असूर्ये च भवेत्सूर्यस्तथाऽचंद्रे च चंद्रमाः ।
भवत्यग्निश्च वायुश्च पृथिव्यापश्च कारणैः ॥ ११ ॥

हुए। उनके नेत्रों की ज्योति सुवर्ण के समान चमकीली थी। स्वयं पद्मरूपिणी लक्ष्मी ने मानों उन्हें भजा लक्ष्मी के समागम से स्कन्द देव पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान शोभायमान हुए। ब्राह्मण लोग सब लक्षणों से युक्त, तीनों लोकों के निवासियों को प्रिय, वर देनेवाले, जवान, सुन्दर कुण्डलों से शोभित, महाबली स्कन्द की पूजा करने लगे ॥१-५॥

वहां के निवासी महर्षि इस प्रकार स्कन्द की स्तुति करने लगे—हे हिरण्यगर्भ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम सब लोगों का भला करो। तुम्हारा जन्म हुए केवल छ दिन हुए हैं; इतने ही समय में तुमने सब लोकों को वश में कर लिया है। इसलिए तुम त्रिभुवन को अभय देनेवाले इन्द्र का पद ग्रहण करो। कार्त्तिकेय ने पूछा—हे तपस्वियो! इन्द्र देव सब लोकों का कौन सा कार्य करते हैं? वे देवताओं की रक्षा किस तरह करते हैं? ऋषियों ने कहा—इन्द्र देव सब प्राणियों को तेज, बल और सुख देते हैं। सन्तुष्ट होने पर वे मनुष्यों की सब इच्छाएँ

एतदिंद्रेण कर्तव्यमिंद्रे हि विपुलं बलम् ।
त्वं च वीर बली श्रेष्ठस्तस्मादिंद्रो भवस्व नः ॥ १२ ॥

शक्र उवाच—भवस्वेंद्रो महाबाहो सर्वेषां नः सुखावहः ।
अभिषिच्यस्व चैवाऽद्य प्राप्तरूपोऽसि सत्तम ॥ १३ ॥

स्कंद उवाच—शाधि त्वमेव त्रैलोक्यमव्यग्रो विजये रतः ।
अहं ते किंकरः शक्र न ममेंद्रत्वमीप्सितम् ॥ १४ ॥

शक्र उवाच—बलं तवाऽद्भुतं वीर त्वं देवानामरीञ्जहि ।
अवज्ञास्यंति मां लोका वीर्येण तव विस्मिताः ॥ १५ ॥
इंद्रत्वे तु स्थितं वीर बलहीनं पराजितम् ।
आवयोश्च मिथो भेदे प्रयतिष्यंत्यतंद्रिताः ॥ १६ ॥
भेदिते च त्वयि विभो लोको द्वैधमुपेष्यति ।
द्विधाभूतेषु लोकेषु निश्चितेष्वावयोस्तथा ॥ १७ ॥
विग्रहः संप्रवर्तेत भूतभेदान्महाबल ।
तत्र त्वं मां रणे तात यथाश्रद्धं विजेष्यसि ॥ १८ ॥
तस्मादिंद्रो भवानेव भविता मा विचारय ।

स्कद उवाच—त्वमेव राजा भद्रं ते त्रैलोक्यस्य ममैव च ॥ १९ ॥

पूरी करते है । वे दुष्टों का संहार और शिष्टों की रक्षा करते हुए सब प्राणियों को उनके कार्यों में लगाते है ॥९।१०॥

वे सूर्यहीन स्थान के सूर्य और चन्द्रहीन स्थान के चन्द्रमा हैं । ये भिन्न-भिन्न कारणों से अग्नि, वायु, पृथ्वी और जल का रूप भी धारण करते हैं। ये ही सब इन्द्र के करने के काम है । उनका बल असीम है । हे वीर ! तुम भी बलवानों में श्रेष्ठ हो इसलिए तुम हमारे इन्द्र बनो ॥११।१२॥

इन्द्र ने भी स्कन्द से कहा—हे महाबाहु ! तुम इन्द्रपद ग्रहण करके हम सबको सुखी करो। तुम समर्थ हो, इसलिए हम तुम्हारा अभिषेक करने के लिए तैयार हैं। स्कन्द ने कहा—हे इन्द्र ! तुम शत्रु-विजय में तत्पर रहकर बेखटके तीनों लोकों का राज्य करो। मैं तुम्हारा सेवक हूँ । मैं इन्द्रपद नहीं चाहता ॥१३।१४॥

इन्द्र ने कहा—हे वीर ! तुम्हारा बल विचित्र है, इसलिए तुम देवताओं के शत्रुओं का नाश करो। सब लोग तुम्हारे पराक्रम को देखकर बहुत ही विस्मित हुए हैं । यदि इस तरह बलहीन और तुमसे पराजित होकर भी मैं इन्द्र के पद पर स्थित रहूँगा तो वे मेरा अनादर करेंगे । वे हम दोनों में भेद डालने के लिए विशेष यत्न करेंगे। यदि उनका यत्न सफल हो गया तो लोगों के दो दल हो जायँगे;

करोमि किं च ते शक्र शासनं तद्ब्रवीहि मे ।

इन्द्र उवाच—अहमिंद्रो भविष्यामि तव वाक्यान्महाबल ॥ २० ॥
यदि सत्यमिदं वाक्यं निश्चयाद्भाषितं त्वया ।
यदि वा शासनं स्कंद कर्तुमिच्छसि मे शृणु ॥ २१ ॥
अभिषिच्यस्व देवानां सेनापत्ये महाबल ।

स्कंद उवाच—दानवानां विनाशाय देवानामर्थसिद्धये ॥ २२ ॥
गोब्राह्मणहितार्थाय सेनापत्येऽभिषिंच माम् ।

मार्कंडेय उवाच—सोऽभिषिक्तो मघवता सर्वैर्देवगणैः सह ॥ २३ ॥
अतीव शुशुभे तत्र पूज्यमानो महर्षिभिः ।
तत्र तत्कांचनं छत्रं ध्रियमाणं व्यरोचत ॥ २४ ॥
यथैव सुसमिद्धस्य पावकस्याऽऽत्ममंडलम् ।
विश्वकर्मकृता चाऽस्य दिव्या माला हिरण्मयी॥ २५ ॥
आबद्धा त्रिपुरघ्नेन स्वयमेव यशस्विना ।
आगम्य मनुजव्याघ्र सह देव्या परंतप ॥ २६ ॥
अर्चयामास सुप्रीतो भगवान्गोवृषध्वजः ।
रुद्रमग्निं द्विजाः प्राहू रुद्रसूनुस्ततस्तु सः ॥ २७ ॥

एक दल तुम्हारे पक्ष में होगा और दूसरा दल मेरे पक्ष में होगा। उस समय मुझमें और तुममें झगड़ा हो जायगा। तब युद्ध में तुम अपनी इच्छा के अनुसार मुझे जीत लेंगे। इसलिए कुछ विचार न करके तुम इन्द्र का पद ग्रहण कर लो॥१५।१९॥

स्कन्द ने कहा—हे इन्द्र! तुम्हारा भला हो। तुम त्रिलोकी के और मेरे भी प्रभु हो। आज्ञा दो, मैं क्या करूँ? इन्द्र कहा—हे बलनिधान मैं तुम्हारा कहा मानकर इन्द्रपद को नहीं छोड़ता। किन्तु जो तुमने यह वचन कि "तुम मेरे और त्रिभुवन के स्वामी हो" सत्य कहा है, और यदि तुम मेरी आज्ञा मानने के लिए तैयार हो, तो देवताओं के सेनापति का पद ग्रहण करो। स्कन्द ने कहा—अच्छी बात है। हे इन्द्र! दानवों के विनाश, देवताओं के प्रयोजन की सिद्धि और गो ब्राह्मणों के हित के लिए मुझे देवताओं का सेनापति बनाओ ॥२०।२३॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर! अब देवताओं सहित इन्द्र ने कार्तिकेय को सेनापति बना दिया। महर्षियों ने भी उनकी पूजा की। उस समय स्कन्द की बड़ी शोभा हुई। उनके मस्तक पर सुवर्ण का छत्र प्रज्वलित अग्निमण्डल के समान शोभित हुआ। हे पुरुषसिंह! स्वयं त्रिपुर-दहन् महादेव देवी पार्वती के साथ वहाँ पर आये।

रुद्रेण शुक्रमुत्सृष्टं तच्छ्वेतः पर्वतोऽभवत् ।
पावकस्येंद्रियं श्वेते कृत्तिकाभिः कृतं नगे ॥ २८ ॥
पूज्यमानं तु रुद्रेण दृष्ट्वा सर्वे दिवौकसः ।
रुद्रसूनुं ततः प्राहुर्गुहं गुणवतां वरम् ॥ २९ ॥
अनुप्रविश्य रुद्रेण वह्निं जातो ह्ययं शिशुः ।
तत्र जातस्ततः स्कंदो रुद्रसूनुस्ततोऽभवत् ॥ ३० ॥
रुद्रस्य वह्नेः स्वाहायाः षण्णां स्त्रीणां च भारत ।
जातः स्कंदः सुरश्रेष्ठो रुद्रसूनुस्ततोऽभवत् ॥ ३१ ॥
अरजे वाससी रक्ते वसानः पावकात्मजः ।
भाति दीप्तवपुः श्रीमान्रक्ताभ्राभ्यामिवांऽशुमान् ३२ ॥
कुक्कुटश्चाऽग्निना दत्तस्तस्य केतुरलंकृतः ।
रथे समुच्छ्रितो भाति कालाग्निरिव लोहितः ॥ ३३ ॥
या चेष्टा सर्वभूतानां प्रभा शांतिर्बलं तथा ।
अग्रतस्तस्य सा शक्तिर्देवानां जयवर्धिनी । ३४ ॥
विवेश कवचं चाऽस्य शरीरे सहजं तथा ।
युध्यमानस्य देवस्य प्रादुर्भवति तत्सदा ॥ ३५ ॥

उन्होंने आकर विश्वकर्मा की बनाई काञ्चनमयी माला उनके गले में पहना दी और प्रसन्नतापूर्वक उनकी प्रशंसा की। ब्राह्मण लोग अग्नि को रुद्र कहते हैं। इसी कारण कार्त्तिकेय का नाम रुद्रसुनु है। रुद्र अर्थात् अग्नि ने श्वेतपर्वत पर अपना शुक्र त्याग दिया था। कृत्तिकाओं के यत्न से वह शुक्र स्कन्द के रूप में वृद्धि को प्राप्त हुआ। रुद्र को स्कन्द का अभिनन्दन करते देखकर देवताओं ने उन्हें रुद्रसुनु कहा है। अग्नि में प्रविष्ट रुद्र के द्वारा स्कन्द का जन्म हुआ है, इसी से वे रुद्रसुनु कहाते हैं। किसी-किसी का मत है कि रुद्ररूप अग्नि के वीर्य से, ऋषि-पत्नीरूपिणी स्वाहा के गर्भ से, जन्म लेने के कारण स्कन्द का नाम रुद्रसुनु पड़ा है ॥२४।३१॥

पावक-पुत्र कार्त्तिकेय का प्रभायुक्त शरीर, अक्षय लाल वस्त्र पहनने से, लाल बादलों से ढके हुए सूर्य के समान प्रकाशमान था। उनके रथ पर, अलङ्कृत ध्वजा के रूप में, अग्नि का दिया हुआ मुर्गा लाल रङ्ग के कालाग्नि के समान शोभित हो रहा था। सब प्राणियों की चेष्टा, प्रभा, शान्ति, बल और देवताओं की जय बढ़ानेवाली शक्ति उनके आगे उपस्थित थी। इसी समय उनके शरीर पर स्वाभाविक कवच भी आपसे आप प्रकट हो गया। युद्ध के अवसर पर वह सदा कार्त्तिकेय के शरीर पर देख पड़ता है ॥३२।३५॥

शक्तिर्धर्मो बलं तेजः कांतत्वं सत्यमुन्नतिः ।
ब्रह्मण्यत्वमसंमोहो भक्तानां परिरक्षणम् ॥ ३६ ॥
निकृंतनं च शत्रूणां लोकानां चाऽभिरक्षणम् ।
स्कंदेन सह जातानि सर्वाण्येव जनाधिप ॥ ३७ ॥
एवं देवगणैः सर्वैः सोऽभिषिक्तः स्वलंकृतः ।
बभौ प्रतीतः सुमनाः परिपूर्णेन्दुमंडलः ॥ ३८ ॥
इष्टैः स्वाध्यायघोषैश्च देवतूर्यवरैरपि ।
देवगन्धर्वगीतैश्च सर्वैरप्सरसां गणैः ॥ ३९ ॥
एतैश्चाऽन्यैश्च बहुभिस्तुष्टैर्हृष्टैः स्वलंकृतैः ।
सुसंवृतः पिशाचानां गणैर्देवगणैस्तथा ॥ ४० ॥
क्रीडन्भाति तदा देवैरभिषिक्तश्च पावकिः ।
अभिषिक्तं महासेनमपश्यंत दिवौकसः ॥ ४१ ॥
विनिहत्य तमः सूर्यं यथेहाऽभ्युदितं तथा ।
अथैनमभ्ययुः सर्वा देवसेनाः सहस्रशः ॥ ४२ ॥
अस्माकं त्वं पतिरिति ब्रुवाणाः सर्वतो दिशः ।
ताः समासाद्य भगवान्सर्वभूतगणैर्वृतः ॥ ४३ ॥
अर्चितस्तु स्तुतश्चैव सांत्वयामास ता अपि ।

शक्ति, धर्म, बल, तेज, कान्ति, सत्य, उन्नति, ब्रह्मनिष्ठा, मोहशून्यता, भक्तवत्सलता, शत्रुदमन और लोकरक्षा में प्रवृत्ति आदि सब श्रेष्ठ गुण उनमें जन्म से ही थे। इस प्रकार देवताओं के द्वारा सेनापति के पद पर अभिषिक्त हो जाने के उपरान्त, दिव्य अलङ्कार पहने, अत्यन्त आनन्दित स्कन्ददेव पूर्ण चन्द्रमण्डल के समान शोभा को प्राप्त हुए। दिव्य स्वाध्यायपाठ का शब्द, देवताओं के नगाड़ों का शब्द और देवताओं की स्तुति तथा गन्धर्वों के मङ्गल-गान का शब्द चारों ओर गूँज उठा। अप्सरा, पिशाच, देवता और बहुत सी प्रजा, सभी उनके चारों ओर उपस्थित थे। प्रसन्नता और आनन्द से उनके हृदय-कमल खिले हुए थे ॥३६।४०॥

कुमार उनके बीच में क्रीड़ा करने लगे। अन्धकारनाशक, प्रदीप्त मण्डलवाले सूर्य की भांति कुमार देख पड़े। इसके पश्चात् हज़ारों देवताओं की सेना आकर चारों ओर से कार्तिकेय को घेरकर खड़ी हो गई और कहने लगी—आप हमारे स्वामी हुए। उनकी पूजा और स्तुति से प्रसन्न कुमार, उनसे मिलकर, उन्हें ढाढ़स बँधाने लगे। इन्द्र जब स्कन्द

शतक्रतुश्चाऽभिषिच्य स्कंदं सेनापतिं तदा ॥ ४४ ॥
सस्मार तां देवसेनां या सा तेन विमोक्षिता ।
अयं तस्याः पतिर्नूनं विहितो ब्रह्मणा स्वयम् ॥ ४५ ॥
इति चिंत्याऽऽनयामास देवसेनां ह्यलंकृताम् ।
स्कंदं प्रोवाच बलभिदियं कन्या सुरोत्तम ॥ ४६ ॥
अजाते त्वयि निर्दिष्टा तव पत्नी स्वयंभुवा ।
तस्मात्त्वमस्या विधिवत्पाणिं मंत्रपुरस्कृतम् ॥ ४७ ॥
गृहाण दक्षिणं देव्याः पाणिना पद्मवर्चसा ।
एवमुक्तः स जग्राह तस्याः पाणिं यथाविधि ॥ ४८ ॥
बृहस्पतिर्मंत्रविद्धि जजाप च जुहाव च ।
एवं स्कंदस्य महिषीं देवसेनां विदुर्जनाः ॥ ४९ ॥
षष्ठीं यां ब्राह्मणाः प्राहुर्लक्ष्मीमाशां सुखप्रदाम् ।
सिनीवालीं कुहूं चैव सद्वृत्तिमपराजिताम् ॥ ५० ॥
यदा स्कंदः पतिर्लब्धः शाश्वतो देवसेनया ।
तदा तमाश्रयल्लक्ष्मीः स्वयं देवी शरीरिणी ॥ ५१ ॥
श्रीजुष्टः पंचमीं स्कंदस्तस्माच्छ्रीपंचमी स्मृता ।
षष्ठ्यां कृतार्थोऽभूद्यस्मात्तस्मात्षष्ठी महातिथिः ॥ ५२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते मार्कंडेयसमास्यापर्वणि आंगिरसे स्कन्दोत्पत्तौ ऊनत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्याय ॥ २२९॥

को सेनापति का पद दे चुके तब उन्होंने 'देवसेना' को याद किया, जिसे पहले सङ्कट से छुड़ाया था। इन्द्र ने सोचा कि स्वयं ब्रह्मा ने स्कन्द को ही देवसेना का पति नियत कर दिया है ॥४४।४५॥

बस, दिव्य अलङ्कार पहननेवाली देवसेना को लाकर उन्होंने स्कन्द से कहा—हे देवताओं में श्रेष्ठ ! ब्रह्माजी ने तुम्हारा जन्म होने के पहले ही इस देवी का तुम्हारी स्त्री होना निश्चित कर दिया है । तुम विधिपूर्वक इसका पाणिग्रहण करो । यह सुनकर कुमार ने विधिपूर्वक उस कन्या का पाणिग्रहण किया । मन्त्रों के ज्ञाता अभिरूप बृहस्पति ने विवाह के समय जप और होम किया । ब्राह्मण लोग उस देवसेना को षष्ठी, लक्ष्मी, आशा, सुखप्रदा, सिनीवाली, कुहू, सद्वृत्ति और अपराजिता नामों से भी पुकारते हैं । इस प्रकार कार्त्तिकेय की भार्या होकर देवसेना त्रिभुवन में प्रसिद्ध हुई । हे भरतश्रेष्ठ ! जब देवसेना ने सदा के लिए कार्त्तिकेय को पति के रूप में प्राप्त किया तब लक्ष्मी देवी ने भी मूर्त्ति-

मती होकर उनका आश्रय लिया । पञ्चमी तिथि को स्कन्द ने लक्ष्मी प्राप्त की, इसलिए वह श्रीपञ्चमी कही जाती है। वे छठ को कृतकार्य हुए थे, इसलिए वह महातिथि मानी जाती है ॥४६।५२॥

वनपर्व का दो सौ उनतीस अध्याय समाप्त हुआ ॥२२९॥

अथ त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२३०॥

मार्कंडेय उवाच—श्रिया जुष्टं महासेनं देवसेनापतिं कृतम् ।
सप्तर्षिपत्न्यः षड्देव्यस्तत्सकाशमथाऽऽगमन् ॥ १ ॥
ऋषिभिः संपरित्यक्ता धर्मयुक्ता महाव्रताः ।
द्रुतमागम्य चोचुस्ता देवसेनापतिं प्रभुम् ॥ २ ॥
वयं पुत्र परित्यक्ता भर्तृभिर्देवसंमितैः ।
अकारणाद्रुषा तैस्तु पुण्यस्थानात्परिच्युताः ॥ ३ ॥
अस्माभिः किल जातस्त्वमिति केनाऽप्युदाहृतम् ।
तत्सत्यमेतत्संश्रुत्य तस्मान्नस्त्रातुमर्हसि ॥ ४ ॥
अक्षयश्च भवेत्स्वर्गस्त्वत्प्रसादाद्धि नः प्रभो ।
त्वां पुत्रं चाप्यभीप्सामः कृत्वैतदनृणो भव ॥ ५ ॥
स्कंद उवाच—मातरो हि भवत्यो मे सुतो वोऽहमनिंदिताः ।
यच्चाऽपीच्छत तत्सर्वं संभविष्यति वस्तथा ॥ ६ ॥
मार्कंडेय उवाच—विवक्षंतं ततः शक्रं किं कार्यमिति सोऽब्रवीत् ।
उक्तः स्कंदेन ब्रूहीति सोऽब्रवीद्वासवस्ततः ॥ ७ ॥

दो सौ तीस अध्याय ॥२३०॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर ! कार्तिकेय जब सेनापति का पद और श्रेष्ठ शोभा प्राप्त कर चुके तब सप्तर्षियों की त्यागी हुई छहों स्त्रियों ने शीघ्र आकर स्कन्द से कहा—हे पुत्र ! हमारे देव-समान पतियों ने बिना कारण ही क्रोधवश होकर हमें छोड़ दिया है और पवित्र पद से हमको भ्रष्ट कर दिया है । किसी ने उनसे कह दिया है कि तुम्हारी उत्पत्ति हमारे गर्भ से हुई है । उस बात को सत्य समझकर उन्होंने हमारी यह दुर्दशा की है । इसलिए हमारी रक्षा करना तुम्हारा कर्तव्य है । हे प्रभो ! तुम्हारी ही कृपा से हमें अक्षय स्वर्ग मिल सकता है । इसी से हम तुमको अपना पुत्र बनाना चाहती हैं । तुम हमारी यह इच्छा पूरी करके, हमारे पुत्र बनकर, माता के ऋण से छुटकारा पाओगे । स्कन्द ने कहा—हे अनिन्दित ब्राह्मणियों ! आज से तुम मेरी माता हो और मैं तुम्हारा पुत्र हूँ इसके अतिरिक्त यदि और भी कुछ तुम्हारी इच्छा हो तो मैं उसे पूरा करने को तैयार हूँ ॥१।६॥

अभिजित्स्पर्धमाना तु रोहिण्या कन्यसी स्वसा ।
इच्छंती ज्येष्ठतां देवी तपस्तप्तुं वनं गता ॥ ८ ॥
तत्र मूढोऽस्मि भद्रं ते नक्षत्रं गगनाच्च्युतम् ।
कालं त्विमं परं स्कंद ब्रह्मणा सह चिंतय ॥ ९ ॥
धनिष्ठादिस्तदा कालो ब्रह्मणा परिकल्पितः ।
रोहिणी ह्यभवत्पूर्वमेवं संख्या समाऽभवत् ॥ १० ॥
एवमुक्ते तु शक्रेण त्रिदिवं कृत्तिका गताः ।
नक्षत्रं सप्तशीर्षाभं भाति तद्वह्निदैवतम् ॥ ११ ॥
विनता चाऽब्रवीत्स्कंदं मम त्वं पिंडदः सुतः ।
इच्छामि नित्यमेवाऽहं त्वया पुत्र सहाऽऽसितुम् ॥ १२ ॥
स्कंद उवाच—एवमस्तु नमस्तेऽस्तु पुत्रस्नेहात्प्रशाधि माम् ।
स्नुपया पूज्यमाना वै देवि वत्स्यसि नित्यदा ॥ १३ ॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं कि इसके पश्चात् इन्द्र की भी कुछ कहने की इच्छा देखकर स्कन्द ने कहा—कहिए, क्या करूँ? इन्द्र ने कहा—रोहिणी की छोटी बहन अभिजित् नक्षत्र, स्पर्धा के कारण, ज्येष्ठता पाने के लिए तप करने वन को गई है। आकाश से इस नक्षत्र के हट जाने को देखकर मैं कर्तव्यमूढ़ सा हो रहा हूँ। इसमें ब्रह्मा के साथ मिलकर तुम नक्षत्रों की संख्या पूरी करो। हे राजा युधिष्ठिर! पहले सत्ययुग का आरम्भ रोहिणी नक्षत्र में ही होता था। जब अभिजित् नक्षत्र का स्थान शून्य हो गया तब, इन्द्र की पूर्वोक्त प्रार्थना के अनुसार, ब्रह्मा और स्कन्द के विधान से सत्ययुग के आरम्भ का योग धनिष्ठा नक्षत्र में होने लगा। जिस नक्षत्र के आदिकाल में चन्द्रमा, सूर्य और बृहस्पति का एकत्र समावेश होता है वही युग के आदि का नक्षत्र होता है। अभिजित् के पतन से, समय संख्या के समान न रहने से यह योग धनिष्ठा में ही होने लगा। हे राजेन्द्र! इस प्रकार इन्द्र के कहने पर, स्कन्द की इच्छा के अनुसार, ऋषि पत्नियाँ कृत्तिका नक्षत्र के नाम से प्रसिद्ध होकर आकाश में चली गईं, क्योंकि यही इन्द्र का तात्पर्य था कि कृत्तिका नक्षत्र बढ़ाकर अभिजित् नक्षत्र की कमी पूरी कर दो। कृत्तिका नक्षत्र के अधिष्ठाता देवता अग्नि हुए। वह नक्षत्र [छकड़े के आकार में स्थित] छः ताराओं का समूह है और आकाश में नित्य देख पड़ता है। इसी बीच में विनता (गरुड़ की माता) ने कार्त्तिकेय से आकर कहा—हे पुत्र! तुम मेरे पिण्ड देनेवाले पुत्र हो इसलिए मैं सदा तुम्हारे सङ्ग रहना चाहती हूँ। [हे राजा युधिष्ठिर! तुम्हें स्मरण होगा कि स्वाहा, गरुड़ जाति की चिड़िया का रूप रखकर, अग्नि का शुक्र लिये श्वेत पर्वत पर गई थी इसी से विनता ने आकर स्कन्द से यह प्रार्थना की।]॥७।१२॥

स्कन्द ने कहा—मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ।

मार्कंडेय उवाच—अथ मातृगणः सर्वः स्कंदं वचनमब्रवीत् ।
वयं सर्वस्य लोकस्य मातरः कविभिः स्तुताः ।
इच्छामो मातरस्तुभ्यं भवितुं पूजयस्व नः ॥ १४ ॥
स्कंद उवाच—मातरो हि भवत्यो मे भवतीनामहं सुतः ।
उच्यतां यन्मया कार्यं भवतीनामथेप्सितम् ॥ १५ ॥
मातर ऊचुः—यास्तु ता मातरः पूर्वं लोकस्याऽस्य प्रकल्पिताः ।
अस्माकं तु भवेत्स्थानं तासां चैव न तद्भवेत् ॥ १६ ॥
भवेम पूज्या लोकस्य न ताः पूज्याः सुरर्षभ ।
प्रजाऽस्माकं हृतास्ताभिस्त्वत्कृते ताः प्रयच्छ नः॥१७ ॥
स्कंद उवाच—दृत्ताः प्रजा न ताः शक्या भवतीभिर्निषेवितुम् ।
अन्यां वः कां प्रयच्छामि प्रजां यां मनसेच्छथ॥ १८ ॥
मातर ऊचुः—इच्छाम तासां मातॄणां प्रजा भाक्तुं प्रयच्छ नः ।
त्वया सह पृथग्भूता ये च तासामथेश्वराः ॥ १९ ॥
स्कंद उवाच—प्रजा वो दद्मि कष्टं तु भवतीभिरुदाहृतम् ।
परिरक्षत भद्रं वः प्रजाः साधुनमस्कृताः ॥ २० ॥

मैं तुम्हारा मनोरथ पूरा करूंगा। तुम पुत्र के स्नेह से मेरे साथ रहो। तुम्हारी बहू देवसेना सदा तुम्हारी सेवा करेगी। मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर, इसके पश्चात् विनता आदि मातृकाओं ने आकर स्कन्द से कहा—हम सब लोकों की माता हैं, इसी कारण विद्वान् लोग हमारी स्तुति करते हैं। इस समय हम तुम्हारी भी जननी होना चाहती हैं ॥१३।१४॥

स्कन्द ने कहा—तुम सब मेरी माता हो और मैं तुम्हारा पुत्र हूं। कहिए, मैं क्या करूँ? मातृकाओं ने कहा—हे ब्राह्मी! माहेश्वरी आदि जो देवियां अब तक लोकमाता मानी जाती हैं उनका स्थान हमें प्राप्त हो; अर्थात् सब लोग उन्हें माता मानना और पूजना छोड़कर हमें माता समझें और हमारी पूजा करें। इसके अतिरिक्त उन ब्राह्मी आदि ने हमें तुम्हारी उत्पत्ति के सम्बन्ध का मिथ्या कलङ्क लगाकर हमारे पतियों को क्रोधित कर दिया है। पतियों के छोड़ देने से हमारे सन्तान होना भी मातृकाओं ने नष्ट कर दिया है। हम चाहती हैं कि तुम्हारी कृपा से हमारे पति हमें स्वीकार कर लें; हमारी पहले की प्रजा हमें प्राप्त हो। कुमार ने कहा—मेरे कहने से भी तुम्हारे पति तुम्हें ग्रहण न करेंगे, इसलिए तुम और प्रजा मांगो। मातृकाओं ने कहा—अच्छा तो हम तुम्हारे साथ रहकर उन मातृकाओं की प्रजा को और उनके पिता-माता आदि को भक्षण करना चाहती हैं। यह वर हमें दो। स्कन्द ने कहा—तुमने यह

मातर ऊचु—परिरक्षाम भद्रं ते प्रजाः स्कंद यथेच्छसि ।
त्वया नो रोचते स्कंद सहवासश्चिरं प्रभो ॥ २१ ॥

स्कंद उवाच—यावत्षोडश वर्षाणि भवंति तरुणाः प्रजाः ।
प्रबाधत मनुष्याणां तावद्रूपैः पृथग्विधैः ॥ २२ ॥
अहं च वः प्रदास्यामि रौद्रमात्मानमव्ययम् ।
परमं तेन सहिताः सुखं वत्स्यथ पूजिताः ॥ २३ ॥

मार्कण्डेय उवाच—ततः शरीरात्स्कंदस्य पुरुषः पावकप्रभः ।
भोक्तुं प्रजाः स मर्त्यानां निष्पपात महाप्रभः ॥ २४ ॥
अपतत्सहसा भूमौ विसंज्ञोऽथ क्षुधार्दितः ।
स्कंदेन सोऽभ्यनुज्ञातो रौद्ररूपोऽभवद् ग्रहः ॥ २५ ॥
स्कंदापस्मारमित्याहुर्ग्रहं तं द्विजसत्तमाः ।
विनता तु महारौद्रा कथ्यते शकुनिग्रहः ॥ २६ ॥
पूतनां राक्षसीं प्राहुस्तं विद्यात्पूतनाग्रहम् ।
कष्टा दारुणरूपेण घोररूपा निशाचरी ॥ २७ ॥
पिशाची दारुणाकारा कथ्यते शीतपूतना ।
गर्भान्सा मानुषीणां तु हरते घोरदर्शना ॥ २८ ॥

बहुत ही भयङ्कर वरदान मांगा है। मैं हाथ जोड़कर तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि तुम उन मातृकाओं के पुत्र (सम सतार) की रक्षा करो ॥१५।२०॥

मातृकाओं ने कहा—अच्छी बात है, हम तुम्हारी इच्छा से उनकी प्रजा की रक्षा करेंगी किन्तु हमें सदा तुम्हारे साथ रहने की बड़ी इच्छा है, उसे स्वीकार करो। स्कन्द ने कहा—देखो, जब तक प्रजा अर्थात् बच्चे सोलह वर्ष के पूरे न हो जायँ तब तक तुम तरह-तरह के रूपों से उन्हें सताया करो। तुमको मेरे साथ रहने की बड़ी इच्छा है, इसलिए मैं तुमको अपना एक अक्षय और रौद्र रूप देता हूँ। तुम उसके साथ सुख से रहना ॥२१।२३॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर ! इसके पश्चात् अग्नि के समान तेजस्वी और महाबली एक पुरुष स्कन्द के शरीर से प्रकट हुआ। मनुष्यों के बच्चों को खा जाना ही उसका काम हुआ। वह जन्म लेते ही भूख के मारे अचेत होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। स्कन्द की आज्ञा से वह रौद्ररूप बालग्रह हो गया। ब्राह्मणों ने उस ग्रह का नाम स्कन्दापस्मार रक्खा। हे राजेन्द्र ! मनुष्यों के बच्चों को मारनेवाले और भी महाग्रह हैं, जो स्कन्द के साथ पूजे जाते हैं। उनका वर्णन सुनो। स्कन्दापस्मार के सिवा बालघातिनी पूतना राक्षसी पूतना ग्रह के नाम से और रौद्ररूपवाली विनता शकुनि-ग्रह के नाम से प्रसिद्ध

आदितिं रेवतीं प्राहुर्ग्रहस्तस्यास्तु रैवतः ।
सोऽपि बालान्महाघोरो बाधते वै महाग्रहः ॥ २९ ॥
दैत्यानां या दितिर्माता तामाहुर्मुखमंडिकाम् ।
अत्यर्थं शिशुमांसेन संप्रहृष्टा दुरासदा ॥ ३० ॥
कुमाराश्च कुमार्यश्च ये प्रोक्ताः स्कंद संभवाः ।
तेऽपि गर्भभुजः सर्वे कौरव्य सुमहाग्रहाः ॥ ३१ ॥
तासामेव तु पत्नीनां पतयस्ते प्रकीर्तिताः ।
आजायमानान्गृह्णंति बालकान्रौद्रकर्मिणः ॥ ३२ ॥
गवां माता तु या प्राज्ञैः कथ्यते सुरभिर्नृप ।
शकुनिस्तामथाऽऽरुह्य स ह भुंक्ते शिशून्भुवि ॥ ३३ ॥
सरमा नाम या माता शुनां देवी जनाधिप ।
साऽपि गर्भान्समादत्ते मानुषीणां सदैव हि ॥ ३४ ॥
पादपानां च या माता करंजनिलया हि सा ।
वरदा सा हि सौम्या च नित्यं भूतानुकंपिनी ॥ ३५ ॥
करंजे तां नमस्यंति तस्मात्पुत्रार्थिनो नराः ।
इमे त्वष्टादशाऽन्ये वै ग्रहा मांसमधुप्रियाः ॥ ३६ ॥

है। घोर रूप और दारुण आकारवाली पिशाची निशाचरी शीत-पूतना भी एक विकट बाल-ग्रह है। शीत-पूतना ही मनुष्यजाति की स्त्रियों के गर्भों को हर ले जाती है ॥२४।२८॥

देवमाता अदिति का नाम रेवती है। रेवती के ग्रह का नाम रैवत है। यह महाघोर ग्रह भी बालकों को बड़ा कष्ट पहुंचाता है। दैत्यमाता दिति मुखमण्डिका नाम के ग्रह से प्रसिद्ध है। वह बालकों के मांस से बहुत सन्तुष्ट होती है। हे महाराज! पहले स्कन्द के शरीर से निकले हुए जिन कुमारों और कुमारियों का वर्णन किया जा चुका है, वे भी महाग्रह हैं और गर्भ को खा जाते हैं—नष्ट कर देते हैं। वे कुमार उन्हीं कुमारियों के पति हैं। वे घोर कर्म करनेवाले कुमार, अज्ञातरूप से, बालकों को हर ले जाते हैं ॥२९।३२॥

गायों की माता को सुरभि कहते हैं। वही सुरभि-ग्रह है। शकुनि-ग्रह उस पर चढ़कर उसके साथ बच्चों को खाता है। कुत्तों की माता सरमा भी एक ग्रह है। वह भी मानुषियों के गर्भ हर ले जाती है। वृक्षों की माता का नाम करंजनिलया है। वह एक सौम्यदर्शन ग्रह है। वह वरदायक और सब प्राणियों पर कृपा करनेवाला ग्रह है; इसी से पुत्र-रक्षा की इच्छा से लोग करंज के पेड़ को पूजते और उस ग्रह को प्रणाम करते हैं। ये अठा-

द्विपंचरात्रं तिष्ठंति सततं सूतिकागृहे ।
कद्रूः सूक्ष्मवपुर्भूत्वा गर्भिणीं प्रविशत्यथ ॥ ३७ ॥
भुंक्ते सा तत्र तं गर्भं सा तु नागं प्रसूयते ।
गन्धर्वाणां तु या माता सा गर्भं गृह्य गच्छति ॥ ३८ ॥
ततो विलीनगर्भा सा मानुषी भुवि दृश्यते ।
या जनित्री त्वप्सरसां गर्भमास्ते प्रगृह्य सा ॥ ३९ ॥
उपनष्टं ततो गर्भं कथयंति मनीषिणः ।
लोहितस्योदधेः कन्या धात्री स्कंदस्य सा स्मृता॥ ४० ॥
लोहितायनिरित्येवं कदंबे सा हि पूज्यते ।
पुरुषेषु यथा रुद्रस्तथाऽऽर्या प्रमदास्वपि ॥ ४१ ॥
आर्या माता कुमारस्य पृथक्कामार्थमिज्यते ।
एवमेते कुमाराणां मया प्रोक्ता महाग्रहाः ॥ ४२ ॥
यावत्षोडश वर्षाणि शिशूनां ह्यशिवास्ततः ।
ये च मातृगणाः प्रोक्ताः पुरुषाश्चैव ये ग्रहाः ॥ ४३ ॥
सर्वे स्कंदग्रहा नाम ज्ञेया नित्यं शरीरिभिः ।
तेषां प्रशमनं कार्यं स्नानं धूपमथाऽञ्जनम् ।

यह महाग्रह दस दिन तक सूतिकागृह में रहते हैं और तब तक इन मांसाहारी रुधिरप्रिय ग्रहों से बच्चों को डर बना रहता है। इसके अतिरिक्त और भी कई महाग्रह हैं। नागमाता कद्रू सूक्ष्म शरीर रख-कर गर्भिणी स्त्रियों के गर्भ में घुस जाती है और गर्भ को खा जाती है। गन्धर्वों की माता भी एक ग्रह है। वह गर्भ को हर ले जाती है, तभी स्त्रियों का गर्भ नष्ट होते देखा जाता है। अप्सराओं की माता भी एक घोर ग्रह है। वह भी गर्भ को हर ले जाती है। लोहितसागर की कन्या, स्कन्द की धाय, लोहितायनि भी एक ग्रह है। कदम्ब में उसकी पूजा होती है ॥३३।४०॥

हे राजेन्द्र! रुद्र जैसे पुरुषों में श्रेष्ठ हैं, वैसे ही कुमारजननी आर्या स्त्रियों में श्रेष्ठ हैं। लोग अपनी कामना पूरी होने के लिए उनकी भी इस दल से अलग पूजा करते हैं। मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर! बालकों को नष्ट करनेवाले ये महाग्रह हैं। जब तक बालक सोलह वर्ष का पूरा नहीं हो जाता तब तक ये उनके लिए अशुभ रहते हैं; इनसे बालकों को हानी पहुचने का खटका रहता है ॥४१।४३॥

इनमें मातृका आदि स्त्री-जाति के ग्रह और कुमार आदि पुरुष-जाति के ग्रह हैं। ये सब 'स्कन्द-ग्रह' के नाम से प्रसिद्ध हैं। मनुष्यों को चाहिए कि

बलिकर्मोपहाराश्च स्कन्दस्येज्या विशेषतः ॥ ४४ ॥
एवमभ्यर्चिताः सर्वे प्रयच्छंति शुभं नृणाम् ।
आयुर्वीर्यं च राजेंद्र सम्यक्पूजानमस्कृताः ॥ ४५ ॥
ऊर्ध्वं तु षोडशाद्वर्षाद्ये भवंति ग्रहा नृणाम् ।
तानहं संप्रवक्ष्यामि नमस्कृत्य महेश्वरम् ॥ ४६ ॥
यः पश्यति नरो देवान्जाग्रद्वा शयितोऽपि वा।
उन्माद्यति स तु क्षिप्रं तं तु देवग्रहं विदुः ॥ ४७ ॥
आसीनश्च शयानश्च यः पश्यति नरः पितॄन् ।
उन्माद्यति स तु क्षिप्रं स ज्ञेयस्तु पितृग्रहः ॥ ४८ ॥
अवमन्यति यः सिद्धान्क्रुद्धाश्चापि शपंति यम् ।
उन्माद्यति स तु क्षिप्रं ज्ञेयः सिद्धग्रहस्तु सः ॥ ४९ ॥
उपाघ्राति च यो गन्धान्रसांश्चापि पृथग्विधान् ।
उन्माद्यति स तु क्षिप्रं स ज्ञेयो राक्षसो ग्रहः ॥ ५० ॥
गन्धर्वाश्चापि यं दिव्याः संविशंति नरं भुवि ।
उन्माद्यति स तु क्षिप्रं ग्रहो गांधर्व एव सः ॥ ५१ ॥
अधिरोहंति यं नित्यं पिशाचाः पुरुषं प्रति ।

बालकों की रक्षा के लिए जल, चन्दन, धूप, बलि और उपहार चढ़ाकर—विशेष रूप से स्कन्द देव की पूजा करते रहकर—इनकी शान्ति करें। हे राजेन्द्र ! इस प्रकार प्रणाम पूजा आदि करने पर ये घोर ग्रह बालकों की आयु, वीर्य और कल्याण बढ़ाते हैं। अब देवदेव महादेव को प्रणाम करके मैं इन ग्रहों का वर्णन करता हूं जो सोलह वर्ष की अवस्था के पश्चात् मनुष्यों पर अपना प्रभाव डालते और सताते हैं ॥४४।४६॥

जो मनुष्य जागते या सोते में देवताओं को देखकर शीघ्र ही पागल हो जाता है, उसको देवग्रह की बाधा कहते हैं। जो बैठा-बैठा या सोते में पितरों को देखकर बावला हो जाता है, उसको पितृग्रह की बाधा कहते हैं। जो सिद्धों का अपमान करता है और उनके कुपित होकर शाप देने से पागल हो जाता है, उसको सिद्धग्रह की बाधा कहते हैं। जो अनेक प्रकार के गन्ध सूँघकर और चखकर शीघ्र पागल हो जाता है, उसको राक्षसग्रह की बाधा जानना चाहिए ॥४७।५०॥

जो अपने शरीर में गन्धर्वों के आवेश से एकाएक उन्मत्त हो जाता है, उसको गन्धर्वग्रह की बाधा समझो। जिस मनुष्य पर नित्य पिशाचों का आवेश होता है और वह पागल हो उठता है, उसको पिशाच ग्रह की बाधा कहते हैं। यक्षों का आवेश होने

उन्मादयति स तु क्षिप्रं ग्रहः पैशाच एव सः ॥ ५२ ॥
आविशंति च यं यक्षाः पुरुषं कालपर्यये ।
उन्मादयति स तु क्षिप्रं ज्ञेयो यक्षग्रहस्तु सः ॥ ५३ ॥
यस्य दोषैः प्रकुपितं चित्तं मुह्यति देहिनः ।
उन्मादयति स तु क्षिप्रं साधनं तस्य शास्त्रतः ॥ ५४ ॥
वैक्लव्याच्च भयाच्चैव घोराणां चापि दर्शनात् ।
उन्मादयति स तु क्षिप्रं सांत्वं तस्य तु साधनम् ॥ ५५ ॥
कश्चित्क्रीडितुकामो वै भोक्तुकामस्तथाऽपरः ।
अभिकामस्तथैवाऽन्य इत्येष त्रिविधो ग्रहः ॥ ५६ ॥
यावत्सप्तति वर्षाणि भवंत्येते ग्रहा नृणाम् ।
अतः परं देहिनां तु ग्रहतुल्यो भवेज्ज्वरः ॥ ५७ ॥
अप्रकीर्णेंद्रियं दांतं शुचिं नित्यमतंद्रितम् ।
आस्तिकं श्रद्दधानं च वर्जयंति सदा ग्रहाः ॥ ५८ ॥
इत्येष ते ग्रहोद्देशो मानुषाणां प्रकीर्तितः ।
न स्पृशंति ग्रहा भक्तान्नरान्देवं महेश्वरम् ॥ ५९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते मार्कंडेयसमास्यापर्वणि आंगिरसे मनुष्यग्रहकथने त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२३०॥

से जो पागल हो जाता है, उसको यक्ष-ग्रह की बाधा कहते है। जिस मनुष्य का चित्त कफ आदि दोषों के कोप से मोहित हो जाता है और वह पागल हो उठता है उसकी चिकित्सा वैद्यक-शास्त्र के अनुसार की जा सकती है। भय, कायरपन और घोर रूपों के दर्शन से जो विक्षिप्त हो जाता है उसके अच्छे होने का उपाय केवल समझाना और धैर्य देना ही है ॥५१।५५॥

हे राजेन्द्र! ग्रह तीन प्रकार की प्रकृति के है। किसी को खेलने की, किसी को भोग की और किसी को कामक्रिया की इच्छा होती है। सत्तर वर्ष की अवस्था तक मनुष्य को इन ग्रहों की बाधा का डर रहता है। उसके पश्चात् ज्वर और जरा (वृद्धावस्था) ही ग्रहों के समान उसको सताती है। हे राजा युधिष्ठिर! जितेन्द्रिय, शुद्ध-हृदय, पवित्र, सावधान, आस्तिक और धर्म पर श्रद्धा रखनेवाले पुरुष को इन ग्रहों की बाधा नहीं होती। महादेव के भक्त भी इन ग्रहों से बचे रहते हैं। यह मैंने मनुष्यों को ग्रहों की बाधा होने का कारण विस्तार के साथ तुमको सुना दिया है ॥५६।५९॥

वनपर्व का दो सौ तीस अध्याय समाप्त हुआ ॥२३०॥

अथ एकत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्याय ॥२३१॥

मार्कंडेय उवाच—यदा स्कंदेन मातृणामेवमेतत्प्रियं कृतम् ।
अथैनमब्रवीत्स्वाहा मम पुत्रस्त्वमौरसः ॥ १ ॥
इच्छाम्यहं त्वया दत्तां प्रीतिं परमदुर्लभाम् ।
तामब्रवीत्ततः स्कंदः प्रीतिमिच्छसि कीदृशीम् ॥ २ ॥
स्वाहोवाच—दक्षस्याऽहं प्रिया कन्या स्वाहा नाम महाभुज ।
बाल्यात्प्रभृति नित्यं च जातकामा हुताशने ॥ ३ ॥
न स मां कामिनीं पुत्र सम्यग्जानाति पावकः ।
इच्छामि शाश्वतं वासं वस्तुं पुत्र सहाऽग्निना ॥ ४ ॥
स्कंद उवाच—हव्यं कव्यं च यत्किंचिद् द्विजानां मंत्रसंस्तुतम् ।
होष्यंत्यग्नौ सदा देवि स्वाहेत्युक्त्वा समुद्धृतम् ॥ ५ ॥
अद्यप्रभृति दास्यंति सुवृत्ताः सत्पथे स्थिताः ।
एवमग्निस्त्वया सार्धं सदा वत्स्यति शोभने ॥ ६ ॥
मार्कंडेय उवाच—एवमुक्ता ततः स्वाहा तुष्टा स्कंदेन पूजिता ।
पावकेन समायुक्ता भर्त्रा स्कंदमपूजयत् ॥ ७ ॥

दो सौ इकतीस अध्याय ॥२३१॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर! इस प्रकार कुमार कार्तिकेय जब मातृकाओं का कहा कर चुके, तब स्वाहा ने आकर उनसे कहा—हे पुत्र! तुम मेरे औरस पुत्र हो अर्थात् मेरे ही गर्भ से तुम्हारा जन्म हुआ है। इसलिए मेरी बड़ी इच्छा है कि तुम मेरा परम दुर्लभ प्रिय कार्य करो। स्कन्द ने कहा—बताओ, तुम किस कार्य के करने से प्रसन्न होओगी? स्वाहा ने कहा—हे महाबाहु! मैं दक्ष की प्यारी कन्या स्वाहा हूँ। लड़कपन से अग्नि पर मेरा अनुराग है। किन्तु हे पुत्र! अग्नि अच्छी तरह नहीं जानते कि मैं उन्हें हृदय से चाहती हूँ। मैं सदा अग्नि के साथ रहना चाहती हूँ॥१।४॥

स्कन्द ने कहा—आज से वेदोक्त श्रेष्ठ मार्ग पर चलनेवाले सच्चरित्र मनुष्य ब्राह्मणों के मन्त्र पाठ के साथ जो कुछ हव्य (देवताओं का अन्न) और कव्य (पितरों का अन्न) अग्नि में आहुति-रूप से डालेंगे, उसके साथ 'स्वाहा' शब्द का उच्चारण अवश्य करेंगे। इस प्रकार अग्नि के साथ तुम सदा रहोगी॥५।६॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे महाराज! स्कन्द ने यों स्वाहा का कहना कर दिया। स्वाहा ने भी अपने पति अग्नि के साथ रहने का सौभाग्य पाकर स्कन्द की बड़ी प्रशंसा की। अब प्रजापति ब्रह्मा ने कुमार से कहा—हे स्कन्द! त्रिपुर को जलाने-

ततो ब्रह्मा महासेनं प्रजापतिरथाऽब्रवीत् ।
अभिगच्छ महादेवं पितरं त्रिपुरार्दनम् ॥ ८ ॥
रुद्रेणाऽग्निं समाविश्य स्वाहामाविश्य चोमया ।
हितार्थं सर्वलोकानां जातस्त्वमपराजितः ॥ ९ ॥
उमायोन्यां च रुद्रेण शुक्रं सिक्तं महात्मना ।
अस्मिन्गिरौ निपतितं मिंजिकामिंजिकं यतः ॥ १० ॥
संभूतं लोहितोदे तु शुक्रशेषमवापतत् ।
सूर्यरश्मिषु चाऽप्यन्यदन्यच्चैवाऽपतद्भुवि ॥ ११ ॥
आसक्तमन्यद् वृक्षेषु तदेवं पंचधाऽपतत् ।
तत्र ते विविधाकारा गणा ज्ञेया मनीषिभिः ।
तव पारिषदा घोरा य एते पिशिताशिनः ॥ १२ ॥
एवमस्त्विति चाप्युक्त्वा महासेनो महेश्वरम् ।
अपूजयदमेयात्मा पितरं पितृवत्सलः ॥ १३ ॥
मार्कंडेय उवाच—अर्कपुष्पैस्तु ते पंच गणाः पूज्या धनार्थिभिः ।
व्याधिप्रशमनार्थं च तेषां पूजां समाचरेत् ॥ १४ ॥
मिंजिकामिंजिकं चैव मिथुनं रुद्रसंभवम् ।
नमस्कार्यं सदैवेह बालानां हितमिच्छता ॥ १५ ॥

वाले महादेव तुम्हारे पिता हैं। तुम उनके अपराजित पुत्र हो। रुद्र ने ही अग्नि में प्रवेश करके स्वाहारूपिणी उमा के संयोग से, सब लोकों के भले के लिए, तुमको उत्पन्न किया है। इसलिए तुम उनके पास चले जाओ। रुद्र ने उमा में जो शुक्र स्थापित किया था, वह पहले इस पर्वत पर गिरकर मिञ्जिका-मिञ्जिक के जोड़े के रूप में प्रकट हुआ था।७।१०।

उस शुक्र का बचा हुआ कुछ अंश क्रमशः लोहितसागर में, सूर्य की किरणों में, भूतल में और वृक्ष की जड़ में गिरा। इस प्रकार वह शुक्र पाच भागों में बँट गया। उसी से ये घोररूप, विविध आकारवाले, मांसभक्षी, तुम्हारे पारिषद उत्पन्न हुए हैं। ब्रह्मा की यह बात मान कर पिता के भक्त कार्त्तिकेय ने महादेव की पूजा की ॥११।१३॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर! धन और आरोग्य की इच्छा रखनेवाले मनुष्यों को चाहिए कि वे मदार के फूलों से इन पाँच गणों की पूजा करें। बालकों के भले के लिए रुद्र से उत्पन्न मिञ्जिका-मिञ्जिक के जोड़े को भी प्रणाम करना चाहिए। अग्नि का शुक्र वृक्ष की जड़ में गिरने से

स्त्रियो मानुषमांसादा वृद्धिका नाम नामतः ।
वृक्षेषु जातास्ता देव्यो नमस्कार्याः प्रजार्थिभिः॥ १६ ॥
एवमेते पिशाचानामसंख्येया गणाः स्मृताः ।
घंटायाः सपताकायाः शृणु मे संभवं नृप ॥ १७ ॥
ऐरावतस्य घंटे द्वे वैजयंत्याविति श्रुते ।
गुहस्य ते स्वयं दत्ते क्रमेणाऽऽनाय्य धीमता ॥ १८ ॥
एका तत्र विशाखस्य घंटा स्कंदस्य चाऽपरा ।
पताका कार्तिकेयस्य विशाखस्य च लोहिता ॥ १९ ॥
यानि क्रीडनकान्यस्य देवैर्दत्तानि वै तदा ।
तैरेव रमते देवो महासेनो महाबलः ॥ २० ॥
स संवृतः पिशाचानां गणैर्देवगणैस्तथा ।
शुशुभे कांचने शैले दीप्यमानःश्रिया वृतः ॥ २१ ॥
तेन वीरेण शुशुभे स शैलः शुभकाननः ।
आदित्येनेवांऽशुमता मंदरश्चारुकन्दरः ॥ २२ ॥
संतानकवनैः फुल्लैः करवीरवनैरपि ।
पारिजातवनैश्चैव जपाशोकवनैस्तथा ॥ २३ ॥
कदंबतरुषंडैश्च दिव्यैर्मृगगणैरपि ।

मनुष्य-मांस खानेवाली जो वृद्धिका नाम की देवियां उत्पन्न हुई थीं उनकी पूजा भी सन्तान की इच्छा रखनेवाले मनुष्यों को करनी चाहिए। इस प्रकार स्कन्द के पारिषद असंख्य पिशाचों के अनेक गण माने गये हैं। अब स्कन्द की पताका और घण्टे की उत्पत्ति का हाल सुनो ॥१४।१७॥

इन्द्र के ऐरावत हाथी के वैजयन्त्य नाम के दो घण्टे थे। इन्द्र ने वे घण्टे मँगवाकर स्कन्द को दे दिये। उनमें से एक घण्टा स्कन्द ने लिया और दूसरा घण्टा विशाख को दे दिया। स्कन्द और विशाख दोनों की पताकाएँ लाल रङ्ग की हैं। महाबली महासेन स्कन्द को देवताओं ने जो खिलौने दिये थे, उन्हीं से वे क्रीड़ा करते हैं। हे महाराज! लक्ष्मीयुक्त कार्त्तिकेय भगवान् उस सुवर्ण-पर्वत पर पिशाचों और देवताओं के साथ विराजमान हुए। सुन्दर वनों से व्याप्त वह पर्वत, स्कन्ददेव के रहने से उदय हो रहे सूर्य से युक्त सुन्दर कन्दरावाले मन्दराचल के समान, शोभायमान हुआ ॥१८।२२॥

वह काञ्चनपर्वत पहले से ही फूले हुए सन्तानक, करवीर, पारिजात, जपा, अशोक, कदम्ब आदि वृक्षों

दिव्यैः पक्षिगणैश्चैव शुशुभे श्वेतपर्वतः ॥ २४ ॥
तत्र देवगणाः सर्वे सर्वे देवर्षयस्तथा ।
मेघतूर्यरवाश्चैव क्षुब्धोदधिसमस्वनाः ॥ २५ ॥
तत्र दिव्याश्च गन्धर्वा नृत्यंतेऽप्सरसस्तथा ।
हृष्टानां तत्र भूतानां श्रूयते निनदो महान् ॥ २६ ॥
एवं सेन्द्रं जगत्सर्वं श्वेतपर्वतसंस्थितम् ।
प्रहृष्टं प्रेक्षते स्कंदं न च ग्लायति दर्शनात् ॥ २७ ॥
मार्कंडेय उवाच—यदाऽभिषिक्तो भगवान्सैनापत्येन पावकिः ।
तदा संप्रस्थितः श्रीमान्हृष्टो भद्रवटं हरः ॥ २८ ॥
रथेनाऽऽदित्यवर्णेन पार्वत्या सहितः प्रभुः ।
सहस्रं तस्य सिंहानां तस्मिन्युक्तं रथोत्तमे ॥ २९ ॥
उत्पपात दिवं शुभ्रं कालेनाऽभिप्रचोदितम् ।
ते पिबंत इवाऽऽकाशं त्रासयंतश्चराचरान् ॥ ३० ॥
सिंहा नभस्यगच्छंत नदंतश्चारुकेसराः ।
तस्मिन्रथे पशुपतिः स्थितो भात्युमया सह ॥ ३१ ॥
विद्युता सहितः सूर्यः सेंद्रचापे घने यथा ।
अग्रतस्तस्य भगवान्धनेशो गुह्यकैः सह ॥ ३२ ॥

के वनों से और दिव्य मृग-पक्षियों से शोभित था; उस पर अब देवता, देवर्षि, नाचते-गाते हुए अप्सरा-गन्धर्व आदि के झुण्डों से और भी शोभायमान हो गया। गरजनेवाले महासागर के शब्द के समान मेघों, नगाड़ों और सब लोगों का आनन्द-कोलाहल चारों ओर गूंज उठा। श्वेतपर्वत पर विराजमान स्कन्द की शोभा देखकर इन्द्र सहित सब जगत् को अपार आनन्द हुआ। उनकी वह शोभा देखकर किसी का जी नहीं भरता था ॥२३।२७॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर! सेनापति के पद पर जब स्कन्द का अभिषेक हो चुका, तब सर्वशक्तिमान् महादेवजी पार्वती को साथ लेकर प्रसन्नतापूर्वक, सूर्य के समान चमकीले रथ पर बैठकर, भद्रवट की ओर चले। महादेवजी के रथ में श्वेत रङ्ग के हजार सिंह लगे हुए थे। काल के द्वारा चलाया गया वह रथ लेकर गरजते हुए, और उस घोर शब्द से जगत् को डराते हुए, वे सिंह आकाशमण्डल में चले। वे सिंह इस तरह गरजते जा रहे थे मानों त्रिभुवन को पी जायेंगे। इन्द्रधनुष से शोभित मेघमण्डल में बिजली के साथ विराजमान

आस्थाय तु चिरं याति पुष्पकं नरवाहनः ।
ऐरावतं समास्थाय शक्रश्चापि सुरैः सह ॥ ३३ ॥
पृष्ठतोऽनुययौ यांतं वरदं वृषभध्वजम् ।
जृम्भकैर्यक्षरक्षोभिः स्रग्विभिःसमलंकृतः ॥ ३४ ॥
यात्यमोघो महायक्षो दक्षिणं पक्षमास्थितः ।
तस्य दक्षिणतो देवा वहवश्चित्रयोधिनः ॥ ३५ ॥
गच्छंति वसुभिः सार्धं रुद्रैश्च सह संगताः ।
यमश्च मृत्युना सार्धं सर्वतः परिवारितः ॥ ३६ ॥
घोरैर्व्याधिशतैर्याति घोररूपवपुस्तथा ।
यमस्य पृष्ठतश्चैव घोरस्त्रिशिखरः शितः ॥ ३७ ॥
विजयो नाम रुद्रस्य याति शूलः स्वलंकृतः ।
तमुग्रपाशो वरुणो भगवान्सलिलेश्वरः ॥ ३८ ॥
परिवार्य शनैर्याति यादोभिर्विविधैर्वृतः ।
पृष्ठतो विजयस्यापि याति रुद्रस्य पट्टिशः ॥ ३९ ॥
गदामुसलशक्त्याद्यैर्वृतः प्रहरणोत्तमैः ।
पट्टिशं त्वन्वगाद्राजंश्छत्रं रौद्रं महाप्रभम् ॥ ४० ॥
कमंडलुश्चाऽप्यनु तं महर्षिगणसेवितः ।
तस्य दक्षिणतो भाति दंडो गच्छञ्श्रिया वृतः ॥ ४१ ॥

सूर्य के समान पार्वती सहित शङ्कर उस रथ पर बैठे जा रहे थे ॥२८।३२॥

नर-वाहन भगवान् कुबेर, यक्ष-गुह्यक लोगों के साथ, सुन्दर पुष्पक विमान पर बैठकर, उनके आगे-आगे चले। देवगण सहित इन्द्र, ऐरावत हाथी पर बैठकर, वरदानी महादेव के पीछे-पीछे चले। माला-धारी अनेक यक्ष, राक्षस, जृम्भकगण (एक प्रकार के ग्रह) आदि के साथ अमोघ नाम का महायक्ष दाहनी ओर चला। वसुगण और रुद्रगण सहित बहुत से विचित्र युद्ध करनेवाले देवता भी शङ्कर की दाहनी ओर चले। भयङ्कर व्याधियों को साथ लिए हुए घोररूप यमराज भी उनके साथ चले। तीन पैनी नोकोंवाला, रुद्र का विजय नाम का, भयङ्कर शूल यमराज के पीछे जा रहा था ॥३३।३८॥

उग्र पाश धारण करनेवाले जलेश्वर भगवान् वरुण अनेक प्रकार के जल-जन्तुओं के साथ धीरे-धीरे शङ्कर के पीछे जा रहे थे। गदा, मूसल, शक्ति आदि अनेक शस्त्रों के साथ शस्त्रों में श्रेष्ठ रुद्र का

भृग्वंगिरोभिः सहितो दैवतैश्चाऽनुपूजितः ।
एषां तु पृष्ठतो रुद्रो विमले स्यंदने स्थितः ॥ ४२ ॥
याति संहर्षयन्सर्वांस्तेजसा त्रिदिवौकसः ।
ऋषयश्चापि देवाश्च गंधर्वा भुजगास्तथा ॥ ४३ ॥
नद्यो ह्रदाः समुद्राश्च तथैवाऽप्सरसां गणाः ।
नक्षत्राणि ग्रहाश्चैव देवानां शिशवश्च ये ॥ ४४ ॥
स्त्रियश्च विविधाकारा यांति रुद्रस्य पृष्ठतः ।
सृजंत्यः पुष्पवर्षाणि चारुरूपा वरांगनाः ॥ ४५ ॥
पर्जन्यश्चाऽप्यनुययौ नमस्कृत्य पिनाकिनम् ।
छत्रं च पांडुरं सोमस्तस्य मूर्धन्यधारयत् ॥ ४६ ॥
चामरे चापि वायुश्च गृहीत्वाऽग्निश्च धिष्ठितौ ।
शक्रश्च पृष्ठतस्तस्य याति राजञ्छ्रिया वृतः ॥ ४७ ॥
सह राजर्षिभिःसर्वैः स्तुवानो वृषकेतनम् ।
गौरी विद्याऽथ गांधारी केशिनी मित्रसाह्वया ॥ ४८ ॥
सावित्र्या सह सर्वास्ताः पार्वत्या यांति पृष्ठतः।
तत्र विद्यागणाः सर्वे ये केचित्कविभिः कृताः ॥ ४९ ॥
तस्य कुर्वंति वचनं सेंद्रा देवाश्चमूमुखे ।
गृहीत्वा तु पताकां वै यात्यग्रे राक्षसो ग्रहः ॥ ५० ॥

पट्टिश भी विजय शूल के पीछे चला। पट्टिश के पीछे रुद्र का महाप्रभा-परिपूर्ण छत्र चला। छत्र के पीछे महर्षिगण-सेवित कमण्डलु और उनके पीछे उज्ज्वल दण्ड चला। भृगु, अङ्गिरा आदि ऋषियों के बीच में विराजमान भगवान् रुद्र उज्ज्वल रथ पर चढ़कर देवताओं को प्रसन्न करतेहुए उनके पीछे चले॥३९।४३॥

देवता, गन्धर्व, नाग, नदी, सरोवर, समुद्र, अप्सरा, ग्रह, नक्षत्र, देवताओं के बालक और स्त्रियां आदि सब महारुद्र के पीछे चले। सुन्दरी स्त्रियां फूलों की वर्षा करती हुई। मेघ भी पिनाकधारी शिव को प्रणाम करके चले। चन्द्र ने उनके मस्तक पर उज्ज्वल छत्र लगाया। वायु और अग्नि चँवर डुला रहे थे। राजर्षियों सहित श्री-सम्पन्न इन्द्रदेव शङ्कर की स्तुति करते चले ॥४४।४८॥

गौरी, विद्या, गान्धारी, केशिनी, मित्रसा और सावित्री आदि देवियां और कविजन-कृत अनेक विद्याएँ पार्वती के पीछे जा रही थीं। उस सेना के मुख्य लोग इन्द्र आदि शङ्कर की आज्ञाओं का पालन

व्यपृतस्तु श्मशाने यो नित्यं रुद्रस्य वै सखा ।
पिंगलो नाम यक्षेन्द्रो लोकस्याऽऽनंददायकः ॥ ५१ ॥
एभिश्च सहितो देवस्तत्र याति यथासुखम् ।
अग्रतः पृष्ठतश्चैव न हि तस्य गतिर्ध्रुवा ॥ ५२ ॥
रुद्रं सत्कर्मभिर्मर्त्याः पूजयंतीह दैवतम् ।
शिवमित्येव यं प्राहुरीशं रुद्रं पितामहम् ॥ ५३ ॥
भावैस्तु विविधाकारैः पूजयंति महेश्वरम् ।
देवसेनापतिस्त्वेवं देवसेनाभिरावृतः ॥ ५४ ॥
अनुगच्छति देवेशं ब्रह्मण्यः कृत्तिकासुतः ।
अथाऽब्रवीन्महासेनं महादेवो बृहद्वचः ।
सप्तमं मारुतस्कंधं रक्ष नित्यमतंद्रितः ॥ ५५ ॥
स्कंद उवाच—सप्तमं मारुतस्कंधं पालयिष्याम्यहं प्रभो ।
यदन्यदपि मे कार्यं देव तद्वद मा चिरम् ॥ ५६ ॥
रुद्र उवाच—कार्येष्वहं त्वया पुत्र संद्रष्टव्यः सदैव हि ।
दर्शनान्मम भक्त्या च श्रेयः परमवाप्स्यसि ॥ ५७ ॥
मार्कंडेय उवाच—इत्युक्त्वा विससर्जैनं परिष्वज्य महेश्वरः ।
विसर्जिते ततः स्कंदे बभूवौत्पातिकं महत् ॥ ५८ ॥

करते जा रहे थे । पताका हाथ में लिये राक्षस ग्रह आगे-आगे चला । लोगों को आनन्द देनेवाला, मसान में रहनेवाला, रुद्र का सखा, यक्षराज पिङ्गल भी शङ्कर के साथ था । इस प्रकार इन सबके साथ भगवान् महादेव सुखपूर्वक आ रहे थे। उनके आगे या पीछे कोई प्राणी नहीं जा सकता था। महर्षिगण उन्हीं शङ्कर को शिव, ईश, रुद्र, पितामह आदि नामों से पुकारते हैं । मनुष्य अनेक भावों और कर्मों से उन्हीं की उपासना करते हैं ॥४९।५४॥

देवताओं के सेनापति कार्त्तिकेय इस प्रकार देवताओं की सेना को साथ लिये महादेव के पीछे चले । उनसे महादेव ने कहा—हे पुत्र ! तुम सदा सावधानी के साथ मारुतस्कन्ध नामक देवताओं के सातवें व्यूह की रक्षा करो । स्कन्द ने कहा—हे प्रभो ! मैं सातवें मरुतस्कन्ध की अवश्य रक्षा करूँगा। उसके अतिरिक्त और भी जो कुछ मेरा कर्त्तव्य समझिए उसके लिए आज्ञा दीजिए। रुद्र ने कहा-हे पुत्र ! समय-समय पर तुम सदा मुझसे मिलते रहना ! तुम भक्तिपूर्वक मेरे दर्शन करके परम कल्याण पाओगे ॥५५।५७॥

सहसैव महाराज देवान्सर्वान्प्रमोहयत् ।
जज्वाल खं सनक्षत्रं प्रमूढं भुवनं भृशम् ॥ ५९ ॥
चचाल व्यनदच्चोर्वी तमोभूतं जगद्बभौ ।
ततस्तद्दारुणं दृष्ट्वा क्षुभितः शंकरस्तदा ॥ ६० ॥
उमा चैव महाभागा देवाश्च समहर्षयः ।
ततस्तेषु प्रमूढेषु पर्वतांबुदसन्निभम् ॥ ६१ ॥
नानाप्रहरणं घोरमदृश्यत महद्बलम् ।
तद्वै घोरमसंख्येयं गर्जच्च विविधा गिरः ॥ ६२ ॥
अभ्यद्रवद्रणे देवान्भगवंतं च शंकरम् ।
तैर्विसृष्टान्यनीकेषु बाणजालान्यनेकशः ॥ ६३ ॥
पर्वताश्च शतघ्न्यश्च प्रासासिपरिघा गदाः ।
निपतद्भिश्च तैर्घोरैर्देवानीकं महायुधैः ॥ ६४ ॥
क्षणेन व्यद्रवत्सर्वं विमुखं चाऽप्यदृश्यत ।
निकृत्तयोधनागाश्वं कृत्तायुधमहारथम् ॥ ६५ ॥
दानवैरर्दितं सैन्यं देवानां विमुखं बभौ ।
असुरैर्वध्यमानं तत्पावकैरिव काननम् ॥ ६६ ॥
अपतद्दग्धभूयिष्ठं महाद्रुमवनं यथा ।
ते विभिन्नशिरोदेहाः प्राद्रवंतो दिवौकसः ॥ ६७ ॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं कि इतना कहकर रुद्र ने गले से लगाकर कुमार को विदा किया। इधर स्कन्द के विदा होने पर अनेक प्रकार के घोर उत्पात प्रकट होने लगे। उनको देखकर देवगण व्याकुल हो गये। नक्षत्रों सहित आकाशमण्डल प्रज्वलित हो गया। सब संसार को मोह प्राप्त हुआ। पृथ्वी विचलित हुई, उसमें घोर शब्द निकलने लगा और चारों ओर घना अँधेरा छा गया। देवाधिदेव महादेव, महाभागा पार्वती, सब देवता और महर्षिगण यह दारुण घटना देखकर अत्यन्त व्याकुल हुए ॥५८।६१॥

इस प्रकार जब सब पर मोह का पर्दा पड़ गया तब, पर्वत और मेघ के समान, झुण्ड के झुण्ड भयङ्कर योद्धा प्रकट हुए। असंख्य आकारवाले वे योद्धा पाश, खड्ग, गदा, परिघ, शतघ्नी, पर्वत और बाण आदि शस्त्रों की वर्षा करते हुए देवगण सहित महादेव की ओर दौड़ पड़े। उस शत्रु सेना ने देवताओं की सेना को मार भगाया। देव-सेना के असंख्य रथ, हाथी, घोड़े और पैदल छिन्न भिन्न

न नाथमधिगच्छंति वध्यमाना महारणे ।
अथ तद्विद्रुतं सैन्यं दृष्ट्वा देवः पुरंदरः ॥ ६८ ॥
आश्वासयन्नुवाचेद् वलभिद्दानवार्दितम् ।
भयं त्यजत भद्रं वः शूराः शस्त्राणि गृह्णत ॥ ६९ ॥
कुरुध्वं विक्रमे बुद्धिं मा वः काचिद्व्यथा भवेत् ।
जयतैनान्सुदुर्वृत्तान्दानवान्घोरदर्शनान् ॥ ७० ॥
अभिद्रवत भद्रं वो मया सह महासुरान् ।
शक्रस्य वचनं श्रुत्वा समाश्वस्ता दिवौकसः ॥ ७१ ॥
दानवान्प्रत्ययुध्यंत शक्रं कृत्वा व्यपाश्रयम् ।
ततस्ते त्रिदशाः सर्वे मरुतश्च महाबलाः ॥ ७२ ॥
प्रत्युद्ययुर्महाभागाः साध्याश्च वसुभिः सह ।
तैर्विसृष्टान्यनीकेषु क्रुद्धैः शस्त्राणि संयुगे ॥ ७३ ॥
शराश्च दैत्यकायेषु पिबंति रुधिरं बहु ।
तेषां देहान्विनिर्भिद्य शरास्ते निशितास्तदा ॥ ७४ ॥
निपतंतोऽभ्यदृश्यंत नगेभ्य इव पन्नगाः ।
तानि दैत्यशरीराणि निर्भिन्नानि स्म सायकैः ॥ ७५ ॥
अपतन्भूतले राजंश्छिन्नाभ्राणीव सर्वशः ।
ततस्तद्दानवं सैन्यं सर्वैर्देवगणैर्युधि ॥ ७६ ॥

होकर इधर-उधर गिरने लगे। दानवों के द्वारा पीड़ित सब देव-सेना युद्ध करना छोड़कर भागने लगी। दानवों के बाणों की अग्नि से अग्नि में जले हुए वन के वृक्षों की तरह, जल-जलकर अनेक देवता गिरने लगे। उस महायुद्ध में मारे जाते हुए देवता कहीं आश्रय न देखकर भागने लगे। उनके शरीर शत्रुओं के प्रहार से छिन्न-भिन्न हो रहे थे ॥६२।६८॥

देवेन्द्र ने अपने सैनिकों को दानवों के द्वारा पीड़ित और भागते हुए देखकर उन्हें ढाढस बँधाते हुए कहा—हे शूर वीरो! तुम डरो मत। शस्त्र हाथ में लेकर वीरता के साथ इन दुष्ट दानवों का सामना करो और इन्हें हराओ ॥६९।७१॥

इन्द्र के यों कहने से हिम्मत बाँधकर, उन्हीं का आश्रय लेकर, देवताओं ने फिर युद्ध छेड़ दिया। महाबली वसुदेवता और साध्यगण भी देवताओं के साथ मिलकर दानवों से युद्ध करने लगे। वे क्रोधित होकर दानवों के ऊपर बाणवर्षा करने लगे। उनके छोड़े हुए बाण दैत्यों के शरीरों में घुसकर, बहुत

त्रासितं विविधैर्बाणैः कृतं चैव पराङ्मुखम् ।
अथोत्क्रुष्टं तदा हृष्टैः सर्वैर्देवैरुदायुधैः ॥ ७७ ॥
संहतानि च तूर्याणि प्रावाद्यंत ह्यनेकशः ।
एवमन्योन्यसंयुक्तं युद्धमासीत्सुदारुणम् ॥ ७८ ॥
देवानां दानवानां च मांसशोणितकर्दमम् ।
अनयो देवलोकस्य सहसैवाऽभ्यदृश्यत ॥ ७९ ॥
तथा हि दानवा घोरा विनिघ्नंति दिवौकसः ।
ततस्तूर्यप्रणादाश्च भेरीणां च महास्वनः ॥ ८० ॥
वभूवुर्दानवेन्द्राणां सिंहनादाश्च दारुणाः ।
अथ दैत्यबलाद्धोरान्निष्पपात महाबलः ॥ ८१ ॥
दानवो महिषो नाम प्रगृह्य विपुलं गिरिम् ।
ते तं घनैरिवाऽऽदित्यं दृष्ट्वा संपरिवारितम् ॥ ८२ ॥
तमुद्यतगिरिं राजन्व्यद्रवंत दिवौकसः ।
अथाऽभिद्रुत्य महिषो देवांश्चिक्षेप तं गिरिम् ॥ ८३ ॥
पतता तेन गिरिणा देवसैन्यस्य पार्थिव ।
भीमरूपेण निहतमयुतं प्रापतद्भुवि ॥ ८४ ॥

सा रक्त पीकर, अन्त को शरीर फोड़कर बाहर निकलने लगे। उस समय वे पर्वतों के भीतर से निकलते हुए विषैले नागों के समान जान पड़ते थे ॥७२।७५॥

दैत्यों के शरीर भी उन बाणों से छिन्न-भिन्न होकर, वायु से छितराई हुई घटाओं के समान, पृथ्वी पर चारों ओर गिरने लगे। देव-सेना के बाणों के मारे दैत्यों की सेना डरकर युद्धभूमि से भाग खड़ी हुई। यह देखकर शस्त्र ताने हुए देवताओं के दल आनन्द के मारे चिल्लाने और तरह तरह के बाजे बजाने लगे। इस प्रकार देवताओं और दानवों का घोर युद्ध होने लगा। चारों ओर मांस और रक्त की कीच मच गई। दानव फिर उत्साह के साथ भिड़ गये। अकस्मात् देवताओं ने देखा कि दानव लोग देव-सेना को दबा रहे हैं, दानव लोग तुरही, नगाड़े आदि बजाकर घोर सिंहनाद कर रहे हैं ॥७६।८०॥

इसी समय महाबली महिष दानव दैत्य-सेना से निकलकर बड़ा भारी पर्वत हाथों में लिये देव-सेना की ओर चला। बादलों से घिरे हुए सूर्य के समान, उस पर्वत को लिये आते, महिषासुर को देखकर देवता लोग भाग खड़े हुए। महिषासुर ने वह पर्वत देवताओं की सेना पर फेंका। उस भीम-रूप पर्वत के नीचे दस हज़ार देवता एक साथ कुचलकर मर गये ॥८१।८४॥

अथ तैर्दानवैः सार्धं महिषस्त्रासयन्सुरान् ।
अभ्यद्रवद्रणे तूर्णं सिंहः क्षुद्रमृगानिव ॥ ८५ ॥
तमापतंतं माहिषं दृष्ट्वा सेंद्रा दिवौकसः ।
व्यद्रवंत रणे भीता विकीर्णायुधकेतनाः ॥ ८६ ॥
ततः स माहिषः क्रुद्धस्तूर्णं रुद्ररथं ययौ ।
अभिद्रुत्य च जग्राह रुद्रस्य रथकूबरम् ॥ ८७ ॥
यदा रुद्ररथं क्रुद्धो महिषः सहसाऽऽगतः ।
रेसतू रोदसी गाढं मुमुहुश्च महर्षयः ॥ ८८ ॥
अनदंश्च महाकाया दैत्या जलधरोपमाः ।
आसीच्च निश्चितं तेषां जितमस्माभिरित्युत ॥ ८९ ॥
तथाभूते तु भगवानहनन्माहिषं रणे ।
सस्मार च तदा स्कंदं मृत्युं तस्य दुरात्मनः ॥ ९० ॥
महिषोऽपि रथं दृष्ट्वा रौद्रो रुद्रस्य चाऽनदत् ।
देवान्संत्रासयंश्चापि दैत्यांश्चापि प्रहर्षयन् ॥ ९१ ॥
ततस्तस्मिन्भये घोरे देवानां समुपस्थिते ।
आजगाम महासेनः क्रोधात्सूर्य इव ज्वलन् ॥ ९२ ॥
लोहितांबरसंवीतो लोहितस्रग्विभूषणः ।
लोहिताश्वो महाबाहुर्हिरण्यकवचः प्रभुः ॥ ९३ ॥

फिर वह घोर महिषासुर दानवों को साथ लिये देवताओं को डराता हुआ उनकी ओर भी ऐसे झपटा जैसे क्षुद्र मृगों के झुण्ड पर सिंह झपटता है। उसे देख, अपने शस्त्रों और ध्वजा-पताकाओं को छोड़कर, डर हुए इन्द्र आदि देवता रण से भाग खड़े हुए। तब क्रोध से भरा हुआ दारुण महिषासुर बड़ी तेजी से रुद्र के रथ के पास पहुँचा। अब उसने रुद्र के रथ का धुरा पकड़ लिया। जब क्रोधित महिषासुर ने एकाएक जाकर रथ का धुरा पकड़ लिया तब पृथ्वी और आकाश में घोर शब्द होने लगा और महर्षि लोग घबरा गये। उस समय मेघ-वर्ण महाकाय दैत्य, अपनी जीत का निश्चय करके, घोर कोलाहल और सिंहनाद करने लगे। तब भगवान् रुद्र ने दुष्ट महिषासुर पर चोट की और उसे मारने के लिए कार्तिकेय को याद किया [क्योंकि उसकी मृत्यु स्कन्द के हाथ से ही बदी थी।] ॥८५।९०॥

उधर महिषासुर रुद्र के भयङ्कर रथ को देखकर बारम्बार सिंहनाद करने लगा। उस

रथमादित्यसंकाशमास्थितः कनकप्रभम् ।
तं दृष्ट्वा दैत्यसेना सा व्यद्रवत्सहसा रणे ॥ ९४ ॥
स चापि तां प्रज्वलितां महिषस्य विदारिणीम् ।
मुमोच शक्तिं राजेंद्र महासेनो महाबलः ॥ ९५ ॥
सा मुक्ताऽभ्यहरत्तस्य महिषस्य शिरो महत् ।
पपात भिन्ने शिरसि महिषस्त्यक्तजीवितः ॥ ९६ ॥
पतता शिरसा तेन द्वारं षोडशयोजनम् ।
पर्वताभेन पिहितं तदाऽगम्यं ततोऽभवत् ॥ ९७ ॥
उत्तराः कुरवस्तेन गच्छंत्यद्य यथासुखम् ।
क्षिप्ता क्षिप्ता तु सा शक्तिर्हत्वा शत्रून्सहस्रशः ॥ ९८ ॥
स्कंदहस्तमनुप्राप्ता दृश्यते देवदानवैः ।
प्रायः शरैर्विनिहता महासेनेन धीमता ॥ ९९ ॥
शेषा दैत्यगणा घोरा भीतास्त्रस्ता दुरासदैः ।
स्कंदपारिषदैर्हत्वा भक्षिताश्च सहस्रशः ॥ १०० ॥
दानवान्भक्षयंतस्ते प्रपिबंतश्च शोणितम् ।
क्षणान्निर्दानवं सर्वमकार्षुर्भृशहर्षिताः ॥ १०१ ॥

सिंहनाद को सुनकर देवता डरे और दैत्य प्रसन्न हो उठे। देखते ही देखते लाल वस्त्र, माला, गहने आदि से शोभित महाबाहु कुमार कार्त्तिकेय सूर्य के समान प्रज्वलित रथ पर आते देख पड़े। उनके रथ के घोड़ों का भी रङ्ग लाल था। सुवर्णमय कवच पहने हुए कुमार क्रोध से प्रज्वलित सूर्यदेव के समान जान पड़ते थे। उन्हें देखते ही एकाएक दैत्य-सेना के छके छूट गये। महाबली अग्नि-पुत्र कुमार ने आकर अपनी प्रज्वलित शक्ति महिषासुर पर चलाई। उस शक्ति से महिषासुर का विशाल सिर, धड़ से अलग होकर, पृथ्वी पर गिर पड़ा। महिषासुर मर गया ॥९१।९६॥

पर्वत तुल्य महिषासुर के सिर ने गिरकर सोलह योजन स्थान को घेर लिया। देवनिवास उत्तर कुरु प्रदेश का द्वार उसी सिर से बन्द हो गया। इसी कारण वह प्रदेश इतना अगम्य है। देवता और दानव सबने देखा कि वह शक्ति स्कन्द के हाथ से बारम्बार छूटकर, हज़ारों दानवों को मारकर, फिर स्कन्द के हाथ में आ जाती है। बुद्धिमान् बली कुमार ने अकेले ही लगभग सभी शत्रुओं को मार डाला। उनके पारिषद लोग बचे हुए शत्रुओं को मारकर प्रसन्नतापूर्वक उनका मांस खाने और रक्त पीने लगे ॥९७।१००॥

दम भर में सब जगत् दानवों से शून्य होगया।

तमांसीव यथा सूर्यो वृक्षानग्निर्घनान्खगः ।
तथा स्कंदोऽजयच्छत्रून्स्वेन वीर्येण कीर्तिमान् ॥१०२॥
संपूज्यमानस्त्रिदशैरभिवाद्य महेश्वरम् ।
शुशुभे कृत्तिकापुत्रः प्रकीर्णांशुरिवांऽशुमान् ॥१०३॥
नष्टशत्रुर्यदा स्कंदः प्रयातस्तु महेश्वरम् ।
तदाऽब्रवीन्महासेनं परिष्वज्य पुरंदरः ॥१०४॥
ब्रह्मदत्तवर. स्कंद त्वयाऽयं महिषो हतः ।
देवास्तृणसमा यस्य बभूवुर्जयतां वर ॥१०५॥
सोऽयं त्वया महाबाहो शमितो देवकंटकः ।
शतं महिषतुल्यानां दानवानां त्वया रणे ॥१०६॥
निहतं देवशत्रूणां यैर्वयं पूर्वतापिताः ।
तावकैर्भक्षिताश्चाऽन्ये दानवाः शतसंघशः ।१०७॥
अजेयस्त्वं रणेऽरीणामुमापतिरिव प्रभुः ।
एतत्ते प्रथमं देव ख्यातं कर्म भविष्यति ॥१०८॥
त्रिषु लोकेषु कीर्तिश्च तवाऽक्षय्या भविष्यति ।
वशगाश्च भविष्यंति सुरास्तव महाभुज ॥१०९।
महासेनमेवमुक्त्वा निवृत्तः सह दैवतैः ।
अनुज्ञातो भगवता त्र्यंबकेण शचीपतिः ॥११०॥

सूर्य जैसे अँधेरे को हटा देते हैं, आग जैसे वृक्षों को जला डालती है, वायु जैसे मेघों को छिन्न-भिन्न कर देती है, वैसे ही कीर्तिशाली कुमार ने अपने पराक्रम से सब शत्रुओं को मार डाला। देवता लोग उनकी स्तुति करने लगे। स्कन्द ने महेश्वर को प्रणाम किया। उस समय अपनी असंख्य किरणें चारों ओर फैलाये हुए सूर्य के समान स्कन्द की अपूर्व शोभा हुई ॥१०१।१०३॥

इस प्रकार शत्रुओं को मारकर जब कुमार अपने पिता रुद्र के पास आये तब इन्द्र ने उन्हें गले से लगाकर कहा—हे स्कन्द ! इस महिषासुर को ब्रह्मा का वरदान था, इसी कारण इसने संसार के सब लोगों को जीतकर अपने अधीन कर रक्खा था। देवताओं को तो यह कुछ समझता ही न था। इसे मारकर तुमने देवताओं का कण्टक दूर कर दिया। महिषासुर के समान देवताओं के शत्रु जो सैकड़ों अन्य दानव हम लोगों को सताते थे, उन्हें भी तुमने मार डाला। तुम्हारे गणों ने भी अन्य

गतो भद्रवटं रुद्रो निवृत्ताश्च दिवौकसः ।
उक्ताश्च देवा रुद्रेण स्कंदं पश्यत मामिव ॥ १११ ॥
स हत्वा दानवगणान्पूज्यमानो महर्षिभिः ।
एकाह्नैवाऽजयत्सर्वं त्रैलोक्यं वह्निनंदनः ॥ ११२॥
स्कंदस्य य इदं विप्रः पठेज्जन्म समाहितः ।
स पुष्टिमिह संप्राप्य स्कंदसालोक्यमाप्नुयात् ॥ ११३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते मार्कंडेयसमास्यापर्वणि आंगिरसे स्कंदोत्पत्तौ महिषासुरवधे एकत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

हज़ारों दानवों को मारा और भक्षण कर लिया। इसमें सन्देह नहीं कि तुम उमापति रुद्र के समान युद्ध में शत्रुओं के लिए अजेय हो; शत्रु तुमको नहीं जीत सकते। हे देव! तुम्हारा यह पहला कार्य त्रिलोकी में प्रसिद्ध होगा। इससे तुम्हारी कीर्त्ति अक्षय होगी। सब देवता तुम्हारे अधीन रहेंगे। इन्द्र यों कहकर, महेश्वर से आज्ञा लेकर, देवताओं के साथ अपने स्थान को गये ॥१०४।११०॥

भगवान् रुद्र भी देवताओं से यों कहकर कि तुम लोग कुमार को मेरे ही समान समझना, अपने स्थान रुद्रवट को चल दिये। अग्नि-पुत्र कुमार स्कन्द ने एक दिन में सब दानवों का संहार करके त्रिभुवन को अपने वश में कर लिया। महर्षि लोग भी उनकी स्तुति करते हुए अपने आश्रमों को गये। हे राजा युधिष्ठिर! जो ब्राह्मण एकाग्र होकर स्कन्द के इस जन्म-वृत्तान्त को पढ़ता है वह यहाँ हृष्ट-पुष्ट रहकर अन्त को स्कन्द भगवान् के लोक में जाकर सुख भोगता है ॥१११।११३॥

वनपर्व का दो सौ इकतीस अध्याय समाप्त हुआ ॥२३१॥

अथ द्वात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२३२॥

युधिष्ठिर उवाच—भगवञ्श्रोतुमिच्छामि नामान्यस्य महात्मनः ।
त्रिषु लोकेषु यान्यस्य विख्यातानि द्विजोत्तम ॥ १ ॥
वैशम्पायन उवाच—इत्युक्तः पांडवेयेन महात्मा ऋषिसन्निधौ ।
उवाच भगवांस्तत्र मार्कंडेयो महातपाः ॥ २ ॥
मार्कंडेय उवाच—आग्नेयश्चैव स्कंदश्च दीप्तकीर्तिरनामयः ।
मयूरकेतुर्धर्मात्मा भूतेशो महिषार्दनः ॥ ३ ॥

दो सौ बत्तीस अध्याय ॥२३२॥

धर्मराज युधिष्ठिर ने कहा—हे भगवन्! मैं स्कन्द भगवान् के जगत्प्रसिद्ध नामों को सुनना चाहता हूँ; कृपा करके कहिए। महातपस्वी मार्कण्डेय से युधिष्ठिर ने जब यह पूछा तब वे ऋषिमण्डली के बीच स्कन्द के नामों का वर्णन करने लगे। मार्कण्डेय मुनि ने कहा—आग्नेय, स्कन्द, दीप्तकीर्त्ति,

कामजित्कामदः कांतः सत्यवाग्भुवनेश्वरः ।
अमोघस्त्वनघो रौद्रः प्रियश्चंद्राननस्तथा ॥ ४ ॥
शिशुः शीघ्रः शुचिश्चंडो दीप्तवर्णः शुभाननः ।
दीप्तशक्तिः प्रशांतात्मा भद्रकृत्कूटमोहनः ॥ ५ ॥
षष्ठीप्रियश्च धर्मात्मा पवित्रो मातृवत्सलः ।
कन्याभर्ता विभक्तश्च स्वाहेयो रेवतीसुतः ॥ ६ ॥
प्रभुर्नेता विशाखश्च नैगमेयः सुदुश्चरः ।
सुव्रतो ललितश्चैव बालक्रीडनकप्रियः ॥ ७ ॥
खचारी ब्रह्मचारी च शूरः शरवणोद्भवः ।
विश्वामित्रप्रियश्चैव देवसेनाप्रियस्तथा ॥ ८ ॥
वासुदेवप्रियश्चैव प्रियः प्रियकृदेव तु ।
नामान्येतानि दिव्यानि कार्तिकेयस्य यः पठेत् ।
स्वर्गं कीर्तिं धनं चैव स लभेन्नात्र संशयः ॥ ९ ॥

मार्कंडेय उवाच–स्तोष्यामि देवैर्ऋषिभिश्च जुष्टं शक्त्या गुहं नामभिरप्रमेयम् ।
षडाननं शक्तिधरं सुवीरं निबोध चैतानि कुरुप्रवीर ॥ १० ॥
ब्रह्मण्यो वै ब्रह्मजो ब्रह्मविच्च ब्रह्मेशयो ब्रह्मवतां वरिष्ठः ।
ब्रह्मप्रियो ब्राह्मणसव्रती त्वं ब्रह्मज्ञो वै ब्राह्मणानां च नेता ॥ ११ ॥
स्वाहा स्वधा त्वं परमं पवित्रं मंत्रस्तुतस्त्वं प्रथितः षडर्चिः ।

अनामय, मयूरकेतु, धर्मात्मा, भूतेश, महिषार्दन, कामजित्, कामद, कान्त, सत्यवाक्, भुवनेश्वर, शिशु, शीघ्र, शुचि, चण्ड, दीप्तवर्ण, शुभानन, अमोघ, अनघ, रौद्र, प्रिय, चन्द्रानन, दीप्तशक्ति, प्रशान्तात्मा, भद्रकृत्, कूटमोहन, षष्ठीप्रिय, पवित्र, मातृवत्सल, कन्यकाभर्ता, विभक्त, स्वाहेय, रेवतीसुत, प्रभु, नेता, विशाख, नैगमेय, सुदुश्चर, सुव्रत, ललित, बाल, क्रीडनकप्रिय, खचारी, ब्रह्मचारी, शूर, शरवणोद्भव, विश्वामित्रप्रिय, देवसेनाप्रिय, वासुदेवप्रिय, प्रियकृत्, इतने कार्त्तिकेय के नाम हैं। जो कोई नित्य स्कन्द के इन नामों को पढ़ता है उसे स्वर्ग, कीर्ति और धन प्राप्त होता है ॥१।९॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर! अब मैं देवर्षिगण पूजित, शक्ति धारण करनेवाले, षडानन, गुह की स्तुति करता हूँ, सुनो। हे गुह! तुम ब्रह्मण्य, ब्रह्मप्रिय, ब्रह्मात्मज, ब्रह्मेश, ब्रह्मवित्, ब्राह्मणों के समान व्रतधारी और ब्राह्मणों के नेता हो। तुम स्वाहा, स्वधा, परमपवित्र, मन्त्रस्तुत और

संवत्सरस्त्वमृतवश्च षड् वै मासार्धमासावयनं दिशश्च ॥ १२ ॥
त्वं पुष्कराक्षस्त्वरविंदवक्त्रः सहस्रवक्त्रोऽसि सहस्रबाहुः ।
त्वं लोकपालः परमं हविश्च त्वं भावनः सर्वसुरासुराणाम् ॥ १३ ॥
त्वमेव सेनाधिपतिः प्रचंडः प्रभुर्विभुश्चाप्यथ शत्रुजेता ।
सहस्रभूस्त्वं धरणी त्वमेव सहस्रतुष्टिश्च सहस्रभुक्त्व ॥ १४ ॥
सहस्रशीर्षस्त्वमनंतरूपः सहस्रपात्त्वं गुह शक्तिधारी ।
गंगासुतस्त्वं स्वमतेन देव स्वाहामहीकृत्तिकानां तथैव ॥ १५ ॥
त्वं क्रीडसे षण्मुख कुक्कुटेन यथेष्टनानाविधकामरूपी ।
दीक्षाऽसि सोमो मरुतः सदैव धर्मोऽसि वायुरचलेंद्र इंद्रः ॥ १६ ॥
सनातनानामपि शाश्वतस्त्वं प्रभुः प्रभूणामपि चोग्रधन्वा ।
ऋतस्य कर्ता दितिजांतकस्त्वं जेता रिपूणां प्रवरः सुराणाम् ॥ १७ ॥
सूक्ष्मं तपस्तत्परमं त्वमेव परावरज्ञोऽसि परावरस्त्वम् ।
धर्मस्य कामस्य परस्य चैव त्वत्तेजसा कृत्स्नमिदं महात्मन् ॥ १८ ॥
व्याप्तं जगत्सर्वसुरप्रवीर शक्त्या मया संस्तुतलोकनाथ ।
नमोऽस्तु ते द्वादशनेत्रबाहो अतः परं वेद्मि गतिं न तेऽहम् ॥ १९ ॥
स्कंदस्य य इदं विप्रः पठेज्जन्म समाहितः ।

सुप्रसिद्ध षडर्चि हो । तुम्हीं संवत्सर, छः ऋतुएँ, पक्ष, मास, अयन और दिशाएँ हो । हे कमलनयन! तुम कमलमुख, सहस्रमुख और सहस्रबाहु हो । तुम्हीं लोकपाल, परमहवि और सब देवता-दैत्यों के रक्षक हो ॥१०।१३॥

तुम्हीं सेनापति, प्रचण्ड, प्रभु, विभु और शत्रुदमन हो । तुम्हीं सहस्रभू और पृथिवी हो । तुम सहस्रतुष्टि, सहस्रभुक्, सहस्रशिरा और सहस्रचरण हो । तुम्हारे अनन्त रूप हैं । तुम भारी शक्ति को धारण करते हो । गंगा, स्वाहा, पृथ्वी और कृत्तिकाओं ने तुम्हें उत्पन्न किया है । हे षडानन ! मुर्गा तुम्हारा खिलौना है । तुम अपनी इच्छा के अनुसार तरह-तरह के रूप रख लेते हो । तुम्हीं दीक्षा, सोम और मरुत् हो । तुम्हीं धर्म, वायु, पर्वतराज और देवराज हो । तुम उग्रधन्वा, सनातनों से भी सनातन, प्रभुओं के भी प्रभु, सत्य के कर्ता, दैत्यों का संहार करनेवाले, शत्रुओं को जीतनेवाले और श्रेष्ठ देवता हो । सूक्ष्मतम तप तुम्हारा स्वरूप है । तुम परमात्मा और आत्मा के ज्ञाता हो । तुम्हीं परमात्मा और आत्मा हो । परम धर्म और काम तुममें स्थित है । तुम्हारा तेज सब जगत् में व्याप्त हो रहा है । हे सब देवताओं से बढ़कर वीर ! हे बारह नेत्रों और हाथों से शोभित ! तुमको प्रणाम है । हे लोकनाथ ! मैंने अपनी बुद्धि और शक्ति के अनुसार

श्रावयेद्ब्राह्मणेभ्यो यः शृणुयाद्वा द्विजेरितम् ॥ २० ॥
धनमायुर्यशो दीप्तं पुत्राञ्शत्रुजयं तथा ।
स पुष्टितुष्टी संप्राप्य स्कंदसालोक्यमाप्नुयात् ॥ २१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते मार्कंडेयसमास्यापर्वणि आंगिरसे कार्तिकेयस्तवे द्वात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२३२॥
॥ समाप्तं च मार्कण्डेयसमास्या पर्व ॥

तुम्हारी स्तुति की है। इससे अधिक जो तुम्हारी सूक्ष्म गति है, उसके बारे में मैं कुछ नहीं जानता। हे राजा युधिष्ठिर ! जो ब्राह्मण मन लगाकर स्कन्द के इस जन्मवृत्तान्त को पढ़ता है, जो ब्राह्मणों को सुनाता है या ब्राह्मण के मुँह से सुनता है, वह आयु, धन, निर्मल यश, पुत्र, शत्रुजय, पुष्टि और तुष्टि पाकर अन्त समय स्कन्दलोक की पवित्र गति पाता है ॥१४।२१॥

वनपर्व का दो सौ बत्तीस अध्याय समाप्त हुआ ॥२३२॥

॥ अथ द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्व ॥
अथ त्रयस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२३३॥

वैशम्पायन उवाच—उपासीनेषु विप्रेषु पांडवेषु महात्मसु ।
द्रौपदीसत्यभामा च विविशाते तदा समम् ॥ १ ॥
जाहस्यमाने सुप्रीते सुखं तत्र निषीदतुः ।
चिरस्य दृष्ट्वा राजेन्द्र तेऽन्योऽन्यस्य प्रियंवदे ॥ २ ॥
कथयामासतुश्चित्राः कथाः कुरुयदुस्थिताः ।
अथाऽब्रवीत्सत्यभामा कृष्णस्य महिषी प्रिया ॥ ३ ॥
साात्राजिती याज्ञसेनीं रहसीदं सुमध्यमा ।
केन द्रौपदि वृत्तेन पांडवानधितिष्ठसि ॥ ४ ॥
लोकपालोपमान्वीरान्पुनः परमसंहतान् ।
कथं च वशगास्तुभ्यं न कुप्यंति च ते शुभे ॥ ५ ॥

दो सौ तेतीस अध्याय ॥२३३॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजा जनमेजय ! एक दिन सब ब्राह्मण और महात्मा पाण्डव अपने आश्रम में बैठे हुए थे। इसी समय द्रौपदी और सत्यभामा भी वहाँ एक स्थान पर आ बैठीं। प्रिय वचन बोलनेवाली दोनों सुन्दरियों की भेंट बहुत दिनों के पश्चात् हुई थी। दोनों आपस में कुरुवंश और यदुवंश की विचित्र बातें कहने लगीं। श्रीकृष्ण की प्यारी रानी, सत्राजित् की कन्या, सत्यभामा ने एकान्त स्थान में द्रौपदी से पूछा—॥१।४॥

हे द्रौपदी ! तुम कैसे व्यवहार से लोकपाल-

तव वश्या हि सततं पांडवाः प्रियदर्शने ।
मुखप्रेक्षाश्च ते सर्वे तत्त्वमेतद् ब्रवीहि मे ॥ ६ ॥
व्रतचर्या तपो वाऽपि स्नानमंत्रौषधानि वा ।
विद्यावीर्यं मूलवीर्यं जपहोमा गदास्तथा ॥ ७ ॥
ममाऽद्याऽऽचक्ष्व पांचालि यशस्यं भगदैवतम् ।
येन कृष्णे भवेन्नित्यं मम कृष्णो वशानुगः ॥ ८ ॥
एवमुक्त्वा सत्यभामा विरराम यशस्विनी ।
पतिव्रता महाभागा द्रौपदी प्रत्युवाच ताम् ॥ ९ ॥
असत्स्त्रीणां समाचारं सत्ये मामनुपृच्छसि ।
असदाचरिते मार्गे कथं स्यादनुकीर्तनम् ॥ १० ॥
अनुप्रश्नः संशयो वा नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
तथा ह्युपेता बुद्ध्या त्वं कृष्णस्य महिषी प्रिया ॥ ११ ॥
यदैव भर्ता जानीयान्मंत्रमूलपरां स्त्रियम् ।
उद्विजेत तदैवाऽस्याः सर्पाद्वेश्मगतादिव ॥ १२ ॥
उद्विग्नस्य कुतः शांतिरशांतस्य कुतः सुखम् ।
न जातु वशगो भर्ता स्त्रियाः स्यान्मंत्रकर्मणा ॥ १३ ॥

सदृश अपने वीर बली पतियों को सन्तुष्ट रखती हो? हे सुन्दरी! तुम्हारे पति तुम पर कभी क्रोध नहीं करते, सदा तुम्हारे वश में रहकर तुम्हारा मुँह देखा करते हैं। उनमें तुम्हारे कारण आपस में कभी ईर्ष्या का भाव नहीं देखा जाता। इसका कारण क्या है? हे सुन्दरी! तुमने इसके लिए क्या कोई व्रत, तप या जप किया है? अथवा किसी मन्त्र, औषध, अञ्जन, जड़ी बूटी आदि का सहारा लिया है? हे पाञ्चाली! मुझे भी ऐसा कोई यश और सौभाग्य बढ़ानेवाला उपाय बताओ, जिससे श्रीकृष्णचन्द्र मेरे वश में रहें ॥५-९॥

पतिव्रता भाग्यशालिनी द्रौपदी ने कहा—हे सत्यभामा! यह तुम मुझसे दुष्ट स्त्रियों का आचरण पूछती हो। जिस राह पर ओछे स्वभाव की स्त्रियां चलती हैं उसका उत्तर ही क्या दिया जा सका है? तुम ऐसी स्त्री के लिए ऐसा प्रश्न करना उचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि तुम बुद्धिमती हो और श्रीकृष्ण की प्यारी रानी हो। देखो, जब पति जानता है कि स्त्री मुझे वश में करने के लिए मन्त्र-तन्त्र करवाती है तब वह सदा उससे उसी तरह व्याकुल होता है जिस तरह लोग घर में रहनेवाले सर्प से डरते हैं। जो चिन्तित रहता है उसे शान्ति कहाँ? और जब शान्ति ही नहीं तब सुख कहाँ से होगा? हे बहन! मन्त्र तन्त्र से पति कभी स्त्री के वश में नहीं

अमित्रप्रहितांश्चापि गदान्परमदारुणान् ।
मूलप्रचारैर्हि विषं प्रयच्छंति जिघांसवः ॥ १४ ॥
जिह्वया यानि पुरुषस्त्वचा वाऽप्युपसेवते ।
तत्र चूर्णानि दत्तानि हन्युः क्षिप्रमसंशयम् ॥ १५ ॥
जलोदरसमायुक्ताःश्वित्रिणः पलितास्तथा ।
अपुमांसः कृताः स्त्रीभिर्जडांधबधिरास्तथा ॥ १६ ॥
पापानुगास्तु पापास्ताः पतीनुपसृजंत्युत ।
न जातु विप्रियं भर्तुः स्त्रिया कार्यं कथंचन ॥ १७ ॥
वर्ताम्यहं तु यां वृत्तिं पांडवेषु महात्मसु ।
तां सर्वां शृणु मे सत्यां सत्यभामे यशस्विनि ॥ १८ ॥
अहंकारं विहायाऽहं कामक्रोधौ च सर्वदा ।
सदारान्पांडवान्नित्यं प्रयतोपचराम्यहम् ॥ १९ ॥
प्रणयं प्रतिसंहृत्य निधायाऽऽत्मानमात्मनि ।
शुश्रूषुर्निरभीमाना पतीनां चित्तरक्षिणी ॥ २० ॥
दुर्व्याहृताच्छंकमाना दुःस्थिताद्दुरवेक्षितात् ।
दुरासिताद्दुर्व्रजितादिंगिताध्यासितादपि ॥ २१ ॥

हो सकता ; उलटे बुराई ही उत्पन्न होती है ॥१०।१३॥ जिन लोगों के द्वारा स्त्रिया पतियों को वश में करने के यत्न कराती हैं वे ऐसी ओषध आदि दे देते हैं जिससे दारुण रोग भी कभी-कभी पतियों के शरीर में हो जाते हैं । कोई-कोई धूर्त शत्रु, वशीकरण की ओषध बताकर, स्त्रियों से उनके पतियों को विष दिला देते हैं । इससे वश होने के बदले पति मर तक जाते है । पुरुष जीभ से जो खाते हैं और शरीर में जो लगाते हैं उसमें वशीकरण के लिए धूर्तों के दिये चूर्ण आदि मिला देने से भी पतियों की मृत्यु या उनके रोगी होने की आशङ्का रहती है । बहुत सी पापिनी स्त्रिया स्वामी को वश में करने का यत्न करने में ऐसा कर बैठती हैं कि वे जलन्धर रोग से पीड़ित कोढ़ी, असमय में ही वृद्ध, नपुमक, पागल, अन्धे और बहरे तक हो जाते हैं । हे सत्यभामाजी ! स्त्री को अपने पति का अनिष्ट या अप्रिय कभी न करना चाहिए । महात्मा पाण्डव मेरे जिन कामों से प्रसन्न रहते है, जैसे व्यवहार से मैं उन्हें अपने वश में रखती हूँ, वह तुमसे कहती हूँ, सुनो ॥१४।१८॥

मैं अहङ्कार, काम वासना, क्रोध आदि दुष्ट भावों से बचकर पवित्रता के साथ पाण्डवों की और उनकी अन्य स्त्रियों की सेवा करती रहती हूँ । मैं ईर्ष्या छोड़कर, मन को वश में रखकर, सेवा करती हूँ । घमण्ड को पास तक भी नहीं फटकने देती ।

सूर्यवैश्वानरसमान्सोमकल्पान्महारथान् ।
सेवे चक्षुर्हणः पार्थानुग्रवीर्यप्रतापिनः ॥ २२ ॥
देवो मनुष्यो गंधर्वो युवा चापि स्वलंकृतः ।
द्रव्यवानभिरूपो वा न मेऽन्यः पुरुषो मतः ॥ २३ ॥
नाऽभुक्तवति नाऽस्नाते नाऽसंविष्टे च भर्तरि ।
न संविशामि नाऽश्नामि सदा कर्मकरेष्वपि ॥ २४ ॥
क्षेत्राद्वनाद्वा ग्रामाद्वा भर्तारं गृहमागतम् ।
अभ्युत्थायाऽभिनंदामि आसनेनोदकेन च ॥ २५ ॥
प्रमृष्टभांडा मृष्टान्ना काले भोजनदायिनी ।
संयत्ता गुप्तधान्या च सुसंमृष्टनिवेशना ॥ २६ ॥
अतिरस्कृतसंभाषा दुःस्त्रियो नाऽनुसेवती ।
अनुकूलवती नित्यं भवाम्यनलसा सदा ॥ २७ ॥
अनर्म चापि हसितं द्वारि स्थानमभीक्ष्णशः ।
अवस्करे चिरस्थानं निष्कुटेषु च वर्जये ॥ २८ ॥

सदा पतियों का मन रखती हूं। कभी कठोर वचन नहीं कहती। सन्देह की दृष्टि से नहीं देखती। बुरी जगह पर नहीं बैठती। दुष्ट चाल नहीं चलती। निन्दित विचार प्रकट करनेवाली नज़र से नहीं देखती। पाण्डव लोग सूर्य और अग्नि के समान तेजस्वी, चन्द्रमा के समान प्रियदर्शन, महारथी, उग्रवीर्य और प्रताप-वाले हैं, वे दृष्टि से ही शत्रुओं का नाश कर देते हैं। उनकी सेवा में उल्लिखित रीति से करती हूं। देवता, गन्धर्व या मनोहर रूपवाला, जवान, ठाट बाट से रहनेवाला अथवा धनी मनुष्य, कोई भी पाण्डवों के सिवा मेरे हृदय में स्थान नहीं पाता ॥१९।२३॥

पाण्डवों के भोजन किये बिना मैं भोजन नहीं करती, उनके स्नान किये बिना स्नान नहीं करती हूं। उनके सो जाने पर ही सोती हूं। यहां तक कि घर के और लोगों या सेवकों के खाने पीने से पहले भी मैं स्नान, भोजन या शयन नहीं करती। पति खेत, वन या गांव से लौटकर जब घर आते हैं तब मैं आगे से उठकर उन्हें भीतर ले आती हूं, बैठने को आसन देती हूं, हाथ-पांव मुंह धोने के लिये जल लाकर देती हूं। इस प्रकार आव भगत करके उन्हें सन्तुष्ट रखती हूं। घर और घर की सब सामग्री साफ रखती हूं। सफाई के साथ भोजन बनाकर ठीक समय पर उन्हें भोजन कराती हूं। यत्न के साथ अन्न आदि को भण्डारे में रखती हूं। तिरस्कार के वचन कभी जीभ पर नहीं लाती। न तो बुरे चलन की स्त्रियों के पास बैठती हूं और न उनसे मित्रता ही रखती हूं। आलस्य छोड़कर सदा पति की रुचि के काम करती हूं। बिना दिल्लगी की बात के हंसती

अतिहासातिरोषौ च क्रोधस्थानं च वर्जये ।
निरताऽहं सदा सत्ये भर्तॄणामुपसेवने ॥ २९ ॥
सर्वथा भर्तृरहितं न ममेष्टं कथंचन ।
यदा प्रवसते भर्ता कुटुंबार्थेन केनचित् ॥ ३० ॥
सुमनोवर्णकापेता भवामि व्रतचारिणी ।
यच्च भर्ता न पिबति यच्च भर्ता न सेवते ॥ ३१ ॥
यच्च नाश्नाति मे भर्ता सर्वं तद्वर्जयाम्यहम् ।
यथोपदेशं नियता वर्तमाना वरांगने ॥ ३२ ॥
स्वलंकृता सुप्रयता भर्तुः प्रियहिते रता ।
ये च धर्माः कुटुंबेषु श्वश्र्वा मे कथिताः पुरा ॥ ३३ ॥
भिक्षा बलिः श्राद्धमिति स्थालीपाकाश्च पर्वसु ।
मान्यानां मानसत्कारा ये चाऽन्ये विदिता मम ॥ ३४ ॥
तान्सर्वाननुवर्तामि दिवारात्रमतंद्रिता ।
विनयान्नियमांश्चैव सदा सर्वात्मना श्रिता ॥ ३५ ॥
मृदून्सतः सत्यशीलान्सत्यधर्मानुपालिनः ।
आशीविषानिव क्रुद्धान्पतीन्परिचराम्यहम् ॥ ३६ ॥

नहीं हूं। मैं द्वार पर भी खड़ी नहीं रहती। मुझे घर से मिले हुए बाहरी बाग़ में रहना अच्छा नहीं लगता ॥२४।२८॥

मैं न तो बहुत हंसती ही हूं और न बहुत क्रोध ही करती हूं। क्रोध उत्पन्न होनेवाले कामों और अवसरों को बचा जाती हूँ। पति से अलग रहना मुझे अच्छा नहीं लगता। घर के या कुटुम्ब के किसी काम से जब पति परदेस जाते हैं, तब मैं फूल-माला, सुगन्ध आदि का सेवन नहीं करती। ब्रह्मचर्यव्रत धारण किये रहती हूं, मेरे पति जो वस्तु नहीं खाते-पीते, जिसका सेवन नहीं करते उस वस्तु को मैं भी छोड़े रहती हूं। हे सुन्दरी! मैं सब काम पति के उपदेश के अनुसार ही करती हूं ॥२९।३२॥

पति का प्रिय और हित करना मेरा नित्य का व्रत है। पति के पास पवित्र होकर, सुन्दर वस्त्र और गहने आदि पहनकर जाती हूं। मेरी सास ने अपने कुटुम्ब के प्रति जिन कर्त्तव्यों का उपदेश मुझे दिया था उनका पालन सदा करती हूं। भिक्षा देना, देव-पूजा, श्राद्ध, पर्व के दिन अच्छे-अच्छे भोजन बनाना, माननीय पुरुषों की पूजा और सत्कार करना और अन्य जो अपने कर्तव्य मुझे मालूम हैं उन सब-को दिन-रात किया करती हूं। कभी विनय के भाव को और पतिव्रता के नियमों को नहीं छोड़ती। मेरे पति कोमल स्वभाव के, सत्यव्रत, सज्जन, सत्य धर्म

पत्याश्रयो हि मे धर्मो मतः स्त्रीणां सनातनः ।
स देवः सा गतिर्नाऽन्या तस्य का विप्रियं चरेत् ॥ ३७ ॥
अहं पतीन्नाऽतिशये नाऽत्यश्ने नाऽतिभूषये ।
नापि परिवदे श्वश्रूं सर्वदा परियंत्रिता ॥ ३८ ॥
अवधानेन सुभगे नित्योत्थिततयैव च ।
भर्तारो वशगा मह्यं गुरुशुश्रूषयैव च ॥ ३९ ॥
नित्यमार्यामहं कुंतीं वीरसूं सत्यवादिनीम् ।
स्वयं परिचराम्येतां पानाच्छादनभोजनैः ॥ ४० ॥
नैतामतिशये जातु वस्त्रभूषणभोजनैः ।
नापि परिवदे चाऽहं तां पृथां पृथिवीसमाम् ॥ ४१ ॥
अष्टावग्रे ब्राह्मणानां सहस्राणि स्म नित्यदा ।
भुंजते रुक्मपात्रीषु युधिष्ठिरनिवेशने ॥ ४२ ॥
अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातका गृहमेधिनः ।
त्रिंशद्दासीक एकैको यान्बिभर्ति युधिष्ठिरः ॥ ४३ ॥
दशान्यानि सहस्राणि येषामन्नं सुसंस्कृतम् ।
ह्रियते रुक्मपात्रीभिर्यतीनामूर्ध्वरेतसाम् ॥ ४४ ॥

का पालन करनेवाले और क्रोध के समय जहरीले सर्प के समान भयङ्कर हैं। मैं सदा उनका मन लिये रहकर उनकी सेवा किया करती हूं ॥३३।३६॥

हे बहन! पति के आश्रय में रहना, अर्थात् उस के अधीन रहना स्त्रियों का सनातन धर्म है। पति ही स्त्रियों का देवता और एकमात्र गति है। कौन समझदार स्त्री उस पति के विरुद्ध कार्य करेगी? किस पति का अप्रिय करना उचित जान पड़ेगा? हे सुन्दरी! मैं पतियों को हीन दृष्टि से कभी नहीं देखती। उनसे अच्छा भोजन नहीं करती। उनसे बढ़ चढ़कर वस्त्र और गहने नहीं पहनती। अपनी सास की निन्दा कभी नहीं करती। सदा अपनी सास की सेवा किया करती हूं। मैं सदा लगन से सब काम करती हूं, बड़े-बूढ़ों की सेवा में तत्पर रहती हूं। इन्हीं गुणों को देखकर मेरे पति मेरे वश में हैं। हे सत्यभामा! वीर पुत्रों की माता, सत्यवादिनी, आर्या कुन्ती को मैं अपने हाथ से परोसकर भोजन कराती हूं, और उनकी सब तरह की सेवा करती हूं। उनसे बढ़कर न तो भोजन करती हूं और न वस्त्र या गहने पहनती हूं। कभी कोई ऐसी बात नहीं कहती जो कठोर हो या उन्हें बुरी लगे ॥३७।४१॥

पहले महाराज युधिष्ठिर के भवन में नित्य सुवर्ण के थालों में आठ हजार ब्राह्मण भोजन करते थे। इनके सिवा अट्ठासी हजार स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण

तान्सर्वानग्रहारेण ब्राह्मणान्वेदवादिनः ।
यथार्हं पूजयामि स्म पानाच्छादनभोजनैः ॥ ४५ ॥
शतं दासीसहस्राणि कौंतेयस्य महात्मनः ।
कंबुकेयूरधारिण्यो निष्ककंठ्यः स्वलंकृताः ॥ ४६ ॥
महार्हमाल्याभरणाः सुवर्णाश्चंदनोक्षिताः ।
मणीन्हेम च बिभ्रत्यो नृत्यगीतविशारदाः ॥ ४७ ॥
तासां नाम च रूपं च भोजनाच्छादनानि च ।
सर्वासामेव वेदाऽहं कर्म चैव कृताकृतम् ॥ ४८ ॥
शतं दासीसहस्राणि कुंतीपुत्रस्य धीमतः ।
पात्रीहस्ता दिवारात्रमतिथीन्भोजयंत्युत ॥ ४९ ॥
शतमश्वसहस्राणि दश नागायुतानि च ।
युधिष्ठिरस्याऽनुयात्रमिंद्रप्रस्थनिवासिनः ॥ ५० ॥
एतदासीत्तदा राज्ञो यन्महीं पर्यपालयत् ।
येषां संख्याविधिं चैव प्रदिशामि शृणोमि च ॥ ५१ ॥
अंतःपुराणां सर्वेषां भृत्यानां चैव सर्वशः ।
आगोपालाविपालेभ्यः सर्वं वेद कृताकृतम् ॥ ५२ ॥

महाराज युधिष्ठिर के यहां से अन्न-वस्त्र पाते थे। एक-एक ब्राह्मण की सेवा के लिए तीस-तीस दासियां नियुक्त थीं। इनके सिवा दस हज़ार ऊर्ध्वरेता यतियों को सुवर्ण के थालों में भोजन दिया जाता था। हे बहन! मैं इन सब वेदपाठी ब्राह्मणों को वैश्वदेव कर्म से बचा हुआ अन्न खिलाकर अन्न वस्त्र आदि देकर, यथायोग्य सबकी पूजा करती थी ॥४२।४५॥

हे बहन! महाराज युधिष्ठिर के एक लाख दासियाँ थीं। सुवर्ण के बाजूबन्द आदि गहने, मूल्यवान् माला, वस्त्र चन्दन आदि से सजी हुई, सुन्दर रूपवाली, मणि-रत्न आदि की प्रभा से जगमगाती हुई ये दासियाँ महाराज के आगे नाचती गाती रहती थीं; और भी अनेक प्रकार की सेवा किया करती थीं। सुवर्ण के थालों में अन्न लिये हुए ये दासियाँ, अतिथियों और अभ्यागतों को भोजन भी कराया करती थीं। हे सत्यभामाजी! मैं उनके नाम, रूप और खाने-पहनने का हाल, सब जानती थी। कब किसने क्या कार्य किया और किसका क्या कार्य बँधा हुआ है, इसकी सूचना भी मुझे रहती थी। जिस समय महाराज युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थ में राज्य करते थे उस समय एक लाख घोड़े और एक लाख हाथी उनकी सवारी के साथ निकलते थे ॥४६।५०॥

मुझे इन सबकी संख्या मालूम थी। मैं ही

सर्वं राज्ञः समुदयमायं च व्ययमेव च ।
एकाऽहं वेद्मि कल्याणि पांडवानां यशस्विनि ॥ ५३ ॥
मयि सर्वं समासज्य कुटुंबं भरतर्षभाः ।
उपासनरताः सर्वे घटयंति वरानने ॥ ५४ ॥
तमहं भारमासक्तमनाधृष्यं दुरात्मभिः ।
सुखं सर्वं परित्यज्य रात्र्यहानि घटामि वै ॥ ५५ ॥
अधृष्यं वरुणस्येव निधिपूर्णमिवोदधिम् ।
एकाऽहं वेद्मि कोशं वै पतीनां धर्मचारिणाम् ॥ ५६ ॥
अनिशायां निशायां च सहाया क्षुत्पिपासयोः ।
आराधयंत्याः कौरव्यांस्तुल्या रात्रिरहश्च मे ॥ ५७ ॥
प्रथमं प्रतिबुद्ध्यामि चरमं संविशामि च ।
नित्यकालमहं सत्ये एतत्संवननं मम ॥ ५८ ॥
एतज्जानाम्यहं कर्तुं भर्तृसंवननं महत् ।
असत्स्त्रीणां समाचारं नाऽहं कुर्यां न कामये ॥ ५९ ॥
वैशम्पायन उवाच—तच्छ्रुत्वा धर्मसहितं व्याहृतं कृष्णया तदा ।
उवाच सत्या सत्कृत्य पांचालीं धर्मचारिणीम् ॥ ६० ॥

इन सबका सब तरह का प्रबन्ध करती थी। सब अन्तःपुरों (महलों) का, सब नौकरों का, सब परिवार का, गाय और भेड़ आदि पशुओं को चरानेवाले रखवालों तक का प्रबन्ध और देखभाल मैं ही किया करती थी। हे बहन! महाराज के राज्य की आमदनी और खर्च का हिसाब मुझे मालूम रहता था और मैं ही उसकी जाँच-पड़ताल किया करती थी। भरतकुल-श्रेष्ठ पाण्डवों ने इस तरह राज्य की और कुटुम्ब की देखभाल का कार्य मुझे सौंप रक्खा था। वे निश्चिन्त होकर धर्म-कर्म में लगे रहते थे और मैं सब सुख छोड़कर यह भार सँभाले हुए दिन-रात परिश्रम किया करती थी। दुर्बल पुरुष जिन कामों के बोझ को नहीं सँभाल सकते उसे मैं, स्त्री होकर भी, अकेली संभालती थी ॥५१।५५॥

वरुण के निधि पूर्ण रत्नाकर सागर के समान, पाण्डवों के खज़ाने में अथाह धन भरा पड़ा था। उसकी भी देख-रेख मेरे ही ज़िम्मे थी—हे बहन! मैं भूख और प्यास की परवा छोड़कर, दिन को और रात्रि को, सदा ये कार्य करके अपने पतियों की सेवा में लगी रहती थी। मुझे पतियों की सेवा करने में दिन और रात्रि एक से जान पड़ते हैं; कभी मैं नहीं ऊबती। मैं पतियों से पहले सोकर उठती हूँ और उनके सो जाने के पश्चात् सोती हूँ। हे सत्यभामा! मेरे पास पतियों के वशीकरण का यही

अभिपन्नाऽस्मि पांचालि याज्ञसेनि क्षमस्व मे ।
कामकारः सखीनां हि सोपहासं प्रभाषितम् ॥ ६१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्वणि त्रयस्त्रिंशत्यधिकद्विशततमोऽध्याय ॥२३३॥

उपाय है । ओछी चाल की स्त्रियों का हाल मैं नहीं जानती । वे जिन उपायों को वशीकरण के लिए कार्य में लाती हैं, उनको न मैं करती हूं और न वे मुझे पसंद हैं । वैशम्पायन कहते हैं—हे राजा जनमेजय ! द्रौपदी के इन धर्मयुक्त वचनों को सुनकर सत्यभामा ने कहा—हे पाञ्चाली ! मेरा अपराध क्षमा करो । मैं तुम्हारी सखी हूं, इसलिए मैंने हंसी के तौर पर तुमसे यह बात पूछी थी । इसके लिए तुम कोप या दुःख मत करो ॥५६।६१॥

—०—

वनपर्व का दो सौ तेंतीस अध्याय समाप्त हुआ ॥२३३॥

अथ चतुस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२३४॥

द्रौपद्युवाच—इमं तु ते मार्गमपेतमोहं वक्ष्यामि चित्तग्रहणाय भर्तुः ।
अस्मिन्यथावत्सखि वर्तमाना भर्तारमाच्छेत्स्यसि कामिनीभ्यः॥ १ ॥
नैतादृशं दैवतमस्ति सत्ये सर्वेषु लोकेषु सदेवकेषु ।
यथापतिस्तस्य तु सर्वकामा लभ्याः प्रसादात्कुपितश्च हन्यात् ॥ २ ॥
तस्मादपत्यं विविधाश्च भोगाः शय्यासनान्युत्तमदर्शनानि ।
वस्त्राणि माल्यानि तथैव गंधाः स्वर्गश्च लोको विपुला च कीर्तिः॥ ३ ॥
सुखं सुखेनेह न जातु लभ्यं दुःखेन साध्वी लभते सुखानि ।
सा कृष्णमाराधय सौहृदेन प्रेम्णा च नित्यं प्रतिकर्मणा च ॥ ४ ॥
तथाऽऽसनैश्चारुभिरग्र्यमाल्यैर्दाक्षिण्ययोगैर्विविधैश्च गंधैः ।
अस्याः प्रियोऽस्मीति यथा विदित्वा त्वामेव संश्लिष्यति तद्विधत्स्व ॥ ५ ॥

दो सौ चौंतीस अध्याय ॥२३४॥

द्रौपदी ने कहा—हे सत्यभामा ! सुनो, मैं तुमको स्वामी के चित्त को अपनी ओर खींचने का जो उपाय बताती हूं वह निर्दोष है । यह उपाय ठीक तौर से करने पर तुम अपने स्वामी को सौतों से छीन लोगी । हे बहन ! स्त्री के लिए सब लोकों में पति के समान दूसरा देवता नहीं है । पति प्रसन्न होता है तो स्त्री के सब मनोरथ पूरे होते हैं और यदि वह नाराज़ होता है तो सब कामनाएँ निष्फल कर देता है । स्त्रियां पति के प्रसाद से सन्तान, विविध भोग, उत्तम शय्या, अद्भुत आसन, वस्त्र, माला, सुगन्ध पदार्थ, स्वर्गलोक और अनन्त कीर्ति पाती हैं ॥१।३॥

सुख करने से सुख नहीं मिलता । पतिव्रता और नेकचलन स्त्रियां दुःख झेलकर सुख पाती हैं।

श्रुत्वा स्वरं द्वारगतस्य भर्तुः प्रत्युत्थिता तिष्ठ गृहस्य मध्ये ।
दृष्ट्वा प्रविष्टं त्वरिताऽऽसनेन पाद्येन चैनं प्रतिपूजयस्व ॥ ६ ॥
संप्रेषितायामथ चैव दास्यामुत्थाय सर्वं स्वयमेव कार्यम् ।
जानातु कृष्णस्तव भावमेतं सर्वात्मना मां भजतीति सत्ये ॥ ७ ॥
त्वत्संनिधौ यत्कथयेत्पतिस्ते यद्यप्यगुह्यं परिरक्षितव्यम् ।
काचित्सपत्नी तव वासुदेवं प्रत्यादिशेत्तेन भवेद्विरागः ॥ ८ ॥
प्रियांश्च रक्तांश्च हितांश्च भर्तुस्तान्भोजयेथा विविधैरुपायैः ।
द्वेष्यैरुपेक्ष्यैरहितैश्च तस्य भिद्यस्व नित्यं कुहकोद्यतैश्च ॥ ९ ॥
मदं प्रमादं पुरुषेषु हित्वा संयच्छ भावं प्रतिगृह्य मौनम् ।
प्रद्युम्नसांबावपि ते कुमारौ नोपासितव्यौ रहिते कदाचित् ॥ १० ॥
महाकुलीनाभिरपापिकाभिः स्त्रीभिः सतीभिस्तव सख्यमस्तु ।
चंडाश्च शौण्डाश्च महाशनाश्च चौराश्च दुष्टाश्चपलाश्च वर्ज्याः ॥ ११ ॥
एतद्यशस्यं भगदैवतं च स्वार्थं तथा शत्रुनिबर्हणं च ।
महार्हमाल्याभरणांगरागा भर्तारमाराधय पुण्यगंधा ॥ १२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्वणि द्रौपदीकर्तव्यकथने चतुस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः।२३४।

तुम नित्य शारीरिक क्लेश सहकर, निष्कपट प्रेम का व्यवहार करके श्रीकृष्ण की सेवा करो। सुन्दर अनुकूल भाव से आसन-माला-सुगन्ध आदि भोग के पदार्थ अर्पण करके, उन्हें इस प्रकार प्रसन्न करो जिससे वे समझें कि तुम उनको हृदय से प्यार करती हो। ऐसा व्यवहार करोगी तो वे सब रानियों को छोड़कर तुम्हीं को चाहेंगे। दरवाज़े पर उनकी आवाज़ सुनते ही तुरन्त उठकर अभ्यर्थना के लिए आँगन में खड़ी हो जाया करो। वे ज्योंही भीतर आवें त्योंही बैठने के लिए आसन बिछा दिया करो। उनके पाँव धो दिया करो ॥४।६॥

वे दासी से कोई काम करने के लिए कहें तो तुम स्वयं उठकर वह कार्य करो। हे बहन! श्रीकृष्ण तुम्हारे इन भावों को देखकर, अपने ऊपर तुम्हारी ऐसी भक्ति और अनुराग देखकर, अवश्य तुम्हारे वश में हो जायगे। तुम्हारा भाव देखकर श्रीकृष्ण को यह विश्वास हो जाना चाहिए कि तुम सबसे बढ़कर उन्हें चाहती हो। हे बहन! यदि श्रीकृष्ण तुमसे कोई बात कहें और वह छिपाने के योग्य न हो, तो भी तुम उसे किसी से मत कहो। क्योंकि जो तुम्हारी कोई सौत उस बात को सुनकर श्रीकृष्ण से कह देगी तो वे तुम पर अपने मन में नाराज़ हो सकते हैं। जो लोग तुम्हारे पति के प्यारे, हित-चिन्तक और उन पर स्नेह रखनेवाले हों, उन्हें अनेक प्रकार से भोजन कराओ, उनका सत्कार करो। और जो लोग उनके शत्रु, विरोधी अशुभचिन्तक, उपेक्षणीय



द्रौपदी का पाण्डवों को उपदेश करना।

श्रुत्वा स्वरं द्वारगतस्य भर्तुः प्रत्युत्थिता तिष्ठ गृहस्य मध्ये ।
दृष्ट्वा प्रविष्टं त्वरिताऽऽसनेन पाद्येन चैनं प्रतिपूजयस्व ॥ ६ ॥
संप्रेषितायामथ चैव दास्यामुत्थाय सर्वं स्वयमेव कार्यम् ।
जानातु कृष्णस्तव भावमेतं सर्वात्मना मां भजतीति सत्ये ॥ ७ ॥
त्वत्सन्निधौ यत्कथयेत्पतिस्ते यद्यप्यगुह्यं परिरक्षितव्यम् ।
काचित्सपत्नी तव वासुदेवं प्रत्यादिशेत्तेन भवेद्विरागः ॥ ८ ॥
प्रियांश्च रक्तांश्च हितांश्च भर्तुस्तान्भोजयेथा विविधैरुपायैः ।
द्वेष्यैरुपेक्ष्यैरहितैश्च तस्य भिद्यस्व नित्यं कुहकोद्यतैश्च ॥ ९ ॥
मदं प्रमादं पुरुषेषु हित्वा संयच्छ भावं प्रतिगृह्य मौनम् ।
प्रद्युम्नसांबावपि ते कुमारौ नोपासितव्यौ रहिते कदाचित् ॥ १० ॥
महाकुलीनाभिरपापिकाभिः स्त्रीभिः सतीभिस्तव सख्यमस्तु ।
चंडाश्च शौण्डाश्च महाशनाश्च चौराश्च दुष्टाश्चपलाश्च वर्ज्याः ॥ ११ ॥
एतद्यशस्यं भगदैवतं च स्वार्थं तथा शत्रुनिबर्हणं च ।
महार्हमाल्याभरणांगरागा भर्तारमाराधय पुण्यगंधा ॥ १२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्वणि द्रौपदीकर्तव्यकथने चतुस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः।२३४।

तुम नित्य शारीरिक क्लेश सहकर, निष्कपट प्रेम का व्यवहार करके श्रीकृष्ण की सेवा करो। सुन्दर अनुकूल भाव से आसन-माला-सुगन्ध आदि भोग के पदार्थ अर्पण करके, उन्हें इस प्रकार प्रसन्न करो जिससे वे समझें कि तुम उनको हृदय से प्यार करती हो। ऐसा व्यवहार करोगी तो वे सब रानियों को छोड़कर तुम्हीं को चाहेंगे। दरवाज़े पर उनकी आवाज़ सुनते ही तुरन्त उठकर अभ्यर्थना के लिए आंगन में खड़ी हो जाया करो। वे ज्योंही भीतर आवें त्योंही बैठने के लिए आसन बिछा दिया करो। उनके पांव धो दिया करो ॥४।६॥

वे दासी से कोई काम करने के लिए कहें तो तुम स्वयं उठकर वह कार्य करो। हे बहन! श्रीकृष्ण तुम्हारे इन भावों को देखकर, अपने ऊपर तुम्हारी प्रेमी भक्ति और अनुराग देखकर, अवश्य तुम्हारे वश में हो जायंगे। तुम्हारा भाव देखकर श्रीकृष्ण को यह विश्वास हो जाना चाहिए कि तुम सबसे बढ़कर उन्हें चाहती हो। हे बहन! यदि श्रीकृष्ण तुमसे कोई बात कहें और वह छिपाने के योग्य न हो, तो भी तुम उसे किसी से मत कहो। क्योंकि जो तुम्हारी कोई सौत उस बात को सुनकर श्रीकृष्ण से कह देगी तो वे तुम पर अपने मन में नाराज़ हो सकते हैं। जो लोग तुम्हारे पति के प्यारे, हित-चिन्तक और उन पर स्नेह रखनेवाले हों, उन्हें अनेक प्रकार से भोजन कराओ, उनका सत्कार करो। और जो लोग उनके शत्रु, विरोधी अशुभचिन्तक, उपेक्षणीय



द्रौपदी का पाण्डवों को उपेक्षा करना।

और कपटी हों, उनको पास न आने दो और श्रीकृष्ण को भी उनसे अलग रखने की चेष्टा करती रहो। पर-पुरुष के आगे असावधानी या मतवालेपन को मत प्रकट होने दो। पुरुषों के आगे न तो बहुत बोलो और न अपने हृदय के भाव को प्रकट होने दो। लज्जा और सङ्कोच के साथ रहो। प्रद्युम्न और साम्ब तुम्हारे पुत्र होते हैं, परन्तु एकान्त में उनके पास भी मत बैठो। क्रोधी स्वभाववाली, मद्य पीनेवाली, बहुत भोजन करनेवाली, कर्कशा, चोर, दुष्ट, चञ्चल स्त्रियों का सङ्ग मत करो। अच्छे वंश की पाप से डरनेवाली, पतिव्रता स्त्रियों से मित्रता करो—उनके पास बैठो-उठो। मूल्यवान् वस्त्र—आभूषण, चन्दन-अंगराग आदि से सज-धजकर सदा पति के पास जाओ और उनकी सेवा करो। हे सत्यभामा! ये मेरे बताये हुए उपाय यश और सौभाग्य के बढ़ानेवाले हैं। इस तरह पति की सेवा करनेवाली स्त्री मरने पर स्वर्गलोक को जाती है। सौतें शत्रुता करके कभी तुमको हानि न पहुँचा सकेंगी ॥७१२॥

—o—

वनपर्व का दो सौ चौंतीस अध्याय समाप्त हुआ ॥२३४॥

अथ पञ्चत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२३५॥

वैशम्पायन उवाच—मार्कंडेयादिभिर्विप्रैः पांडवैश्च महात्मभिः ।
कथाभिरनुकूलाभिः सह स्थित्वा जनार्दनः ॥ १ ॥
ततस्तैः संविदं कृत्वा यथावन्मधुसूदनः ।
आरुरुक्षू रथं सत्यामाह्वयामास केशवः ॥ २ ॥
सत्यभामा ततस्तत्र स्वजित्वा द्रुपदात्मजाम् ।
उवाच वचनं हृद्यं यथाभावं समाहितत् ॥ ३ ॥
कृष्णे मा भूत्तवोत्कंठा मा व्यथा मा प्रजागरः ।
भर्तृभिर्देवसंकाशैर्जितां प्राप्स्यसि मेदिनीम् ॥ ४ ॥
न ह्येवं शीलसंपन्ना नैवं पूजितलक्षणाः ।
प्राप्नुवंति चिरं क्लेशं यथा त्वमसितेक्षणे ॥ ५ ॥

दो सौ पैंतीस अध्याय ॥२३५॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजा जनमेजय! महर्षि मार्कण्डेय और महात्मा पाण्डवों के साथ अनेक प्रकार की बातचीत करके, कुछ दिन रहकर, श्रीकृष्ण ने द्वारका को जाने का विचार किया। अब पाण्डवों से मिल-भेंटकर रथपर चढ़ने के समय श्रीकृष्ण ने सत्यभामा को बुलाया। सत्यभामा ने द्रौपदी को प्रेमपूर्वक गले से लगाकर कहा—हे बहन द्रौपदी! तुम खेद न करो, व्याकुल मत होओ। सोच में रातभर जागना छोड़ दो। शीघ्र ही तुम्हारे देवतुल्य पति शत्रुओं को जीतकर फिर राज्य पावेंगे। तुम्हारे समान चरित्र, शील, सुन्दर श्रेष्ठ लक्षणोंवाली स्त्रियाँ कभी अधिक दिनों तक दुःख नहीं भोगतीं।

अवश्यं च त्वया भूमिरियं निहतकंटका ।
भर्तृभिः सह भोक्तव्या निर्द्वंद्वेति श्रुतं मया ॥ ६ ॥
धार्तराष्ट्रवधं कृत्वा वैराणि प्रतियात्य च ।
युधिष्ठिरस्थां पृथिवीं द्रक्ष्यसे द्रुपदात्मजे ॥ ७ ॥
यास्ताः प्रव्राजमानां त्वां प्राहसन्दर्पमोहिताः ।
ताः क्षिप्रं हतसंकल्पा द्रक्ष्यसि त्वं कुरुस्त्रियः ॥ ८ ॥
तव दुःखोपपन्नाया यैराचरितमप्रियम् ।
विद्धि संप्रस्थितान्सर्वांस्तान्कृष्णे यमसादनम् ॥ ९ ॥
पुत्रस्ते प्रतिविंध्यश्च सुतसोमस्तथाविधः ।
श्रुतकर्मार्जुनिश्चैव शतानीकश्च नाकुलिः ॥ १० ॥
सहदेवाच्च यो जातः श्रुतसेनस्तवाऽऽत्मजः ।
सर्वे कुशलिनो वीराः कृतास्त्राश्च सुतास्तव ॥ ११ ॥
अभिमन्युरिव प्रीता द्वारवत्यां रता भृशम् ।
त्वमिवैषां सुभद्रा च प्रीत्या सर्वात्मना स्थिता ॥ १२ ॥
प्रीयते तव निर्द्वंद्वा तेभ्यश्च विगतज्वरा ।
दुःखिता तेन दुःखेन सुखेन सुखिता तथा ॥ १३ ॥
भजेत्सर्वात्मना चैव प्रद्युम्नजननी तथा ।

मैंने ऋषियों से सुना है कि तुम्हारे सब शत्रु मारे जायँगे और तुम अपने स्वामियों के साथ इस पृथ्वी का निष्कण्टक राज्य भोगोगी ॥१।६॥

हे द्रौपदी ! धृतराष्ट्र के दुष्ट पुत्र शीघ्र ही मारे जायँगे ; उनके किये अत्याचार और अपमान का बदला लेकर महाराज युधिष्ठिर फिर इस पृथ्वी के सम्राट् होंगे, और तुम अपनी आँखों से यह सुख देखोगी । घमण्ड से भरी और मोह को प्राप्त जो कुरु-कुल की स्त्रियाँ वनवास के समय तुमको देखकर हँसी थीं उन्हें शीघ्र ही तुम बुरी दशा में देखोगी ; उनके सब इरादे मिट्टी में मिल जायँगे । तुम्हारे दु:ख के समय जिन्होंने तुम्हारा अप्रिय किया है, उन्हें तुम मरा हुआ ही समझो ॥७।९॥

प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, श्रुतकर्मा, श्रुतसेन और शतानीक, ये तुम्हारे पाँचों पुत्र प्रसन्नतापूर्वक हैं । वे सब युद्धकला में निपुण, अस्त्र-विद्या में प्रवीण और वीर हैं । वे अभिमन्यु की तरह द्वारका में सुखपूर्वक रहते हैं ॥१०।१२॥

सुभद्रा देवी तुम्हारी ही तरह स्नेह से उनका पालन और देखभाल किया करती हैं । प्रद्युम्न की

भानुप्रभृतिभिश्चैनान्विशिनष्टि च केशवः ॥ १४ ॥
भोजनाच्छादने चैषां नित्यं मे श्वशुरः स्थितः ।
रामप्रभृतयः सर्वे भजंत्यंधकवृष्णयः ॥ १५ ॥
तुल्यो हि प्रणयस्तेषां प्रद्युम्नस्य च भाविनि ।
एवमादि प्रियं सत्यं हृद्यमुक्त्वा मनोनुगम् ॥ १६ ॥
गमनाय मनश्चक्रे वासुदेवरथं प्रति ।
तां कृष्णां कृष्णमहिषी चकाराऽभिप्रदक्षिणम् ॥ १७ ॥
आरुरोह रथं शौरेः सत्यभामा च भाविनी ।
स्मयित्वा तु यदुश्रेष्ठो द्रौपदीं परिसांत्व्य च ।
उपावर्त्य ततः शीघ्रैर्हयैः प्रायात्पुरं स्वकम् ॥ १८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्वणि कृष्णगमने पञ्चत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२३५॥
समाप्तमिदं द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्व ।

माता रुक्मिणी देवी को तुममें पूरी महानुभूती है। वे निर्द्वन्द्व और सन्तापरहित होकर तुम्हारे पुत्रों को प्रसन्न रखती हैं। वे तुम्हारे सुख में सुखी और तुम्हारे दुःख में दुखी हैं। स्वयं भगवान् कृष्णचन्द्र अपने पुत्र भानु आदि से बढ़कर तुम्हारे पुत्रों को चाहते हैं। मेरे ससुर वसुदेवजी तुम्हारे पुत्रों के खाने-पीने-पहनने का ख्याल रखते हैं। बलभद्र आदि अन्धक और वृष्णिवंश के यादव उन कुमारों पर बड़ी प्रीति रखते हैं। हे बहन! प्रद्युम्न के साथ तुम्हारे पुत्रों की गहरी मित्रता है। इसलिए तुम अपने पुत्रों की चिन्ता न करो ॥१३।१६॥

इस प्रकार प्रिय, सत्य और मनोहर वचन कहकर सत्यभामा श्रीकृष्ण के साथ रथ पर चढ़ने के लिए तैयार हुई। सत्यभामा ने द्रौपदी की प्रदक्षिणा की और फिर रथ पर सवार हो गई। मुसकाकर श्रीकृष्ण ने भी द्रौपदी को समझाया। इसके पश्चात् घोड़ा को हांककर कृष्णचन्द्र अपनी पुरी की ओर चल दिये ॥१७।१८॥

वनपर्व का दो सौ पैंतीस अध्याय समाप्त हुआ ॥२३५॥

अथ घोषयात्रापर्व ।

अथ षट्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२३६॥

जनमेजय उवाच—एवं वने वर्तमाना नराग्र्याः शीतोष्णवातातपकर्शितांगाः ।
सरस्तदासाद्य वनं च पुण्यं ततः परं किमकुर्वंत पार्थाः ॥ १ ॥
सरस्तदासाद्य तु पांडुपुत्रा जनं समुत्सृज्य विधाय वेश्म ।
वनानि रम्याण्यथ पर्वतांश्च नदीप्रदेशांश्च तदा विचेरुः ॥ २ ॥

तथा वने तान्वसतः प्रवीरान्स्वाध्यायवंतश्च तपोधनांश्च ।
अभ्याययुर्वेदविदः पुराणास्तान्पूजयामासुरथो नराग्र्याः ॥ ३ ॥
ततः कदाचित्कुशलः कथासु विप्रोऽभ्यगच्छद्भुवि कौरवेयान् ।
स तैः समेत्याऽथ यदृच्छयैव वैचित्रवीर्यं नृपमभ्यगच्छत् ॥ ४ ॥
अथोपविष्टः प्रतिसत्कृतश्च वृद्धेन राज्ञा कुरुसत्तमेन ।
प्रचोदितः संकथयांबभूव धर्मानिलेंद्रप्रभवान्यमौ च ॥ ५ ॥
कृशांश्च वातातपकर्शितांगान्दुःखस्य चोग्रस्य मुखे प्रपन्नान् ।
तां चाप्यनाथामिव वीरनाथां कृष्णां परिक्लेशगुणेन युक्ताम् ॥ ६ ॥
ततः कथास्तस्य निशम्य राजा वैचित्रवीर्यः कृपयाऽभितप्तः ।
वने तथा पार्थिवपुत्रपौत्रान्श्रुत्वा तथा दुःखनदीं प्रपन्नान् ॥ ७ ॥
प्रोवाच दैन्याभिहतांतरात्मा निःश्वासवातोपहतस्तदानीम् ।
वाचं कथंचित्स्थिरतामुपेत्य तत्सर्वमात्मप्रभवं विचिंत्य ॥ ८ ॥
कथं नु सत्यः शुचिरार्यवृत्तो ज्येष्ठः सुतानां मम धर्मराजः ।
अजातशत्रुः पृथिवीतले स्म शेते पुरा रांकवकूटशायी ॥ ९ ॥
प्रबोध्यते मागधसूतपूगैर्नित्यं स्तुवद्भिः स्वयमिंद्रकल्पः ।

दो सौ छत्तीस अध्याय ॥२३६॥

राजा जनमेजय ने कहा—हे तपोधन! नरश्रेष्ठ पाण्डवों ने इस प्रकार वन में रहते हुए, जाड़ागर्मी और आंधी-पानी-धूप आदि के कष्टों से दुर्बल होकर उस पवित्र सरोवर और वन में आकर फिर क्या किया? यह विस्तार के साथ मुझसे कहिए। वैशम्पायन कहते हैं—हे राजा जनमेजय! श्रीकृष्ण को विदा करके पाण्डव लोग फिर उसी सरोवर के पास आये और वहाँ पर एक सुन्दर कुटी बनाकर रहने लगे। बीच-बीच में वे रमणीय वनों में, पर्वतों पर और पवित्र नदियों के किनारे विचरने जाया करते थे। समय-समय पर स्वाध्याय करनेवाले तपोधन प्राचीन महर्षि लोग भी उनसे मिलने आते थे। पाण्डव लोग यथाशक्ति उनकी पूजा और सत्कार करते थे ॥१।२॥

एक दिन प्राचीन कथाओं के कहने में चतुर एक ब्राह्मण पाण्डवों से मिलने आया। पाण्डवों से मिलकर बातचीत करने के पश्चात्, उनसे विदा होकर, वह ब्राह्मण इच्छानुसार घूमता-फिरता महाराज धृतराष्ट्र की सभा में पहुँचा। कुरुवंश में श्रेष्ठ वृद्ध राजा धृतराष्ट्र ने उस ब्राह्मण का यथोचित सत्कार किया। इसके पश्चात् धृतराष्ट्र के पूछने पर वह ब्राह्मण पाण्डवों का हाल इस प्रकार कहने लगा ।३।४।

हे राजन्! इस समय पाण्डव लोग जाड़ा-गर्मी आंधी-धूप आदि के कष्ट सहते-सहते दुबले हो गये

पतत्त्रिसंघैः स जघन्यरात्रे प्रबोध्यते नूनमिडातलस्थः ॥ १० ॥
कथं नु वातातपकर्शितांगो वृकोदरः कोपपरिप्लुतांगः ।
शेते पृथिव्यामतथोचितांगः कृष्णासमक्षं वसुधातलस्थः ॥ ११ ॥
तथाऽर्जुनः सुकुमारो मनस्वी वशे स्थितो धर्मसुतस्य राज्ञः ।
विदूयमानैरिव सर्वगात्रैर्ध्रुवं न शेते वसतीरमर्षात् ॥ १२ ॥
यमौ च कृष्णां च युधिष्ठिरं च भीमं च दृष्ट्वा सुखविप्रयुक्तम् ।
विनिःश्वसन्सर्प इवोग्रतेजा ध्रुवं न शेते वसतीरमर्षात् ॥ १३ ॥
यथा यमौ चाऽप्यसुखौ सुखार्हौ समृद्धरूपावमरौ दिवीव ।
प्रजागरस्थौ ध्रुवमप्रशांतौ धर्मेण सत्येन च वार्यमाणौ ॥ १४ ॥
समीरणेनाऽथ समो बलेन समीरणस्यैव सुतो बलीयान् ।
स धर्मपाशेन सितोऽग्रजेन ध्रुवं विनिःश्वस्य सहत्यमर्षम् ॥ १५ ॥
स चापि भूमौ परिवर्तमानो वधं सुतानां मम कांक्षमाणः ।

हैं, वे कठोर दुःख और कष्ट सह रहे हैं। वीर पतियों से सनाथ द्रौपदी इस समय अनाथ की तरह क्लेश पा रही है। विचित्रवीर्य के पुत्र महाराज धृतराष्ट्र को ब्राह्मण के मुँह से यह हाल सुनकर पाण्डवों पर बड़ी दया आई। पाण्डव लोग राजकुमार और राजा के पौत्र होकर वन में ऐसे कठिन दुःख भोग रहे हैं यह सोचकर, व्याकुल होकर, वे लम्बी साँसें लेने लगे। फिर किसी तरह संभलकर, धैर्य धारण कर, उन्होंने सोचा कि मैं ही तो उनके इन दुःखों का कारण हूँ। महाराज धृतराष्ट्र कहने लगे कि ओ युधिष्ठिर मेरे पुत्रों में जेठे, सत्यपरायण, पवित्र-हृदय, सुशील और पृथ्वी पर अजातशत्रु के नाम से प्रसिद्ध हैं और जो पहले रंकु मृग के रोमों के बिछौने पर बढ़िया कोमल शय्या पर सोते थे, वे इस समय पृथ्वी पर कैसे सोते होंगे। जिनको सूत-मागध-बन्दीजन नित्य सबेरे स्तुतिपाठ करके जगाते थे, वे इन्द्रतुल्य धर्मराज युधिष्ठिर पक्षियों का कलरव सुनकर सबेरे आंख खोलते होंगे ॥६।१०॥

महाबली भीमसेन आँधी और घाम सहने से निर्बल हो गये होंगे। कोप के मारे उनका शरीर कांप रहा होगा। वे द्रौपदी के सामने किस तरह धरती पर सोते होंगे? सुकुमार मनस्वी अर्जुन धर्मराज के आज्ञाकारी हैं। इसलिए कुछ न कर सकने के कारण क्रोध के मारे वे भीतर ही भीतर जलते होंगे। रात्रि को उन्हें नींद न पड़ती होगी। वे नकुल, सहदेव, द्रौपदी, युधिष्ठिर और भीमसेन आदि को सुखभोग से भ्रष्ट देखकर क्रोध के मारे ज़हरीले सर्प की तरह लगातार लम्बी सांसें ले रहे होंगे। सुख-भोग के योग्य नकुल और सहदेव, धर्म और सत्य के फन्दे में बंधे रहने के कारण, बड़ी बेचैनी के साथ जागते-जागते रात्रियें व्यतीत कर रहे होंगे ॥११।१४॥

वैसे ही वायु के समान वेग और बलवाले वायु-

सत्येन धर्मेण च वार्यमाणः कालं प्रतीक्षत्यधिको रणेऽन्यैः ॥ १६ ॥
अजातशत्रौ तु जिते निकृत्या दुःशासनो यत्परुषाण्यवोचत् ।
तानि प्रविष्टानि वृकोदरांगं दहंति कक्षाग्निरिवेंधनानि ॥ १७ ॥
न पापकं ध्यास्यति धर्मपुत्रो धनंजयश्चाऽप्यनुवर्त्स्यते तम् ।
अरण्यवासेन विवर्धते तु भीमस्य कोपोऽग्निरिवाऽनिलेन ॥ १८ ॥
स तेन कोपेन विदह्यमानः करं करेणाभिनिपीड्य वीरः ।
विनिःश्वसत्युंष्णमतीव घोरं दहन्निवेमान्मम पुत्रपौत्रान् ॥ १९ ॥
गांडीवधन्वा च वृकोदरश्च संरंभिणावंतककालकल्पौ ।
न शेषयेतां युधि शत्रुसेनां शरान्किरंतावशनिप्रकाशान् ॥ २० ॥
दुर्योधनः शकुनिः सूतपुत्रो दुःशासनश्चापि सुमंदचेताः ।
मधु प्रपश्यंति न तु प्रपातं यद् द्यूतमालंब्य हरंति राज्यम् ॥ २१ ॥
शुभाशुभं कर्म नरो हि कृत्वा प्रतीक्षते तस्य फलं स्म कर्ता ।
स तेन मुह्यत्यवशः फलेन मोक्षः कथं स्यात्पुरुषस्य तस्मात् ॥ २२ ॥
क्षेत्रे सुकृष्टे ह्युपिते च बीजे देवे च वर्षत्यृतुकालयुक्तम् ।
न स्यात्फलं तस्य कुतः प्रसिद्धिरन्यत्र दैवादिति चिंतयामि ॥ २३ ॥

पुत्र भीमसेन, युधिष्ठिर के प्रतिज्ञारूपी धर्मपाश में बँधे रहने के कारण, क्रोध को रोककर पृथ्वी पर पड़े तड़पते होंगे । धर्म और सत्य उनको इस समय रोके हुए है, इसी से वे मेरे पुत्रों को मारने के लिए उपयुक्त समय की राह देख रहे होंगे । अजातशत्रु युधिष्ठिर को कपटद्यूत में जीतकर दुःशासन ने जो कठोर वचन कहे हैं वे भीमसेन के शरीर में प्रवेश करके, सूखी घास को अग्नि की तरह, जला रहे होंगे। धर्मपुत्र युधिष्ठिर पापविचार को अपने मन में न लावेंगे, अर्जुन भी उनके अनुगामी है। एक भीमसेन का ही क्रोध, वायु की सहायता से अग्नि की तरह, वनवास के कष्टों से बढ़ रहा होगा । उस क्रोध के मारे भीमसेन आग-बबूला हो रहे होंगे । वे हाथ से हाथ मलकर इस तरह गर्म और लम्बी लम्बी साँसें ले रहे होंगे मानों मेरे पुत्र पौत्रों को भस्म कर देंगे । अर्जुन और भीमसेन दोनों क्रोधी और काल के समान हैं । वे वज्रतुल्य बाणों की वर्षा करके शत्रुसेना के एक मनुष्य को भी जीता न छोड़ेंगे ॥१५।२०॥

दुर्योधन शकुनि, सूतपुत्र कर्ण और मन्दबुद्धि दुःशासन ये लोग अर्जुन और भीमसेन से उत्पन्न होनेवाले भय को नहीं देखते । जैसे शहद उतारनेवाला शहद पर दृष्टि रखता है, पर ऊपर से गिरने का खयाल नहीं रखता, वैसे ही वे राज्यसुख पाने पर दृष्टि रखते हैं, किन्तु उसमें होनेवाले विनाश को नहीं देखते । मनुष्य शुभ या अशुभ कर्म करके

कृतं मताक्षेण यथा न साधु साधुप्रवृत्तेन च पांडवेन ।
मया च दुष्पुत्रवशानुगेन यथा कुरूणामयमंतकालः ॥ २४ ॥
ध्रुवं प्रवास्यत्यसमीरितोऽपि ध्रुवं प्रजास्यत्युत गर्भिणी या ।
ध्रुवं दिनादौ रजनी प्रणाशस्तथा क्षपादौ च दिनप्रणाशः ॥ २५ ॥
क्रियेत कस्मादपरे च कुर्युर्वित्तं न दद्युः पुरुषाः कथंचित् ।
प्राप्याऽर्थकाले च भवेदनर्थः कथं नु तत्स्यादिति तत्कुतः स्यात् ॥ २६ ॥
कथं नु भिद्येत न च स्रवेत् न च प्रसिच्येदिति रक्षितव्यम् ।
अरक्ष्यमाणं शतधा प्रकीर्येद् ध्रुवं न नाशोऽस्ति कृतस्य लोके ॥ २७ ॥
गतो ह्यरण्यादपि शक्रलोकं धनंजयः पश्यत वीर्यमस्य ।
अस्त्राणि दिव्यानि चतुर्विधानि ज्ञात्वा पुनर्लोकमिमं प्रपन्नः ॥ २८ ॥
स्वर्गं हि गत्वा सशरीर एव को मानुषः पुनरागंतुमिच्छेत् ।
अन्यत्र कालोपहताननेकान्समीक्षमाणस्तु कुरून्मुमूर्षून् ॥ २९ ॥
धनुर्ग्राहश्चाऽर्जुनः सव्यसाची धनुश्च तद्गांडिवं भीमवेगम् ।
अस्त्राणि दिव्यानि च तानि तस्य त्रयस्य तेजः प्रसहेत कोऽत्र ॥ ३० ॥
निशम्य तद्वचनं पार्थिवस्य दुर्योधनं रहिते सौवलोऽथ ।
अबोधयत्कर्णमुपेत्य सर्वं [illegible] चापि हृष्टो भवदल्पचेताः ॥ ३१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि घोषयात्रापर्वणि धृतराष्ट्रखेदवाक्ये षट्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

यदि उसके फल की इच्छा रखता है तो विवश होकर उसे उसका फल भोगना ही पड़ता है। उससे वह बच कैसे सकता है? अच्छी तरह जोते हुए खेत में यदि बीज बोया जाय और ठीक समय पर वर्षा भी हो, किन्तु फिर भी उसमें फल न उत्पन्न हो, तो उसे दैवविडम्बना के सिवा और क्या कहेंगे? अर्थात् इसी तरह मेरे और दुर्योधन आदि के हृदय में वृद्धों के हितवचन जो सफल नहीं होते, उसका कारण दैवकोप ही है ॥२१।२३॥

शकुनि ने कपट क्रीड़ा करके अच्छा नहीं किया। पाण्डवों ने भी उन दुष्टों को उसी समय न मारकर अच्छा नहीं किया। मैंने भी कुबुद्धि पुत्रों का कहा मानकर कौरवों के नाश को बुलाया, सो अच्छा नहीं किया। जैसे वायु न पाकर अग्नि अवश्य बुझ जाती है, गर्भिणी स्त्री अवश्य बालक उत्पन्न करती है, सवेरे रात्रि का अन्त अवश्य होता है और रात्रि के आरम्भ में दिन का अन्त होता है, वैसे ही पाप का फल फलेगा ही—कौरवों का नाश हुए बिना न रहेगा। चाहे हम धन का उपार्जन करें और चाहे दूसरे करें और उस उपार्जित धन को लोग चाहे किसी को दें या न दें, किन्तु प्रयोजन के समय वह धन अवश्य ही अनर्थ का कारण होगा। फिर लोग

क्यों उस अनर्थ की जड़ अर्थ (धन) के लिए इतनी कोशिश करते हैं ? जो धनसम्पत्ति प्राप्त हो जाय तो मनुष्य को अवश्य यह यत्न करना चाहिए कि वह धीरे-धीरे या एकबारगी नष्ट न हो जाय। उसकी सर्वथा रक्षा करनी चाहिए। यदि रक्षा न की जायगी तो सैकड़ों तरह से उसका क्षय होगा। चाहे जो हो, इस समय मुझे यही जान पड़ता है कि इस धन के कारण कुरुवंश का नाश अवश्य होगा, क्योंकि किये हुए कर्म का नाश नहीं होता—उसका फल अवश्य ही भोगना पड़ता है ॥२४।२७॥

देखो, अर्जुन वन से भी इन्द्रलोक को गये और वहाँ से चार प्रकार के दिव्य अस्त्र प्राप्त करके फिर मनुष्य-लोक में आ गये। एक इसी काम से जाना जा सकता है कि अर्जुन का पराक्रम, साहस और उद्योग कैसा असाधारण है! कौन मनुष्य इसी शरीर से स्वर्ग में जाकर फिर वहाँ से पृथ्वी पर आना चाहेगा ? इसी से जान पड़ता है कि काल ने जिनका विनाश उपस्थित कर दिया है उन मेरे पुत्रों को मारने के लिए ही अर्जुन वहाँ से लौट आये हैं। सव्यसाची अर्जुन अद्वितीय धनुर्द्धर हैं; उनके गाण्डीव धनुष का वेग भी बड़ा भयानक है, अब अर्जुन ने दिव्य अस्त्र भी प्राप्त कर लिये हैं। इस समय इन तीनों के सम्मिलित उग्र तेज को कौन सह सकता है ? राजा धृतराष्ट्र की ये बातें सुनकर शकुनि, कर्ण को साथ लिये हुए, एकान्त में दुर्योधन के पास गया। वहाँ जाकर उसने दुर्योधन से सब हाल कहा। यह समाचार सुनकर क्षुद्रबुद्धि दुर्योधन बहुत ही व्याकुल और चिन्तित हुआ ॥२८।३१॥

वनपर्व का दो सौ छत्तीस अध्याय समाप्त हुआ ॥२३६॥

अथ सप्तत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्याय ॥२३७॥

वैशम्पायन उवाच—धृतराष्ट्रस्य तद्वाक्यं निशम्य शकुनिस्तदा ।
दुर्योधनमिदं काले कर्णेन सहितोऽब्रवीत् ॥ १ ॥
प्रव्राज्य पांडवान्वीरान्स्वेन वीर्येण भारत ।
भुंक्ष्वेमां पृथिवीमेको दिवि शंबरहा यथा ॥ २ ॥
प्राच्याश्च दाक्षिणात्याश्च प्रतीच्योदीच्यवासिनः ।
कृताः करप्रदाः सर्वे राजानस्ते नराधिप ॥ ३ ॥
या हि सा दीप्यमानेव पांडवानभजत्पुरा ।
साऽद्य लक्ष्मीस्त्वया राजन्नवाप्ता भ्रातृभिः सह ॥ ४ ॥

दो सौ सैंतीस अध्याय ॥२३७॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजा जनमेजय! धृतराष्ट्र के पूर्वोक्त वचन सुनकर कर्ण को साथ लिये हुए शकुनि दुर्योधन के पास जाकर कहने लगा—हे भरतवंशी! तुमने अपने पराक्रम से पाण्डवों को वनवासी बना दिया है। अब तुम, स्वर्ग में इन्द्र की तरह, अकेले सारी पृथ्वी का राज्य करो। हे नरश्रेष्ठ! पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, चारों ओर के सब राजा लोग तुमको 'कर' देते हैं। जो शोभाय-

इंद्रप्रस्थगते यां तां दीप्यमानां युधिष्ठिरे ।
अपश्याम श्रियं राजन्दृश्यते सा तवाऽद्य वै ॥ ५ ॥
शत्रवस्तव राजेंद्र न चिरं शोककर्शिताः ।
सा तु बुद्धिबलेनेयं राज्ञस्तस्माद्युधिष्ठिरात् ॥ ६ ॥
त्वयाऽऽक्षिप्ता महाबाहो दीप्यमानेव दृश्यते ।
तथैव तव राजेंद्र राजानः परवीरहन् ॥ ७ ॥
शासनेऽधिष्ठिताः सर्वे किंकुर्म इति वादिनः ।
तवेयं पृथिवी राजन्निखिला सागरांबरा ॥ ८ ॥
सपर्वतवना देवी सग्रामनगराकरा ।
नानावनोद्देशवती पर्वतैरुपशोभिता ॥ ९ ॥
वंद्यमानो द्विजै राजन्पूज्यमानश्च राजभिः ।
पौरुषाद्दिवि देवेषु भ्राजसे रश्मिवानिव ॥ १० ॥
रुद्रैरिव यमो राजा मरुद्भिरिव वासवः ।
कुरुभिस्त्वं वृतो राजन्भासि नक्षत्रराडिव ॥ ११ ॥
यैः स्म ते नाद्रियेताऽऽज्ञा न च ये शासने स्थिताः।
पश्यामस्ताञ्श्रिया हीनान्पांडवान्वनवासिनः ॥ १२ ॥
श्रूयते हि महाराज सरो द्वैतवनं प्रति ।

मान लक्ष्मी पहले युधिष्ठिर के पास थी वही इस समय तुमको और तुम्हारे भाइयों को प्राप्त हुई है। पहले इन्द्रप्रस्थ में आकर हमने युधिष्ठिर की जो शोभा और वैभव देखा था, वह शोभा और वैभव इस समय तुमको प्राप्त हुआ है ॥१|५॥

कुछ दिन हुए, तुमने बुद्धिबल से शत्रुओं को शोकाकुल करके उनसे राजलक्ष्मी छीन ली है। हे शत्रु-वीरों का नाश करनेवाले! अन्य सब राजा तुम्हारे अधीन रहकर आज्ञा पाने की वाट जोहते रहते हैं हे राजेन्द्र! अनेक पर्वत, उपवन, वन, सागर, नगर नदी, गांव, खान आदि से शोभित सारी पृथ्वी तुम्हारे अधिकार में है। हे महाराज! ब्राह्मण आदि तीनों वर्ण तुम्हारी प्रशंसा करते हैं और राजा लोग तुम्हारी पूजा करते हैं। स्वर्ग में देवताओं के मध्य सूर्य जैसे अपनी किरणों से प्रदीप्त हो रहे हैं, वैसे ही पृथ्वी पर अपने पौरुष के प्रभाव से तुम तप रहे हो ॥६।१०॥

रुद्रगण-सहित यमराज, मरुद्गण सहित इन्द्र और नक्षत्रों सहित चन्द्रमा के समान तुम अपने भाइयों के बीच शोभा पाते हो। तुम्हारे शासन को न मानने-वाले और तुम्हारी आज्ञा से विमुख पाण्डवों को वन में

वसन्तः पांडवाः सार्धं ब्राह्मणैर्वनवासिभिः ॥ १३ ॥
स प्रयाहि महाराज श्रिया परमया युतः ।
तापयन्पांडुपुत्रांस्त्वं रश्मिवानिव तेजसा ॥ १४ ॥
स्थितो राज्ये च्युतान्राज्याच्छ्रिया हीनाञ्छ्रिया वृतः ।
असमृद्धान्समृद्धार्थः पश्य पांडुसुतान्नृप ॥ १५ ॥
महाभिजनसंपन्नं भद्रे महति संस्थितम् ।
पांडवास्त्वाऽभिवीक्षंतु ययातिमिव नाहुषम् ॥ १६ ॥
यां श्रियं सुहृदश्चैव दुर्हृदश्च विशांपते ।
पश्यंति पुरुषे दीप्तां सा समर्था भवत्युत ॥ १७ ॥
समस्थो विषमस्थान्हि दुर्हृदो योऽभिवीक्षते ।
जगतीस्थानिवाद्रिस्थः किमतः परमं सुखम् ॥ १८ ॥
न पुत्रधनलाभेन न राज्येनाऽपि विंदति ।
प्रीतिं नृपतिशार्दूल याममित्राघदर्शनात् ॥ १९ ॥
किं नु तस्य सुखं न स्यादाश्रमे यो धनंजयम् ।
अभिवीक्षेत सिद्धार्थो वल्कलाजिनवाससम् ॥ २० ॥
सुवाससो हि ते भार्या वल्कलाजिनसंवृताम् ।

लक्ष्मी से हीन दीन अवस्था में चलकर देखना चाहिए। हमने सुना है कि वे द्वैतवन में सरोवर के पास, वनवासी ब्राह्मणों के साथ, रहते हैं। तेज और प्रभाव से युक्त सूर्य की तरह तपते हुए तुम वहाँ चलकर अपने अपूर्व ऐश्वर्य से उन्हें चिढ़ाओ। इस समय वे राज्य से भ्रष्ट, लक्ष्मी से हीन और दीन हो रहे हैं; किन्तु तुम श्रीयुक्त, समृद्धिशाली और राजा हो। इसलिए इस समय वहाँ जाकर पाण्डवों से भेंट करना बहुत ही अच्छा होगा। वे तुमको महावंश में उत्पन्न, मङ्गलमय, नहुष राजा के पुत्र महाराज ययाति के समान देखें। मित्रों को प्रसन्न करनेवाली और शत्रुओं को कुढ़ानेवाली तुम्हारी अपार सम्पत्ति और प्रभाव को देखकर पाण्डवों को अवश्य महाशोक होगा। पर्वत के ऊपर खड़ा हुआ मनुष्य जैसे, अपने से नीचे पर दिखाई पड़नेवाली, जगत् की वस्तुओं को छोटी देखता है, वैसे ही सम्पत्ति के शिखर पर पहुँचा हुआ मनुष्य हीन दशा में स्थित शत्रुओं की दुर्दशा देखेगा, इससे बढ़कर सुख की बात और क्या होगी ॥११-१८॥

पुत्र, धन और राज्य मिलने से जो प्रसन्नता होती है वह उस प्रसन्नता के आगे कुछ नहीं है जो शत्रुओं की दुर्दशा देखकर मिलती है। आश्रम में अर्जुन को वल्कल और मृगछाला पहने देखकर तुम बड़े सुखी होओगे और तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा।

पश्यंतु दुःखितां कृष्णां सा च निर्विद्यतां पुनः ॥ २१ ॥
विनिन्दन्तां तथाऽऽत्मानं जीवितं च धनच्युतम् ।
न तथा हि सभामध्ये तस्या भवितुमर्हति ।
वैमनस्यं यथा दृष्ट्वा तव भार्याः स्वलंकृताः ॥ २२ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवमुक्त्वा तु राजानं कर्णः शकुनिना सह ।
तूष्णीं बभूवतुरुभौ वाक्यांते जनमेजय ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते घोषयात्रापर्वणि कर्णशकुनिवाक्ये सप्तत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२३७॥

तरह-तरह के मूल्यवान् वस्त्रों और आभूषणों को पहने तुम्हारी रानियाँ जब वल्कल और मृगछाला पहने हुए दुखिया द्रौपदी से मिलेंगी तब वह उन्हें देखकर बहुत ही कुढ़ेगी—अपनी निर्धन अवस्था से खिन्न होकर अपने जीवन और भाग्य की निन्दा करेगी। सभा में द्रौपदी को उतना दुःख नहीं हुआ होगा, जितना अब खूब ठाटबाट किये हुए तुम्हारी रानियों को देखने से होगा। वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! कर्ण और शकुनि राजा दुर्योधन से यों कहकर चुप हो रहे ॥१९।२३॥

वनपर्व का दो सौ सैंतीस अध्याय समाप्त हुआ ॥२३७॥

अथ अष्टात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२३८॥

वैशम्पायन उवाच—कर्णस्य वचनं श्रुत्वा राजा दुर्योधनस्ततः ।
हृष्टो भूत्वा पुनर्दीन इदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥
ब्रवीषि यदिदं कर्ण सर्वं मनसि मे स्थितम् ।
न त्वभ्यनुज्ञां लप्स्यामि गमने यत्र पांडवाः ॥ २ ॥
परिदेवति तान्वीरान्धृतराष्ट्रो महीपतिः ।
मन्यतेऽभ्यधिकांश्चापि तपोयोगेन पांडवान् ॥ ३ ॥
अथवाऽप्यनुबुध्येत नृपोऽस्माकं चिकीर्षितम् ।
एवमप्यायतिं रक्षन्नाऽभ्यनुज्ञातुमर्हति ॥ ४ ॥

दो सौ अड़तीस अध्याय ॥२३८॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! कर्ण के ये वचन सुनकर पहले तो दुर्योधन बहुत प्रसन्न हुआ, परन्तु फिर व्याकुल होकर कहने लगा—हे कर्ण! जो तुमने कहा उसका अभिप्राय पहले से ही मेरे मन में है, किन्तु पाण्डव इस समय जहाँ रहते हैं वहाँ जाने के लिए पिताजी आज्ञा नहीं देते। महाराज धृतराष्ट्र पाण्डवों के लिए सदा खेद प्रकट किया करते हैं। वे उन्हें तपस्या के कारण हमसे अधिक भी समझते हैं। अथवा इस समय हमारा अभिप्राय समझ जायँगे तो भी अनिष्ट की सम्भावना

न हि द्वैतवने किंचिद्विद्यतेऽन्यत्प्रयोजनम् ।
उत्सादनमृते तेषां वनस्थानां महाद्युते ॥ ५ ॥
जानासि हि यथा क्षत्ता द्यूतकाल उपस्थिते ।
अब्रवीद्यच्च मां त्वां च सौबलं वचनं तदा ॥ ६ ॥
तानि सर्वाणि वाक्यानि यच्चाऽन्यत्परिदेवितम् ।
विचिंत्य नाऽधिगच्छामि गमनायेतराय वा ॥ ७ ॥
ममापि हि महान्हर्षो यदहं भीमफाल्गुनौ ।
क्लिष्टावरण्ये पश्येयं कृष्णया सहिताविति ॥ ८ ॥
न तथा ह्याप्नुयां प्रीतिमवाप्य वसुधामिमाम् ।
दृष्ट्वा यथा पांडुसुतान्वल्कलाजिनवाससः ॥ ९ ॥
किं नु स्यादधिकं तस्माद्यदहं द्रुपदात्मजाम् ।
द्रौपदीं कर्ण पश्येयं काषायवसनां वने ॥ १० ॥
यदि मां धर्मराजश्च भीमसेनश्च पांडवः ।
युक्तं परमया लक्ष्म्या पश्येतां जीवितं भवेत् ॥ ११ ॥
उपायं न तु पश्यामि येन गच्छेम तद्वनम् ।
यथा चाऽभ्यनुजानीयाद्गच्छंतं मां महीपतिः ॥ १२ ॥
स सौबलेन सहितस्तथा दुःशासनेन च ।

करके हमें वहा जाने की आज्ञा न देंगे ॥१।४॥

पिताजी यदि हमारा अभिप्राय समझ लें तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि इस समय शत्रुओं को चिढाने और कुढ़ाने के सिवा हमारे वहा जाने की कोई आवश्यकताही नहीं है। हे कर्ण! जुए के समय महात्मा विदुर ने मुझसे और शकुनि से जो कहा था, सो तो तुम जानते ही हो। उन बातों पर और अन्यान्य सन्ताप की बातों पर सोच-विचार करके मैं वहा जाने या न जाने का निश्चय करूँगा। मैं यदि वन में द्रौपदी के साथ भीमसेन और अर्जुन को क्लेश सहते देखूँगा तो मुझे भी बड़ा हर्ष होगा। पाण्डवों को वल्कल और मृगछाला पहने देखकर मुझे जैसी प्रसन्नता होगी, वैसी प्रसन्नता सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डल का राज्य प्राप्त होने पर भी नहीं हो सकती। मैं वन में द्रौपदी को गेरुए वस्त्र पहने देखू, इससे बढ़कर प्रसन्नता की बात और क्या होगी? ॥५।१०॥

यदि धर्मराज युधिष्ठिर, भीमसेन आदि पाण्डव मुझे परम ऐश्वर्य से युक्त देखें तो मैं अपने जीवन को सफल समझूँगा, किन्तु वन में जाने के लिए आज्ञा लेने को मुझे कोई उपाय नहीं देख पड़ता। इसलिए

उपायं पश्य निपुणं येन गच्छेम तद्वनम् ॥ १३ ॥
अहमप्यद्य निश्चित्य गमनायेतराय च ।
कल्यमेव गमिष्यामि समीपं पार्थिवस्य ह ॥ १४ ॥
मयि तत्रोपविष्टे तु भीष्मे च कुरुसत्तमे ।
उपायो यो भवेद् दृष्टस्तं ब्रूयाः सहसौबलः ॥ १५ ॥
वचो भीष्मस्य राज्ञश्च निशम्य गमनं प्रति ।
व्यवसायं करिष्येऽहमनुनीय पितामहम् ॥ १६ ॥
तथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे जग्मुरावसथान्प्रति ।
व्युषितायां रजन्यां तु कर्णो राजानमभ्ययात् ॥ १७ ॥
ततो दुर्योधनं कर्णः प्रहसन्निदमब्रवीत् ।
उपायः परिदृष्टोऽयं तं निबोध जनेश्वर ॥ १८ ॥
घोषा द्वैतवने सर्वे त्वत्प्रतीक्षा नराधिप ।
घोषयात्रापदेशेन गमिष्यामो न संशयः ॥ १९ ॥
उचितं हि सदा गंतुं घोषयात्रां विशांपते ।
एवं च त्वां पिता राजन्समनुज्ञातुमर्हति ॥ २० ॥
तथा कथयमानौ तु घोषयात्राविनिश्चयम् ।

तुम, शकुनि और दुःशासन के साथ, सम्मति करके ऐसा कोई उपाय निकालो जिसमें राजा धृतराष्ट्र वन में जाने के लिए मुझे आज्ञा दे दें। मैं भी आज इस बारे में अपना कर्त्तव्य ठीक करके कल पिताजी के पास जाऊँगा। मैं पहले से ही कुरुश्रेष्ठ भीष्म के साथ वहाँ बैठा रहूँगा; तुम शकुनि के साथ आकर अपना सोचा हुआ उपाय कहना। तब महाराज के और भीष्म के वचन सुनकर मैं पितामह से विनय करूँगा और इस प्रकार वहाँ जाने का प्रबन्ध कर लूँगा ॥११।१६॥

'यही होगा' कहकर कर्ण और शकुनि अपने-अपने स्थान को चले गये। प्रातःकाल होने पर कर्ण दुर्योधन के पास पहुँचा और हंसकर कहने लगा—हे राजेन्द्र! मैंने द्वैतवन जाने का जो उपाय सोचा है वह सुनो। आपके घोष (गायों के समूह) द्वैतवन में ही हैं और वे आपकी बाट जोहते हैं। यही अच्छा उपाय है। हम लोग घोषयात्रा के बहाने वहा जायँगे। हे महाराज! घोषयात्रा में जाना तुम्हारा आवश्यक कर्त्तव्य है, इसके लिए तुम्हारे पिता जी भी अनुमति दे देंगे ॥१७।२०॥

कर्ण और दुर्योधन इस तरह घोषयात्रा के बारे में सम्मति कर ही रहे थे कि शकुनि ने भी आकर हँसते हुए कहा—मैंने वन जाने का जो उपाय सोचा है उसके अनुसार ही राजा से द्वैतवन जाने की आज्ञा

गांधारराजः शकुनिः प्रत्युवाच हसन्निव ॥ २१ ॥
उपायोऽयं मया दृष्टो गमनाय निरामयः ।
अनुज्ञास्यति नो राजा चोदयिष्यति चाप्युत ॥ २२ ॥
घोषा द्वैतवने सर्वे त्वत्प्रतीक्षा नराधिप ।
घोषयात्रापदेशेन गमिष्यामो न संशयः ॥ २३ ॥
ततः प्रहसिताः सर्वे तेऽन्योन्यस्य तलान्ददुः ।
तदेव च विनिश्चित्य ददृशुः कुरुसत्तमम् ॥ २४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि घोषयात्रापर्वणि अष्टत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२३८॥

माँगेंगे तो अवश्य मिल जायगी। द्वैतवन में गायें ठहरी हुई हैं। हम लोग घोषयात्रा के बहाने वहां चलेंगे। शकुनि की भी वही राय देखकर दुर्योधन और कर्ण को बड़ी प्रसन्नता हुई। तीनों ने हसकर आपस में हाथ मिलाया। अब वे महाराज धृतराष्ट्र के पास गये ॥२१।२४॥

वनपर्व का दो सौ अड़तीस अध्याय समाप्त हुआ ॥२३८॥

अथ ऊनचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्याय. ॥२३९॥

वैशम्पायन उवाच—धृतराष्ट्रं ततः सर्वे ददृशुर्जनमेजय ।
पृष्ट्वा सुखमथो राज्ञः पृष्टा राज्ञा च भारत ॥ १ ॥
ततस्तैर्विहितः पूर्वं समंगो नाम बल्लवः ।
समीपस्थास्तदा गावो धृतराष्ट्रे न्यवेदयत् ॥ २ ॥
अनंतरं च राधेयः शकुनिश्च विशांपते ।
आहतुः पार्थिवश्रेष्ठं धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ॥ ३ ॥
रमणीयेषु देशेषु घोषाः संप्रति कौरव ।
स्मारणे समयः प्राप्तो वत्सानामपि चांकनम् ॥ ४ ॥

दो सौ उन्तालीस अध्याय ॥२३९॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! दुर्योधन, शकुनि और कर्ण, तीनों धृतराष्ट्र के पास पहुंचे। दुर्योधन ने धृतराष्ट्र से और धृतराष्ट्र ने उन सबसे शारीरिक और मानसिक कुशल का समाचार पूछा। इसी समय, जिसे दुर्योधन ने पहले से ही पढ़ा रक्खा था उस, समङ्ग नाम के गोप ने धृतराष्ट्र के पास आकर निवेदन किया—हे महाराज! आपकी सब गायें समीप ही आ गई हैं। इसी समय शकुनि और कर्ण ने कहा—हे राजेन्द्र! इस समय आपकी सब गायें रमणीय स्थान में आकर ठहरी हैं। स्मरण

मृगया चोचिता राजन्नस्मिन्काले सुतस्य ते ।
दुर्योधनस्य गमनं समनुज्ञातुमर्हसि ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—मृगया शोभना तात गवां हि समवेक्षणम् ।
विश्रंभस्तु न गंतव्यो वल्लवानामिति स्मरे ॥ ६ ॥
ते तु तत्र नरव्याघ्राः समीप इति नः श्रुतम् ।
अतो नाऽभ्यानुजानामि गमनं तत्र वः स्वयम् ॥ ७ ॥
छद्मना निर्जितास्ते तु कर्शिताश्च महावने ।
तपोनित्याश्च राधेय समर्थाश्च महारथाः ॥ ८ ॥
धर्मराजो न संक्रुध्येद्भीमसेनस्त्वमर्षणः ।
यज्ञसेनस्य दुहिता तेज एव तु केवलम् ॥ ९ ॥
यूयं चाऽप्यपराध्येयुर्दर्पमोहसमन्विताः ।
ततो विनिर्दहेयुस्ते तपसा हि समन्विताः ॥ १० ॥
अथवा सायुधा वीरा मन्युनाऽभिपरिप्लुताः ।
सहिता बद्धनिस्त्रिंशा दहेयुः शस्त्रतेजसा ॥ ११ ॥
अथ यूयं बहुत्वात्तानभियात कथंचन ।
अनार्यं परमं तत्स्यादशक्यं तच्च वै मतम् ॥ १२ ॥

रखने के लिए गायों की गिनती करने और प्रत्येक गाय और बछड़े की अवस्था, जाति आदि लिखने का यही समय है। इस कारण आप राजा दुर्योधन को वहां जाने की आज्ञा दीजिए। उस समय दुर्योधन वहां शिकार भी खेलेंगे ॥१।५॥

धृतराष्ट्र ने कहा—शिकार खेलने जाना और गायों की रखवाली करना तो अच्छी बात ही है; किन्तु मेरे विचार में गोपों के कहने पर विश्वास करके वहां जाना उचित नहीं। मैंने सुना है कि पुरुषसिंह पाण्डव उसी द्वैतवन में, सरोवर के पास, जहां हमारी गायें हैं, ठहरे हुए हैं। इस कारण मैं स्वयं तुम्हें वहां जाने की आज्ञा नहीं दे सकता। हे कर्ण ! महारथी पाण्डव कपट के जुए में हारकर वन को गये हैं और वहां अनेक प्रकार के क्लेश सह रहे हैं। वे तपस्वी और स्वभाव से ही बली हैं। धर्मराज युधिष्ठिर तो तुम पर कोप नहीं कर सकते, किन्तु भीमसेन बड़े ही क्रोधी और द्रौपदी साक्षात् तेज की मूर्त्ति है। तुम घमण्ड में आकर उनसे किसी तरह की छेड़-छाड़ करोगे तो तपस्वी पाण्डव या तो तपस्या के प्रभाव से तुमको भस्म कर देंगे, अथवा अस्त्र-शस्त्र खड्ग आदि से तुम्हें मार डालेंगे ॥६।११॥

यदि तुम अपने जत्थे को बड़ा समझकर उनसे कुछ अनुचित व्यवहार करोगे (उन्हें जीत लोगे या कैद

उषितो हि महाबाहुरिंद्रलोके धनंजयः ।
दिव्यान्यस्त्राण्यवाप्याऽथ ततः प्रत्यागतो वनम् ॥ १३ ॥
अकृतास्त्रेण पृथिवी जिता बीभत्सुना पुरा ।
किं पुनः स कृतास्त्रोऽद्य न हन्याद्वो महारथः ॥ १४ ॥
अथवा मद्वचः श्रुत्वा तत्र यत्ता भविष्यथ ।
उद्विग्नवासो विश्रंभाद्दुःखं तत्र भविष्यति ॥ १५ ॥
अथवा सैनिकाः केचिदपकुर्युर्युधिष्ठिरम् ।
तदबुद्धिकृतं कर्म दोषमुत्पादयेच्च वः ॥ १६ ॥
तस्माद्गच्छंतु पुरुषाः स्मारणायाऽऽप्तकारिणः ।
न स्वयं तत्र गमनं रोचये तव भारत ॥ १७ ॥
शकुनिरुवाच—धर्मज्ञः पांडवो ज्येष्ठः प्रतिज्ञातं च संसदि ।
तेन द्वादश वर्षाणि वस्तव्यानीति भारत ॥ १८ ॥
अनुवृत्ताश्च ते सर्वे पांडवा धर्मचारिणः ।
युधिष्ठिरस्तु कौंतेयो न नः कोपं करिष्यति ॥ १९ ॥
मृगयां चैव नो गंतुमिच्छा संवर्तते भृशम् ।
स्मारणं तु चिकीर्षामो न तु पांडवदर्शनम् ॥ २० ॥

कर लोगे) तो भी बड़ी नीचता होगी। उन्हें जीत लेना भी सहज काम नहीं है। महाबाहु अर्जुन इन्द्रलोक में रहकर दिव्य अस्त्र सीख आये हैं। पहले जब दिव्य अस्त्रों की विद्या नहीं जानते थे तभी अर्जुन ने समुद्र-पर्यन्त पृथ्वी को जीतकर अपने अधीन कर लिया था। अब तो वे दिव्य अस्त्र सीख आये हैं। इस समय महारथी अर्जुन क्या तुम्हें मार डाले बिना छोड़ेंगे? इसलिए मेरी बात सुनकर तुम्हें सावधान हो जाना चाहिए—वहाँ जाने का विचार छोड़ देना चाहिए। यदि लोगों के कहने पर विश्वास करके, और यह समझकर कि पाण्डव हमारा कुछ बिगाड़ नहीं सकते, वहाँ जाओगे और पाण्डवों को छेड़ोगे, तो तुम्हें अवश्य वहाँ दुःख भोगना पड़ेगा। मान लो कि तुम कुछ छेड़-छाड़ नहीं करोगे, किन्तु जो तुम्हारा कोई सिपाही दुर्बुद्धि के कारण युधिष्ठिर का या किसी पाण्डव का अपमान कर बैठेगा, तो उससे भी बड़ा दोष उत्पन्न होगा। इस कारण गायों की गिनती और चिह्न न लिखने के लिए किसी विश्वासी पुरुष को वहाँ भेज दो। तुम्हारा स्वयं वहाँ जाना किसी तरह उचित नहीं ॥१३-१७॥

शकुनि ने कहा—हे महाराज! बड़े पाण्डव धर्म का पूर्ण ज्ञान रखते हैं। वे सब वन में रहने की प्रतिज्ञा भरी सभा में कर चुके हैं। उनके छोटे भाई [illegible] सब पाण्डव बड़े भाई के वश में हैं। इसलिए

न चाऽनार्यसमाचारः कश्चित्तत्र भविष्यति ।
न च तत्र गमिष्यामो यत्र तेषां प्रतिश्रयः ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तः शकुनिना धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
दुर्योधनं सहामात्यमनुजज्ञे न कामतः ॥ २२ ॥
अनुज्ञातस्तु गांधारिः कर्णेन सहितस्तदा ।
निर्ययौ भरतश्रेष्ठ बलेन महता वृतः ॥ २३ ॥
दुःशासनेन च तथा सौबलेन च धीमता ।
संवृतो भ्रातृभिश्चाऽन्यैः स्त्रीभिश्चापि सहस्रशः ॥ २४ ॥
तं निर्यांतं महाबाहुं द्रष्टुं द्वैतवनं सरः ।
पौराश्चाऽनुययुः सर्वे सहदारा वनं च तत् ॥ २५ ॥
अष्टौ रथसहस्राणि त्रीणि नागायुतानि च ।
पत्तयो बहुसाहस्रा हयाश्च नवतिः शताः ॥ २६ ॥
शकटापणवेशाश्च वणिजो वंदिनस्तथा ।
नराश्च मृगयाशीलाः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २७ ॥
ततः प्रयाणे नृपतेः सुमहानभवत्स्वनः ।
प्रावृषीव महावायोरुद्धतस्य विशांपते ॥ २८ ॥
गव्यूतिमात्रे न्यवसद्राजा दुर्योधनस्तदा ।
प्रयातो वाहनैः सर्वैस्ततो द्वैतवनं सरः ॥ २९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनप्रस्थाने ऊनचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

वे हमारे वहाँ जाने से कभी न चिढ़ेंगे । शिकार खेलने के लिए, और गाय-बछड़ों की गिनती तथा पहचान लिखने आदि का काम करने के लिए, हमारा जी बहुत चाहता है । हमको पाण्डवों से मिलने की उत्सुकता नहीं है । न हम उनके आश्रम में जायंगे न उनसे छेड़ छाड़ करेंगे और न कोई अन्याय ही हमारी ओर से होगा ॥१८।२१॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजेन्द्र ! शकुनि के यों कहने पर, इच्छा न रहते भी, राजा धृतराष्ट्र ने मन्त्रियों के साथ दुर्योधन को वहां जाने की आज्ञा दे दी । धृतराष्ट्र की आज्ञा पाकर दुःशासन, शकुनि और कर्ण के साथ दुर्योधन द्वैतवन को रवाना हुआ । उसके साथ सैंकड़ों स्त्रियां और बहुत सी सेना चली । सब छोटे भाई और अपनी-अपनी स्त्रियों को साथ लिये हुए अनेक पुरवासी भी दुर्योधन के साथ द्वैतवन और द्वैतसरोवर देखने को चले ॥२२।२५॥

आठ सहस्र रथ, तीस सहस्र हाथी, नव सहस्र घोड़े और असंख्य पैदल सेना भी दुर्योधन के साथ चली। बहुत से छकड़े, बाजार, वेश्याएं, बनिये, स्तुतिपाठ करनेवाले बन्दीजन और शिकारी भी दुर्योधन के पीछे पीछे चले। हे राजा जनमेजय! वर्षाकाल में आँधी आने से जैसा घोर शब्द होता है वैसा ही कोलाहल उस सेना का सुन पड़ता था। दुर्योधन ने जाकर द्वैतवन में, सरोवर से दो कोस की दूरी पर, अपना डेरा डाल दिया ॥२६।२९॥

—०—

वनपर्व का दो सौ उन्तालीस अध्याय समाप्त हुआ ॥२३९॥

अथ चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२४०॥

वैशम्पायन उवाच—अथ दुर्योधनो राजा तत्र तत्र वने वसन् ।
जगाम घोषानभितस्तत्र चक्रे निवेशनम् ॥ १ ॥
रमणीये समाज्ञाते सोदके समहीरुहे ।
देशे सर्वगुणोपेते चक्रुरावसथान्नराः ॥ २ ॥
तथैव तत्समीपस्थान्पृथगावसथान्बहून् ।
कर्णस्य शकुनेश्चैव भ्रातृणां चैव सर्वशः ॥ ३ ॥
ददर्श स तदा गावः शतशोऽथ सहस्रशः ।
अंकैर्लक्षैश्च ताः सर्वा लक्षयामास पार्थिवः ॥ ४ ॥
अंकयामास वत्सांश्च जज्ञे चोपसृतांस्त्वपि ।
बालवत्साश्च या गावः कालयामास ता अपि ॥ ५ ॥
अथ स स्मारणं कृत्वा लक्षयित्वा त्रिहायनान् ।
वृतो गोपालकैः प्रीतो व्याहरत्कुरुनंदनः ॥ ६ ॥

दो सौ चालीस अध्याय ॥२४०॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! वन में इधर-उधर डेरा डालता हुआ दुर्योधन उस स्थान के पास पहुँचा जहां उसकी गायों को लिए हुए ग्वाले ठहरे हुए थे। गोपों के उस गांव के पास ही दुर्योधन के मनुष्यों ने एक रमणीय, जाने हुए, स्थान पर दुर्योधन के रहने का स्थान बनाया। वहां छायादार वृक्ष लगे हुए थे और जल भी सरलता के साथ मिल सकता था। कर्ण, शकुनि और दुःशासन आदि अन्य भाइयों के लिए भी, पास ही पास, श्रेष्ठ निवासस्थान बनाये गये। वहां दुर्योधन की असंख्य गायें थीं। उन सबको गिनवाकर और पहचान लिखवाकर दुर्योधन ने अपने पास आये हुए जिन बछड़ों को नाथने और दागने के योग्य समझा, उनके लिए वैसी आज्ञा दे दी ॥१।५॥

स च पौरजनः सर्वः सैनिकाश्च सहस्रशः ।
यथोपजोषं चिक्रीडुर्वने तस्मिन्यथाऽमराः ॥ ७ ॥
ततो गोपाः प्रगातारः कुशला नृत्यवादने ।
धार्त्तराष्ट्रमुपातिष्ठन्कन्याश्चैव स्वलंकृताः ॥ ८ ॥
स स्त्रीगणावृतो राजा प्रहृष्टः प्रददौ वसु ।
तेभ्यो यथार्हमन्नानि पानानि विविधानि च ॥ ९ ॥
ततस्ते सहिताः सर्वे तरक्षून्महिषान्मृगान् ।
गवयर्क्षवराहांश्च समंतात्पर्यकालयन् ॥ १० ॥
स ताञ्छरैर्विनिर्भिद्य गजांश्च सुबहून्वने ।
रमणीयेषु देशेषु ग्राहयामास वै मृगान् ॥ ११ ॥
गोरसानुपयुंजान उपभोगांश्च भारत ।
पश्यन्स रमणीयानि वनान्युपवनानि च ॥ १२ ॥
मत्तभ्रमरजुष्टानि बर्हिणाभिरुतानि च ।
अगच्छदानुपूर्व्येण पुण्यं द्वैतवनं सरः ॥ १३ ॥
मत्तभ्रमरसंजुष्टं नीलकंठरवाकुलम् ।
सप्तच्छदसमाकीर्णं पुन्नागबकुलैर्युतम् ॥ १४ ॥

इस प्रकार बछड़ों-सहित गायों को गिनने और पहचानने का काम हो जाने पर दुर्योधन ने तीन वर्ष के, काम के लायक, बछड़ों को अलग गिनने की आज्ञा दी। इस तरह सब कामों से छुट्टी पाकर दुर्योधन वहां बड़े आनन्द से विहार करने लगा। नगरवासियों और सहस्रों सैनिकों के बीच दुर्योधन की वैसी ही शोभा हो रही थी जैसी देवताओं के बीच इन्द्र की होती है। सब लोग अपनी-अपनी रुचि के अनुसार आनन्द मनाने लगे। राह चलने से थका हुआ दुर्योधन विश्राम करने लगा। नाचने और गाने में चतुर अहीर, गहनों से सजी हुई, अपनी कन्याओं को साथ लेकर वहां आये। अपने कुल की स्त्रियों के साथ उनका नाच-गान और तमाशा देखकर दुर्योधन ने उनको बढ़िया भोजन, पीने के पदार्थ, कीमती वस्त्र और धन आदि देकर सन्तुष्ट किया। गोपों को, उनकी प्रार्थना से, बहुत अधिक धन मिला। इसके पश्चात् सब लोग मिलकर शिकार खेलने गये और तेंदुए, भैंसे तथा बनैले सुअर आदि का पीछा करने लगे ॥६।१०॥

दुर्योधन ने स्वयं रमणीय स्थान में बाणों से बहुत से हाथियों और मृगों का शिकार किया। दुर्योधन आदि ने गोरस पिया, अन्य प्रकार के भोग के पदार्थों का सेवन किया। इस प्रकार घूमते-फिरते वे लोग राह में मस्त भौंरों और मोरों से पूर्ण रमणीय वनों की शोभा देखते हुए द्वैतवन के सरोवर पर पहुंचे।

ऋद्ध्या परमया युक्तो महेंद्र इव वज्रभृत् ।
यदृच्छया च तत्रस्थो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १५ ॥
ईजे राजर्षियज्ञेन साद्यस्केन विशांपते ।
दिव्येन विधिना चैव वन्येन कुरुसत्तम ॥ १६ ॥
कृत्वा निवेशमभितः सरसस्तस्य कौरव ।
द्रौपद्या सहितो धीमान्धर्मपत्न्या नराधिपः ॥ १७ ॥
ततो दुर्योधनः प्रेष्यानादिदेश सहस्रशः ।
आक्रीडावसथाः क्षिप्रं क्रियतामिति भारत ॥ १८ ॥
ते तथेत्येव कौरव्यमुक्त्वा वचनकारिणः ।
चिकीर्षन्तस्तदाऽऽक्रीडाञ्जग्मुर्द्वैतवनं सरः ॥ १९ ॥
प्रविशंतं वनद्वारि गंधर्वाः समवारयन् ।
सेनाग्रं धार्त्तराष्ट्रस्य प्राप्तं द्वैतवनं सरः ॥ २० ॥
तत्र गंधर्वराजो वै पूर्वमेव विशांपते ।
कुबेरभवनाद्राजन्नाजगाम गणावृतः ॥ २१ ॥
गणैरप्सरसां चैव त्रिदशानां तथाऽऽत्मजैः ।
विहारशीलः क्रीडार्थं तेन तत्संवृतं सरः ॥ २२ ॥
तेन तत्संवृतं दृष्ट्वा ते राजपरिचारकाः ।

उस सरोवर के आसपास सप्तच्छद, पुन्नाग, मौलसिरी आदि वृक्षों के घने वन थे और भौंरों तथा मोरों का शब्द चारों ओर गूंज रहा था। वहीं पर इन्द्र के समान महाराज युधिष्ठिर ठहरे हुए थे। सरोवर के चारों ओर यज्ञशाला और रहने का स्थान बना हुआ था। उसी दिन धर्मपत्नी द्रौपदी सहित महाराज युधिष्ठिर ने जङ्गली सामग्री से दिव्य विधि के अनुसार राजर्षि-यज्ञ की दीक्षा ली थी। वह यज्ञ एक ही दिन में समाप्त हो जानेवाला था ॥११।१७॥

राजा दुर्योधन ने वहां पहुँचकर अपने सहस्रों मनुष्यों को, उस सरोवर के किनारे, एक ओर क्रीड़ा-भवन बनाने की आज्ञा दी। दुर्योधन के अनुचर और सिपाही लोग द्वैतवन के सरोवर पर गये। वहां पहुँचने पर गन्धर्वों ने उन्हें रोका। हे राजा जनमेजय! कुबेर के भवन से आकर चित्रसेन नाम का गन्धर्व-राज पहले से ही, क्रीड़ा के लिए, सरोवर के स्थान में ठहरा हुआ था। उसके साथ अनेक गन्धर्व, देवता, देवपुत्र और अप्सराएं थीं। वहां उन लोगों की भीड़ थी। वे सब आनन्द से क्रीड़ा कर रहे थे। दुर्योधन के मनुष्य उस सरोवर को शून्य न पाकर और उन

प्रतिजग्मुस्ततो राजन्यत्र दुर्योधनो नृपः ॥ २३ ॥
स तु तेषां वचः श्रुत्वा सैनिकान्युद्धदुर्मदान् ।
प्रेषयामास कौरव्य उत्सारयत तानिति ॥ २४ ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राज्ञः सेनाग्रयायिनः ।
सरो द्वैतवनं गत्वा गंधर्वानिदमब्रुवन् ॥ २५ ॥
राजा दुर्योधनो नाम धृतराष्ट्रसुतो वली ।
विजिहीर्षुरिहाऽऽयाति तदर्थमुपसर्पत ॥ २६ ॥
एवमुक्तास्तु गंधर्वाः प्रहसंतो विशांपते ।
प्रत्यब्रुवंस्तान्पुरुषानिदं हि परुषं वचः ॥ २७ ॥
न चेतयति वो राजा मंदवुद्धिः सुयोधनः ।
योऽस्मानाज्ञापयत्येव वैश्यानिव दिवौकसः ॥ २८ ॥
यूयं मुमूर्षवश्चापि मंदप्रज्ञा न संशयः ।
ये तस्य वचनादेवमस्मान्ब्रूत विचेतसः ॥ २९ ॥
गच्छध्वं त्वरिताः सर्वे यत्र राजा स कौरवः ।
न चेदद्यैव गच्छध्वं धर्मराजनिवेशनम् ॥ ३० ॥
एवमुक्तास्तु गंधर्वै राज्ञः सेनाग्रयायिनः ।
संप्राद्रवन्यतो राजा धृतराष्ट्रसुतोऽभवत् ॥ ३१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणिघोषयात्रापर्वणि गन्धर्वदुर्योधनसंवादे चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्याय

लोगों के द्वारा रोके जाने पर दुर्योधन के पास लौट आये। उन्होंने दुर्योधन से सब हाल कहा॥१८।२३॥

तब दुर्योधन ने उसी समय अपने योद्धाओं को वहाँ यह आज्ञा देकर भेजा कि तुम लोग गन्धर्वों को शीघ्र मारकर वहाँ से निकाल दो। राजा की आज्ञा पाकर सेनापति लोग द्वैतसरोवर पर गये। वहाँ उन्होंने गन्धर्वों से कहा—धृतराष्ट्र के पुत्र महाबली राजा दुर्योधन विहार के लिए यहाँ आ रहे हैं; इसलिए तुम लोग अभी यह स्थान खाली कर दो। हे राजा जनमेजय! यह सुनकर गन्धर्व लोग हँसने लगे। फिर कठोर वचनों से तिरस्कार करते हुए वे लोग दुर्योधन के मनुष्यों से बोले—तुम्हारा राजा दुर्योधन बड़ा ही दुष्ट और मूर्ख है। अभी तक उसे चेत नहीं हुआ। राजा लोग प्रजा को या देवता लोग साधारण मनुष्यों को जैसे आज्ञा देते हैं वैसे ही वह हमको आज्ञा देता है; इससे बढ़कर नादानी और क्या होगी? ऐसा ज्ञान पड़ता है कि तुम लोगों की मृत्यु आ गई है, जो उस दुर्बुद्धि दुर्योधन की आज्ञा पाकर हमसे

यों कह रहे हो। तुम लोग भला चाहो तो अपनी जान लेकर दुर्योधन के पास चले जाओ; नहीं तो अभी यमपुर में चले जाओगे। वे योद्धा और सेनापति लोग गन्धर्वों की ये बातें सुनकर वहा से दौड़ते हुए दुर्योधन के पास लौट आये ॥२४।३१॥

—०—

वनपर्व का दो सौ चालीस अध्याय समाप्त हुआ ॥२४०॥

अथ एकचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२४१॥

वैशम्पायन उवाच—ततस्ते सहिताः सर्वे दुर्योधनमुपागमन् ।
अब्रुवंश्च महाराज यदूचुः कौरवं प्रति ॥ १ ॥
गंधर्वैर्वारिते सैन्ये धार्त्तराष्ट्रः प्रतापवान् ।
अमर्षपूर्णः सैन्यानि प्रत्यभाषत भारत ॥ २ ॥
शासतैनानधर्मज्ञान्मम विप्रियकारिणः ।
यदि प्रक्रीडते सर्वैर्देवैः सह शतक्रतुः ॥ ३ ॥
दुर्योधनवचः श्रुत्वा धार्त्तराष्ट्रा महाबलाः ।
सर्व एवाऽभिसन्नद्धा योधाश्चापि सहस्रशः ॥ ४ ॥
ततः प्रमथ्य सर्वांस्तांस्तद्वनं विविशुर्बलात् ।
सिंहनादेन महता पूरयंतो दिशो दश ॥ ५ ॥
ततोऽपरैरवार्यंत गंधर्वैः कुरुसैनिकाः ।
ते वार्यमाणा गंधर्वैः साम्नैव वसुधाधिप ॥ ६ ॥
ताननादृत्य गंधर्वास्तद्वनं विविशुर्महत् ।
यदा वाचा न तिष्ठंति धार्त्तराष्ट्राः सराजकाः ॥ ७ ॥

दो सौ इकतालीस अध्याय ॥२४१॥

वैशम्पायन ने कहा—हे महाराज! सेनापतियों और योद्धाओं ने दुर्योधन के पास आकर गन्धर्वों के कहे हुए दुर्वचन सुना दिये। गन्धर्वों ने दुर्वचन कहकर सेनापतियों को लौटा दिया, यह सुनकर प्रभावशाली दुर्योधन को बड़ा क्रोध चढ़ आया। उसने कहा—हे सेनापतियो! तुम जाकर मेरा अप्रिय करनेवाले गन्धर्वों को दण्ड दो। जो देवताओं के स्वामी इन्द्र भी अपनी सेना-सहित आकर उनकी सहायता करें तो भी तुम अधर्मियों को दण्ड देने में आगा-पीछा न करना ॥१।३॥

यह आज्ञा पाकर महाबली दुःशासन आदि धृतराष्ट्र के पुत्र और सहस्रों वीर योद्धा अस्त्र-शस्त्र लेकर युद्ध के लिए तैयार हुए। भयङ्कर सिंहनाद से दिशाओं को व्याप्त करते हुए कौरव पक्ष के वीर, गन्धर्व-सेना को दलित करते हुए, उस वन के भीतर घुसने की चेष्टा करने लगे। गन्धर्वों ने प्रवेश करने

ततस्ते खेचराः सर्वे चित्रसेने न्यवेदयन् ।
गंधर्वराजस्तान्सर्वानब्रवीत्कौरवान्प्रति ॥ ८ ॥
अनार्याञ्शासतेत्येतांश्चित्रसेनोऽत्यमर्षणः ।
अनुज्ञाताश्च गंधर्वाश्चित्रसेनेन भारत ॥ ९ ॥
प्रगृहीतायुधाःसर्वे धार्तराष्ट्रानभिद्रवन् ।
तान्दृष्ट्वाऽऽपततः शीघ्रान्गंधर्वानुद्यतायुधान् ॥ १० ॥
प्राद्रवंस्ते दिशः सर्वे धार्तराष्ट्रस्य पश्यतः ।
तान्दृष्ट्वा द्रवतः सर्वान्धार्तराष्ट्रान्पराङ्मुखान् ॥ ११ ॥
राधेयस्तु तदा वीरो नाऽऽसीत्तत्र पराङ्मुखः ।
आपतंतीं तु संप्रेक्ष्य गंधर्वाणां महाचमूम् ॥ १२ ॥
महता शरवर्षेण राधेयः प्रत्यवारयत् ।
क्षुरप्रैर्विशिखैर्भल्लैर्वत्सदंतैस्तथाऽऽयसैः ॥ १३ ॥
गंधर्वाञ्शतशोऽभिघ्नँल्लघुत्वात्सूतनन्दनः ।
पातयन्नुत्तमांगानि गंधर्वाणां महारथः ॥ १४ ॥
क्षणेन व्यधमत्सर्वां चित्रसेनस्य वाहिनीम् ।
ते वध्यमाना गंधर्वाः सूतपुत्रेण धीमता ॥ १५ ॥

के लिए उतारू कौरवों की सेना को फिर वन के भीतर घुसने से रोका। गन्धर्वों ने पहले नर्मी के साथ समझा-बुझाकर उन्हें लौटाने की चेष्टा की परन्तु कौरव पक्ष के वीरों ने नहीं माना; वे बलपूर्वक वहाँ घुसने लगे। दुर्योधन आदि धृतराष्ट्र के पुत्रों को, कहा न मानकर, अनादर करके भीतर घुसते देख गन्धर्वों ने अपने स्वामी चित्रसेन से जाकर सब हाल कहा। गन्धर्वराज चित्रसेन सुनकर बहुत कुपित हुआ। उसने नीच प्रकृतिवाले ढीठ दुर्योधन आदि कौरवों को दण्ड देने के लिए अपने पक्ष के वीरों को आज्ञा दी। हे भरतश्रेष्ठ! तब चित्रसेन की आज्ञा पाकर सब गन्धर्व अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र लेकर कौरव सेना के ऊपर आक्रमण करने के लिए चले ॥४।१०॥

शस्त्र लिये हुए गन्धर्वों को अपनी ओर वेग से आते देख, दुर्योधन के सामने ही, उसके पक्ष के योद्धा और दुःशासन आदि भाई भय के मारे इधर-उधर भागने लगे। उन सबको भागते देखकर भी वीर कर्ण वहीं डटा रहा; उसने पीठ नहीं दिखाई। गन्धर्वों की भारी सेना को अपनी ओर आते देखकर कर्ण बाणों की वर्षा से उसे रोकने लगा। फुर्ती के साथ क्षुरप्र, भल्ल, वत्सदन्त आदि तरह-तरह के तीक्ष्ण, लोहे के, बाणों से सैकड़ों गन्धर्वों को उसने घायल कर दिया और अनेकों के

भूय एवाऽभ्यवर्तंत शतशोऽथ सहस्रशः ।
गंधर्वभूता पृथिवी क्षणेन समपद्यत ॥ १६ ॥
आपतद्भिर्महावेगैश्चित्रसेनस्य सैनिकैः ।
अथ दुर्योधनो राजा शकुनिश्चापि सौबलः ॥ १७ ॥
दुःशासनो विकर्णश्च ये चाऽन्ये धृतराष्ट्रजाः ।
न्यहनंस्तत्तदा सैन्यं रथैर्गरुडनिःस्वनैः ॥ १८ ॥
भूयश्च योधयामासुः कृत्वा कर्णमथाऽग्रतः ।
महता रथसंघेन रथचारेण चाप्युत ॥ १९ ॥
वैकर्तनं परीप्संतो गंधर्वान्समवाकिरन् ।
ततः संन्यपतन्सर्वे गंधर्वाः कौरवैः सह ॥ २० ॥
तदा सुतुमुलं युद्धमभवल्लोमहर्षणम् ।
ततस्ते मृदवोऽभूवन्गंधर्वाः शरपीडिताः ॥ २१ ॥
उच्चुक्रुशुश्च कौरव्या गंधर्वान्प्रेक्ष्य पीडितान् ।
गंधर्वांस्त्रासितान्दृष्ट्वा चित्रसेनो ह्यमर्षणः ।
उत्पपाताऽऽसनात्क्रुद्धो वधे तेषां समाहितः ॥ २२ ॥
ततो मायास्त्रमास्थाय युयुधे चित्रमार्गवित् ।
तयाऽमुह्यंत कौरव्याश्चित्रसेनस्य मायया ॥ २३ ॥

सिर काट डाले। वीर कर्ण ने दम भर में चित्रसेन की सेना को मारकर छिन्न-भिन्न कर दिया; किन्तु सैकड़ों-हजारों गन्धर्व फिर युद्ध के लिए युद्ध-भूमि में आ गये। चारों ओर गन्धर्व ही गन्धर्व देख पड़ने लगे। तब राजा दुर्योधन, शकुनि, दुःशासन, विकर्ण, और धृतराष्ट्र के अन्य पुत्र गरुड़ के समान शब्द करनेवाले दृढ़ रथों पर बैठकर गन्धर्व-सेना को चौपट करने लगे। कर्ण भी गन्धर्वों के पराक्रम को देखकर न सह सका। वह सब कौरवों के आगे था और रथों पर सवार होकर प्रहार करनेवाले असंख्य गन्धर्वों को मार रहा था। अपने रथों के पहियों की घरघराहट से युद्ध-भूमि को पूर्ण करते हुए गन्धर्व भी दुर्योधन और कर्ण को घेरकर प्रहार करने लगे ॥११।२०॥

कौरवों और गन्धर्वों से दारुण संग्राम होने लगा। कर्ण आदि के बाणों से पीड़ित होकर गन्धर्व लोग धीमे पड़ गये। गन्धर्वों को पीड़ित शिथिल देखकर कौरवपक्ष के योद्धा लोग आनन्द से सिंहनाद करने लगे। तब गन्धर्वों को पीड़ित और भयभीत हुआ देखकर चित्रसेन को बड़ा क्रोध चढ़ आया।

एकैकस्य तदा योधा धार्तराष्ट्रस्य सर्वशः ।
पर्यवर्तंत गंधर्वैर्दशभिर्दशभिः सह ॥ २४ ॥
ततः संपीड्यमानास्ते बलेन महता तदा ।
प्राद्रवन्त रणे भीता ये च राजजिजीषवः ॥ २५ ॥
भज्यमानेष्वनीकेषु धार्तराष्ट्रेषु सर्वशः ।
कर्णो वैकर्तनो राजंस्तस्थौ गिरिरिवाऽचलः ॥ २६ ॥
दुर्योधनश्च कर्णश्च शकुनिश्चापि सौबलः ।
गंधर्वान्योधयामासुःसमरे भृशविक्षताः ॥ २७ ॥
सर्व एव तु गंधर्वाः शतशोऽथ सहस्रशः ।
जिघांसमानाःसहिताः कर्णमभ्यद्रवन्रणे ॥ २८ ॥
असिभिः पट्टिशैः शूलैर्गदाभिश्च महाबलाः ।
सूतपुत्रं जिघांसंतः समंतात्पर्यवाकिरन् ॥ २९ ॥
अन्येऽस्य युगमच्छिदन्ध्वजमन्ये न्यपातयन् ।
ईषामन्ये हयानन्ये सूतमन्ये न्यपातयन् ॥ ३० ॥
अन्ये छत्रं वरूथं च बंधुरं च तथाऽपरे ।
गंधर्वा बहुसाहस्रास्तिलशो व्यधमन्रथम् ॥ ३१ ॥
ततो रथादवप्लुत्य सूतपुत्रोऽसिचर्मभृत् ।
विकर्णरथमास्थाय मोक्षायाऽश्वानचोदयत् ॥ ३२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि घोषयात्रापर्वणि कर्णपराभवे एकचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

वह अपने आसन से उठकर कौरवों को मारने के लिए चला। चित्रसेन विचित्र युद्धकला जानता था। वह मायामय अस्त्रों का सहारा लेकर कौरवों से भिड़ गया। चित्रसेन की माया से सब कौरव व्याकुल हो गये। कौरव सेना के एक-एक मनुष्य पर दस-दस गन्धर्व टूट पड़े ॥२४।२५॥

गन्धर्व-सेना के पराक्रम और प्रहारों से पीड़ित होकर कौरवों की सेना के लोग भागे। सब सेना और धृतराष्ट्र के अन्य पुत्रों के भाग खड़े होने पर भी महारथी वीर कर्ण अपनी जगह पर ही पर्वत की तरह खड़ा रहा। दुर्योधन, शकुनि के साथ, अत्यन्त घायल होकर भी गन्धर्वों से युद्ध करता रहा। सैकड़ों हजारों कुपित गन्धर्व, मार डालने की इच्छा से, कर्ण के ही ऊपर आक्रमण करने लगे। कर्ण को चारों ओर से घेरकर वे उस पर खड्ग, पट्टिश, शूल, गदा और बाण आदि की वर्षा करने लगे। किसी ने

कर्ण के रथ का धुरा, किसी ने ध्वजा, किसी ने पहिये, किसी ने छत्र और किसी-किसी ने रथ के और-और अंश काट डाले। गन्धर्व कई हज़ार थे; उन्होंने तिल-तिल करके कर्ण का रथ काट डाला। तब ढाल-तलवार लेकर वीर कर्ण रथ पर से कूद पड़ा। विकर्ण के रथ पर बैठकर, बचाव के लिए, उसने घोड़ों को युद्धभूमि से भगा दिया ॥२६।३२॥

—०—

वनपर्व का दो सौ इकतालीस अध्याय समाप्त हुआ ॥२४१॥

अथ द्विचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२४२॥

वैशम्पायन उवाच—गंधर्वैस्तु महाराज भग्ने कर्णे महारथे ।
संप्राद्रवच्चमूः सर्वा धार्तराष्ट्रस्य पश्यतः ॥ १ ॥
तान्दृष्ट्वा द्रवतः सर्वान्धार्त्तराष्ट्रान्पराङ्मुखान् ।
दुर्योधनो महाराजो नाऽऽसीत्तत्र पराङ्मुखः ॥ २ ॥
तामापतंतीं संप्रेक्ष्य गंधर्वाणां महाचमूम् ।
महता शरवर्षेण सोऽभ्यवर्षदरिंदमः ॥ ३ ॥
अचिंत्य शरवर्षं तु गंधर्वास्तस्य तं रथम् ।
दुर्योधनं जिघांसंतः समंतात्पर्यवारयन् ॥ ४ ॥
युगमीषां वरूथं च तथैव ध्वजसारथी ।
अश्वांस्त्रिवेणुं तल्पं च तिलशो व्यधमञ्छरैः ॥ ५ ॥
दुर्योधनं चित्रसेनो विरथं पतितं भुवि ।
अभिद्रुत्य महाबाहुर्जीवग्राहमथाऽग्रहीत् ॥ ६ ॥

दो सौ बयालीस अध्याय ॥२४२॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! गन्धर्वों ने कर्ण को हराकर जब भगा दिया तब कौरवों की सेना और दुर्योधन के भाई भी उसके सामने, ही युद्ध छोड़कर भागने लगे। राजा दुर्योधन अपने योद्धाओं को रण छोड़कर भागते देखकर भी युद्धभूमि से नहीं भागा। वह गन्धर्वों की सेना पर लगातार तीक्ष्ण बाण बरसाने लगा। उस बाण-वर्षा की कुछ परवा न करके गन्धर्वों ने दुर्योधन को मार डालने के लिए, चारों ओर से, उसके रथ को घेर लिया। वे दुर्योधन पर लगातार प्रहार करने लगे। उन्होंने दुर्योधन के रथ के भी युग, ईषा, ध्वजा, त्रिवेणु, बैठक आदि अङ्गों को तिल-तिल भर काटकर सारथी समेत घोड़ों को मार डाला ॥१।६॥

दुर्योधन को रथ से हीन और पृथ्वी पर गिरा हुआ देखकर चित्रसेन ने झपटकर उसको जीते ही पकड़ लिया। उसके पश्चात् रथ पर सवार दुःशासन को भी गन्धर्वों ने घेरकर पकड़ लिया। इसी प्रकार विविंशति, चित्रसेन, विन्द, अनुविन्द आदि कौरवों

तस्मिन्गृहीते राजेंद्र स्थितं दुःशासनं रथे ।
पर्यगृह्णंत गंधर्वाः परिवार्य समंततः ॥ ७ ॥
विविंशतिचित्रसेनावादायाऽन्ये विदुद्रुवुः ।
विंदानुविंदावपरे राजदारांश्च सर्वशः ॥ ८ ॥
सैन्यं तद्धार्तराष्ट्रस्य गंधर्वैः समभिद्रुतम् ।
पूर्वं प्रभग्नाः सहिताः पांडवानभ्ययुस्तदा ॥ ९ ॥
शकटापणवेशाश्च यानयुग्यं च सर्वशः ।
शरणं पांडवाञ्जग्मुर्ह्रियमाणे महीपतौ ॥ १० ॥

सैनिका ऊचुः—प्रियदर्शी महाबाहो धार्त्तराष्ट्रो महाबलः ।
गंधर्वैर्ह्रियते राजा पार्थास्तमनुधावत ॥ ११ ॥
दुःशासनो दुर्विषहो दुर्मुखो दुर्जयस्तथा ।
बध्वा ह्रियंते गंधर्वै राजदाराश्च सर्वशः ॥ १२ ॥
इति दुर्योधनामात्याः क्रोशंतो राजगृद्धिनः ।
आर्ता दीनास्ततः सर्वे युधिष्ठिरमुपागमन् ॥ १३ ॥
तांस्तथा व्यथितान्दीनान्भिक्षमाणान्युधिष्ठिरम् ।
वृद्धान्दुर्योधनामात्यान्भीमसेनोऽभ्यभाषत ॥ १४ ॥

और रानियों को पकड़कर गन्धर्व लोग चल दिये । तब दुर्योधन की सेना के बचे हुए लोग—पहले की भागी हुई सेना, टूटे-फूटे छकड़े, लुटे हुए बाज़ार, वेश्याओं के डेरे और अन्य सब सामान लेकर—पाण्डवों की शरण में गये ॥७।१०॥

उन्होंने महाराज युधिष्ठिर के पास जाकर कहा—हे महावीर पाण्डवो ! रक्षा करो, रक्षा करो ! वीर गन्धर्व लोग राजा दुर्योधन, दुःशासन, दुर्विषह, दुर्मुख, दुर्जय आदि धृतराष्ट्र के पुत्रों को बाँधे लिये जाते हैं । राजकुल की स्त्रियों को भी उन दुष्टों ने नहीं छोड़ा । आप लोग गन्धर्वों का पीछा करके उन्हें छुड़ाने का यत्न कीजिए ॥११।१२॥

राजभक्त सैनिक यों कहकर आर्त्तनाद करते हुए दीनभाव से महाराज युधिष्ठिर के पास खड़े रहे । युधिष्ठिर से प्रार्थना करनेवाले, व्यथित-हृदय, दीन, दुर्योधन के बूढ़े मन्त्रियों से भीमसेन ने कहा—बड़ी तैयारी और धूमधाम से हाथी-घोड़े सजाकर दुर्योधन आदि तो कुछ और ही करने आये थे, किन्तु दैव ने कुछ और ही कर दिया । जो कार्य हमें करना था वह गन्धर्वों ने कर दिया । कपट का जुआ खेलनेवाले दुर्योधन को यह उसकी करनी का फल मिला है । हमने सुना था कि निर्बल पुरुष से द्रोह करनेवालों को दूसरे लोग मार डालते हैं ; सो आज गन्धर्वों ने यह अलौकिक कार्य करके हमें

महता हि प्रयत्नेन संनह्य गजवाजिभिः ।
अस्माभिर्यदनुष्ठेयं गंधर्वैस्तदनुष्ठितम् ॥ १५ ॥
अन्यथा वर्तमानानामर्थो जातोऽयमन्यथा ।
दुर्मंत्रितमिदं तावद्राज्ञो दुर्द्यूतदेविनः ॥ १६ ॥
द्वेष्टारमन्ये क्लीबस्य पातयंतीति नः श्रुतम् ।
इदं कृतं नः प्रत्यक्षं गंधर्वैरतिमानुषम् ॥ १७ ॥
दिष्ट्या लोके पुमानस्ति कश्चिदस्मत्प्रिये स्थितः ।
येनाऽस्माकं हृतो भार आसीनानां सुखावहः ॥ १८ ॥
शीतवातातपसहांस्तपसा चैव कर्शितान् ।
समस्थो विषमस्थान्हि द्रष्टुमिच्छति दुर्मतिः ॥ १९ ॥
अधर्मचारिणस्तस्य कौरव्यस्य दुरात्मनः ।
ये शीलमनुवर्तंति ते पश्यंति पराभवम् ॥ २० ॥
अधर्मो हि कृतस्तेन येनैतदुपाशिक्षितम् ।
अनृशंसास्तु कौंतेयास्तत्प्रत्यक्षं ब्रवीमि वः ॥ २१ ॥
एवं ब्रुवाणं कौंतेयं भीमसेनमपस्वरम् ।
न कालः परुषस्याऽयमिति राजाऽभ्यभाषत ॥ २२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनादिहरणे [illegible]

प्रत्यक्ष दिखा दिया । बड़ी बात है कि इस संसार में हमारा प्रिय करनेवाले लोग भी हैं । बड़े आनन्द की बात है कि हम लोग यहाँ बैठे ही रहे और गन्धर्वों ने यह काम करके हमारा बोझ हलका कर दिया। दुर्मति दुर्योधन हमें अपना ऐश्वर्य दिखाने और आप यह देखने आया था कि हम लोग कैसे सर्दी-गर्मी-आंधी-पानी के कष्ट सहते हुए वन में रहते हैं। अधर्मी दुरात्मा दुर्योधन के से नीच स्वभाव के जितने लोग हैं उन्हें इसी तरह नीचा देखना पड़ता है [illegible] मैं सबके सामने खुलासा कहता हूँ कि उच्च विचारवाले पाण्डवों को चिढ़ाने या [illegible] लिए यहां इस तरह आने की सम्मति [illegible] को दी है वह बड़ा अधर्मी है । क्रोध [illegible] को कठिन स्वर से यों कठोर वचन [illegible] युधिष्ठिर ने कहा—हे भाई भीमसेन! [illegible] कठोर बातों के कहने का नहीं है ॥

वनपर्व का दो सौ बयालीस अध्याय समाप्त हुआ ॥२४२॥

अथ त्रिचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२४३॥

युधिष्ठिर उवाच—अस्मानभिगतांस्तात भयार्ताञ्छरणैषिणः ।
कौरवान्विषमप्राप्तान्कथं ब्रूयास्त्वमीदृशम् ॥ १ ॥
भवंति भेदा ज्ञातीनां कलहाश्च वृकोदर ।
प्रसक्तानि च वैराणि कुलधर्मो न नश्यति ॥ २ ॥
यदा तु कश्चिज्ज्ञातीनां बाह्यः प्रार्थयते कुलम् ।
न मर्षयंति तत्सन्तो बाह्येनाऽभिप्रधर्षणम् ॥ ३ ॥
जानात्येष हि दुर्बुद्धिरस्मानिह चिरोषितान् ।
स एवं परिभूयाऽस्मानकार्षीदिदमप्रियम् ॥ ४ ॥
दुर्योधनस्य ग्रहणाद्गंधर्वेण बलात्प्रभो ।
स्त्रीणां बाह्याभिमर्शाच्च हतं भवति नः कुलम् ॥ ५ ॥
शरणं च प्रपन्नानां त्राणार्थं च कुलस्य च ।
उत्तिष्ठध्वं नरव्याघ्राः सज्जीभवत मा चिरम् ॥ ६ ॥
अर्जुनश्च यमौ चैव त्वं च वीराऽपराजितः ।
मोक्षयध्वं नरव्याघ्रा ह्रियमाणं सुयोधनम् ॥ ७ ॥

दो सौ तैंतालिस अध्याय ॥२४३॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे भीमसेन ! कौरव संकट में पड़े हुए हैं, उनके ये मनुष्य भय से व्याकुल होकर हमारी शरण में आये हैं। इनसे इस समय ऐसी बातें करना क्या तुमको उचित है ? हे भीमसेन ! जाति-भाइयों में फूट भी पड़ जाती है, लड़ाई झगड़े भी हुआ करते हैं और वैर-भाव भी बहुत दिनों तक बना रहता है, पर जाति का धर्म नहीं नष्ट होता, अर्थात् वे जातिवाले और भाई ही बने रहते हैं। जो कोई दूसरा अपने कुल को अनिष्ट करने पर उतारू होता है तो बुद्धिमान् लोग उसे नहीं सह सकते आपस में लाख विरोध और शत्रुता क्यों न हो किन्तु जो कोई दूसरा उस विरोध रखनेवाले भाई का अपमान करे तो उसका प्रतिकार करना चाहिए। उस समय आपस का वैर-विरोध भूल जाना चाहिए। मैं जानता हूँ कि हम लोगों का इस स्थान पर बहुत देर से रहना दुर्मति दुर्योधन को मालूम था और हमें चिढ़ाने के लिए—हमारा अप्रिय करने के लिए—जान-बूझकर वह यहाँ आया था। परन्तु इस समय दुर्योधन को युद्ध में हराकर गन्धर्व पकड़े लिए जा रहा है। इतना ही नहीं, हमारे कुल की स्त्रियों का भी उसने अपमान किया है—उन्हें भी पकड़े लिये जा रहा है। यह हमारे कुल का अपमान होने के कारण हमारा भी अपमान है ॥१-५॥

इसलिए हे पुरुषसिंहो ! शरणागतों की रक्षा

एते रथा नरव्याघ्राः सर्वशस्त्रसमन्विताः ।
धृतराष्ट्रस्य पुत्राणां विमलाः कांचनध्वजाः ॥ ८ ॥
सस्वनानधिरोहध्वं नित्यसज्जानिमान्रथान् ।
इंद्रसेनादिभिः सूतैः कृतशस्त्रैरधिष्ठितान् ॥ ९ ॥
एतानास्थाय वै यत्ता गंधर्वान्योद्धुमाहवे ।
सुयोधनस्य मोक्षाय प्रयतध्वमतंद्रिताः ॥ १० ॥
य एव कश्चिद्राजन्यः शरणार्थमिहाऽऽगतम् ।
परं शक्त्याऽभिरक्षेत किं पुनस्त्वं वृकोदर ॥ ११ ॥
क इहाऽऽर्यो भवेत्त्राणमभिधावेति चोदितः ।
प्रांजलिं शरणापन्नं दृष्ट्वा शत्रुमपि ध्रुवम् ॥ १२ ॥
वरप्रदानं राज्यं च पुत्रजन्म च पांडवाः ।
शत्रोश्च मोक्षणं क्लेशात्त्रीणि चैकं च तत्समम् ॥ १३ ॥
किं चाप्यधिकमेतस्माद्यदापन्नः सुयोधनः ।
त्वद्बाहुबलमाश्रित्य जीवितं परिमार्गते ॥ १४ ॥
स्वयमेव प्रधावेयं यदि न स्याद्वृकोदरः ।
विततो मे क्रतुर्वीर न हि मेऽत्र विचारणा ॥ १५ ॥

करने के लिए, कुल को अपमान और कलङ्क से बचाने के लिए, शीघ्र उठो ; कमर कसकर खड़े हो जाओ। हे भीमसेन ! तुमको कोई नहीं जीत सकता। तुम, अर्जुन, नकुल और सहदेव, चारों भाई आकर गन्धर्व के हाथ से दुर्योधन का उद्धार करो। तुम लोग अपने इन्द्रसेन आदि सारथियों के साथ इन सुवर्ण की ध्वजा, अस्त्र-शस्त्र आदि से सुसज्जित, प्रभापूर्ण, धृतराष्ट्र के पुत्रों के रथों पर चढ़कर गन्धर्वों से युद्ध करने के लिए जाओ और दुर्योधन को छुड़ाने के लिए कोई बात की कभी न रक्खो। हे भीमसेन! तुमसे अधिक क्या कहूँ, साधारण क्षत्रिय भी शरणागत की रक्षा करना अपना धर्म समझकर उससे मुँह नहीं मोड़ते ॥६।१०॥

यदि कोई शत्रु हाथ जोड़कर "मेरी रक्षा करो" कहता हुआ शरण में आवे तो आर्य पुरुष को उसकी भी रक्षा अवश्य करनी चाहिए। हे भाइयो! वर प्राप्त करना, राज्य-लाभ, शत्रु को क्लेश से छुड़ाना और पुत्र उत्पन्न करना, ये चारों बातें बराबर हैं। फिर विचारकर देखो, शत्रु दुर्योधन आज जीवन की रक्षा के लिए तुम्हारे बाहुबल के आश्रय की प्रार्थना करता है। [इससे बढ़कर सुख की, बात और क्या हो सकती है !] हे भीमसेन ! जो मैंने यज्ञ की दीक्षा न ले ली होती तो मैं स्वयं दुर्योधन को छुड़ाने के लिए जाता ॥११।१५॥

साम्नैव तु यथा भीम मोक्षयेथाः सुयोधनम् ।
तथा सर्वैरुपायैस्त्वं यतेथाः कुरुनंदन ॥ १६ ॥
न साम्ना प्रतिपद्येत यदि गंधर्वराडसौ ।
पराक्रमेण मृदुना मोक्षयेथाः सुयोधनम् ॥ १७ ॥
अथाऽसौ मृदुयुद्धेन न मुंचेद्भीम कौरवान् ।
सर्वोपायैर्विमोच्यास्ते निगृह्य परिपंथिनः ॥ १८ ॥
एतावद्धि मया शक्यं संदेष्टुं वै वृकोदर ।
वैताने कर्मणि तते वर्तमाने च भारत ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच—अजातशत्रोर्वचनं तच्छ्रुत्वा तु धनंजयः ।
प्रतिजज्ञे गुरोर्वाक्यं कौरवाणां विमोक्षणम् ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच—यदि साम्ना न मोक्ष्यंति गंधर्वा धृतराष्ट्रजान् ।
अद्य गंधर्वराजस्य भूमिः पास्यति शोणितम् ॥ २१ ॥
अर्जुनस्य तु तां श्रुत्वा प्रतिज्ञां सत्यवादिनः ।
कौरवाणां तदा राजन्पुनः प्रत्यागतं मनः ॥ २२ ॥

इतिश्रीमन्महाभारतेऽारण्यकपर्वणिघोषयात्रापर्वणिदुर्योधनमोचनानुज्ञायांत्रिचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

तुम लोग जाओ, पहले गन्धर्व से मेल करके दुर्योधन को छुड़ाने की चेष्टा करना । यदि शान्ति नीति के द्वारा गन्धर्वराज, दुर्योधन को छोड़ने के लिए, तैयार न हो तो साधारण युद्ध करके अपना कार्य निकालने की चेष्टा करना । इसमें भी सफलता न हो तो जिस उपाय से हो उस उपाय से कौरवों को गन्धर्व के चंगुल से छुड़ा लेना । मेरा यज्ञ अभी तक समाप्त नहीं हुआ, नहीं तो मैं स्वयं जाकर दुर्योधन को छुड़ा लाता । अब तुम जाकर दुर्योधन को छुड़ाओ, यही मेरी अन्तिम आज्ञा है । अजात-शत्रु महाराज युधिष्ठिर की आज्ञा पाकर अर्जुन ने गन्धर्वों के हाथ से कौरवों को छुड़ाने की प्रतिज्ञा की । उन्होंने कहा—जो सीधी तरह सन्मार्ग से गन्धर्व लोग कौरवों को न छोड़ेंगे तो मैं आज गन्धर्वों के रक्त से पृथ्वी को तर कर दूँगा । हे राजेन्द्र ! सत्यवादी अर्जुन की इस प्रतिज्ञा को सुनकर कौरवों के मन में फिर आशा हुई ॥१६।२२॥

—०—

वनपर्व का दो सौ तेतालीस अध्याय समाप्त हुआ ॥२४३॥

अथ चतुश्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२४४॥

वैशम्पायन उवाच—युधिष्ठिरवचः श्रुत्वा भीमसेनपुरोगमाः ।

प्रहृष्टवदनाः सर्वे समुत्तस्थुर्नरर्षभाः ॥ १ ॥
अभेद्यानि ततः सर्वे समनह्यंत भारत ।
जाम्बूनदविचित्राणि कवचानि महारथाः ॥ २ ॥
आयुधानि च दिव्यानि विविधानि समाददुः ।
ते दंशिता रथैः सर्वे ध्वजिनः सशरासनाः ॥ ३ ॥
पांडवाः प्रत्यदृश्यंत ज्वलिता इव पावकाः ।
तान्रथान्साधुसंपन्नान्संयुक्तान्जवनैर्हयैः ॥ ४ ॥
आस्थाय रथशार्दूलाः शीघ्रमेव ययुस्ततः ।
ततः कौरवसैन्यानां प्रादुरासीन्महास्वनः ॥ ५ ॥
प्रयातान्सहितान्दृष्ट्वा पांडुपुत्रान्महारथान् ।
जितकाशिनश्च खचरास्त्वरिताश्च महारथाः ॥ ६ ॥
क्षणेनैव वने तस्मिन्समाजग्मुरभीतवत् ।
न्यवर्तंत ततः सर्वे गंधर्वा जितकाशिनः ॥ ७ ॥
दृष्ट्वा रथगतान्वीरान्पांडवांश्चतुरो रणे ।
तांस्तु विभ्राजितान्दृष्ट्वा लोकपालानिवोद्यतान् ॥ ८ ॥
व्यूढानीका व्यतिष्ठंत गंधमादनवासिनः ।
राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा धर्मपुत्रस्य धीमतः ॥ ९ ॥

दो सौ चवालीस अध्याय ॥२४४॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! युधिष्ठिर के वचन सुनकर भीमसेन आदि पाण्डव हर्ष और उत्साह के साथ उठ खड़े हुए। उन्होंने सुवर्ण-मय अभेद्य कवच पहने और विविध विचित्र शस्त्र लिये। वे अपने तेज के प्रभाव से प्रज्वलित अग्नि के समान देख पड़ने लगे। इसके पश्चात् वे पुरुषसिंह सुसज्जित शीघ्रगामी घोड़ों से युक्त रथों पर चढ़कर गन्धर्वों की ओर चले। पाण्डवों को चलते देखकर कौरवों के सब वीर आनन्द के साथ घोर कोलाहल करने लगे। महारथी गन्धर्व लोग अपने को युद्ध में विजयी समझकर लौटे जा रहे थे, इसी समय पाण्डवों को रथ पर चढ़कर अपनी ओर आते देखकर वे निर्भय भाव से युद्ध-भूमि की ओर लौट पड़े। हे भरतश्रेष्ठ ! लोकपालों के समान तेजस्वी और प्रभाव-शाली पाण्डवों को युद्ध के लिए उद्यत देखकर गन्धमादन पर्वत के रहनेवाले गन्धर्व भी व्यूह रचना करके युद्ध करने को तैयार हो गये। पाण्डव लोग पहले तो धर्मराज युधिष्ठिर की आज्ञा के अनुसार

क्रमेण मृदुना युद्धमुपक्रांतं च भारत ।
न तु गंधर्वराजस्य सैनिका मंदचेतसः ॥ १० ॥
शक्यंते मृदुना श्रेयः प्रतिपादयितुं तदा ।
ततस्तान्युधि दुर्धर्षान्सव्यसाची परंतपः ॥ ११ ॥
सांत्वपूर्वमिदं वाक्यमुवाच खचरान्रणे ।
विसर्जयत राजानं भ्रातरं मे सुयोधनम् ॥ १२ ॥
त एवमुक्ता गंधर्वाः पांडवेन यशस्विना ।
उत्स्मयंतस्तदा पार्थमिदं वचनमब्रुवन् ॥ १३ ॥
एकस्यैव वयं तात कुर्याम वचनं भुवि ।
यस्य शासनमाज्ञाय चरामो विगतज्वराः ॥ १४ ॥
तेनैकेन यथाऽऽदिष्टं तथा वर्ताम भारत ।
न शास्ता विद्यतेऽस्माकमन्यस्तस्मात्सुरेश्वरात् ॥ १५ ॥
एवमुक्तः स गंधर्वैः कुंतीपुत्रो धनंजयः ।
गंधर्वान्पुनरेवेदं वचनं प्रत्यभाषत ॥ १६ ॥
न तद्गन्धर्वराजस्य युक्तं कर्म जुगुप्सितम् ।
परदाराभिमर्शश्च मानुषैश्च समागमः ॥ १७ ॥
उत्सृज्यध्वं महावीर्यान्धृतराष्ट्रसुतानिमान् ।
दारांश्चैषां विमुञ्चध्वं धर्मराजस्य शासनात् ॥ १८ ॥

यदा साम्ना न मुंचध्वं गंधर्वा धृतराष्ट्रजान् ।
मोक्षयिष्यामि विक्रम्य स्वयमेव सुयोधनम् ॥ १९ ॥
एवमुक्त्वा ततः पार्थः सव्यसाची धनंजयः ।
ससर्ज निशितान्बाणान्खचरान्खचरान्प्रति ॥ २० ॥
तथैव शरवर्षेण गंधर्वास्ते बलोत्कटाः ।
पांडवानभ्यवर्तन्त पांडवाश्च दिवौकसः ॥ २१ ॥
ततः सुतुमुलं युद्धं गंधर्वाणां तरस्विनाम् ।
बभूव भीमवेगानां पांडवानां च भारत ॥ २२ ॥

इति श्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वणि घोषयात्रापर्वणि पांडवगंधर्वयुद्धे चतुश्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः२४४

न छोड़ोगे तो फिर मैं स्वयं अपने पराक्रम से इन लोगों को छुड़ा लूँगा। इतने पर भी जब गन्धर्वों ने नहीं सुना तब अर्जुन उन आकाशचारियों पर अपने पैने बाण बरसाने लगे। महाबली गन्धर्व भी पाण्डवों पर बाणों की वर्षा करने लगे। इस प्रकार गन्धर्वों के साथ पाण्डवों का कठिन युद्ध छिड़ गया। अत्यन्त वेगशाली गन्धर्वों और पाण्डवों के उस भयानक युद्ध में गन्धर्व लोग पाण्डवों पर और पाण्डव गन्धर्वों पर प्रहार करके अपना अपना पराक्रम प्रकट करने लगे ॥१६।२२॥

वनपर्व का दो सौ चवालीस अध्याय समाप्त हुआ। २४४॥

अथ पंचचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२४५॥

ततो दिव्यास्त्रसंपन्ना गंधर्वा हेममालिनः ।
विसृजंतः शरान्दीप्तान्समंतात्पर्यवारयन् ॥ १ ॥
चत्वारः पांडवा वीरा गंधर्वाश्च सहस्रशः ।
रणे संन्यपतन्राजंस्तदद्भुतमिवाऽभवत् ॥ २ ॥
यथा कर्णस्य च रथो धार्तराष्ट्रस्य चोभयोः ।
गंधर्वैः शतशश्छिन्नौ तथा तेषां प्रचक्रिरे ॥ ३ ॥

दो सौ पैंतालीस अध्याय ॥२४५॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! युद्ध छिड़ जाने पर दिव्य अस्त्रों के जाननेवाले, सुवर्ण की मालाएँ पहननेवाले गन्धर्व लोग प्रज्वलित बाण चलाने लगे। वे बाण पाण्डवों के चारों ओर छा गये। युद्ध में सहस्रों गन्धर्वों से चार पाण्डव घोर युद्ध कर रहे थे। यह अत्यन्त अद्भुत दृश्य था। गन्धर्वों ने जैसे कर्ण, दुर्योधन और दु:शासन के रथों के टुकड़े-टुकड़े कर डाले थे, वैसे ही पाण्डवों के रथों को भी काट

तान्समापततो राजन्गंधर्वाञ्छतशो रणे ।
प्रत्यगृह्णन्नरव्याघ्राः शरवर्षैरनेकशः ॥ ४ ॥
ते कीर्यमाणाः खगमाः शरवर्षैः समंततः ।
न शेकुः पांडुपुत्राणां समीपे परिवर्तितुम् ॥ ५ ॥
अभिक्रुद्धानभिक्रुद्धो गंधर्वानर्जुनस्तदा ।
लक्षयित्वाऽथ दिव्यानि महास्त्राण्युपचक्रमे ॥ ६ ॥
सहस्राणां सहस्राणि प्राहिणोद्यमसादनम् ।
आग्नेयेनाऽर्जुनः संख्ये गंधर्वाणां बलोत्कटः ॥ ७ ॥
तथा भीमो महेष्वासः संयुगे बलिनां वरः ।
गन्धर्वाञ्शतशो राजञ्जघान निशितैः शरैः ॥ ८ ॥
माद्रीपुत्रावपि तदा युध्यमानौ बलोत्कटौ ।
परिगृह्याऽग्रतो राजञ्जघ्नतुः शतशः परान् ॥ ९ ॥
ते वध्यमाना गंधर्वा दिव्यैरस्त्रैर्महारथैः ।
उत्पेतुः खमुपादाय धृतराष्ट्रसुतांस्ततः ॥ १० ॥
स तानुत्पतितान्दृष्ट्वा कुंतीपुत्रो धनंजयः ।
महता शरजालेन समंतात्पर्यवारयत् ॥ ११ ॥
ते बद्धाः शरजालेन शकुंता इव पंजरे ।
ववर्षुरर्जुनं क्रोधाद्गदाशक्त्यृष्टिवृष्टिभिः ॥ १२ ॥

रोका। पुरुषसिंह पाण्डव भी युद्ध में गन्धर्वों पर सहस्रों बाण बरसाकर उन पर आक्रमण करने लगे ॥१।४॥

आकाशचारी गन्धर्व लोग घोर बाण-वर्षा के मारे पाण्डवों के पास तक नहीं आ सकते थे। इसके पश्चात् महावीर अर्जुन क्रोधित होकर, अत्यन्त क्रोधित गन्धर्वों पर, दिव्य अस्त्र छोड़ने लगे। उन अस्त्रों के प्रभाव से सहस्रों गन्धर्व क्षण भर में मर गये। इसी समय महावली भीमसेन भी तीक्ष्ण बाण मारकर सैकड़ों गन्धर्वों को यमपुर भेजने लगे। महाबली नकुल और सहदेव भी शत्रुओं का संहार करने में भीमसेन और अर्जुन की सहायता करने लगे ॥५।९॥

महारथी पाण्डव जब इस प्रकार संहार करने लगे, तब गन्धर्व लोग धृतराष्ट्र के पुत्रों को लेकर आकाशमार्ग में चले गये। अर्जुन ने वहाँ भी बाणों की वर्षा से उन्हें ढक दिया। पिंजरे के बीच चिड़िया की तरह वे गन्धर्व चारों ओर से बाणों के पिंजरे में घिर गये। तब वे कुपित होकर अर्जुन के ऊपर गदा, शक्ति और दिव्य अस्त्र आदि की वर्षा करने लगे।

गदाशक्त्यृष्टिवृष्टीस्ता निहत्य परमास्त्रवित् ।
गात्राणि चाऽहनद्भल्लैर्गंधर्वाणां धनंजयः ॥ १३ ॥
शिरोभिः प्रपतद्भिश्च चरणैर्बाहुभिस्तथा ।
अश्मवृष्टिरिवाऽऽभाति परेषामभवद्भयम् ॥ १४ ॥
ते वध्यमाना गंधर्वाः पांडवेन महात्मना ।
भूमिष्ठमंतरिक्षस्थाः शरवर्षैरवाकिरन् ॥ १५ ॥
तेषां तु शरवर्षाणि सव्यसाची परंतपः ।
अस्त्रैः संवार्य तेजस्वी गंधर्वान्प्रत्यविध्यत ॥ १६ ॥
स्थूणाकर्णेन्द्रजालं च सौरं चापि तथाऽर्जुनः ।
आग्नेयं चापि सौम्यं च ससर्ज कुरुनंदनः ॥ १७ ॥
ते दह्यमाना गंधर्वाः कुंतीपुत्रस्य सायकैः ।
दैतेया इव शक्रेण विषादमगमन्परम् ॥ १८ ॥
ऊर्ध्वमाक्रममाणाश्च शरजालेन वारिताः ।
विसर्पमाणा भल्लैश्च वार्यंते सव्यसाचिना ॥ १९ ॥
गंधर्वांस्त्रासितान्दृष्ट्वा कुंतीपुत्रेण भारत ।
चित्रसेनो गदां गृह्य सव्यसाचिनमाद्रवत् ॥ २० ॥

दिव्य अस्त्रों के जाननेवाले अर्जुन ने उन अस्त्र-शस्त्रों को नष्ट कर दिया। उसके पश्चात् वे भल्ल नाम के बाणों से गन्धर्वों के अङ्ग काटने लगे ॥१०।१३॥

किसी का सिर, किसी के पाँव, किसी के हाथ, कट-कटकर आकाश से गिरने लगे। ऐसा जान पड़ता था, मानों पत्थरों की वर्षा हो रही है। यह देखकर गन्धर्व लोग बहुत भयभीत हुए। महात्मा अर्जुन आकाशचारी गन्धर्वों को मार रहे थे, और वे भी पाण्डवों के ऊपर लगातार बाणों की वर्षा कर रहे थे। शत्रु-दमन अर्जुन ने गन्धर्वों के अस्त्रों को व्यर्थ कर दिया और फिर अपने अस्त्रों से उन्हें घायल करना आरम्भ किया। महावीर अर्जुन स्थूणाकर्ण, इन्द्रजाल, सौर, आग्नेय और सौम्य आदि तरह-तरह के अस्त्र चलाने लगे ॥१४।१७॥

इन्द्र के मारे हुए दानवों के समान, अर्जुन के बाणों की अग्नि में भस्म होते हुए गन्धर्व बहुत ही खिन्न हुए। गन्धर्व लोग जब ऊपर आकाश में जाकर आक्रमण करना चाहते थे तब अर्जुन बाणों की वर्षा से उन्हें रोक देते थे। और, जब वे नीचे पृथ्वी पर आकर आक्रमण करने पर उतारू होते थे तब भल्ल अस्त्र से उनकी गति रोक दी जाती थी। हे भरतश्रेष्ठ! गन्धर्वराज चित्रसेन ने जब देखा कि अर्जुन के घोर युद्ध से गन्धर्व लोग भयभीत हो गये हैं, तब वह कुपित होकर लोहे की भारी गदा लेकर अर्जुन की

तस्याऽभिपततस्तूर्णं गदाहस्तस्य संयुगे ।
गदां सर्वायसीं पार्थः शरैश्चिच्छेद सप्तधा ॥ २१ ॥
स गदां बहुधा दृष्ट्वा कृत्तां बाणैस्तरस्विना ।
संवृत्य विद्ययाऽऽत्मानं योधयामास पांडवम् ॥ २२ ॥
अस्त्राणि तस्य दिव्यानि संप्रयुक्तानि सर्वशः ।
दिव्यैरस्त्रैस्तदा वीरः पर्यवारयदर्जुनः ॥ २३ ॥
स वार्यमाणस्तैरस्त्रैरर्जुनेन महात्मना ।
गंधर्वराजो बलवान्मायया‍ऽन्तर्हितस्तदा ॥ २४ ॥
अंतर्हितं तमालक्ष्य प्रहरंतमथाऽर्जुनः ।
ताडयामास खचरैर्दिव्यास्त्रप्रतिमंत्रितैः ॥ २५ ॥
अंतर्धानवधं चाऽस्य चक्रे क्रुद्धोऽर्जुनस्तदा ।
शब्दवेधं समाश्रित्य बहुरूपो धनंजयः ॥ २६ ॥
स वध्यमानस्तैरस्त्रैरर्जुनेन महात्मना ।
ततोऽस्य दर्शयामास तदाऽऽत्मानं प्रियः सखा ॥ २७ ॥
चित्रसेनस्ततोवाच सखायं युधि विद्धि माम् ।
चित्रसेनमथाऽऽलक्ष्य सखायं युधि दुर्बलम् ॥ २८ ॥

ओर दौड़ा। अर्जुन ने अपने बाणों से, उसके हाथ में ही, उस लोहे की गदा के सात टुकड़े कर डाले ॥१८।२१॥

पराक्रमी अर्जुन ने जब गदा के कई टुकड़े कर डाले, तब चित्रसेन अदर्शन-विद्या के प्रभाव से गुप्त हो गया, और इस प्रकार छिपकर अर्जुन से घोर युद्ध करने लगा। अर्जुनने चित्रसेन के चलायेहुए सब दिव्य अस्त्रों को अपने दिव्य अस्त्रों से बेकाम कर दिया। इसके पश्चात् वे फिर गन्धर्वराज के ऊपर अपने दिव्य अस्त्र चलाने लगे। पर गन्धर्वराजके अन्तर्द्धान रहने के कारण उस पर दिव्य अस्त्रों का असर नहीं हुआ। अर्जुन के प्रहार निष्फल हो जाते थे और गन्धर्व के प्रहार निशाने पर बैठते थे। मायाबल से छिपे हुए गन्धर्व-राज को मारने के लिए अर्जुन ने ऐसे दिव्य अस्त्र का प्रयोग किया कि उसकी माया नष्ट हो गई २२।२५

क्रोधित होकर अर्जुन शब्द-वेधी बाण चलाकर गन्धर्वराज को मारने लगे। इस प्रकार अर्जुन के द्वारा मारे जाने पर अर्जुन का प्रिय मित्र चित्रसेन प्रकट होकर उनके सामने आया। उसने कहा—हे अर्जुन! मैं तुम्हारा मित्र चित्रसेन हूँ। पाण्डव अर्जुन अपने प्रिय मित्र चित्रसेन को देख बहुत विस्मित हुए। उन्होंने अपने मित्र को पीड़ित देख-कर वह दिव्य अस्त्र लौटा लिया। अर्जुनको अस्त्र का प्रतिसंहार करते देखकर अन्य पाण्डवों ने भी

संजहाराऽस्त्रमथ तत्प्रसृष्टं पांडवर्षभः ।
दृष्ट्वा तु पांडवाः सर्वे संहृतास्त्रं धनंजयम् ॥ २९ ॥
संजह्रुः प्रद्रुतानश्वान्शरवेगान्धनूंषि च ।
चित्रसेनश्च भीमश्च सव्यसाची यमावपि ।
पृष्ट्वा कौशलमन्योन्यं रथेष्वेवाऽवतस्थिरे ॥ ३० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि घोषयात्रापर्वणि गन्धर्वपराभवे पञ्चचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्याय

अस्त्र-शस्त्र रखकर, धनुष उतारकर, युद्ध बन्द कर दिया। इसके पश्चात् रथों पर बैठे हुए अर्जुन, भीम, नकुल, सहदेव और चित्रसेन ने परस्पर कुशल-प्रश्न किया ॥२९।३०॥

वनपर्व का दो सौ पैंतालीस अध्याय समाप्त हुआ ॥२४५॥

अथ षट्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्याय ॥२४६॥

वैशम्पायन उवाच—ततोऽर्जुनश्चित्रसेनं प्रहसन्निदमब्रवीत् ।
मध्ये गंधर्वसैन्यानां महेष्वासो महाद्युतिः ॥ १ ॥
किं ते व्यवसितं वीर कौरवाणां विनिग्रहे ।
किमर्थं च सदारोऽयं निगृहीतः सुयोधनः ॥ २ ॥
चित्रसेन उवाच—विदितोऽयमभिप्रायस्तत्रस्थेन दुरात्मनः ।
दुर्योधनस्य पापस्य कर्णस्य च धनंजय ॥ ३ ॥
वनस्थान्भवतो ज्ञात्वा क्लिश्यमानाननाथवत् ।
समस्थो विषमस्थांस्तान्द्रक्ष्यामीत्यनवस्थितान् ॥ ४ ॥
इमेऽवहसितुं प्राप्ता द्रौपदीं च यशस्विनीम् ।
ज्ञात्वा चिकीर्षितं चैषां मामुवाच सुरेश्वरः ॥ ५ ॥

दो सौ छियालीस अध्याय ॥२४६॥

वैशम्पायन ने कहा—हे महाराज ! इसके पश्चात् परमतेजस्वी महाधनुर्द्धर अर्जुन ने उस गन्धर्व सेना के बीच में हँसकर मित्र चित्रसेन से पूछा—हे वीर ! तुमने किसलिए इन कौरवों को इस तरह पराप्त किया ? स्त्रियों सहित दुर्योधन को यों पकड़ने और नीचा दिखाने का क्या अभिप्राय है ? ॥१।२॥

चित्रसेन ने कहा—हे अर्जुन ! इन्द्र को अपने लोक में ही दुर्योधन और दुष्ट कर्ण का विचार मालूम हो गया था। पापी दुर्योधन, यह जानकर कि तुम लोग वन में अपने अयोग्य क्लेश भोग रहे हो, इस दुर्दशा में तुम्हें देखने आया था। ये सब कौरव यशस्विनी द्रौपदी को दुर्दशा में देखने और

गच्छ दुर्योधनं बध्वा सहामात्यमिहाऽऽनय ।
धनंजयश्च ते रक्ष्यः सह भ्रातृभिराहवे ॥ ६ ॥
स च प्रियः सखा तुभ्यं शिष्यश्च तव पांडवः ।
वचनाद्देवराजस्य ततोऽस्मीहाऽऽगतो द्रुतम् ॥ ७ ॥
अयं दुरात्मा बद्धश्च गमिष्यामि सुरालयम् ।
नेष्याम्येनं दुरात्मानं पाकशासनशासनात् ॥ ८ ॥

अर्जुन उवाच—उत्सृज्यतां चित्रसेन भ्राताऽस्माकं सुयोधनः ।
धर्मराजस्य संदेशान्मम चेदिच्छसि प्रियम् ॥ ९ ॥

चित्रसेन उवाच—पापोऽयं नित्यसंदुष्टो न विमोक्षणमर्हति ।
प्रलब्धा धर्मराजस्य कृष्णायाश्च धनंजय ॥ १० ॥
नेदं चिकीर्षितं तस्य कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
जानाति धर्मराजो हि श्रुत्वा कुरु यथेच्छसि ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच—ते सर्व एव राजानमभिजग्मुर्युधिष्ठिरम् ।
अभिगम्य च तत्सर्वं शशंसुस्तस्य चेष्टितम् ॥ १२ ॥
अजातशत्रुस्तच्छ्रुत्वा गंधर्वस्य वचस्तदा ।
मोक्षयामास तान्सर्वान्गंधर्वान्प्रशशंस च ॥ १३ ॥

हँसने आये थे। इन लोगों की इस बुरी प्रवृत्ति को जानकर इन्द्र ने मुझसे कहा—जाओ, मन्त्रियों और सेवकों-सहित दुष्ट दुर्योधन को यहाँ मेरे पास पकड़ लाओ। युद्ध में भाइयों-सहित अर्जुन की रक्षा करना। अर्जुन तुम्हारे सखा और शिष्य हैं। हे अर्जुन! इन्द्र की इसी आज्ञा से मैं यहाँ आया था। अब मैं इस दुरात्मा दुर्योधन को क़ैद कर चुका हूँ। इसलिए इन्द्र की आज्ञा के अनुसार इसे उनके पास ले जाऊँगा ॥३।८॥

अर्जुन ने कहा—हे मित्र चित्रसेन! यदि तुम मेरा प्रिय करना चाहते हो तो धर्मराज की आज्ञा के अनुसार हमारे भाई दुर्योधन को छोड़ दो। चित्रसेन ने कहा—हे अर्जुन! इस घमण्डी पापी को छोड़ देना उचित नहीं है। इसने धर्मराज को धोखा दिया और द्रौपदी का अपमान किया था। इसके विचार सदा बुरे ही रहते हैं। महाराज युधिष्ठिर इसके बुरे विचारों और चेष्टाओं का हाल नहीं जानते। जो कुछ हाल था वह तुमने सुन लिया। अब इसे धर्मराज के पास ले चलो; वे सब हाल सुनकर जो कुछ कहें और तुम्हारी जो इच्छा हो वही करो ॥९।११॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजेन्द्र! अब सब लोग युधिष्ठिर के पास गये। वहाँ पहुँचकर चित्रसेन और अर्जुन आदि ने दुर्योधन के बुरे विचार का

दिष्ट्या भवद्भिर्बलिभिः शक्तैः सर्वैर्न हिंसितः ।
दुर्वृत्तो धार्त्तराष्ट्रोऽयं सामात्यज्ञातिबांधवः ॥ १४ ॥
उपकारो महांस्तात कृतोऽयं मम खेचरैः ।
कुलं न परिभूतं मे मोक्षणेऽस्य दुरात्मनः ॥ १५ ॥
आज्ञापयध्वमिष्टानि प्रीयामो दर्शनेन वः ।
प्राप्य सर्वानभिप्रायांस्ततो व्रजत मा चिरम् ॥ १६ ॥
अनुज्ञातास्तु गंधर्वाः पांडुपुत्रेण धीमता ।
सहाऽप्सरोभिः संहृष्टाश्चित्रसेनमुखा ययुः ॥ १७ ॥
देवराडपि गंधर्वान्मृतांस्तान्समजीवयत् ।
दिव्येनाऽमृतवर्षेण ये हताः कौरवैर्युधि ॥ १८ ॥
ज्ञातींस्तानवमुच्याऽथ राजदारांश्च सर्वशः ।
कृत्वा च दुष्करं कर्म प्रीतियुक्ताश्च पांडवाः ॥ १९ ॥
सस्त्रीकुमारैः कुरुभिः पूज्यमाना महारथाः ।
बभ्राजिरे महात्मानः क्रतुमध्ये यथाऽग्नयः ॥ २० ॥
ततो दुर्योधनं मुक्तं भ्रातृभिः सहितस्तदा ।

सब वृत्तान्त उनसे कहा । अजातशत्रु धर्मराज ने चित्रसेन के मुँह से दुर्योधन की करनी का हाल सुनकर भी उसको, भाइयों और रानियों-समेत, छुड़वा दिया । फिर गन्धर्वों की बहुत प्रशंसा करके धर्मराज ने कहा—हे गन्धर्व ! तुमने बलवान् होकर भी मन्त्री और बान्धवों-सहित दुराचारी दुर्योधन को मार नहीं डाला, यह बड़े ही भाग्य की बात है । हे आकाशचारी गन्धर्वराज ! तुमने यह मेरा बड़ा उपकार किया । इस दुरात्मा दुर्योधन के छूट जाने से मेरा कुल, अपमान और कलङ्क से, बच गया । हे गन्धर्वो ! तुम्हें देखकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ । बतलाओ, मैं तुम्हारी कौन सी इच्छा पूरी करूँ ? अपनी इच्छा पूरी कराकर तुम लोग शीघ्र अपने स्थान को जाओ ॥१२।१६॥

इस प्रकार युधिष्ठिर से बिदा होकर चित्रसेन आदि गन्धर्व लोग, अप्सराओं को साथ लेकर, प्रसन्नता-पूर्वक अपने लोक को गये । कौरवों और पाण्डवों से लड़कर जो गन्धर्व मरे थे उन्हें इन्द्र ने, अमृत की वर्षा करके, जिला दिया । पाण्डव लोग इस प्रकार अपने भाइयों को और उनकी स्त्रियों को शत्रुओं के हाथ से छुड़ाकर, दुष्कर कर्म करके, बहुत प्रसन्न हुए । स्त्री-पुत्र आदि के साथ दुर्योधन प्रभृति कौरवों ने पाण्डवों का सत्कार किया । उस समय यज्ञ-वेदी में स्थित अग्नि के समान पाँचों पाण्डव शोभायमान हुए ॥१७।२०॥

भाइयों-सहित छुटकारा पाये हुए दुर्योधन से

युधिष्ठिरस्तु प्रणयादिदं वचनमब्रवीत् ॥ २१ ॥
मा स्म तात पुनः कार्षीरीदृशं साहसं क्वचित् ।
न हि साहसकर्तारः सुखमेधंति भारत ॥ २२ ॥
स्वस्तिमान्सहितः सर्वैर्भ्रातृभिः कुरुनंदन ।
गृहान्व्रज यथाकामं वैमनस्यं च मा कृथाः ॥ २३ ॥
वैशम्पायन उवाच—पांडवेनाऽभ्यनुज्ञातो राजा दुर्योधनस्तदा ।
अभिवाद्य धर्मपुत्रं गतेन्द्रियइवाऽऽतुरः ॥ २४ ॥
विदीर्यमाणो व्रीडावाञ्जगाम नगरं प्रति ।
तस्मिन्गते कौरव्येये कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ २५ ॥
भ्रातृभिः सहितो वीरः पूज्यमानो द्विजातिभिः ।
तपोधनैश्च तैः सर्वैर्वृतः शक्र इवाऽमरैः ।
तथा द्वैतवने तस्मिन्विजहार मुदा युतः ॥ २६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनमोक्षणे षट्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

महाराज युधिष्ठिर ने स्नेहपूर्वक कहा—हे भाई ! अब फिर कभी ऐसा साहस न करना । साहस के काम करनेवालों को न कभी सुख मिलता है और न उनका अभ्युदय होता है । हे कुरुनन्दन ! अपने भाइयों के साथ सकुशल घर को जाओ । मन में किसी प्रकार का खेद न करना ॥२१।२३॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! युधिष्ठिर के ये वचन सुनकर दुर्योधन बहुत ही लज्जित हुआ । उस समय वह मुर्दा सा जान पड़ता था । वह युधिष्ठिर को प्रणाम करके वहां से अपने नगर की ओर चला । जाते समय लज्जा और क्षोभ के मारे उसकी छाती फटी जा रही थी । कौरव लोग चले गये । युधिष्ठिर भी, देवताओं सहित इन्द्र की तरह, ब्राह्मणों और भाइयों के साथ आनन्द-पूर्वक उसी वन में रहने लगे । तपोधन मुनिगण उनकी प्रशंसा किया करते थे ॥२४।२६॥

वनपर्व का दो सौ छियालीस अध्याय समाप्त हुआ ॥२४६॥

अथ सप्तचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२४७॥

जनमेजय उवाच—शत्रुभिर्जितवद्धस्य पांडवैश्च महात्मभिः ।
मोक्षितस्य युधा पश्चान्मानिनः सुदुरात्मनः ॥ १ ॥

दो सौ सैंतालीस अध्याय ॥२४७॥

राजा जनमेजय ने कहा—हे तपोधन ! दुरात्मा दुर्योधन सदा बढ़-चढ़कर बातें करनेवाला, घमण्डी और मानी था । वह सदा पौरुष और उदारता में अपने को अधिक मानकर पाण्डवों को तुच्छ समझता था।

कत्थनस्याऽवलिप्तस्य गर्वितस्य च नित्यशः ।
सदा च पौरुषौदार्यैः पांडवानवमन्यतः ॥ २ ॥
दुर्योधनस्य पापस्य नित्याऽहंकारवादिनः ।
प्रवेशो हास्तिनपुरे दुष्करः प्रतिभाति मे ॥ ३ ॥
तस्य लज्जान्वितस्यैव शोकव्याकुलचेतसः ।
प्रवेशं विस्तरेण त्वं वैशंपायन कीर्त्तय ॥ ४ ॥
वैशम्पायन उवाच—धर्मराजनिसृष्टस्तु धार्त्तराष्ट्रः सुयोधनः ।
लज्जयाऽधोमुखः सीदन्नुपासर्पत्सुदुःखितः ॥ ५ ॥
स्वपुरं प्रययौ राजा चतुरंगबलानुगः ।
शोकोपहतया बुद्ध्या चिंतयानः पराभवम् ॥ ६ ॥
विमुच्य पथि यानानि देशे सुयवसोदके ।
सन्निविष्टः शुभे रम्ये भूमिभागे यथेप्सितम् ॥ ७ ॥
हस्त्यश्वरथपादातं यथास्थानं न्यवेशयत् ।
अथोपविष्टं राजानं पर्यंके ज्वलनप्रभे ॥ ८ ॥
उपप्लुतं यथा सोमं राहुणा रात्रिसंक्षये ।
उपागम्याऽब्रवीत्कर्णो दुर्योधनमिदं तदा ॥ ९ ॥
दिष्ट्या जीवसि गांधारे दिष्ट्या नः संगमः पुनः ।

वही दुर्योधन गन्धर्वों से युद्ध करके हार गया; शत्रु गन्धर्वों ने उसे कैद कर लिया। अन्त को पाण्डवों ने ही उसे शत्रुओं के हाथ से छुड़ाया। ऐसी दशा में लज्जा और शोक ने उसको व्याकुल कर दिया होगा। मुझे तो जान पड़ता है कि हस्तिनापुर में प्रवेश करना उसके लिए कठिन हो गया होगा। दुर्योधन किस तरह हस्तिनापुर में गया, यह वृत्तान्त कृपा करके विस्तर के साथ कहिए ॥१।४॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजेन्द्र! दुर्योधन जब पाण्डवों से बिदा होकर अपने नगर की ओर चला तब उसका बहुत बुरा हाल था। लज्जा और दुःख के मारे वह सिर झुकाये हुए था। शोक से विह्वल होकर वह अपने उस असह्य पराभव के बारे में सोचता जा रहा था। चतुरङ्गिणी सेना उसके साथ जा रही थी। राह में एक सुन्दर स्थान पर वह ठहर गया। वहाँ हाथी-घोड़े आदि पशुओं के लिए चारे का सुभीता था। जल आदि का भी अच्छा प्रबन्ध था। हाथी, घोड़े, रथ आदि सब खोल दिये गये। अग्नि के समान चमकीले पलँग पर दुर्योधन भी बैठकर विश्राम करने लगा। इसी समय वहाँ पर कर्ण भी पहुँचा। उसने, प्रातःकाल राहु के ग्रसे हुए चन्द्रमा के समान, प्रभा-हीन दुर्योधन से कहा-

दिष्ट्या त्वया जिताश्चैव गंधर्वाः कामरूपिणः ॥ १० ॥
दिष्ट्या समग्रान्पश्यामि भ्रातॄंस्ते कुरुनंदन ।
विजिगीषून्रणे युक्तान्निर्जितारीन्महारथान् ॥ ११ ॥
अहं त्वभिद्रुतः सर्वैर्गंधर्वैः पश्यतस्तव ।
नाऽशक्नुवं स्थापयितुं दीर्यमाणां च वाहिनीम् ॥ १२ ॥
शरक्षतांगश्च भृशं व्यपयातोऽभिपीडितः ।
इदं त्वत्यद्भुतं मन्ये यद्युष्मानिह भारत ॥ १३ ॥
अरिष्टानक्षतांश्चापि सदारबलवाहनान् ।
विमुक्तान्संप्रपश्यामि युद्धात्तस्मादमानुषात् ॥ १४ ॥
नैतस्य कर्ता लोकेऽस्मिन्पुमान्विद्यति भारत ।
यत्कृतं ते महाराज सह भ्रातृभिराहवे ॥ १५ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तस्तु कर्णेन राजा दुर्योधनस्तदा ।
उवाच चांऽगराजानं बाष्पगद्गदया गिरा ॥ १६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि घोषयात्रापर्वणि कर्णदुर्योधनसंवादे सप्तचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

हे गान्धारी के पुत्र ! बड़े भाग्य की बात है कि तुम जीते जागते हो और मेरी तुमसे भेंट फिर हुई ॥१०॥ बड़ी बात हुई जो तुमने चाहे जैसा रूप रख लेनेवाले गन्धर्वों को जीत लिया। यह भी सौभाग्य की बात है कि तुम्हारे महारथी, विजय की इच्छा रखनेवाले भाई लोग भी शत्रुओं को जीतकर सकुशल देख पड़ते हैं। हे कौरव ! मुझे तो तुम्हारे सामने ही गन्धर्वों ने ऐसा तङ्ग किया कि मैं अपनी भागती हुई सेना को रोक नहीं सका। अन्त को गन्धर्वों के बाणों से अत्यन्त घायल होकर मैं वहां से भाग खड़ा हुआ। किन्तु हे भरतकुलतिलक ! मुझे यह बहुत ही आश्चर्य हो रहा है कि तुम इस अमानुष युद्ध से स्त्रियों और सैनिकों सहित बच आये; किसी के शरीर में तनिक सा घाव तक नहीं लगा ! हे राजेन्द्र ! तुमने और तुम्हारे भाइयों ने युद्धभूमि में बड़ा अद्भुत काम किया है। इससे जान पड़ता है कि पृथ्वीमण्डल में तुम्हारे समान कोई योद्धा दूसरा नहीं है। हे महाराज ! अङ्गराज कर्ण के ये वचन सुनकर राजा दुर्योधन ने आँखों में आँसू भरकर गद्गद स्वर से उत्तर दिया ॥११-१६॥

वनपर्व का दो सौ सैंतालीस अध्याय समाप्त हुआ ॥२४७॥

अथ अष्टचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२४८॥

दुर्योधन उवाच—अजानतस्ते राधेय नाऽभ्यसूयाम्यहं वचः ।
जानासि त्वं जिताञ्शत्रून्गन्धर्वांस्तेजसा मया ॥ १ ॥

आयोधितास्तु गन्धर्वाः सुचिरं सोदरैर्मम ।
मया सह महाबाहो कृतश्चोभयतः क्षयः ॥ २ ॥
मायाधिकास्त्वयुध्यंत यदा शूरा वियद्गताः ।
तदा नो न समं युद्धमभवत्खेचरैः सह ॥ ३ ॥
पराजयं च प्राप्ताः स्मो रणे बंधनमेव च ।
सभृत्यामात्यपुत्राश्च सदारबलवाहनाः ॥ ४ ॥
उच्चैराकाशमार्गेण ह्रियामस्तैः सुदुःखिताः ।
अथ नः सैनिकाः केचिदमात्याश्च महारथाः ॥ ५ ॥
उपगम्याऽब्रुवन्दीनाः पाण्डवांश्च रणप्रदान् ।
एष दुर्योधनो राजा धार्तराष्ट्रः सहानुजः ॥ ६ ॥
सामात्यदारो ह्रियते गन्धर्वैर्दिवमाश्रितैः ।
तं मोक्षयत भद्रं वः सहदारं नराधिपम् ॥ ७ ॥
परामर्शो माऽभविष्यत्कुरुदारेषु सर्वशः ।
एवमुक्ते तु धर्मात्मा ज्येष्ठः पांडुसुतस्तदा ॥ ८ ॥
प्रसाद्य पाण्डवान्सर्वानाज्ञापयत मोक्षणे ।
अथाऽगम्य तमुद्देशं पाण्डवाः पुरुषर्षभाः ॥ ९ ॥

दो सौ अड़तालीस अध्याय ॥२४८॥

दुर्योधन ने कहा—हे कर्ण ! तुम सब हाल जानते नहीं हो, इसी से मैं तुम्हारे यों कहने से बुरा नहीं मानता । तुम समझते हो कि मैंने अपने तेज और बाहुबल से गन्धर्वों को हराया है, किन्तु वास्तव में यह बात नहीं है । अपने भाइयों सहित मैं गन्धर्वों से बहुत देर तक युद्ध करता रहा। उस युद्ध में दोनों ओर के बहुत से वीर मारे गये। अन्त को जब मायावी शूर गन्धर्व लोग आकाश में जाकर युद्ध करने लगे तब हम उनसे युद्ध न कर सके। फिर क्या था, गन्धर्व मेरे सेवक, मन्त्री, भाई, योद्धा आदि को पकड़कर, हम लोगों को बांधकर, आकाश-मार्ग से ले चले ॥१।४॥

इस दशा में मुझे देखकर मेरे कुछ मन्त्री और सिपाही दीन भाव से रणशूर पाण्डवों के पास पहुंचे। वहा जाकर उन्होंने कहा—हे वीरो ! आकाशचारी गन्धर्व लोग रनिवास सहित राजा दुर्योधन को और उनके भाइयों को कैद करके लिये जाते है। आप लोग तुरन्त जाकर दुर्योधन को तथा उनके मन्त्री, भाई और स्त्री आदि को गन्धर्वों के हाथ से छुड़ाइए। इससे आप का भला होगा । आप लोगों का सब तरह यही कर्तव्य है कि कुरुवंश की स्त्रियों का अपमान न होने पावे । यह हाल सुनकर धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने

सांत्वपूर्वमयाचंत शक्ताः संतो महारथाः ।
यदा चाऽस्मान्न मुमुचुर्गन्धर्वाः सांत्विता अपि ॥ १० ॥
ततोऽर्जुनश्च भीमश्च यमजौ च बलोत्कटौ ।
मुमुचुः शरवर्षाणि गन्धर्वान्प्रत्यनेकशः ॥ ११ ॥
अथ सर्वे रणं मुक्त्वा प्रयाताः खेचरा दिवम् ।
अस्मानेवाऽभिकर्षंतो दीनान्मुदितमानसाः ॥ १२ ॥
ततः समन्तात्पश्यामः शरजालेन वेष्टितम् ।
अमानुषाणि चाऽस्त्राणि प्रमुंचंतं धनंजयम् ॥ १३ ॥
समावृता दिशो दृष्ट्वा पाण्डवेन शितैः शरैः ।
धनञ्जयसखाऽऽत्मानं दर्शयामास वै तदा ॥ १४ ॥
चित्रसेनः पाण्डवेन समाश्लिष्य परस्परम् ।
कुशलं परिपप्रच्छ तैः पृष्टश्चाऽप्यनामयम् ॥ १५ ॥
ते समेत्य तथाऽन्योन्यं सन्नाहान्विप्रमुच्य च ।
एकीभूतास्ततो वीरा गन्धर्वाः सह पाण्डवैः ।
अपूजयेतामन्योन्यं चित्रसेनधनंजयौ ॥ १६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनवाक्ये अष्टचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

अपने भाइयों को, शान्त करके, हमें छुड़ाने के लिए जाने की आज्ञा दी ॥५।९॥

पुरुषश्रेष्ठ पाण्डव गन्धर्वों के पास गये। उन लोगों को हराने में समर्थ होकर भी पाण्डवों ने उनसे समझाकर शान्तिपूर्वक हमें छोड़ देने का प्रस्ताव किया। किन्तु उसके लिए गन्धर्वों को उद्यत न देखकर महावीर अर्जुन, भीमसेन, नकुल और सहदेव उन पर असंख्य तीक्ष्ण बाणों की वर्षा करने लगे। तब वे आकाशचारी गन्धर्व लड़ना छोड़कर हमें खींचते हुए आकाश पर चले गये। उस समय हमने देखा कि महावीर अर्जुन पर चारों ओर से असंख्य बाण बरसाये जा रहे हैं। पर अर्जुन तनिक भी व्याकुल नहीं हुए वे भी चारों ओर बाण चलाने लगे। पाण्डवों के बाण चारों ओर छा गये। तब चित्रसेन अर्जुन के सामने आ गया। दोनों वीर परस्पर गले मिले ; दोनों ने परस्पर कुशल पूछी। अन्य पाण्डवों ने भी चित्रसेन से मिलकर उनकी कुशल पूछी। गन्धर्व और पाण्डव इस तरह युद्ध करना छोड़ परस्पर मिलकर एक दूसरे का आदर करने लगे ॥१०।१६॥

वनपर्व का दो सौ अड़तालीस अध्याय समाप्त हुआ ॥२४८॥

अथ ऊनपचाशदधिकद्विशततमोऽध्याय ॥२४९॥

दुर्योधन उवाच—चित्रसेनं समागम्य प्रहसन्नर्जुनस्तदा ।
इदं वचनमक्लीवमब्रवीत्परवीरहा ॥ १ ॥
भ्रातॄनर्हसि मे वीर मोक्तुं गन्धर्वसत्तम ।
अनर्हं धर्षणा ह्यीमे जीवमानेषु पाण्डुषु ॥ २ ॥
एवमुक्तस्तु गन्धर्वः पाण्डवेन महात्मना ।
उवाच यत्कर्ण वयं मन्त्रयन्तो विनिर्गताः ॥ ३ ॥
द्रष्टारः स्म सुखाद्धीनान्सदारान्पाण्डवानिति ।
तस्मिन्नुच्चार्यमाणे तु गन्धर्वेण वचस्तथा ॥ ४ ॥
भूमेर्विवरमन्वैच्छं प्रवेष्टुं व्रीडयान्वितः ।
युधिष्ठिरमथाऽऽगम्य गन्धर्वाः सह पाण्डवैः ॥ ५ ॥
अस्मद्दुर्मन्त्रितं तस्मै बद्धांश्चाऽस्मान्न्यवेदयन् ।
स्त्रीसमक्षमहं दीनो बद्धः शत्रुवशं गतः ॥ ६ ॥
युधिष्ठिरस्योपहृतः किं नु दुःखमतः परम् ।
ये मे निराकृता नित्यं रिपुर्येषामहं सदा ॥ ७ ॥
तैर्मोक्षितोऽहं दुर्बुद्धिर्दत्तं तैरेव जीवितम् ।
प्राप्तः स्यां यद्यहं वीर वधं तस्मिन्महारणे ॥ ८ ॥

दो सौ उनचास अध्याय ॥२४९॥

दुर्योधन ने कहा—इसके पश्चात शत्रुदमन अर्जुन ने चित्रसेन से मिलकर हँसते हुए कहा कि हे मित्र, हे गन्धर्वश्रेष्ठ ! आप हमारे भाइयों को छोड़ दीजिए। पाण्डवों के जीते रहते कौरवों का ऐसा अपमान करना अनुचित है। महात्मा अर्जुन के यों कहने पर, हमारा जो कुछ निश्चय था, सो सब गन्धर्वराज ने कह दिया [कि हम लोग पाण्डवों की दुर्दशा देखने और उन्हें कुढ़ाने द्वैतवन को गये थे] ॥१।४॥

तब मैं बहुत ही लज्जित हुआ। मैं मन में कहने लगा कि धरती फट जाय और मैं उसमें समा जाऊँ। इसके पश्चात् गन्धर्व लोग पाण्डवों के साथ धर्मराज युधिष्ठिर के पास गये। वहाँ जाकर उन्होंने मेरा निश्चय और मेरे कैद किये जाने का सब वृत्तान्त आदि से अन्त तक कह सुनाया। मुझे स्त्री, भाई, और मन्त्रियों के आगे दीन भाव से बँधकर पाण्डवों के आगे, युधिष्ठिर की भेंट बनकर, जाना पड़ा; इससे बढ़कर दुःख और क्या हो सकता है? मैं सदा पाण्डवों का अनादर करता रहा हूँ, वे मेरे परम शत्रु हैं। उन्हीं ने मुझे शत्रु के हाथ से छुड़ाया और जीवन दान दिया। हे वीर ! इस तरह अपमान

श्रेयस्तत्र भविता मह्यं नैवंभूतस्य जीवितम् ।
अभूद्यशः पृथिव्यां मे ख्यातं गन्धर्वतो वधात् ॥ ९ ॥
प्राप्ताश्च पुण्यलोकाः स्युर्महेन्द्रसदनेऽक्षयाः ।
यत्त्वद्य मे व्यवसितं तच्छृणुध्वं नरर्षभाः ॥ १० ॥
इह प्रायमुपासिष्ये यूयं व्रजत वै गृहान् ।
भ्रातरश्चैव मे सर्वे यान्त्वद्य स्वपुरं प्रति ॥ ११ ॥
कर्णप्रभृतयश्चैव सुहृदो बान्धवाश्च ये ।
दुःशासनं पुरस्कृत्य प्रयान्त्वद्य पुरं प्रति ॥ १२ ॥
नह्यहं संप्रयास्यामि पुरं शत्रुनिराकृतः ।
शत्रुमानापहो भूत्वा सुहृदां मानकृत्तथा ॥ १३ ॥
स सुहृच्छोकदो जातः शत्रूणां हर्षवर्धनः ।
वारणाह्वयमासाद्य किं वक्ष्यामि जनाधिपम् ॥ १४ ॥
भीष्मद्रोणौ कृपद्रौणी विदुरः संजयस्तथा ।
वाह्लीकः सौमदत्तिश्च ये चाऽन्ये वृद्धसम्मताः ॥ १५ ॥
ब्राह्मणाः श्रेणिमुख्याश्च तथोदासीनवृत्तयः ।
किं मां वक्ष्यन्ति किं चापि प्रतिवक्ष्यामि तानहम् ॥ १६ ॥
रिपूणां शिरसि स्थित्वा तथा विक्रम्य चोरसि ।

पहले मैं तो गन्धर्वों से युद्ध करके वहीं युद्ध में मर जाना ही मेरे लिए श्रेष्ठ था। वहाँ मर जाने से पृथ्वी पर सदा के लिए मैं यश छोड़ जाता और परलोक में महेन्द्र के पवित्र लोक में जाकर अक्षय पुण्य-फल भोगता ॥९।१०॥

जो हो, अब मेरा जो निश्चय है सो सुनो। दुःशासन आदि मेरे भाई, और कर्ण आदि मेरे सब शुभचिन्तक मित्र, तुम सब लोग राजधानी को जाओ। मैं यहाँ अन्न-जल छोड़कर प्रायोपवेशन करूँगा। शत्रु से यों अपमानित होकर अब मैं राजधानी में पाँव न रक्खूँगा—वहाँ मुँह न दिखाऊँगा। पहले मैं शत्रुओं का मान घटाकर मित्रों का मान बढ़ाता था। इस समय मित्रों का शोक और शत्रुओं का आनन्द बढ़ानेवाला बनकर हस्तिनापुर में जाकर महाराज से क्या कहूँगा? ॥११।१४॥

महात्मा भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विदुर, सञ्जय, बाह्लीक और सोमदत्त के पुत्र आदि बड़े बूढ़े लोग, ब्राह्मण लोग, सब प्रजा और अन्य लोग मुझे क्या कहेंगे! मैं इन लोगों को क्या उत्तर दूँगा? मैं शत्रुओं की छाती पर लात दे

आत्मदोषात्परिभ्रष्टः कथं वक्ष्यामि तानहम् ॥ १७ ॥
दुर्विनीताः श्रियं प्राप्य विद्यामैश्वर्यमेव च ।
तिष्ठन्ति न चिरं भद्रे यथाऽहं मदगर्वितः ॥ १८ ॥
अहो नाऽर्हमिदं कर्म कष्टं दुश्चरितं कृतम् ।
स्वयं दुर्बुद्धिना मोहाद्येन प्राप्तोऽस्मि संशयम् ॥ १९ ॥
तस्मात्प्रायमुपासिष्ये न हि शक्ष्यामि जीवितुम् ।
चेतयानो हि को जीवेत्कृच्छ्राच्छत्रुभिरुच्छ्रितः ॥ २० ॥
शत्रुभिश्चाऽवहासितो मानी पौरुषवर्जितः ।
पाण्डवैर्विक्रमाढ्यैश्च सावमानमवेक्षितः ॥ २१ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवं चिंतापरिगतो दुःशासनमथाऽब्रवीत् ।
दुःशासन निबोधेदं वचनं मम भारत ॥ २२ ॥
प्रतीच्छ त्वं मया दत्तमभिषेकं नृपो भव ।
प्रशाधि पृथिवीं स्फीतां कर्णसौबलपालिताम् ॥ २३ ॥
भ्रातॄन्पालय विस्रब्धं मरुतो वृत्रहा यथा ।
बांधवाश्चोपजीवंतु देवा इव शतक्रतुम् ॥ २४ ॥
ब्राह्मणेषु सदा वृत्तिं कुर्वीथाश्चाऽप्रमादतः ।
बन्धूनां सुहृदां चैव भवेथास्त्वं गतिः सदा ॥ २५ ॥

चुका था, परन्तु अब अपने दोष अर्थात् मूर्खता से इस पद से भ्रष्ट हो गया हूं। अब मैं जाकर नगर-वासियों से क्या कहूंगा? क्या मुंह दिखाऊंगा? मैं किसी तरह नगर में पांव न रख सकूंगा ॥१५।१७॥

जो मनुष्य उद्दण्ड है वह लक्ष्मी, विद्या और ऐश्वर्य पाकर भी बहुत दिन तक सुखी नहीं रह सकता। देखो, मैं अपनी दुर्बुद्धि से ही घमण्ड के मद में आकर ऐसा निन्दित कर्म कर बैठा और अन्त को घोर सङ्कट में पड़ गया। इसलिए अब मैं प्रायोपवेशन करूंगा। अब मेरे जीने का कोई काम नहीं। कौन बुद्धिमान् मनुष्य इस तरह शत्रु के हाथ से कष्ट से छुटकारा पाकर फिर जीना चाहेगा? मैं बँधा हुआ असमर्थ था, पाण्डवों ने अपने पौरुष से मुझ मानी को छुड़ाया—अनादर की दृष्टि से मुझे देखा, मेरी हंसी हुई ॥१८।२१॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजेन्द्र! इस प्रकार चिन्तित होकर दुर्योधन ने दुःशासन से कहा—हे दुःशासन! मैं जो कहता हूं सो सुनो। मैं तुमको राजसिंहासन पर बिठाता हूं। कर्ण और मामा शकुनि की सहायता और सम्मति से तुम, पृथ्वीमण्डल का

ज्ञातींश्चाप्यनुपश्येथा विष्णुर्देवगणान्यथा ।
गुरवः पालनीयास्ते गच्छ पालय मेदिनीम् ॥ २६ ॥
नन्दयन्सुहृदः सर्वाञ्छात्रवांश्चावभर्त्सयन् ।
कंठे चैनं परिष्वज्य गम्यतामित्युवाच ह ॥ २७ ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा दीनो दुःशासनोऽब्रवीत् ।
अश्रुकंठः सुदुःखार्तः प्रांजलिः प्रणिपत्य च ॥ २८ ॥
सगद्गदमिदं वाक्यं भ्रातरं ज्येष्ठमात्मनः ।
प्रसीदेत्यपतद्भूमौ दूयमानेन चेतसा ॥ २९ ॥
दुःखितः पादयोस्तस्य नेत्रजं जलमुत्सृजन् ।
उक्तवांश्च नरव्याघ्रो नैतदेवं भविष्यति ॥ ३० ॥
विदीर्येत्सकला भूमिर्द्यौश्चापि शकलीभवेत् ।
रविरात्मप्रभां जह्यात्सोमः शीतांशुतां त्यजेत् ॥ ३१ ॥
वायुः शैघ्र्यमथो जह्याद्धिमवांश्च परिव्रजेत् ।
शुष्येत्तोयं समुद्रेषु वह्निरप्युष्णतां त्यजेत् ॥ ३२ ॥
न चाऽहं त्वदृते राजन्प्रशासेयं वसुंधराम् ।
पुनः पुनः प्रसीदेति वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ ३३ ॥

राज्य करो। इन्द्र जैसे देवताओं का पालन करते हैं, वैसे तुम अपने भाइयों की रक्षा और प्रजा का पालन करो। तुम सावधानी के साथ ब्राह्मणों से अच्छा बर्ताव करना। तुम्हीं भाई-बन्धुओं की और मित्रों की एकमात्र गति हो। विष्णु जैसे देवताओं की देख-भाल किया करते हैं, वैसे ही तुम अपने भाई-बन्धुओं का और प्रजा का ध्यान रखना। बड़े-बूढ़ों की आज्ञा मानना और उनकी रक्षा करना। जाओ, मित्रों को आनन्दित और शत्रुओं को शोकाकुल करते हुए राज्य करो। दुर्योधन ने दुःशासन को गले लगाकर कहा—शीघ्र राजधानी को चले जाओ ॥२२।२७॥

दुर्योधन के वचन सुनकर दुःख के मारे दुःशासन की आँखों में आँसू भर आये। उसने दुर्योधन के पाँवों पर गिरकर गद्गद स्वर में कहा—हे महाराज! शान्त और प्रसन्न हूजिए। उसके आँसुओं से दुर्योधन के पाँव भीग गये। कुछ देर के पश्चात् अपने को सम्हालकर, ढाढ़स बाँधकर, दुःशासन ने कहा—हे राजेन्द्र! यह विचार आपके योग्य नहीं है। यदि पृथ्वी फट जाय और आकाश टुकड़े-टुकड़े हो जाय, तो भी मैं आपके बिना राज्य करने का नहीं। यदि सूर्य अपने तेज को, चन्द्रमा शीतलता को, वायु गति को और अग्नि उत्ताप को छोड़ दे, यदि समुद्र सूख जाय और हिमालय अपनी जगह से हट जाय, तो भी मैं आपके बिना इस पृथ्वी का राज्य नहीं कर सकता ॥२८।३३

सत्त्वस्थान्पांडवान्पश्य न ते प्रायमुपाविशन् ।
उत्तिष्ठ राजन्भद्रं ते न चिरं कर्तुमर्हसि ॥ ९ ॥
अवश्यमेव नृपते राज्ञो विषयवासिभिः ।
प्रियाण्याचरितव्यानि तत्र का परिदेवना ॥ १० ॥
मद्वाक्यमेतद्राजेंद्र यद्येवं न करिष्यसि ।
स्थास्यामीह भवत्पादौ शुश्रूषन्नरिमर्दन ॥ ११ ॥
नोत्सहे जीवितुमहं त्वद्विहीनो नरर्षभ ।
प्रायोपविष्टस्तु नृप राज्ञां हास्यो भविष्यसि ॥ १२ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तस्तु कर्णेन राजा दुर्योधनस्तदा ।
नैवोत्थातुं मनश्चक्रे स्वर्गाय कृतनिश्चयः ॥ १३ ॥

इति श्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वाणघोषयात्रापर्वणिदुर्योधनप्रायोपवेशेकर्णवाक्येपचाशदधिकद्विशततमोऽध्याय

न करो, उठो। हे राजेन्द्र ! मैं कह तो चुका कि राज्य में रहनेवालों का कर्तव्य राजा का प्रिय करना है। पाण्डवों ने, यह कार्य करके, अपने कर्तव्य का पालन किया है। इसमें दुःख की क्या बात है ? हे राजेन्द्र ! जो तुम मेरा कहा न मानोगे तो मैं यहीं रहकर तुम्हारी सेवा करूँगा। हे नरश्रेष्ठ ! मैं तुम्हारे बिना दमभर भी जीता नहीं रह सकता। तुम यदि प्रायोपवेशन करोगे तो सब राजा लोग हँसेंगे। वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! कर्ण के यों समझाने पर भी राजा दुर्योधन नहीं उठा। उसने प्रायोपवेशन के निश्चय को नहीं बदला ॥७।१३॥

—०—

वनपर्व का दो सौ पचास अध्याय समाप्त हुआ ॥२५०॥

अथ एकपचाशदधिकद्विशततमोऽध्याय ॥२५१॥

वैशम्पायन उवाच—प्रायोपविष्टं राजानं दुर्योधनममर्षणम् ।
उवाच सांत्वयन्राजञ्शकुनिः सौबलस्तदा ॥ १ ॥
शकुनिरुवाच—सम्यगुक्तं हि कर्णेन तच्छ्रुतं कौरव त्वया ।
मयाऽऽहृतां श्रियं स्फीतां मोहादपहासि किम् ॥ २ ॥

दो सौ इक्यावन अध्याय ॥२५१॥

वैशम्पायन ने कहा—हे महाराज ! दुर्योधन को प्रायोपवेशन के लिए निश्चय किये हुए देखकर सुबल-पुत्र शकुनि समझाता हुआ कहने लगा—हे कौरव ! कर्ण ने तुमसे बहुत ठीक कहा है। तुम क्यों मोह में पड़कर वह राजलक्ष्मी छोड़ने को उद्यत हुए हो, जिसे मैंने पाण्डवों से छीनकर तुम्हें दिलाया

त्वमल्पबुद्ध्या नृपते प्राणानुत्स्रष्टुमर्हसि ।
अथवाऽप्यवगच्छामि न वृद्धाः सेवितास्त्वया ॥ ३ ॥
यः समुत्पतितं हर्षं दैन्यं वा न नियच्छति ।
स नश्यति श्रियं प्राप्य पात्रमाममिवाऽम्भसि ॥ ४ ॥
अतिभीरुमतिक्लीबं दीर्घसूत्रं प्रमादिनम् ।
व्यसनाद्विषयाक्रान्तं न भजंति नृपं प्रजाः ॥ ५ ॥
सत्कृतस्य हि ते शोको विपरीते कथं भवेत् ।
मा कृतं शोभनं पार्थैः शोकमालंब्य नाशय ॥ ६ ॥
यत्र हर्षस्त्वया कार्यः सत्कर्तव्याश्च पांडवाः ।
तत्र शोचसि राजेंद्र विपरीतमिदं तव ॥ ७ ॥
प्रसीद मा त्यजाऽऽत्मानं तुष्टश्च सुकृतं स्मर ।
प्रयच्छ राज्यं पार्थानां यशो धर्ममवाप्नुहि ॥ ८ ॥
क्रियामेतां समाज्ञाय कृतज्ञस्त्वं भविष्यसि ।
सौभ्रात्रं पांडवैः कृत्वा समवस्थाप्य चैव तान् ॥ ९ ॥
पित्र्यं राज्यं प्रयच्छैषां ततः सुखमवाप्स्यसि ।
वैशम्पायन उवाच—शकुनेस्तु वचः श्रुत्वा दुःशासनमवेक्ष्य च ॥ १० ॥
पादयोः पतितं वीरं विक्लृतं भ्रातृसौहृदात् ।

है ! तुम जो अपने प्राण गवाना चाहते हो सो मग-मर तुम्हारी मूर्खता है। जान पड़ता है कि तुमने कभी बड़े-बूढ़ों की सेवा नहीं की। जो मनुष्य अचानक आये हुए दुःख अथवा सुख को संभाल नहीं सकता वह लक्ष्मी को पाकर भी इसी तरह नष्ट हो जाता है जैसे मिट्टी का कच्चा घड़ा पानी में पड़कर गल जाता है ॥३।४॥

अत्यन्त डरपोक, नपुंसक, काम में देर लगानेवाला, असावधान, मदिरा-शिकार-जुआ आदि व्यसनों में आसक्त और स्त्री आदि के अधीन राजा को प्रजा कभी नहीं चाहती। पाण्डवों ने तुम्हें छुड़ाकर तुम्हारा सत्कार किया है। उसके लिए तुम प्रसन्न न होकर शोक क्यों करते हो ? शोक प्रकट करके पाण्डवों के कर्तव्य-पालन को नष्ट मत करो। हे राजेन्द्र! तुम्हें प्रसन्न होना चाहिए, पाण्डवोंका सत्कार करना चाहिए। उलटे शोक करना अनुचित और बुद्धिमानों के विरुद्ध कार्य है। प्रसन्न होकर अपने प्राणत्याग का विचार छोड़ दो। प्रसन्न होकर पाण्डवों के किये उपकार को स्मरण करो। पाण्डवों का राज्य उन्हें देकर यश और धर्म के भागी बनो। ऐसा करने से तुम्हें कोई कृतघ्न न कहेगा। पाण्डवों से भाई-चारे का व्यवहार करो, उन्हें उनके बाप-दादे का राज्य दो। इसी में

बाहुभ्यां साधुजाताभ्यां दुःशासनमरिंदमम् ॥ ११ ॥
उत्थाप्य संपरिष्वज्य प्रीत्याऽजिघ्रत मूर्धनि ।
कर्णसौबलयोश्चापि संश्रुत्य वचनान्यसौ ॥ १२ ॥
निर्वेदं परमं गत्वा राजा दुर्योधनस्तदा ।
व्रीडयाऽभिपरीतात्मा नैराश्यमगमत्परम् ॥ १३ ॥
तच्छ्रुत्वा सुहृदश्चैव समन्युरिदमब्रवीत् ।
न धर्मधनसौख्येन नैश्वर्येण न चाऽऽज्ञया ॥ १४ ॥
नैव भोगैश्च मे कार्यं मा विहन्यत गच्छत ।
निश्चितेयं मम मतिः स्थिता प्रायोपवेशने ॥ १५ ॥
गच्छध्वं नगरं सर्वे पूज्याश्च गुरवो मम ।
त एवमुक्ताः प्रत्युचू राजानमरिमर्दनम् ॥ १६ ॥
या गतिस्तव राजेंद्र साऽस्माकमपि भारत ।
कथं वा संप्रवेक्ष्यामस्त्वद्विहीनाः पुरं वयम् ॥ १७ ॥
वैशम्पायन उवाच—स सुहृद्भिरमात्यैश्च भ्रातृभिः स्वजनेन च ।
बहुप्रकारमप्युक्तो निश्चयान्न विचाल्यते ॥ १८ ॥
दर्भास्तरणमास्तीर्य निश्चयाद्धृतराष्ट्रज ।
संस्पृश्याऽपः शुचिर्भूत्वा भूतले समुपस्थितः ॥ १९ ॥
कुशचीरांबरधरः परं नियममास्थितः ।

सुख पाओगे ॥५।१०॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजेन्द्र ! शकुनि के ये वचन सुनकर और भाई दुःशासन को भ्रातृस्नेह के कारण व्याकुल तथा पाँवों पर पड़ा हुआ देखकर दुर्योधन ने दोनों हाथों से उसको उठाकर छाती से लगा लिया; उसके मस्तक को सूंघा। कर्ण, शकुनि और अन्य इष्ट मित्रों के वचन सुनकर दुर्योधन जीवन से व्याकुल, लज्जित और राज्य-लाभ से निराश हुआ। उसने बहुत ही दीनभाव से कहा—मुझे धर्म, धन, सुख, भोग, ऐश्वर्य, हुकूमत आदि से कुछ काम नहीं। तुम लोग जाओ, मेरे विचार में विघ्न मत डालो। प्रायोपवेशन का मैं पक्का निश्चय कर चुका हूँ। तुम लोग लौटकर राजधानी में जाओ; मेरे बड़े-बूढ़ों की सेवा और सत्कार करो ॥११।१६॥

दुर्योधन के वचन सुनकर सब लोग उससे कहने लगे—हे राजेन्द्र ! जो तुम्हारी गति होगी वही हमारी होगी। भला हम तुम्हारे बिना कैसे राजधानी में जा सकते हैं? वैशम्पायन कहते हैं—

वाग्यतो राजशार्दूलः स स्वर्गगतिकाम्यया ॥ २० ॥
मनसोऽपचितिं कृत्वा निरस्य च बहिःक्रियाः ।
अथ तं निश्चयं तस्य बुद्ध्वा दैतेयदानवाः ॥ २१ ॥
पातालवासिनो रौद्राः पूर्वं देवैर्विनिर्जिताः ।
ते स्वपक्षक्षयं तं तु ज्ञात्वा दुर्योधनस्य वै ॥ २२ ॥
आह्वानाय तदा चक्रुः कर्म वैतानसंभवम् ।
बृहस्पत्युशनोक्तैश्च मंत्रैर्मंत्रविशारदाः ॥ २३ ॥
अथर्ववेदप्रोक्तैश्च याश्चोपनिषदि क्रियाः ।
मंत्रजप्यसमायुक्तास्तास्तदा समवर्तयन् ॥ २४ ॥
जुह्वत्यग्नौ हविः क्षीरं मंत्रवत्सुसमाहिताः ।
ब्राह्मणा वेदवेदांगपारगाः सुदृढव्रताः ॥ २५ ॥
कर्मसिद्धौ तदा तत्र जृंभमाणा महाद्भुताः ।
कृत्या समुत्थिता राजन्किं करोमीति चाऽब्रवीत् ॥ २६ ॥
आहुर्दैत्याश्च तां तत्र सुप्रीतेनाऽन्तरात्मना ।
प्रायोपविष्टं राजानं धार्तराष्ट्रमिहाऽऽनय ॥ २७ ॥
तथेति च प्रतिश्रुत्य सा कृत्या प्रययौ तदा ।

सुहृद्, मन्त्री, भाई आदि स्वजनों ने बहुत समझाया, परन्तु दुर्योधन ने अपना विचार नहीं बदला। राजा दुर्योधन स्वर्ग पाने की इच्छा से कुश-वल्कल आदि पहनकर कुशासन पर आचमन करके बैठ गया। चित्त शुद्धि के उपरान्त बाहरी इन्द्रियों के सब काम छोड़कर, मौन होकर, उसने प्रायोपवेशन का नियम ग्रहण किया, और पास ही चिता भी लगवा ली ॥१७।२०॥

उधर उन पातालवासी दानवों ने, जिन्हें पहले देवताओं ने हराया था, दुर्योधन के प्रायोपवेशन का दृढ़ निश्चय जानकर, अपना पक्ष गिरते देख, दुर्योधन को अपने लोक में बुलाने के लिए एक यज्ञ आरम्भ किया। यज्ञ करानेवाले मन्त्रज्ञ ब्राह्मण, बृहस्पति और शुक्र की कही हुई विधि के अनुसार, मन्त्र पढ़कर, अथर्व वेद की ऋचाओं का उच्चारण कर उपनिषदों में कहे गये कर्मों का अनुष्ठान और जप करने लगे। दृढ़व्रत और वेद-वेदाङ्ग के विद्वान् ब्राह्मण लोग एकाग्र भाव से मन्त्र पढ़-पढ़कर अग्नि में घी और खीर की आहुतियाँ छोड़ने लगे ॥२२।२५॥

हे राजेन्द्र! वह यज्ञ समाप्त होने पर अद्भुत रूपिणी एक कृत्या (देवता विशेष) जँभाती हुई अग्नि-कुण्ड से निकली। उसने कहा—"बतलाइए, मैं क्या करूँ?" उसके वचन सुनकर दानवों ने प्रसन्न होकर कहा —महाराज धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन

निर्गमेषादगमच्चापि यत्र राजा सुयोधनः ॥ २८ ॥
समादाय च राजानं प्रविवेश रसातलम् ।
दानवानां मुहूर्ताच्च तमानीतं न्यवेदयत् ॥
तमानीतं नृपं दृष्ट्वा रात्रौ संगत्य दानवाः ॥ २९ ॥
प्रहृष्टमनसः सर्वे किंचिदुत्फुल्ललोचनाः ।
साभिमानमिदं वाक्यं दुर्योधनमथाऽब्रुवन् ॥ ३० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनप्रायोपवेशे एकपंचाशदधिकद्विशततमोऽध्याय

प्रायोपवेशन करने बैठे हैं; तुम जाकर उन्हें यहाँ ले आओ। कृत्या ने उनका यह काम करना स्वीकार कर लिया। वहाँ से चलकर कृत्या दम भर में वहाँ जा पहुँची जहा राजा दुर्योधन प्रायोपवेशन किये बैठा था। वह दुर्योधन को लेकर पातालपुरी में दानवों के पास पहुच गई। रात्रि के समय दुर्योधन को अपने पास आया हुआ देखकर दानव बहुत प्रसन्न हुए, उनके नेत्र-कमल खिल गये। वे लोग दुर्योधन से अभिमानपूर्ण वाक्य कहने लगे ॥२९।३०॥

—०—

वनपर्व का दो सौ इक्यावन अध्याय समाप्त हुआ ॥२५१॥

अथ द्विपंचाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२५२॥

दानवा ऊचु —भोः सुयोधन राजेंद्र भरतानां कुलोद्वह ।
शूरैः परिवृतो नित्यं तथैव च महात्मभिः ॥ १ ॥
अकार्षीः साहसमिदं कस्मात्प्रायोपवेशनम् ।
आत्मत्यागी ह्यधो याति वाच्यतां चाऽयशस्करीम्॥ २ ॥
न हि कार्यविरुद्धेषु बहुपापेषु कर्मसु ।
मूलघातिषु सज्जंते बुद्धिमंतो भवद्विधाः ॥ ३ ॥
नियच्छैनां मतिं राजन्धर्मार्थसुखनाशिनीम् ।

दो सौ बावन अध्याय ॥२५२॥

दानवों ने कहा—हे भरतकुल-दीपक राजेन्द्र दुर्योधन! शूर और महात्मा लोग सदा तुम्हारे पास बने रहते हैं; फिर तुमने यह प्रायोपवेशन का साहस क्यों किया! आत्म-हत्या करनेवाला मनुष्य नरक में जाता है और इस लोक में सब लोग उसकी निन्दा करते हैं। तुम्हारे ऐसे बुद्धिमान् लोग कभी इस कुलक्षय-कारक, महादोषजनक, आत्महत्यारूपी महापाप में लिप्त नहीं होते। हे महाराज! तुम शत्रुओं के आनन्द को बढ़ानेवाली यह बुद्धि छोड़ दो। यह बुद्धि धर्म, अर्थ, यश, वीर्य और सुख का नाश करती

यशः प्रतापवीर्यघ्नीं शत्रूणां हर्षवर्धनीम् ॥ ४ ॥
श्रूयतां तु प्रभो तत्त्वं दिव्यतां चाऽऽत्मनो नृप ।
निर्माणं च शरीरस्य ततो धैर्यमवाप्नुहि ॥ ५ ॥
पुरा त्वं तपसाऽस्माभिर्लब्धो राजन्महेश्वरात् ।
पूर्वकायश्च पूर्वस्ते निर्मितो वज्रसंचयैः ॥ ६ ॥
अस्त्रैरभेद्यः शस्त्रैश्चाप्यधःकायश्च तेऽनघ ।
कृतः पुष्पमयो देव्या रूपतः स्त्रीमनोहरः ॥ ७ ॥
एवमीश्वरसंयुक्तस्तव देहो नृपोत्तम ।
देव्या च राजशार्दूल दिव्यस्त्वं हि न मानुषः ॥ ८ ॥
क्षत्रियाश्च महावीर्या भगदत्तपुरोगमाः ।
दिव्यास्त्रविदुषः शूराः क्षपयिष्यंति ते रिपून् ॥ ९ ॥
तदलं ते विषादेन भयं तव न विद्यते ।
सहायार्थं च ते वीराः संभूता भुवि दानवाः ॥ १० ॥
भीष्मद्रोणकृपादींश्च प्रवेक्ष्यंत्यपरेऽसुराः ।
यैराविष्टा घृणां त्यक्त्वा योत्स्यंते तव वैरिभिः ॥ ११ ॥
नैव पुत्रान्न च भ्रातॄन्न पितॄन्न च बान्धवान् ।
नैव शिष्यान्न च ज्ञातीन्न बालान्स्थविरान्न च ॥ १२ ॥
युधि संप्रहरिष्यंतो मोक्ष्यंति कुरुसत्तम ।

है । हे प्रभो ! तुम साधारण मनुष्य नहीं हो । सुनो, जिस तरह दिव्य शरीर धारण करके तुम उत्पन्न हुए हो, सो सब वृत्तान्त हम कहते हैं ॥१।४॥

हे राजेन्द्र ! पहले तपस्या करके हम लोगों ने महादेवजी से वरदान मांगकर तुमको प्राप्त किया है। तुम्हारा नाभि से ऊपर का शरीर वज्र का बना हुआ है । कोई भी अस्त्र-शस्त्र उसे तोड़ नहीं सकता । नाभि से नीचे का हिस्सा फूलों से बना और स्त्रियों के लिए मनोहर है । ऊपर का हिस्सा महादेव का और नीचे का हिस्सा पार्वती का बनाया हुआ है । इस प्रकार शङ्कर और पार्वती का बनाया हुआ तुम्हारा शरीर दिव्य है । तुम साधारण मनुष्य नहीं हो ॥५।८॥

भगदत्त आदि दिव्य अस्त्रों के ज्ञाता, महापराक्रमी शूर क्षत्रिय तुम्हारे शत्रुओं को नाश करेंगे । तुम खेद न करो; तुम्हें भय न होना चाहिए । तुम्हारी सहायता करने के लिए अनेक दानव पृथ्वी पर उत्पन्न हुए हैं । भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि के शरीरों में भी बहुत से असुर प्रवेश करेंगे, जिससे भीष्म आदि

निःस्नेहा दानवाविष्टाः समाक्रान्तेऽन्तरात्मनि॥ १३ ॥
प्रहरिष्यंति विवशाः स्नेहमुत्सृज्य दूरतः ।
हृष्टाः पुरुषशार्दूलाः कलुषीकृतमानसाः ।
अविज्ञानविमूढाश्च दैवाच्च विधिनिर्मितात् ॥ १४ ॥
व्याभाषमाणाश्चाऽन्योन्यं न मे जीवन्विमोक्ष्यसे।
सर्वे शस्त्रास्त्रमोक्षेण पौरुषे समवस्थिताः ॥ १५ ॥
श्लाघमानाः कुरुश्रेष्ठ करिष्यंति जनक्षयम् ।
तेऽपि पंच महात्मानः प्रतियोत्स्यंति पांडवाः ॥ १६ ॥
वधं चैषां करिष्यंति दैवयुक्ता महाबलाः ।
दैत्यरक्षोगणाश्चैव संभूताः क्षत्रयोनिषु ॥ १७ ॥
योत्स्यंति युधि विक्रम्य शत्रुभिस्तव पार्थिव ।
गदाभिर्मुसलैः शूलैः शस्त्रैरुच्चावचैस्तथा ॥ १८ ॥
यच्च तेऽन्तर्गतं वीर भयमर्जुनसंभवम् ।
तत्रापि विहितोऽस्माभिर्वधोपायोऽर्जुनस्य वै ॥ १९ ॥
हतस्य नरकस्याऽऽत्मा कर्णमूर्तिमुपाश्रितः ।
तद्वैरं संस्मरन्वीर योत्स्यते केशवार्जुनौ ॥ २० ॥
स ते विक्रमशौटीरो रणे पार्थं विजेष्यति ।

सब लोग स्नेह और दया छोड़कर तुम्हारे शत्रुओं से युद्ध करेंगे। वे यहा तक निठुर बन जायँगे कि प्रसन्नता से पुत्र, पिता, भाई, बन्धु बान्धव, शिष्य, सजातीय, बालक और बूढ़े, किसी को नहीं छोड़ेंगे—सबको मारेंगे ॥९।१३॥

दानवों के आवेश से उनका चित्त ऐसा हो जायगा कि वे लोग स्नेह को छोड़कर प्रसन्नतापूर्वक बन्धुओं का वध करेंगे। दानवों के आवेश से, और पूर्वजन्म के किये कर्मों के संस्कार से, वे ऐसे मूढ़ हो जायगे कि "जीते रहते मुझसे बच न सकोगे" यों कहते हुए स्वजनों पर ही चोट करेंगे। उन्हें कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का ज्ञान ही न रहेगा। अपनी प्रशंसा करके, अपना पौरुष प्रकट करके, वे लोग अस्त्र शस्त्रों से घोर हत्याकाण्ड मचा देंगे। देवताओं के अंश से उत्पन्न महाबली पांचों पाण्डव भी उनसे युद्ध करेंगे और उन्हें मारेंगे। हे राजेन्द्र ! क्षत्रियों के यहां उत्पन्न दैत्य और राक्षस लोग तुम्हारे शत्रुओं से युद्ध करके पराक्रम प्रकट करेंगे, उन पर गदा, मूसल, शूल आदि अनेक शस्त्रों की वर्षा करेंगे ॥१४।१८॥

हे वीर ! तुम्हारे हृदय में अर्जुन का जो भय है उसे हटाने के लिए अर्जुन के वध का उपाय भी हमने कर रक्खा है। मारे गये नरकासुर का आत्मा

कर्णः प्रहरतां श्रेष्ठः सर्वांश्चाऽरीन्महारथः ॥ २१ ॥
ज्ञात्वैतच्छद्मना वज्री रक्षार्थं सव्यसाचिनः ।
कुंडले कवचं चैव कर्णस्याऽपहरिष्यति ॥ २२ ॥
तस्मादस्माभिरप्यत्र दैत्याः शतसहस्रशः ।
नियुक्ता राक्षसाश्चैव ये ते संशप्तका इति ॥ २३ ॥
प्रख्यातास्तेऽर्जुनं वीरं हनिष्यंति च मा शुचः ।
असपत्ना त्वया हीयं भोक्तव्या वसुधा नृप ॥ २४ ॥
मा विषादं गमस्तस्मान्नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
विनष्टे त्वयि चाऽस्माकं पक्षो हीयेत कौरव ॥ २५ ॥
गच्छ वीर न ते बुद्धिरन्या कार्या कथंचन ।
त्वमस्माकं गतिर्नित्यं देवतानां च पांडवाः ॥ २६ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवमुक्त्वा परिष्वज्य दैत्यास्तं राजकुंजरम् ।
समाश्वास्य च दुर्धर्षं पुत्रवद्दानवर्षभाः ॥ २७ ॥
स्थिरां कृत्वा बुद्धिमस्य प्रियाण्युक्त्वा च भारत ।
गम्यतामित्यनुज्ञाय जयमाप्नुहि चेत्यथ ॥ २८ ॥
तैर्विसृष्टं महाबाहुं कृत्या सैवाऽनयत्पुनः ।
तमेव देशं यत्राऽऽसौ तदा प्रायमुपाविशत् ॥ २९ ॥

कर्ण के रूप से तुम्हारी सहायता करेगा। वह पहले के वैर को स्मरण करके कृष्ण और अर्जुन से युद्ध करेगा। वह तुम्हारे सब शत्रुओं को और बड़े पराक्रमी महाबली अर्जुन को हरावेगा ॥१९।२१॥

यह समाचार जानकर इन्द्र, अर्जुन की रक्षा के लिए, छलपूर्वक कर्ण से उसके दोनों कुण्डल और कवच माग ले जायंगे। इसमे हमने प्रसिद्ध अजेय सैकड़ों-हजारों संशप्तक नाम के राक्षसों को तैयार कर रक्खा है; वे युद्ध में अवश्य अर्जुन को मार डालेंगे। इसलिए कुछ चिन्ता मत करो। तुम इस पृथ्वी का निष्कण्टक राज्य भोगोगे। हे महाराज! खेद मत करो; यह तुम्हारे योग्य काम नहीं है। हे कौरव! तुम अपनी जान दे दोगे तो हमारे पक्ष का बल घट जायगा। हे वीर! इसलिए तुम जाओ और कुछ निश्चय मत करो। स्मरण रक्खो, कि पाण्डव लोग देवताओं की गति हैं, और तुम हम दानवों की गति हो ॥२२।२६॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजेन्द्र! पिता जैसे पुत्र को गले से लगाता है वैसे ही दानवों ने दुर्योधन को गले से लगाया और आश्वासन दिया। जब दुर्योधन कुछ सँभला तब प्रिय वचनों से "तुम्हारी जय हो, अब जाओ" कहकर उन्होंने उसे विदा किया। कृत्या

प्रतिनिक्षिप्य तं वीरं कृत्वा समभिपूज्य च ।
अनुज्ञाता च राज्ञा सा तत्रैवांऽतरधीयत ॥ ३० ॥
गतायामथ तस्यां तु राजा दुर्योधनस्तदा ।
स्वप्नभूतमिदं सर्वमचिंतयत भारत ॥ ३१ ॥
विजेष्यामि रणे पांडूनिति चाऽस्याऽभवन्मतिः ।
कर्णं संशप्तकांश्चैव पार्थस्याऽमित्रघातिनः ॥ ३२ ॥
अमन्यत वधे युक्तान्समर्थांश्च सुयोधनः ।
एवमाशा दृढा तस्य धार्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः ॥ ३३ ॥
विनिर्जये पांडवानामभवद्भरतर्षभ ।
कर्णोऽप्याविष्टचित्तात्मा नरकस्यांऽतरात्मना ॥ ३४ ॥
अर्जुनस्य वधे क्रूरां करोति स्म तदा मतिम् ।
संशप्तकाश्च ते वीरा राक्षसाविष्टचेतसः ॥ ३५ ॥
रजस्तमोभ्यामाक्रांताः फाल्गुनस्य वधैषिणः ।
भीष्मद्रोणकृपाद्याश्च दानवाक्रांतचेतसः ॥ ३६ ॥
न तथा पांडुपुत्राणां स्नेहवंतो विशांपते ।
न चाऽचचक्षे कस्मैचिदेतद्राजा सुयोधनः ॥ ३७ ॥
दुर्योधनं निशांते च कर्णो वैकर्तनोऽब्रवीत् ।

फिर दुर्योधन को वहीं पहुँचा गई जहा पर वे प्रायोपवेशन करके बैठा था। उसने दुर्योधन का समुचित सत्कार किया, फिर दुर्योधन से आज्ञा लेकर वह वहीं पर अन्तर्द्धान हो गई ॥२७।३०॥

हे भरतश्रेष्ठ ! राजा दुर्योधन को यह सब स्वप्न सा जान पड़ा। वह उस दृश्य को स्मरण करके मन में कहने लगा कि मैं युद्ध में अवश्य पाण्डवों को हराऊँगा। उसे जान पड़ने लगा कि कर्ण और शसप्तक लोग अर्जुन को मारने के लिए तैयार और समर्थ हैं। उस समय पाण्डवों को जीतने की आशा उसके हृदय में दृढ हो गई। नरकासुर की आत्मा के आवेश से कर्ण ने भी उस समय अर्जुन को मारने का क्रूर निश्चय कर लिया ॥३१।३५॥

महावीर सशप्तकों ने भी राक्षसों के आवेश से रजोगुण और तमोगुण के वश में होकर अर्जुन को मारने की दृढ प्रतिज्ञा कर ली। दानवों के आवेश के कारण भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि के हृदय में भी पाण्डवों पर पहले का सा स्नेह न रहा। दुर्योधन ने दानवों के यहा जाने का और उनके समझाने का कुछ भी हाल किसी के आगे प्रकट नहीं किया। दूसरे दिन प्रात काल महावीर कर्ण हाथ जोड़कर, हँसकर दुर्योधन से कहने लगा—हे राजेन्द्र ! प्राणत्याग करने

स्मयन्निवाऽञ्जलिं कृत्वा पार्थिवं हेतुमद्वचः ॥ ३८ ॥
न मृतो जयते शत्रूञ्जीवन्भद्राणि पश्यति ।
मृतस्य भद्राणि कुतः कौरवेय कुतो जयः ॥ ३९ ॥
न कालोऽद्य विषादस्य भयस्य मरणस्य वा ।
परिष्वज्याऽब्रवीच्चैनं भुजाभ्यां स महाभुजः ॥ ४० ॥
उत्तिष्ठ राजन्किं शेषे कस्माच्छोचसि शत्रुहन् ।
शत्रून्प्रताप्य वीर्येण स कथं मृत्युमिच्छसि ॥ ४१ ॥
अथ वा ते भयं जातं दृष्ट्वाऽर्जुनपराक्रमम् ।
सत्यं ते प्रतिजानामि वधिष्यामि रणेऽर्जुनम् ॥ ४२ ॥
गते त्रयोदशे वर्षे सत्येनाऽऽयुधमालभे ।
आनयिष्याम्यहं पार्थान्वशं तव जनाधिप ॥ ४३ ॥
एवमुक्तस्तु कर्णेन दैत्यानां वचनात्तथा ।
प्रणिपातेन चाप्येषामुदतिष्ठत्सुयोधनः ॥ ४४ ॥
दैत्यानां तद्वचः श्रुत्वा हृदि कृत्वा स्थिरां मतिम् ।
ततो मनुजशार्दूलो योजयामास वाहिनीम् ॥ ४५ ॥
रथनागाश्वकलिलां पदातिजनसंकुलाम् ।
गंगौघप्रतिमा राजन्सा प्रयाता महाचमूः ॥ ४६ ॥
श्वेतच्छत्रैः पताकाभिश्चामरैश्च सुपांडुरैः ।
रथैर्नागैः पदातैश्च शुशुभेऽतीव संकुला ॥ ४७ ॥

से शत्रु नहीं जीता जाता। जीवित पुरुष ही अभ्युदय और मङ्गल प्राप्त कर सकते हैं। हे कुरुनन्दन! जो मर गया, वह कल्याण या विजय कैसे पासकता है?॥३८।३९॥

यह समय खेद करने, डरने या प्राण देने का नहीं है। अब कर्ण ने दुर्योधन को गले लगाकर कहा—हे राजेन्द्र! उठो, क्यों अचेत पड़े हो; किस बात की चिन्ता है! अपने प्रताप से पहले शत्रुओं को सताकर, अब प्राण देने पर उतारू हो! अथवा यदि तुम अर्जुन के पराक्रम से डरते हो तो मैं अर्जुन को मारने की प्रतिज्ञा करता हूं। मै शस्त्र छूकर यह प्रण करता हूं कि तेरह वर्ष पूरे होने पर अवश्य पाण्डवों को तुम्हारे अधीन कर दूंगा॥४०।४३॥

उधर दानवों ने भर दिया था, इधर कर्ण और शकुनि आदि ने उत्तेजित किया, इससे दुर्योधन का भाव बदल गया। दुःशासन आदि के मनाने से वह उठ खड़ा हुआ। दैत्यों द्वारा उत्तेजित किये

व्यपेताभ्रघने काले द्यौरिवाऽव्यक्तशारदी ।
जयाशीर्भिर्द्विजेन्द्रैः स स्तूयमानोऽधिराजवत् ॥ ४८ ॥
गृह्णन्नंजलिमालाश्च धार्त्तराष्ट्रो जनाधिपः ।
सुयोधनो ययावग्रे श्रिया परमया ज्वलन् ॥ ४९ ॥
कर्णेन सार्धं राजेंद्र सौबलेन च देविना ।
दुःशासनादयश्चाऽस्य भ्रातरः सर्व एव ते ॥ ५० ॥
भूरिश्रवाः सोमदत्तो महाराजश्च बाह्लिकः ।
रथैर्नानाविधाकारैर्हयैर्गजवरैस्तथा ॥ ५१ ॥
प्रयांतं नृपसिंहं तमनुजग्मुः कुरूद्वहाः ।
कालेनाऽल्पेन राजेंद्र स्वपुरं विविशुस्तदा ॥ ५२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनपुरप्रवेशे द्विपंचाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

जाने पर पाण्डवों से युद्ध करने का निश्चय करके दुर्योधन अपनी राजधानी को चला। सब सेना चलने के लिए तैयार हो गई। रथ, घोड़े, हाथी और पैदलों का ताँता लग गया। वह सेना गङ्गा-प्रवाह के समान नगर की ओर चली ॥४४।४७॥

वह सेना श्वेत छत्र, पताका, चँवर आदि से शरद् ऋतु के आकाश की शोभा दिखा रही थी। सम्राट के ऐश्वर्य से भूषित होकर दुर्योधन आगे-आगे जा रहा था। ब्राह्मण लोग उसकी जयजयकार करते और उसे आशीर्वाद देते जाते थे। वह विचित्र मालाएँ और रत्न पहने हुए था। उसके प्रिय शकुनि कर्ण, दुःशासन आदि सब स्वजन इधर-उधर उपस्थित थे। भूरिश्रवा, सोमदत्त और बाह्लीक आदि वीर पुरुष अनेक आकार के रथों, हाथियों और घोड़ों पर बैठे हुए दुर्योधन के पीछे पीछे चल रहे थे। इस तरह धीरे-धीरे यथासमय कौरव अपनी नगरी में पहुँच गये ॥४८।५२॥

—०—

वनपर्व का दो सौ बावन अध्याय समाप्त हुआ ॥२५२॥

अथ त्रिपंचाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२५३॥

जनमेजय उवाच—वसमानेषु पार्थेषु वने तस्मिन्महात्मसु ।
धार्तराष्ट्रा महेष्वासाः किमकुर्वत सत्तमाः ॥ १ ॥
कर्णो वैकर्तनश्चैव शकुनिश्च महाबलः ।

दो सौ तिरपन अध्याय ॥२५३॥

राजा जनमेजय ने पूछा—हे ब्रह्मन्! महात्मा पाण्डवों ने द्वैतवनमें जो समय व्यतीत किया उसमें कर्ण, शकुनि, महाबली भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य और महारथी भाइयों सहित दुर्योधन ने क्या किया? वैशम्पायन

भीष्मद्रोणकृपाश्चैव तन्मे शंसितुमर्हसि ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवं गतेषु पार्थेषु विसृष्टे च सुयोधने ।
आगते हास्तिनपुरं मोक्षिते पाण्डुनंदनैः ॥ ३ ॥
भीष्मोऽब्रवीन्महाराज धार्त्तराष्ट्रमिदं वचः ।
उक्तं तात यथा पूर्वं गच्छतस्ते तपोवनम् ॥ ४ ॥
गमनं मे न रुचितं तव तत्र कृतं च ते ।
ततः प्राप्तं त्वया वीर ग्रहणं शत्रुभिर्बलात् ॥ ५ ॥
मोक्षितश्चासि धर्मज्ञैः पाण्डवैर्न च लज्जसे ।
प्रत्यक्षं तव गांधारे ससैन्यस्य विशांपते ॥ ६ ॥
सूतपुत्रोऽपयाद्भीतो गंधर्वाणां तदा रणात् ।
क्रोशतस्तव राजेंद्र ससैन्यस्य नृपात्मज ॥ ७ ॥
दृष्टस्ते विक्रमश्चैव पांडवानां महात्मनाम् ।
कर्णस्य च महाबाहो सूतपुत्रस्य दुर्मतेः ॥ ८ ॥
न चापि पादभाक्कर्णः पांडवानां नृपोत्तम ।
धनुर्वेदे च शौर्ये च धर्मे वा धर्मवत्सल ॥ ९ ॥
तस्मादहं क्षमं मन्ये पांडवैस्तैर्महात्मभिः ।
संधिं संधिविदां श्रेष्ठ कुलस्याऽस्य विवृद्धये ॥ १० ॥
एवमुक्तश्च भीष्मेण धार्तराष्ट्रो जनेश्वरः ।

कहते हैं-हे राजेंद्र! पाण्डवों की कृपासे छुटकारा पाकर, उनसे विदा होकर, दुर्योधन हस्तिनापुर में पहुँचा। उस समय भीष्म पितामह ने दुर्योधन से कहा--हे बेटा दुर्योधन! जब तुम द्वैतवन को जाने लगे थे तभी मैंने तुमको रोका था, पर तुम्हें मेरी बात नहीं रुची। मेरा कहा न मानकर तुम चल दिये। उसका फल यह मिला कि शत्रु लोग बलपूर्वक तुम्हें बाँधकर ले चले और फिर धर्म के जाननेवाले पाण्डवों ने तुमको छुड़ाया। अब भी क्या तुम्हें लज्जा नहीं आती? तुम्हारे और तुम्हारी सेना के आगे ही गन्धर्वों से डरकर सूत-पुत्र कर्ण युद्ध से भाग गया ॥१।७॥

तुमने महात्मा पाण्डवों का और दुर्बुद्धि कर्ण का पराक्रम देख लिया। देखो, यह कर्ण धनुर्वेद के कौशल, शूरता या धर्म, किसी बात में, पाण्डवों के चतुर्थांश भर भी नहीं है। इससे मैं यही उचित समझता हूँ कि कुल की भलाई और रक्षा के लिए तुम पाण्डवों से मेल कर लो ॥८।१०॥

धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन ने भीष्म के कथन पर

प्रहस्य सहसा राजन्विप्रतस्थे ससौबलः ॥ ११ ॥
तं तु प्रस्थितमाज्ञाय कर्णदुःशासनादयः ।
अनुजग्मुर्महेष्वासा धार्तराष्ट्रं महाबलम् ॥ १२ ॥
तांस्तु संप्रस्थितान्दृष्ट्वा भीष्मः कुरुपितामहः ।
लज्जया व्रीडितो राजञ्जगाम स्वं निवेशनम् ॥ १३ ॥
गते भीष्मे महाराज धार्तराष्ट्रो जनेश्वरः ।
पुनरागम्य तं देशममंत्रयत मंत्रिभिः ॥ १४ ॥
किमस्माकं भवेच्छ्रेयः किं कार्यमवशिष्यते ।
कथं च सुकृतं तत्स्यान्मंत्रयामोऽद्य यद्धितम् ॥ १५ ॥
कर्ण उवाच—दुर्योधन निबोधेदं यत्त्वां वक्ष्यामि कौरव ।
भीष्मोऽस्मान्निंदति सदा पांडवांश्च प्रशंसति ॥ १६ ॥
त्वद्द्वेषाच्च महाबाहो ममापि द्वेष्टुमर्हति ।
विगर्हते च मां नित्यं त्वत्समीपे नरेश्वर ॥ १७ ॥
सोऽहं भीष्मवचस्तद्वै न मृष्यामीह भारत ।
त्वत्समक्षं यदुक्तं च भीष्मेणाऽमित्रकर्षण ॥ १८ ॥
पांडवानां यशो राजंस्तव निंदां च भारत ।
अनुजानीहि मां राजन्सभृत्यबलवाहनम् ॥ १९ ॥

कुछ ध्यान नहीं दिया। वह कर्ण और शकुनि के साथ हँसकर, अनादर का भाव दिखाता हुआ, एकाएक वहाँ से चल दिया। दुःशासन आदि भी उसके पीछे-पीछे चल दिये। कुरुपितामह भीष्मजी, इस प्रकार अनादर दिखाकर, उनके चले जाने से मन में बहुत लज्जित हुए और उठकर अपने घर को चले गये। हे राजा जनमेजय! भीष्म के चले जाने पर कर्ण आदि अपने मन्त्रियों के साथ महाबाहु दुर्योधन फिर वहाँ आकर सम्मति करने लगा। दुर्योधन ने कहा—हे मन्त्रियो! अब हमें क्या करना चाहिए? क्या करने से हम लोग कल्याण प्राप्त कर सकेंगे? जो कार्य हमें करना है वह किस प्रकार सम्पन्न होगा, इसकी सम्मति मुझे दो॥११।१५॥

कर्ण ने कहा—हे महाराज दुर्योधन! मैं जो कहता हूँ उसे मन लगाकर सुनो। भीष्म पितामह सदा हम लोगों की निन्दा और पाण्डवों की प्रशंसा किया करते हैं। वे तुमसे द्वेष रखने के कारण मुझसे भी कुढ़ते हैं। हे राजेन्द्र! तुम्हारे आगे वे सदा मेरी निन्दा किया करते हैं। हे शत्रुदमन! तुम्हारे सामने भीष्म ने जो पाण्डवों की प्रशंसा और तुम्हारी निन्दा की है, उसे मैं नहीं सह सकता। हे महाराज! मुझे आज्ञा दो, मैं अपने अनुचरों और वाहनों

जेष्यामि पृथिवीं राजन्सशैलवनकाननाम् ।
जिता च पांडवैर्भूमिश्चतुर्भिर्बलशालिभिः ॥ २० ॥
तामहं ते विजेष्यामि एक एव न संशयः ।
संपश्यतु सुदुर्बुद्धिर्भीष्मः कुरुकुलाधमः ॥ २१ ॥
अनिंद्यं निंदते यो हि अप्रशंस्यं प्रशंसति ।
स पश्यतु बलं मेऽद्य आत्मानं तु विगर्हतु ॥ २२ ॥
अनुजानीहि मां राजन्ध्रुवो हि विजयस्तव ।
प्रतिजानामि ते सत्यं राजन्नायुधमालभे ॥ २३ ॥
तच्छ्रुत्वा तु वचो राजन्कर्णस्य भरतर्षभ ।
प्रीत्या परमया युक्तः कर्णमाह नराधिपः ॥ २४ ॥
धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यस्य मे त्वं महाबलः ।
हितेषु वर्तसे नित्यं सफलं जन्म चाऽद्य मे ॥ २५ ॥
यदा च मन्यसे वीर सर्वशत्रुनिबर्हणम् ।
तदा निर्गच्छ भद्रं ते ह्यनुशाधि च मामिति ॥ २६ ॥
एवमुक्तस्तदा कर्णो धार्तराष्ट्रेण धीमता ।
सर्वमाज्ञापयामास प्रायात्रिकमरिंदम ॥ २७ ॥

सहित सब सेना साथ ले जाकर पर्वत, वन, उपवन सहित सारी पृथ्वी को जीतने जाऊंगा। बलवान् चारों पाण्डवों ने मिलकर पृथ्वी को जीता है, परन्तु मैं अकेला ही जाकर दिग्विजय कर लूंगा। दुर्मति भीष्म कुरुकुल में अधम हैं; वे मेरा पराक्रम देख लें। जो निन्दा के योग्य नहीं उसकी तो वे निन्दा करते हैं और जो प्रशंसा के योग्य नहीं उसकी प्रशंसा किया करते हैं। वे अब मेरे बल और पराक्रम को देखकर झेंप जाय। हे महाराज! मुझे दिग्विजय के लिए जाने की आज्ञा दो। मैं शस्त्र की सौगन्ध खाकर प्रतिज्ञा करता हूं कि अवश्य तुमको विजय-लक्ष्मी प्राप्त होगी ॥१६।२३॥

नराधिप दुर्योधन ने कर्ण के ये वचन सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—हे मित्र कर्ण! तुम सदा मेरे हित के कामों में लगे रहते हो। मैं धन्य हूं। मुझ पर तुम्हारी बड़ी ही कृपा है। मैं अपने जन्म को सफल समझता हूं। तुम मेरे सब शत्रुओं को नष्ट करना चाहते हो—उन्हें नीचा दिखाना चाहते हो, तो मैं भी तुमको दिग्विजय-यात्रा के लिए अनुमति देता हूं। जाओ, तुम्हारा भला हो। मुझे और जो कुछ करना चाहिए, सो बताओ। दुर्योधन के ये वचन सुनकर कर्ण ने सेवकों को यात्रा की तैयारी करने की आज्ञा दी। छकड़े, बाजार, तम्बू आदि सब सामान आगे चला ॥२४।२७॥

प्रययौ च महेष्वासो नक्षत्रे शुभदैवते ।
शुभे तिथौ मुहूर्ते च पूज्यमानो द्विजातिभिः ॥ २८ ॥
मंगलैश्च शुभैः स्नातो वाग्भिश्चापि प्रपूजितः ।
नादयन्रथघोषेण त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ २९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि घोषयात्रापर्वणि कर्णदिग्विजये त्रिपंचाशदधिकद्विशततमोऽध्याय.२५३

इसके पश्चात् महारथी वीर कर्ण ने शुभ नक्षत्र, शुभ तिथि और शुभ मुहूर्त में ब्राह्मणों के द्वारा स्वस्त्ययन कर्म कराया और सुगन्धित तेल-उबटना आदि लगाकर स्नान किया। कर्ण की आरती उतारी गई। ब्राह्मण लोग स्तुति और प्रशंसा के वचन कहकर उसे आशीर्वाद देने लगे। इसके पश्चात् अपने रथ के शब्द से जगत् को कँपाता हुआ कर्ण दिग्विजय के लिए चल पड़ा ॥२८।२९॥

वनपर्व का दो सौ तिरपन अध्याय समाप्त हुआ ॥२५३॥

अथ चतुष्पंचाशदधिकद्विशततमोऽध्याय ॥२५४॥

वैशम्पायन उवाच—ततः कर्णो महेष्वासो बलेन महता वृतः ।
द्रुपदस्य पुरं रम्यं रुरोध भरतर्षभ ॥ १ ॥
युद्धेन महता चैनं चक्रे वीरं वशानुगम् ।
सुवर्णं रजतं चापि रत्नानि विविधानि च ॥ २ ॥
करं च दापयामास द्रुपदं नृपसत्तम ।
तं विनिर्जित्य राजेंद्र राजानस्तस्य येऽनुगाः ॥ ३ ॥
तान्सर्वान्वशगांश्चक्रे करं चैनानदापयत् ।
अथोत्तरां दिशं गत्वा वशे चक्रे नराधिपान् ॥ ४ ॥
भगदत्तं च निर्जित्य राधेयो गिरिमारुहत् ।
हिमवंतं महाशैलं युध्यमानश्च शत्रुभिः ॥ ५ ॥

दो सौ चौवन अध्याय ॥२५४॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजेन्द्र! सेना-सहित महाबली कर्ण ने जाकर महाराज द्रुपद की राजधानी पर चढ़ाई की। युद्ध में वीर द्रुपद को अपने अधीन करके कर्ण ने उनसे कर के रूप में सुवर्ण चांदी और तरह-तरह के रत्न प्राप्त किये। फिर महाराज द्रुपद के अनुगत अन्य राजाओं को हराकर और उनसे कर प्राप्त करके कर्ण उत्तर दिशा की ओर चला गया।१।४।

वहा के सब राजाओं को हराकर, महाराज भगदत्त को अपने अधीन करके, कर्ण गिरिराज हिमालय पर पहुँचा। वहा के पर्वती राजाओं को जीतकर उसने

प्रययौ च दिशः सर्वान्नृपतीन्वशमानयत् ।
स हैमवतिकाञ्जित्वा करं सर्वानदापयत् ॥ ६ ॥
नेपालविषये ये च राजानस्तानवाजयत् ।
अवतीर्य ततः शैलात्पूर्वां दिशमभिद्रुतः ॥ ७ ॥
अंगान्वंगान्कलिंगांश्च शुंडिकान्मिथिलानथ ।
मागधान्कर्कखंडांश्च निवेश्य विषयेऽऽत्मनः ॥ ८ ॥
आवशीरांश्च योध्यांश्च अहिक्षत्रं च निर्जयत् ।
पूर्वां दिशं विनिर्जित्य वत्सभूमिं तथाऽगमत् ॥ ९ ॥
वत्सभूमिं विनिर्जित्य केवलां मृत्तिकावतीम् ।
मोहनं पत्तनं चैव त्रिपुरीं कोसलां तथा ॥ १० ॥
एतान्सर्वान्विनिर्जित्य करमादाय सर्वशः ।
दक्षिणां दिशमास्थाय कर्णो जित्वा महारथान् ॥ ११ ॥
रुक्मिणं दाक्षिणात्येषु योधयामास सूतजः ।
स युद्धं तुमुलं कृत्वा रुक्मी प्रोवाच सूतजम् ॥ १२ ॥
प्रीतोऽस्मि तव राजेंद्र विक्रमेण बलेन च ।
न ते विघ्नं करिष्यामि प्रतिज्ञां समपालयम् ॥ १३ ॥
प्रीत्या चाऽहं प्रयच्छामि हिरण्यं यावदिच्छसि ।
समेत्य रुक्मिणा कर्णः पांड्यं शैलं च सोऽगमत् ॥ १४ ॥

उनसे कर प्राप्त किया। नेपाल देश के राजाओं को जीतकर, पर्वती स्थान से उतरकर, कर्ण पूर्व दिशा को गया। पूर्व में अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, शुण्डिक, मिथिला, मगध, कर्कखण्ड, आवशीर, योध्य और अहिक्षत्र आदि देशों को जीतकर उसने दुर्योधन के साम्राज्य में मिला लिया। इस प्रकार पूर्व दिशा को जीतकर कर्ण वत्सभूमि नाम के देश में पहुंचा। वहा जय प्राप्त करके उसने केवला, मृत्तिकावती, मोहन, पत्तन, त्रिपुरा और कोशल आदि नगरों तथा देशों को अपने अधीन किया और वहा के राजाओं से कर लिया। वहा से दक्षिण दिशा में जाकर कर्ण ने कई महारथी दक्षिणी राजाओं को जीता ॥५।११॥

यहीं रुक्मी से और कर्ण से भयङ्कर युद्ध हुआ। कुछ समय तक युद्ध करने के पश्चात् रुक्मी ने कर्ण से कहा—हे राजेन्द्र ! तुम्हारे बल और पराक्रम को देखकर मैं बहुत ही प्रसन्न हुआ। अब मैं तुम्हारे दिग्विजय में विघ्न करना नहीं चाहता। क्षत्रिय के धर्म का पालन करने के लिए ही मैंने तुमसे युद्ध

स केरलं रणे चैव नीलं चापि महीपतिम् ।
वेणुदारिसुतं चैव ये चाऽन्ये नृपसत्तमाः ॥ १५ ॥
दक्षिणस्यां दिशि नृपान्करान्सर्वानदापयत् ।
शैशुपालिं ततो गत्वा विजिग्ये सूतनंदनः ॥ १६ ॥
पार्श्वस्थांश्चापि नृपतीन्वशे चक्रे महावलः ।
आवंत्यांश्च वशे कृत्वा साम्ना च भरतर्षभ ।
वृष्णिभिः सह संगम्य पश्चिमामपि निर्जयत् ॥ १७ ॥
वारुणीं दिशमागम्य यावनान्बर्बरांस्तथा ।
नृपान्पश्चिमभूमिस्थान्दापयामास वै करान् ॥ १८ ॥
विजित्य पृथिवीं सर्वां सपूर्वापरदक्षिणाम् ।
सम्लेच्छाटविकान्वीरः सपर्वतनिवासिनः ॥ १९ ॥
भद्रान्रोहितकांश्चैव आग्नेयान्मालवानपि ।
गणान्सर्वान्विनिर्जित्य नीतिकृत्प्रहसन्निव ॥ २० ॥
शशकान्यवनांश्चैव विजिग्ये सूतनंदनः ।
नग्नजित्प्रमुखांश्चैव गणाञ्जित्वा महारथान् ॥ २१ ॥
एवं स पृथिवीं सर्वां वशे कृत्वा महारथः ।
विजित्य पुरुषव्याघ्रो नागमाह्वयमागमत् ॥ २२ ॥

ठाना था। अब मैं तुमको प्रसन्नतापूर्वक कर देता हूं, जितना चाहो उतना सुवर्ण ले लो ॥१२।१४॥

रुक्मी को साथ लेकर कर्ण पाण्ड्य और शैल प्रदेश में गया। उसने वहा के राजाओं को भी जीता। आगे बढ़कर केरल, नील, वेणुदारिसुत आदि अनेक श्रेष्ठ और वीर राजाओं को भी जीतकर उनसे उसने कर लिया। वहा से चलकर उसने शिशुपाल के पुत्र को जीता, और आसपास के अन्य राजाओं से भी कर प्राप्त किया। वहा स उज्जैन जाकर वहा के राजाओं को उसने मेल से अपना मित्र बनाकर कर लिया। फिर वृष्णिवंश के यादव वीरों को साथ लेकर कर्ण ने पश्चिम दिशा को भी जीत लिया ॥१५।१७॥

वहा से यवन, बर्बर आदि जातियों को भी जीतकर उनसे कर लिया। महारथी कर्ण ने भद्र, रोहितक, आग्नेय, मालव, शशक आदि गणों, म्लेच्छ जातियों, जङ्गली और पर्वती जातियों, और नग्नजित् आदि महारथियों के समूहों को भी सहज ही में जीत लिया ॥१८।२१॥

महारथी कर्ण इस प्रकार सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डल को जीतकर हस्तिनापुर में लौट आया। भाई-बन्धु और भीष्म आदि बड़े-बूढ़ों के साथ जाकर दुर्योधन ने कर्ण की अगवानी की। दुर्योधन ने विधिपूर्वक

तमागतं महेष्वासं धार्त्तराष्ट्रो जनाधिपः ।
प्रत्युद्गम्य महाराज सभ्रातृपितृबांधवः ॥ २३ ॥
अर्चयामास विधिना कर्णमाहवशोभिनम् ।
आश्रावयच्च तत्कर्म प्रीयमाणो जनेश्वरः ॥ २४ ॥
यन्न भीष्मान्न च द्रोणान्न कृपान्न च बाह्लिकात् ।
प्राप्तवानस्मि भद्रं ते त्वत्तः प्राप्तं मया हि तत् ॥ २५ ॥
बहुना च किमुक्तेन श्रृणु कर्ण वचो मम ।
सनाथोऽस्मि महाबाहो त्वया नाथेन सत्तम ॥ २६ ॥
न हि ते पांडवाः सर्वे कलामर्हंति षोडशीम् ।
अन्ये वा पुरुषव्याघ्र राजानोऽभ्युदितोदिताः ॥ २७ ॥
स भवान्धृतराष्ट्रं तं गांधारीं च यशस्विनीम् ।
पश्य कर्ण महेष्वास अदितिं वज्रभृद्यथा ॥ २८ ॥
ततो हलहलाशब्दः प्रादुरासीद्विशांपते ।
हाहाकाराश्च बहवो नगरे नागसाह्वये ॥ २९ ॥
केचिदेनं प्रशंसंति निंदंति स्म तथाऽपरे ।
तूष्णीमासंस्तथा चाऽन्ये नृपास्तत्र जनाधिप ॥ ३० ॥
एवं विजित्य राजेंद्र कर्णः शस्त्रभृतां वरः ।
सपर्वतवनाकाशां ससमुद्रां सनिष्कुटाम् ॥ ३१ ॥

महारथी कर्ण का स्वागत करके उसका सम्मान किया। अब कर्ण के दिग्विजय की घोषणा की गई। फिर प्रसन्न होकर दुर्योधन ने कर्ण से कहा—हे कर्ण! तुम्हारा भला हो। भीष्म, कृप, बाह्लिक, द्रोण आदि मिलकर जो मेरा कार्य नहीं कर सके, वह कार्य आज तुमने अकेले कर दिखाया। भाई कर्ण! और अधिक क्या कहूं, तुमको सहायक पाकर आज मैं अपने आप को सनाथ समझ रहा हूं ॥२२।२६॥

पाण्डव लोग या अन्य प्रतापी श्रेष्ठ राजा तुम्हारे आगे रुपये में एक आने भर भी नहीं हैं। हे महाधनुर्द्धर! अदिति के पास जैसे इन्द्र जाते हैं वैसे ही तुम भी यशस्विनी गान्धारी और महाराज धृतराष्ट्र के पास चलकर उनके दर्शन करो ॥२७।२८॥

हे राजेन्द्र! अब हस्तिनापुर में चारों ओर महा हाहाकार शब्द सुन पड़ने लगा। कोई कर्ण की निन्दा कर रहा था, कोई प्रशंसा कर रहा था और कोई शान्तिपूर्वक बैठा था। हे राजेन्द्र! श्रेष्ठ योद्धा कर्ण ने इस प्रकार पर्वत, वन, समुद्र, खेत, नगर, द्वीप,

देशैरुच्चावचैः पूर्णां पत्तनैर्नगरैरपि ।
द्वीपैश्चाऽनूपसंपूर्णैः पृथिवीं पृथिवीपते ॥ ३२ ॥
कालेन नाऽतिदीर्घेण वशे कृत्वा तु पार्थिवान् ।
अक्षयं धनमादाय सूतजो नृपमभ्ययात् ॥ ३३ ॥
प्रविश्य च गृहं राजन्नभ्यंतरमरिंदम ।
गांधारीसहितं वीरो धृतराष्ट्रं ददर्श सः ॥ ३४ ॥
पुत्रवच्च नरव्याघ्र पादौ जग्राह धर्मवित् ।
धृतराष्ट्रेण चाऽऽश्लिष्य प्रेम्णा चापि विसर्जितः ॥ ३५ ॥
तदा प्रभृति राजा च शकुनिश्चापि सौबलः ।
जानते निर्जितान्पार्थान्कर्णेन युधि भारत ॥ ३६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि घोषयात्रापर्वणि कर्णदिग्विजये चतुष्पंचाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

गाँव, अनूप (चारों ओर से जल से घिरे स्थान) आदि सहित पृथ्वी को जीतकर, राजाओं को वश में करके, उनसे बहुत सा धन लाकर दुर्योधन को दिया ॥२९।३३॥

हे शत्रुनाशन जनमेजय ! फिर रनिवास में आकर वीर कर्ण ने गान्धारी और धृतराष्ट्र के दर्शन किये । उसने पुत्र की तरह भक्ति से धर्मशील धृतराष्ट्र और गान्धारी के चरणों में प्रणाम किया । धृतराष्ट्र ने स्नेह के साथ उसे गले से लगा लिया । धृतराष्ट्र से आज्ञा लेकर कर्ण अपने घर गया । हे महाराज ! तभी से दुर्योधन और शकुनि को यह निश्चय हो गया कि महारथी कर्ण पाँचों पाण्डवों को जीत लेगा ॥३४।३६॥

—०—

वनपर्व का दो सौ चौवन अध्याय समाप्त हुआ ॥२५४॥

अथ पंचपंचाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२५५॥

वैशम्पायन उवाच—जित्वा तु पृथिवीं राजन्सूतपुत्रो जनाधिप ।
अब्रवीत्परवीरघ्नो दुर्योधनमिदं वचः ॥ १ ॥
कर्ण उवाच– दुर्योधन निबोधेदं यत्त्वां वक्ष्यामि कौरव ।
श्रुत्वा वाचं तथा सर्वं कर्तुमर्हस्यरिंदम ॥ २ ॥

दो सौ पचपन अध्याय ॥२५५॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजेन्द्र ! इस प्रकार पृथ्वीमण्डल को जीतकर कर्ण ने दुर्योधन से कहा–हे कुरुश्रेष्ठ ! मैं तुमसे जो कहता हूं उसे मन लगाकर सुनो और उसी के अनुसार कार्य करो । हे महा-

तवाऽद्य पृथिवी वीर निःसपत्ना नृपोत्तम ।
तां पालय यथा शक्रो हतशत्रुर्महामनाः ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तस्तु कर्णेन कर्णं राजाऽब्रवीत्पुनः ।
न किंचिद्दुर्लभं तस्य यस्य त्वं पुरुषर्षभ ॥ ४ ॥
सहायश्चाऽनुरक्तश्च मदर्थं च समुद्यतः ।
अभिप्रायस्तु मे कश्चित्तं वै शृणु यथातथम् ॥ ५ ॥
राजसूयं पांडवस्य दृष्ट्वा क्रतुवरं महत् ।
मम स्पृहा समुत्पन्ना तां संपादय सूतज ॥ ६ ॥
एवमुक्तस्ततः कर्णो राजानमिदमब्रवीत् ।
तवाऽद्य पृथिवीपाला वश्याः सर्वे नृपोत्तम ॥ ७ ॥
आहूयंतां द्विजवराः संभाराश्च यथाविधि ।
संभ्रियंतां कुरुश्रेष्ठ यज्ञोपकरणानि च ॥ ८ ॥
ऋत्विजश्च समाहूता यथोक्ता वेदपारगाः ।
क्रियां कुर्वंतु ते राजन्यथाशास्त्रमरिंदम ॥ ९ ॥
बह्वन्नपानसंयुक्तः सुसमृद्धगुणान्वितः ।
प्रवर्ततां महायज्ञस्तवापि भरतर्षभ ॥ १० ॥
एवमुक्तस्तु कर्णेन धार्त्तराष्ट्रो विशांपते ।
पुरोहितं समानाय्य वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ११ ॥

राज ! पृथ्वी पर अब तुम्हारा कोई शत्रु नहीं रहा। अब तुम इन्द्र की तरह पृथ्वी का निष्कण्टक राज्य करो ॥१।३॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजेन्द्र ! कर्ण के ये वाक्य सुनकर अब दुर्योधन ने कहा—हे कर्ण ! तुम जिसके सहायक हो, जिस पर स्नेह रखते हो और जिसका कार्य बनाने के लिए प्रस्तुत हो, उसके लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है। इस समय मेरे मन में एक इच्छा उत्पन्न हुई है, सो सुनो। पाण्डवों का राजसूय यज्ञ जब से मैंने देखा है तब से यह यज्ञ करने के लिए मैं बहुत ही उत्सुक हो रहा हू। हे मित्र ! तुम मेरी यह इच्छा पूरी करो ॥४।६॥

हे महाराज ! दुर्योधन के ये वाक्य सुनकर कर्ण ने कहा—हे राजेन्द्र ! इस समय पृथ्वी भर के सब राजा तुम्हारी आज्ञा में हैं, इसलिए तुम राजसूय यज्ञ कर सकते हो। अभी ब्राह्मणों को बुलाकर यज्ञ की सामग्री एकत्र करने की तैयारी करो। हे शत्रुदमन ! वेद-पाठी ऋत्विजों को बुलाओ;

राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं समाप्तवरदक्षिणम् ।
आहर त्वं मम कृते यथान्यायं यथाक्रमम् ॥ १२ ॥
स एवमुक्तो नृपतिमुवाच द्विजसत्तमः ।
न स शक्यः क्रतुश्रेष्ठो जीवमाने युधिष्ठिरे ॥ १३ ॥
आहर्तुं कौरवश्रेष्ठ कुले तव नृपोत्तम ।
दीर्घायुर्जीवति च ते धृतराष्ट्रः पिता नृप ॥ १४ ॥
अतश्चापि विरुद्धस्ते क्रतुरेष नृपोत्तम ।
अस्ति त्वन्यन्महत्सत्रं राजसूयसमं प्रभो ॥ १५ ॥
तेन त्वं यज राजेंद्र शृणु चेदं वचो मम ।
य इमे पृथिवीपालाः करदास्तव पार्थिव ॥ १६ ॥
ते करान्संप्रयच्छंतु सुवर्णं च कृताकृतम् ।
तेन ते क्रियतामद्य लांगलं नृपसत्तम ॥ १७ ॥
यज्ञवाटस्य ते भूमिः कृष्यतां तेन भारत ।
तत्र यज्ञो नृपश्रेष्ठ प्रभूतान्नः सुसंस्कृतः ॥ १८ ॥
प्रवर्त्ततां यथान्यायं सर्वतो ह्यनिवारितः ।
एष ते वैष्णवो नाम यज्ञः सत्पुरुषोचितः ॥ १९ ॥
एतेन नेष्टवान्कश्चिद्दते विष्णु पुरातनम् ।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं स्पर्धत्येष महाक्रतुः ॥ २० ॥

वे लोग आकर शास्त्रोक्त रीति से समृद्धि सम्पन्न यज्ञ आरम्भ कर दें । हे राजेन्द्र ! महायज्ञ में तुम भोजन-वस्त्र आदि देकर याचकों को सन्तुष्ट करो। हे महाराज ! अब दुर्योधन ने अपने कुल पुरोहित को बुलाकर कहा—हे द्विजवर ! आप मेरे लिए बहुत दक्षिणावाले महायज्ञ राजसूय का विधिपूर्वक अनुष्ठान कीजिए ॥७।१२॥

पुरोहित ने कहा—हे कुरुकुल श्रेष्ठ ! जब तक महाराज युधिष्ठिर जीते हैं तब तक तुम्हारे कुल में और कोई राजसूय यज्ञ नहीं कर सकता, विशेष कर अभी तुम्हारे दीर्घायु पिता जीवित हैं, इस कारण भी तुम राजसूय यज्ञ करने के अधिकारी नहीं। हे राजेन्द्र ! राजसूय के समान श्रेष्ठ एक और महायज्ञ है । तुम मेरी बात मानकर वही महायज्ञ करो। जिन राजाओं ने तुम्हारी अधीनता स्वीकार करके तुमको कर दिया है वे तुमको सुवर्ण दें । तुम उसी सुवर्ण का एक हल बनवाओ । उस हल से यज्ञभूमि जोतकर शुद्ध की जायगी । उसी

अस्माकं रोचते चैव श्रेयश्च तव भारत ।
निर्विघ्नश्च भवत्येष सफला स्यात्स्पृहा तव ॥ २१ ॥
एवमुक्तस्तु तैर्विप्रैर्धार्त्तराष्ट्रो महीपतिः ।
कर्णं च सौबलं चैव भ्रातृंश्चैवेदमब्रवीत् ॥ २२ ॥
रोचते मे वचः कृत्स्नं ब्राह्मणानां न संशयः ।
रोचते यदि युष्माकं तस्मात्प्रब्रूत मा चिरम् ॥ २३ ॥
एवमुक्तास्तु ते सर्वे तथेत्यूचुर्नराधिपम् ।
संदिदेश ततो राजा व्यापारस्थान्यथाक्रमम् ॥ २४ ॥
हलस्य करणे चापि व्यादिष्टाः सर्वशिल्पिनः ।
यथोक्तं च नृपश्रेष्ठ कृतं सर्वं यथाक्रमम् ॥ २५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनयज्ञसमारम्भे पंचपंचाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

जुती हुई भूमि पर विधि के अनुसार यज्ञ होगा। उस यज्ञ में तुम यथेष्टरूप से अन्नदान करना। इस यज्ञ को वैष्णव यज्ञ कहते हैं। इसे श्रेष्ठ और समृद्धिशाली पुरुष ही कर सकते हैं। सबसे पहले विष्णु भगवान् ने यह यज्ञ किया था। फिर किसी ने आज तक नहीं किया। हे भारत! यह यज्ञ राजसूय के ही समान है। हम लोग चाहते हैं कि तुम यह यज्ञ करो। इस यज्ञ में कोई विघ्न भी नहीं होता। इस यज्ञ को करने से तुम्हारी इच्छा पूरी होगी ॥१३।२१॥

पुरोहित आदि ब्राह्मणों के ये वाक्य सुनकर राजा दुर्योधन ने कर्ण, शकुनि और भाइयों से कहा—ब्राह्मणों की यह सम्मति मुझे ठीक जान पड़ती है। तुम लोग अपनी सम्मति दो। यह सुनकर उन लोगों ने कहा—तो बस महाराज, वही यज्ञ कीजिए। तब दुर्योधन ने कार्य-कुशल लोगों को उनके योग्य कार्य करने की और कारीगरों को सुवर्ण का हल बनाने की आज्ञा दी। दुर्योधन की आज्ञा से सब कार्य हुए। सब सामग्री शीघ्र एकत्र कर ली गई ॥२२।२५॥

वनपर्व का दो सौ पचपन अध्याय समाप्त हुआ ॥२५५॥

अथ षट्पंचाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२५६॥

वैशम्पायन उवाच—ततस्तु शिल्पिनः सर्वे अमात्यप्रवराश्च ये ।
विदुरश्च महाप्राज्ञो धार्त्तराष्ट्रे न्यवेदयत् ॥ १ ॥

दो सौ छप्पन अध्याय ॥२५६॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजा जनमेजय! इसके पश्चात् सब कारीगरों और सेवकों ने दुर्योधन को सूचना दी कि हे महाराज! आपकी आज्ञा के अनुसार सब सामग्री तैयार है। महामति विदुर ने

सज्जं क्रतुवरं राजन्कालप्राप्तं च भारत ।
सौवर्णं च कृतं सर्वं लांगलं च महाधनम् ॥ २ ॥
एतच्छ्रुत्वा नृपश्रेष्ठो धार्त्तराष्ट्रो विशांपते ।
आज्ञापयामास नृपः क्रतुराजप्रवर्त्तनम् ॥ ३ ॥
ततः प्रववृते यज्ञः प्रभूतान्नः सुसंस्कृतः ।
दीक्षितश्चापि गांधारिर्यथाशास्त्रं यथाक्रमम् ॥ ४ ॥
प्रहृष्टो धृतराष्ट्रश्च विदुरश्च महायशाः ।
भीष्मो द्रोणः कृपः कर्णो गांधारी च यशस्विनी ॥ ५ ॥
निमंत्रणार्थं दूतांश्च प्रेषयामास शीघ्रगान् ।
पार्थिवानां च राजेंद्र ब्राह्मणानां तथैव च ॥ ६ ॥
ते प्रयाता यथोद्दिष्टा दूतास्त्वरितवाहनाः ।
तत्र कंचित्प्रयातं तु दूतं दुःशासनोऽब्रवीत् ॥ ७ ॥
गच्छ द्वैतवनं शीघ्रं पांडवान्पापपूरुषान् ।
निमंत्रय यथान्यायं विप्रांस्तस्मिन्वने तदा ॥ ८ ॥
स गत्वा पांडवान्सर्वानुवाचाऽभिप्रणम्य च ।
दुर्योधनो महाराज यजते नृपसत्तमः ॥ ९ ॥
स्ववीर्यार्जितमर्थौघमवाप्य कुरुसत्तमः ।
तत्र गच्छंति राजानो ब्राह्मणाश्च ततस्ततः ॥ १० ॥

धृतराष्ट्र से जाकर कहा—हे राजेन्द्र ! यज्ञ का समय आ गया है । सब सामग्री एकत्र कर ली गई है और सुवर्ण का बहुमूल्य हल भी बन गया। हे जनमेजय ! यह सूचना पाकर धृतराष्ट्र ने यज्ञ का आरम्भ होने की आज्ञा दे दी । वेदोक्त संस्कारों के उपरान्त उस यज्ञ का आरम्भ हुआ। याचकों को अन्न और धन बाँटा जाने लगा । शास्त्र की विधी के अनुसार दुर्योधन ने यज्ञ की दीक्षा ली ॥१।४॥

महायशस्वी विदुर, धृतराष्ट्र, भीष्म, द्रोण, कृप, कर्ण और यशस्विनी गान्धारी आदि को बड़ी ही प्रसन्नता हुई। चारों ओर शीघ्रगामी दूत, ब्राह्मणों और राजाओं को निमन्त्रण देने के लिए, भेजे जाने लगे। वे दूत शीघ्र चलनेवाले वाहनों पर चढ़कर इधर-उधर जाने लगे । दु शासन ने एक दूत से कहा—तुम शीघ्र द्वैतवन में जाकर पापी पाण्डवों को और वहा के ब्राह्मणों को यज्ञ में आने के लिए, न्याया-नुसार, न्यौता दो ॥५।८॥

उस दूत ने पाण्डवों के पास जाकर, उन्हें प्रणाम करके, कहा—हे महाराज ! राजाओं में श्रेष्ठ महाराज दुर्योधन ने अपने पराक्रम से प्राप्त

अहं तु प्रेषितो राजन्कौरवेण महात्मना ।
आमंत्रयति वो राजा धार्त्तराष्ट्रो जनेश्वरः ॥ ११ ॥
मनोभिलषितं राज्ञस्तं क्रतुं द्रष्टुमर्हथ ।
ततो युधिष्ठिरो राजा तच्छ्रुत्वा दूतभाषितम् ॥ १२ ॥
अब्रवीन्नृपशार्दूलो दिष्ट्या राजा सुयोधनः ।
यजते क्रतुमुख्येन पूर्वेषां कीर्तिवर्धनः ॥ १३ ॥
वयमप्युपयास्यामो न त्विदानीं कथंचन ।
समयः परिपाल्यो नो यावद्वर्षं त्रयोदशम् ॥ १४ ॥
श्रुत्वैतद्धर्मराजस्य भीमो वचनमब्रवीत् ।
तदा तु नृपतिर्गंता धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १५ ॥
अस्त्रशस्त्रप्रदीप्तेऽग्नौ यदा तं पातयिष्यति ।
वर्षात्त्रयोदशादूर्ध्वं रणसत्रे नराधिपः ॥ १६ ॥
यदा क्रोधहविर्मोक्ता धार्त्तराष्ट्रेषु पांडवः ।
आगताऽहं तदाऽस्मीति वाच्यस्ते स सुयोधनः ॥ १७ ॥
शेषास्तु पांडवा राजन्नैवोचुः किंचिदप्रियम् ।
दूतश्चापि यथावृत्तं धार्त्तराष्ट्रे न्यवेदयत् ॥ १८ ॥
अथाऽऽजग्मुर्नरश्रेष्ठा नानाजनपदेश्वराः ।

किये हुए धन से महायज्ञ आरम्भ कर दिया है। अनेक स्थानों से बहुत से राजा और ब्राह्मण वहां जा रहे हैं। हे राजेन्द्र! महाराज दुर्योधन ने मुझे आपके पास भेजा है। उन्होंने आप लोगों को भी उस यज्ञ में चलने के लिए निमन्त्रण भेजा है। आप लोग चलकर महाराज दुर्योधन के अभिलषित उस यज्ञ को देखिए ॥९।१२॥

दूत के मुंह से ये वाक्य सुनकर महाराज युधिष्ठिर ने कहा—बड़े भाग्य की बात है कि पूर्व-पुरुषों की कीर्ति बढ़ानेवाले राजा दुर्योधन ने महायज्ञ आरम्भ किया है। उसमें हमारा भी उपस्थित होना उचित था, किन्तु हम इस समय नहीं जा सकते। हमें तो अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार तेरह वर्ष तक वन में ही रहना है। धर्मराज के ये वाक्य सुनकर भीमसेन ने कहा—हे दूत! तुम दुर्योधन से जाकर कहना कि धर्मराज युधिष्ठिर तेरह वर्ष के उपरान्त वहां जायेंगे और युद्ध-यज्ञ में, अस्त्र-शस्त्र की प्रज्वलित अग्नि में उसे डालकर पूर्णाहुति देंगे। जिस समय पाण्डव युधिष्ठिर कौरवों पर क्रोध की आहुति छोड़ेंगे उस समय हम लोग वहां आयेंगे। हे राजा जनमेजय! अर्जुन आदि ने कुछ अप्रिय वचन नहीं कहा। वहां से दुर्योधन के पास जाकर

ब्राह्मणाश्च महाभाग धार्त्तराष्ट्रपुरं प्रति ॥ १९ ॥
ते त्वर्चिता यथाशास्त्रं यथाविधि यथाक्रमम् ।
मुदा परमया युक्ताः प्रीताश्चापि नरेश्वराः ॥ २० ॥
धृतराष्ट्रोऽपि राजेंद्र संवृतः सर्वकौरवैः ।
हर्षेण महता युक्तो विदुरं प्रत्यभाषत ॥ २१ ॥
यथा सुखी जनः सर्वः क्षत्तः स्यादन्नसंयुतः ।
तुष्येत्तु यज्ञसदने तथा क्षिप्रं विधीयताम् ॥ २२ ॥
विदुरस्तु तदाज्ञाय सर्ववर्णानरिंदम ।
यथाप्रमाणतो विद्वान्पूजयामास धर्मवित् ॥ २३ ॥
भक्ष्यपेयान्नपानेन माल्यैश्चापि सुगंधिभिः ।
वासोभिर्विविधैश्चैव योजयामास हृष्टवत् ॥ २४ ॥
कृत्वा ह्यावसथान्वीरो यथाशास्त्रं यथाक्रमम् ।
सांत्वयित्वा च राजेंद्रो दत्वा च विविधं वसु ॥ २५ ॥
विसर्जयामास नृपान्ब्राह्मणांश्च सहस्रशः ।
विसृज्य च नृपान्सर्वान्भ्रातृभिः परिवारितः ॥ २६ ॥
विवेश हास्तिनपुरं सहितः कर्णसौबलैः ॥ २७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनयज्ञे षट्पंचाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः २५६

दूत ने यह सब कह सुनाया ॥१३।१८॥

उधर अनेक देशों के राजा और ब्राह्मण दुर्योधन का यज्ञ देखने को हस्तिनापुर में आने लगे। शास्त्र की विधि के अनुसार क्रम से उन सबकी पूजा और सत्कार किया गया और वे भी उससे बहुत प्रसन्न हुए। तब कौरव-मण्डली में बैठे हुए धृतराष्ट्र ने बड़े हर्ष के साथ विदुर से कहा—हे विदुर! ऐसा प्रबन्ध करो कि आये हुए सब लोगों को कोई कष्ट न हो; सब लोग खाने-पीने की मनमानी सामग्री, पाकर सन्तुष्ट हों। धृतराष्ट्र की आज्ञा के अनुसार धर्मात्मा विदुर खाने-पीने की सामग्री, सुगन्धित माला और विविध वस्त्र आदि से सभी वर्ण के लोगों का सत्कार करने लगे। हे महाराज! दुर्योधन ने विधि के अनुसार यज्ञ समाप्त करके अवभृथ स्नान किया। फिर ब्राह्मणों को बहुत सा धन देकर, विनय से सन्तुष्ट कर, विदा किया। आये हुए राजाओं को भी सत्कार और मधुर वचनों से प्रसन्न करके अपने-अपने देश को जाने की आज्ञा दी। इस प्रकार यज्ञ को सकुशल समाप्त करके कर्ण, शकुनि और अपने भाइयों सहित दुर्योधन हस्तिनापुर में गया ॥१९।२७॥

— ०:—

वनपर्व का दो सौ छप्पन अध्याय समाप्त हुआ ॥२५६॥

अथ सप्तपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्याय ॥२५७॥

वैशम्पायन उवाच—प्रविशंतं महाराज सूतास्तुष्टुवुरच्युतम् ।
जनाश्चापि महेष्वासं तुष्टुवू राजसत्तम ॥ १ ॥
लाजैश्चंदनचूर्णैश्च विकीर्य च जनास्ततः ।
ऊचुर्दिष्ट्या नृपाऽविघ्नः समाप्तोऽयं क्रतुस्तव ॥ २ ॥
अपरे त्वब्रुवंस्तत्र वातिकास्तं महीपतिम् ।
युधिष्ठिरस्य यज्ञेन न समो ह्येष ते क्रतुः ॥ ३ ॥
नैव तस्य क्रतोरेष कलामर्हति षोडशीम् ।
एवं तत्राऽब्रुवन्केचिद्वातिकास्तं जनेश्वरम् ॥ ४ ॥
सुहृदस्त्वब्रुवंस्तत्र अतिसर्वानयं क्रतुः ।
ययातिर्नहुषश्चापि मांधाता भरतस्तथा ॥ ५ ॥
क्रतुमेनं समाहृत्य पूताः सर्वे दिवं गताः ।
एता वाचः शुभाः शृण्वन्सुहृदां भरतर्षभ ॥ ६ ॥
प्रविवेश पुरं हृष्टः स्ववेश्म च नराधिपः ।
अभिवाद्य ततः पादौ मातापित्रोर्विशांपते ॥ ७ ॥
भीष्मद्रोणकृपादीनां विदुरस्य च धीमतः ।
अभिवादितः कनीयोभिर्भ्रातृभिर्भ्रातृनंदनः ॥ ८ ॥

दो सौ सत्तावन अध्याय ॥२५७॥

वैशम्पायन ने कहा—हे महाराज ! महावीर योद्धा दुर्योधन ने जब यज्ञ के उपरान्त नगर में प्रवेश किया तब सूत-मागध लोग अनेक प्रकार से उनकी स्तुति करने लगे। और लोग भी स्तुति के वचन कहते हुए उस पर खीलें और चन्दन चूर्ण बरसाने लगे। बहुत से लोग कहने लगे—हे राजेन्द्र ! बड़े भाग्य की बात है कि आपका यह यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हो गया। वायु ग्रस्त पागलों के समान कुछ खुशामदी लोग कहने लगे कि आपका यह यज्ञ युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ से कहीं बढ़-चढ़कर हुआ है, वह यज्ञ इस यज्ञ के आगे सोलह आने में एक आने भर भी न था। कुछ उचित वक्ता लोगों ने इसके विपरीत कहा कि आपका यह यज्ञ युधिष्ठिर के यज्ञ के बराबर कैसा, उसके आगे रुपये में एक आने भर भी नहीं हुआ ॥१।४॥

दुर्योधन के कुछ इष्ट-मित्र कहने लगे—हे राजेन्द्र ! आपका यह यज्ञ सब महायज्ञों से बढ़कर हुआ है। राजा ययाति, नहुष, मान्धाता और भरत इस यज्ञ को करके पवित्र हुए और स्वर्ग को गये हैं। हे राजा जनमेजय ! इस तरह सब लोगों की तरह-

निषसादाऽऽसने मुख्ये भ्रातृभिः परिवारितः ।
तमुत्थाय महाराजं सूतपुत्रोऽब्रवीद्वचः ॥ ९ ॥
दिष्ट्या ते भरतश्रेष्ठ समाप्तोऽयं महाक्रतुः ।
हतेषु युधि पार्थेषु राजसूये तथा त्वया ॥ १० ॥
आहृतेऽहं नरश्रेष्ठ त्वां सभाजयिता पुनः ।
तमब्रवीन्महाराजो धार्त्तराष्ट्रो महायशाः ॥ ११ ॥
सत्यमेतत्त्वयोक्तं हि पांडवेषु दुरात्मसु ।
निहतेषु नरश्रेष्ठ प्राप्ते चापि महाक्रतौ ॥ १२ ॥
राजसूये पुनर्वीर त्वमेवं वर्धयिष्यसि ।
एवमुक्त्वा महाराज कर्णमाश्लिष्य भारत ॥ १३ ॥
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं चिंतयामास कौरवः ।
सोऽब्रवीत्कौरवांश्चापि पार्श्वस्थान्नृपसत्तमः ॥ १४ ॥
कदा तु तं क्रतुवरं राजसूयं महाधनम् ।
निहत्य पांडवान्सर्वानाहरिष्यामि कौरवाः ॥ १५ ॥
तमब्रवीत्तदा कर्णः शृणु मे राजकुंजर ।
पादौ न धावये तावद्यावन्न निहतोऽर्जुनः ॥ १६ ॥

तरह की बातें और मित्रों की की हुई अपनी स्तुति सुनते हुए दुर्योधन ने प्रसन्नतापूर्वक नगर में प्रवेश किया। अपने महल में पहुँचकर दुर्योधन ने भीष्म, द्रोण, कृप, विदुर और अपने पिता-माता को यथोचित रूप से प्रणाम किया। छोटे भाइयों ने उसके चरणों में प्रणाम किया। इसके पश्चात् वह अपने भाइयों के साथ सुन्दर श्रेष्ठ बहुमूल्य सिंहासन पर विराजमान हुआ ॥५।९॥

अब महावीर कर्ण ने उठकर दुर्योधन से कहा—हे राजेन्द्र! बड़ी प्रसन्नता की बात है कि तुम्हारा यह यज्ञ निर्विघ्न रूप से समाप्त हो गया। अब युद्ध में पाण्डवों को मारकर जब तुम राजसूय यज्ञ करोगे तब फिर मैं इसी तरह तुम्हारा अभिनन्दन और सत्कार करूँगा। यह सुनकर महायशस्वी दुर्योधन ने उससे कहा—हे पुरुषश्रेष्ठ! तुमने यह ठीक ही कहा कि जब मै युद्ध में दुरात्मा पाण्डवों को मारकर राजसूय यज्ञ करूँगा तब तुम फिर इसी तरह मेरा सम्मान करके आनन्द प्रकट करोगे। हे राजा जनमेजय! यों कहकर दुर्योधन ने कर्ण को गले से लगा लिया ॥१०।१४॥

इसके पश्चात् फिर वह राजसूययज्ञ के बारे में सोचकर पास बैठे हुए कौरवों से कहने लगा—वह समय कब आवेगा, कि जब मैं पाण्डवों को मारकर अच्छी तरह धन खर्च करके राजसूय महायज्ञ करूंगा। कर्ण

कीलालजं न खादेयं करिष्ये चाऽसुरव्रतम् ।
नास्तीति नैव वक्ष्यामि याचितो येनकेनचित् ॥ १७ ॥
अथोत्क्रुष्टं महेष्वासैर्धार्तराष्ट्रैर्महारथैः ।
प्रतिज्ञाते फाल्गुनस्य वधे कर्णेन संयुगे ॥ १८ ॥
विजितांश्चाप्यमन्यंत पांडवान्धृतराष्ट्रजाः ।
दुर्योधनोऽपि राजेंद्र विसृज्य नरपुंगवान् ॥ १९ ॥
प्रविवेश गृहं श्रीमान्यथा चैत्ररथं प्रभुः ।
तेऽपि सर्वे महेष्वासा जग्मुर्वेश्मानि भारत ॥ २० ॥
पांडवाश्च महेष्वासा दूतवाक्यप्रचोदिताः ।
चिंतयंतस्तमेवार्थं नाऽलभंत सुखं क्वचित् ॥ २१ ॥
भूयश्च चारै राजेंद्र प्रवृत्तिरुपपादिता ।
प्रतिज्ञा सूतपुत्रस्य विजयस्य वधं प्रति ॥ २२ ॥
एतच्छ्रुत्वा धर्मसुतः समुद्विग्नो नराधिप ।
अभेद्यकवचं मत्वा कर्णमद्भुतविक्रमम् ॥ २३ ॥
अनुस्मरंश्च संक्लेशान्न शांतिमुपयाति सः ।
तस्य चिंतापरीतस्य बुद्धिर्जज्ञे महात्मनः ॥ २४ ॥

ने कहा—हे राजेन्द्र ! सुनो, मै जब तक अर्जुन को नहीं मार लूंगा तब तक दूसरे से अपने पाव नहीं धुलाऊगा, और मद्य-मास का सेवन भी कदापि न करूँगा । दूसरा नियम यह भी ग्रहण करूगा कि जब तक अर्जुन को न मार लूँगा तब तक किसी याचक को विमुख न करूँगा ; अर्थात् कोई कुछ भी मागने आवे तो, वह उसे दे डालूगा—'नाहीं' नहीं करूगा ॥१५।१७॥

इस प्रकार महावीर कर्ण के मुह से युद्ध में अर्जुन के मारने की प्रतिज्ञा सुनकर धृतराष्ट्र के महारथी पुत्र आनन्द के मारे उछल पड़े । उन्होंने विश्वास कर लिया कि अब पाण्डवों को हमने जीत लिया । दुर्योधन भी उसके पश्चात् सब राजाओं और दरबारियों को बिदा करके अपने भवन में इस तरह गया, जैसे कुबेर चैत्ररथ वन में जाते हैं । राजा लोग दुर्योधन से बिदा होकर अपने-अपने घरों को गये ॥१८।२०॥

उधर पाण्डवों ने जब से दूत के मुंह से दुर्योधन के वैष्णव यज्ञ का समाचार सुना तबसे वे उसी के बारे में सोचने लगे । उन्हें किसी तरह कल न पड़ती थी । इसी बीच में एक जासूस ने आकर अर्जुन वध के बारे में कर्ण की प्रतिज्ञा का हाल सुनाया। यह समाचार पाकर महाराज युधिष्ठिर और भी चिन्तित हुए । वे सोचने लगे कि उसका कवच

बहुव्यालमृगाकीर्णं त्यक्तुं द्वैतवनं वनम् ।
धार्त्तराष्ट्रोऽपि नृपतिः प्रशशास वसुंधराम् ॥ २५ ॥
भ्रातृभिः सहितो वीरैर्भीष्मद्रोणकृपैस्तथा ।
संगम्य सूतपुत्रेण कर्णेनाऽऽहवशोभिना ॥ २६ ॥
दुर्योधनः प्रिये नित्यं वर्तमानो महीभृताम् ।
पूजयामास विप्रेंद्रान्क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ॥ २७ ॥
भ्रातृणां च प्रियं राजन्स चकार परंतपः ।
निश्चित्य मनसा वीरो दत्तभुक्तफलं धनम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि घोषयात्रापर्वणि युधिष्ठिरचिंतायां सप्तपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः समाप्तं च घोषयात्रापर्व ।

तोड़ा नहीं जा सकता । फिर उसका पराक्रम भी साधारण नहीं । कर्ण की प्रतिज्ञा और वनवास के क्लेशों का विचार करके युधिष्ठिर व्याकुल हो उठे । चिन्ता से व्याकुल महात्मा धर्मराज उस सर्प, मृग आदि जीव-जन्तुओं से पूर्ण द्वैतवन को छोड़ जाने का विचार करने लगे ॥२१।२५॥

उधर राजा दुर्योधन भी भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य और दुःशासन आदि भाइयों के साथ रहकर महावीर कर्ण की सहायता से सारे पृथ्वीमण्डल का एकच्छत्र राज्य करने लगा । वह नित्य अपने अनुगत राजाओं का प्रिय करने में ही लगा रहता था । बड़ी बड़ी दक्षिणाएँ देकर उसने अनेक यज्ञ किये थे । इस प्रकार ब्राह्मणों को भी वह प्रसन्न रखता था । अपने भाइयों को प्रसन्न रखने में वह किसी प्रकार की कमी नहीं रखता था । दुर्योधन समझता था कि धन का फल दान और भोग ही है । इसी से वह औरों को धन देता और आप भी जी भरकर ऐश्वर्य भोगता रहता था ॥२६।२८॥

वनपर्व का दो सौ सत्तावन अध्याय समाप्त हुआ ॥२५७॥

अथ मृगस्वप्नोद्भवपर्व ।

अथ अष्टपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२५८॥

जनमेजय उवाच—दुर्योधनं मोक्षयित्वा पांडुपुत्रा महाबलाः ।
किमकार्षुर्वने तस्मिंस्तन्ममाऽऽख्यातुमर्हसि ॥ १ ॥
वैशम्पायन उवाच—ततः शयानं कौन्तेयं रात्रौ द्वैतवने मृगाः ।

दो सौ अट्ठावन अध्याय ॥२५८॥

राजा जनमेजय ने पूछा—हे भगवन्! महाबली पाण्डवों ने दुर्योधन को गन्धर्वों के हाथ से छुड़ाकर फिर कौन कौन से कार्य किये ? कृपा करके कहिए ।

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजेन्द्र! एक दिवस, रात्रि

स्वप्नांते दर्शयामासुर्बाष्पकंठा युधिष्ठिरम् ॥ २ ॥
तानब्रवीत्स राजेंद्रो वेपमानान्कृतांजलीन् ।
ब्रूत यद्वक्तुकामाः स्थ के भवंतः किमिष्यते ॥ ३ ॥
एवमुक्ताः पांडवेन कौन्तेयेन यशस्विना ।
प्रत्यब्रुवन्मृगास्तत्र हतशेषा युधिष्ठिरम् ॥ ४ ॥
वयं मृगा द्वैतवने हताशिष्टास्तु भारत ।
नोत्सीदेम महाराज क्रियतां वासपर्ययः ॥ ५ ॥
भवन्तो भ्रातरः शूराः सर्वे एवाऽस्त्रकोविदाः ।
कुलान्यल्पावशिष्टानि कृतवंतो वनौकसाम् ॥ ६ ॥
बीजभूता वयं केचिदवशिष्टा महामते ।
विवर्धेमहि राजेंद्र प्रसादात्ते युधिष्ठिर ॥ ७ ॥
तान्वेपमानान्वित्रस्तान्बीजमात्रावशेषितान् ।
मृगान्दृष्ट्वा सुदुःखार्तो धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ८ ॥
तांस्तथेत्यब्रवीद्राजा सर्वभूतहिते रतः ।
यथा भवंतो ब्रुवते करिष्यामि च तत्तथा ॥ ९ ॥
इत्येवं प्रतिबुद्धः स रात्र्यंते राजसत्तमः ।
अब्रवीत्सहितान्भ्रातॄन्दयापन्नो मृगान्प्रति ॥ १० ॥

के समय, धर्मराज युधिष्ठिर पड़े सो रहे थे कि उन्होंने स्वप्न में देखा कि कुछ मृग आँखों में आँसू भरे, हाथ जोड़े, खड़े काँप रहे हैं। धर्मराज ने उनसे पूछा—तुम कौन हो ? क्या चाहते हो ? बताओ, तुम्हें क्या कहना है ॥१।३॥

उदार-हृदय युधिष्ठिर के यों पूछने पर शिकार में मारे जाने से बचे हुए उन मृगों ने युधिष्ठिर से कहा—हे भरतकुलावतंस ! हम द्वैतवन के रहनेवाले मृग हैं। महाबली अस्त्र-विद्या में निपुण, आपके भाइयों ने हमारे वंश को नष्टप्राय कर दिया है; थोड़े ही मृग बचे हैं। अपने वंश के बीजरूप हम कुछ मृग ही बचे है, जो इस वन में रहते है। इसलिए हे महाराज ! हमारे वंश को निर्मूल न कर डालिए। अब आप कृपा करके अपना निवासस्थान बदल दीजिए तो फिर आपकी कृपा से हमारा वंश बढ़ सकेगा ॥४।७॥

मृगों के ये वाक्य सुनकर, उन्हें भय से काँपते, दुःखित और शरणागत देखकर, सब प्राणियों के शुभचिन्तक युधिष्ठिर ने दुःखित होकर उनसे कहा—हे मृगो ! तुम जो कहते हो वही मैं करूँगा। नृपश्रेष्ठ युधिष्ठिर ने प्रातःकाल उठकर मृगों पर दया करके अपने भाइयों से कहा—हे भाइयो !

उक्तो रात्रौ मृगैरस्मि स्वप्नांते हतशेषितैः ।
तंतुभूताः स्म भद्रं ते दया नः क्रियतामिति ॥ ११ ॥
ते सत्यमाहुः कर्तव्या दयाऽस्माभिर्वनौकसाम् ।
साष्टमासं हि नो वर्षं यदेनानुपयुंक्ष्महे ॥ १२ ॥
पुनर्बहुमृगं रम्यं काम्यकं काननोत्तमम् ।
मरुभूमेः शिरस्थानं तृणविंदुसरः प्रति ॥ १३ ॥
तत्रेमां वसतिं शिष्टां विहरंतो रमेमहि ।
ततस्ते पांडवाः शीघ्रं प्रययुर्धर्मकोविदाः ॥ १४ ॥
ब्राह्मणैः सहिता राजन्ये च तत्र सहोषिताः ।
इंद्रसेनादिभिश्चैव प्रेष्यैरनुगतास्तदा ॥ १५ ॥
ते यात्वाऽनुसृतैर्मार्गैः स्वन्नैः शुचिजलान्वितैः ।
ददृशुः काम्यकं पुण्यमाश्रमं तपसा युतम् ॥ १६ ॥
विविशुस्ते स्म कौरव्या वृता विप्रर्षभैस्तदा ।
तद्वनं भरतश्रेष्ठाः स्वर्गं सुकृतिनो यथा ॥ १७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि मृगस्वप्नोद्भवपर्वणि काम्यकप्रवेशे अष्टपंचाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः समाप्तं च मृगस्वप्नोद्भवपर्व ।

मैंने कुछ रात्रि रहे स्वप्न में देखा है कि इस वन के रहनेवाले, मरने से बचे हुए, मृग मेरे पास आकर कहते हैं कि "महाराज ! अपने कुल के बीजस्वरूप हम थोड़े से मृग बच रहे हैं; अब आप हम पर दया कीजिए । आपका भला हो" । सो हे भाइयो ! वे सत्य कहते हैं । वनवासी जीवों पर दया करना हमारा कर्तव्य है । एक वर्ष और आठ महीने से हम लोग यहां के मृगों को मार-मारकर खा रहे हैं ॥८।१२॥

इसलिए चलो, हम लोग तृणबिन्दु सरोवर के पास, मरुभूमि के ऊपरी स्थान, रमणीय काम्यक वन में चलकर रहें । वहाँ बहुत से मृग हैं । वहीं विहार करते हुए वनवास का शेष समय बितावेंगे । हे राजा जनमेजय ! अब धर्मज्ञ पाण्डव लोग ब्राह्मणों और अन्यान्य सहायक साथियों के साथ काम्यक वन को चले । इन्द्रसेन आदि सेवक भी उनके साथ गये । अन्न जल से पूर्ण मार्ग से पाण्डव लोग तपस्वियों की निवास-भूमि पुण्य आश्रम काम्यक वन में पहुंचे । जैसे पुण्यात्मा लोग स्वर्गभूमि में जाते हैं, वैसे ही ब्राह्मणों सहित पुण्यात्मा भरतकुल-श्रेष्ठ पाण्डव लोग उस पवित्र काम्यक वन में पहुचे ॥१३।१७॥

—०—

वनपर्व का दो सौ अट्ठावन अध्याय समाप्त हुआ ॥२५८॥

अथ व्रीहिद्रौणिकपर्व ।

अथ ऊनषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२५९॥

वैशम्पायन उवाच—वने निवसतां तेषां पांडवानां महात्मनाम् ।
वर्षाण्येकादशाऽतीयुः कृच्छ्रेण भरतर्षभ ॥ १ ॥
फलमूलाशनास्ते हि सुखार्हा दुःखमुत्तमम् ।
प्राप्तकालमनुध्यांतः सेहिरे नरपूरुषाः ॥ २ ॥
युधिष्ठिरस्तु राजर्षिरात्मकर्मापराधजम् ।
चिंतयन्स महाबाहुर्भ्रातॄणां दुःखमुत्तमम् ॥ ३ ॥
न सुष्वाप सुखं राजा हृदि शल्यैरिवाऽर्पितैः ।
दौरात्म्यमनुपश्यंस्तत्काले द्यूतोद्भवस्य हि ॥ ४ ॥
संस्मरन्परुषा वाचः सूतपुत्रस्य पांडवः ।
निःश्वासपरमो दीनो बिभ्रत्कोपविषं महत् ॥ ५ ॥
अर्जुनो यमजौ चोभौ द्रौपदी च यशस्विनी ।
स च भीमो महातेजाः सर्वेषामुत्तमो बली ॥ ६ ॥
युधिष्ठिरमुदीक्षंतः सेहुर्दुःखमनुत्तमम् ।
अवशिष्टमल्पकालं मन्वानाः पुरुषर्षभाः ॥ ७ ॥
वपुरन्यदिवाऽकार्षुरुत्साहामर्षचेष्टितैः ।

दो सौ उनसठ अध्याय ॥२५९॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! महात्मा पाण्डवों ने इस प्रकार कठिन कष्ट सहकर ग्यारह वर्ष व्यतीत कर दिये। वे श्रेष्ठ पुरुष सुख के योग्य होकर भी फल मूल खाकर, समय के फेर का विचार करके, उस दुःख को सह रहे थे। वे सोचते थे कि अच्छे दिन शीघ्र आनेवाले हैं, तब हमारे सब दुःखों का अन्त हो जायगा। अपने कर्म के कारण भाइयों को कठिन दुःख सहते देखकर और कपट-द्यूत में किये गये शत्रुओं के दुर्व्यवहार को स्मरण कर युधिष्ठिर को रात्रि में नींद नहीं आती थी। इन बातों का विचार उनके हृदय में कांटे की तरह खटकता रहता था ॥१।४॥

वे कर्ण के कठोर वचनों को स्मरण करके दीन भाव से लम्बी लम्बी सांसें लेते रहते और भारी क्रोध के विष को अपने हृदय में ही रोके हुए थे। अर्जुन, महाबली भीमसेन, नकुल, सहदेव और यशस्विनी द्रौपदी, ये लोग युधिष्ठिर का मुख देखकर शांति-पूर्वक सब दुःख और कष्ट सह रहे थे। वे सोचते थे कि अब थोड़ा ही समय शेष है, उसके पश्चात् हम इस दुःख से छुटकारा पा जायँगे। उत्साह और क्रोध

कस्यचित्त्वथ कालस्य व्यासः सत्यवतीसुतः ॥ ८ ॥
आजगाम महायोगी पांडवानवलोककः ।
तमागतमभिप्रेक्ष्य कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥
प्रत्युद्गम्य महात्मानं प्रत्यगृह्णाद्यथाविधि ।
तमासीनमुपासीनः शुश्रूषुर्नियतेंद्रियः ॥ १० ॥
तोषयन्प्रणिपातेन व्यासं पांडवनंदनः ।
तानवेक्ष्य कृशान्पौत्रान्वने वन्येन जीवतः ॥ ११ ॥
महर्षिरनुकंपार्थमब्रवीद्बाष्पगद्गदम् ।
युधिष्ठिर महाबाहो शृणु धर्मभृतां वर ॥ १२ ॥
नाऽतप्ततपसो लोके प्राप्नुवंति महासुखम् ।
सुखदुःखे हि पुरुषः पर्यायेणोपसेवते ॥ १३ ॥
न ह्यनंतं सुखं कश्चित्प्राप्नोति पुरुषर्षभ ।
प्रज्ञावांस्त्वेव पुरुषः संयुक्तः परया धिया ॥ १४ ॥
उदयास्तमनज्ञो हि न हृष्यति न शोचति ।
सुखमापतितं सेवेद्दुःखमापतितं वहेत् ॥ १५ ॥
कालप्राप्तमुपासीत सस्यानामिव कर्षकः ।

की चेष्टाओं से उनका भाव ही मानों बदल गया था ॥५।८॥

इसी बीच में एक दिन महायोगी व्यासदेव पाण्डवों को देखने के लिए उनके आश्रम में आये। उनको आये देखकर युधिष्ठिर ने उठकर आगे से उनकी अभ्यर्थना की और प्रणाम किया। महात्मा व्यासजी पूजा ग्रहण करके जब सुखपूर्वक आसन पर बैठ गये तब सेवा करने के भाव से युधिष्ठिरजी भी उनके पास ही बैठे। युधिष्ठिर को विकार-हीन देखकर और उनके चित्त की शुद्धि देखकर व्यासजी बहुत प्रसन्न हुए। अपने पौत्रों को दुर्बल, जङ्गली फल-मूल खाकर निर्वाह करते और कष्ट सहते देखकर व्यासजी की आंखों में आंसू भर आये। करुणा का भाव प्रकट करते हुए गद्गद् वाणी से उन्होंने कहा—हे धर्मराज! हे महाबाहु युधिष्ठिर! सुनो। इस लोक में तप किये बिना, कष्ट उठाये बिना, कोई भी पुरुष श्रेष्ठ सुख नहीं पाता। लोग कभी सुख और कभी दुःख पाते हैं। अनन्त सुख या अनन्त दुःख कोई नहीं भोगता। बुद्धिमान् लोग ऐसी बुद्धि प्राप्त करके, उन्नति और अवनति के रहस्य को जानकर, न सुख में हर्ष ही करते हैं और न दुःख में शोक ही करते हैं। इसलिए पुरुष को चाहिए कि सुख प्राप्त हो तो उसे भोगे, और दुःख आ पड़े तो उसे भी सहन कर ले ॥९।१५॥

तपसो हि परं नास्ति तपसा विंदते महत् ॥ १६ ॥
नाऽसाध्यं तपसः किंचिदिति बुध्यस्व भारत ।
सत्यमार्जवमक्रोधः संविभागो दमः शमः ॥ १७ ॥
अनसूयाऽविहिंसा च शौचमिंद्रियसंयमः ।
पावनानि महाराज नराणां पुण्यकर्मणाम् ॥ १८ ॥
अधर्मरुचयो मूढा स्तिर्यग्गतिपरायणाः ।
कृच्छ्रां योनिमनुप्राप्ता न सुखं विंदते जनाः ॥ १९ ॥
इह यत्क्रियते कर्म तत्परत्रोपयुज्यते ।
तस्माच्छरीरं युंजीत तपसा नियमेन च ॥ २० ॥
यथाशक्ति प्रयच्छेत संपूज्याऽभिप्रणम्य च ।
काले प्राप्ते च हृष्टात्मा राजन्विगतमत्सरः ॥ २१ ॥
सत्यवादी लभेताऽऽयुरनायासमथाऽऽर्जवम् ।
अक्रोधनोऽनसूयश्च निर्वृतिं लभते पराम् ॥ २२ ॥
दांतः शमपरः शश्वत्परिक्लेशं न विंदति ।
न च तप्यति दांतात्मा दृष्ट्वा परगतां श्रियम् ॥ २३ ॥
संविभक्ता च दाता च भोगवान्सुखवान्नरः ।

जैसे किसान लोग कष्ट उठाकर समय पर अन्न पाने की आशा करते हैं वैसे ही मनुष्यों को दुःख सहकर समय पर सुखभोग की राह देखनी चाहिए। देखो, तप (ज्ञान) से बढ़कर कोई वस्तु नहीं है। तप से ही महत् फल (ब्रह्म) प्राप्त होता है। यह तुम जान रक्खो कि तप के द्वारा असाध्य कुछ भी नहीं है। हे महाराज ! सत्य, सरलता, क्रोध का त्याग, अन्न आदि बाँटकर खाना, इन्द्रियों का दमन, शम, पर-सन्ताप न करना, अहिंसा, पवित्रता, इन्द्रियों का संयम, ये ही गुण पुण्यात्मा पुरुषों के पुरुषार्थ-लाभ या अभ्युदय के साधन हैं। पशु-धर्म का आचरण करनेवाले, अधर्म पर रुचि रखनेवाले, मूढ़ लोग सदा नीच योनियों में जन्म लेकर कष्ट भोगते हैं, उन्हें कभी सुख नहीं मिलता। इस लोक में मनुष्य जो कर्म करता है उसी का फल उसे परलोक में भोगना पड़ता है। इसलिए मनुष्यों को सदा मन और शरीर के द्वारा तप करना और नियमानुसार सुमार्ग पर चलना चाहिए। हे राजेन्द्र ! समय पर यदि कोई प्रार्थी आ जाय तो उसकी पूजा और प्रणाम करके श्रद्धा के साथ यथाशक्ति उसकी सहायता करनी चाहिए ॥१६।२१॥

सत्यवादी पुरुष दीर्घ आयु और सरलता प्राप्त करता है। उसके सब क्लेश दूर हो जाते हैं। जो पुरुष क्रोध और डाह से दूर रहता है वही परम

भवत्यहिंसकश्चैव परमारोग्यमश्नुते ॥ २४ ॥
मान्यमानयिता जन्म कुले महति विंदति ।
व्यसनैर्न तु संयोगं प्राप्नोति विजितेंद्रियः ॥ २५ ॥
शुभानुशयबुद्धिर्हि संयुक्तः कालधर्मणा ।
प्रादुर्भवति तद्योगात्कल्याणमतिरेव सः ॥ २६ ॥
युधिष्ठिर उवाच—भगवन्दानधर्माणां तपसो वा महामुने ।
किंस्विद्बहुगुणं प्रेत्य किंवा दुष्करमुच्यते ॥ २७ ॥
व्यास उवाच—दानान्न दुष्करं तात पृथिव्यामस्ति किंचन ।
अर्थे च महती तृष्णा स च दुःखेन लभ्यते ॥ २८ ॥
परित्यज्य प्रियान्प्राणान्धनार्थं हि महामते ।
प्रविशंति नरा वीराः समुद्रमटवीं तथा ॥ २९ ॥
कृषिगोरक्ष्यमित्येके प्रतिपद्यंति मानवाः ।
पुरुषाः प्रेष्यतामेके निर्गच्छंति धनार्थिनः ॥ ३० ॥
तस्माद्दुःखार्जितस्यैव परित्यागः सुदुष्करः ।
न दुष्करतरं दानात्तस्माद्दानं मतं मम ॥ ३१ ॥

शान्ति (मोक्ष) का अधिकारी होता है। जो पुरुष शम और दम का आधार है वह कभी क्लेश नहीं पाता। जिसने चित्त को शुद्ध करके मन को वश में कर लिया है वह दूसरे के सुख या ऐश्वर्य को देखकर कभी ईर्ष्या नहीं करता। जो पुरुष लोगों को अन्न आदि बाँटकर खाता है, प्रार्थियों को धन आदि देता है, हिंसा से सदा बचा रहता है, आप सुख और भोग के पदार्थों का उपभोग करता है, वह परम आरोग्य प्राप्त करता है ॥२२।२४॥

जो कोई मान्य पुरुष का मान करता है, वह श्रेष्ठ कुल में जन्म पाता है। जो कोई जितेन्द्रिय रहता है वह व्यसन में नहीं पड़ता। जिसकी बुद्धि सदा शुभ कामों में लगी रहती है वह मरने पर दूसरे जन्म में भी श्रेष्ठ बुद्धि का अधिकारी होता है। युधिष्ठिर ने पूछा—हे भगवन्! परलोक में, दान-धर्म का फल श्रेष्ठ है या तप (कायाक्लेश सहने) का? इन दोनों में दुष्कर अर्थात् कठिन कौन सा काम है ॥२५।२७॥

महर्षि वेदव्यास ने कहा—हे युधिष्ठिर! पृथ्वी पर दान से बढ़कर दुष्कर कर्म कोई नहीं है। लोगों को धन का लोभ बहुत अधिक होता है। वह धन मिलता भी बड़े कष्ट से है—उसके लिए अनेक प्रकार के दुःख सहने पड़ते हैं। प्राणों से बढ़कर कोई वस्तु प्रिय नहीं है। उन प्राणों के मोह को भी छोड़कर लोग धन के लिए युद्ध करते हैं, बीहड़ वनों में भी जाते हैं और समुद्र में भी गोते लगाते हैं। कुछ

विशेषस्त्वत्र विज्ञेयो न्यायेनोपार्जितं धनम् ।
पात्रे काले च देशे च साधुभ्यः प्रतिपादयेत् ॥ ३२ ॥
अन्यायात्समुपात्तेन दानधर्मो धनेन यः ।
क्रियते न स कर्तारं त्रायते महतो भयात् ॥ ३३ ॥
पात्रे दानं स्वल्पमपि काले दत्तं युधिष्ठिर ।
मनसा हि विशुद्धेन प्रेत्याऽनंतफलं स्मृतम् ॥ ३४ ॥
अत्राप्युदाहरंतीममितिहासं पुरातनम् ।
व्रीहिद्रोणपरित्यागाद्यत्फलं प्राप मुद्गलः ॥ ३५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि व्रीहिद्रौणिकपर्वणि दानदुष्करत्वकथने ऊनषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

लोग धन के लिए खेती करते हैं ; गायें पालते और चराते हैं । कुछ लोग ग्रामवृत्ति तक करते हैं । इसलिए दुःख सहकर उपार्जन किये हुए धन को दे डालना अत्यन्त कठिन काम है । विशेषकर देश, काल, पात्र का विचार करके न्याय से प्राप्त किये हुए धन का दान करना कभी सहज नहीं है ; किन्तु ऐसा दान करना ही विशेष रूप से फलदायक होता है ॥२८।३२॥

जो मनुष्य अन्याय से प्राप्त किया हुआ धन देकर दान-धर्म करना चाहता है वह कभी उस दान के द्वारा बड़ी विपत्ति से छुटकारा नहीं पाता । वह दान व्यर्थ है । हे राजेन्द्र ! विशुद्ध भाव से योग्य समय में योग्य पात्र को थोड़ा सा भी दान देने से अनन्त फल होता है । यहाँ पर एक पुरातन इतिहास कहा जाता है । जिस तरह द्रोण (एक माप) भर धान्य देने से महर्षि मुद्गल ने अनन्त फल प्राप्त किया सो मैं तुमसे कहता हूँ ॥३३।३५॥

—०—

वनपर्व का दो सौ उनसठ अध्याय समाप्त हुआ ॥२५९॥

अथ षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२६०॥

युधिष्ठिर उवाच—व्रीहिद्रोणः परित्यक्तः कथं तेन महात्मना ।
कस्मै दत्तश्च भगवन्विधिना केन चाऽऽत्थ मे ॥ १ ॥
प्रत्यक्षधर्मा भगवान्यस्य तुष्टो हि कर्मभिः ।
सफलं तस्य जन्माऽहं मन्ये सद्धर्मचारिणः ॥ २ ॥

दो सौ साठ अध्याय ॥२६०॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे ऋषिश्रेष्ठ ! महात्मा मुद्गल ने किस तरह किसे द्रोण भर धान्य दिया, सो आप विस्तार के साथ मुझसे कहिए । मनुष्यों के धर्माधर्म को जाननेवाले अन्तर्यामी ईश्वर जिस धर्मात्मा के पुण्यकर्मों से सन्तुष्ट हों उसी का जन्म, मेरी समझ में, सफल है ॥१।२॥

व्यास उवाच—शिलोञ्छवृत्तिर्धर्मात्मा मुद्गलः संयतेंद्रियः ।
आसीद्राजन्कुरुक्षेत्रे सत्यवागनसूयकः ॥ ३ ॥
अतिथिव्रती क्रियावांश्च कापोतीं वृत्तिमास्थितः ।
सत्रमिष्टीकृतं नाम समुपास्ते महातपाः ॥ ४ ॥
सपुत्रदारो हि मुनिः पक्षाहारो बभूव ह ।
कपोतवृत्त्या पक्षेण व्रीहिद्रोणमुपार्जयत् ॥ ५ ॥
दर्शं च पौर्णमासं च कुर्वन्विगतमत्सरः ।
देवतातिथिशेषेण कुरुते देहयापनम् ॥ ६ ॥
तस्येंद्रः सहितो देवैः साक्षात्त्रिभुवनेश्वरः ।
प्रत्यगृह्णान्महाराज भागं पर्वणि पर्वणि ॥ ७ ॥
स पर्वकालं कृत्वा तु मुनिवृत्त्या समन्वितः ।
अतिथिभ्यो ददावन्नं प्रहृष्टेनाऽन्तरात्मना ॥ ८ ॥
व्रीहिद्रोणस्य तद्धयस्य ददतोऽन्नं महात्मनः ।
शिष्टं मात्सर्यहीनस्य वर्धत्यतिथिदर्शनात् ॥ ९ ॥
तच्छतान्यपि भुंजंति ब्राह्मणानां मनीषिणाम् ।
मुनेस्त्यागविशुद्धया तु तदन्नं वृद्धिमच्छेति ॥ १० ॥

महर्षि वेदव्यास ने कहा—हे राजेन्द्र! कुरुक्षेत्र में मुद्गल नाम के एक महात्मा ऋषि रहते थे। वे धर्मात्मा, जितेन्द्रिय और सत्यनिष्ठ थे। ईर्ष्या और क्रोध का नाम तक भी उनमें न था। वे कटे हुए खेतों से, इधर-उधर गिरे पड़े, अन्न के दाने बीन लाते और उन्हीं से अपनी जीविका चलाते थे। वे कबूतर की तरह थोड़ा ही अन्न बीन लाते और उसी से अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण करते थे। और, उसी अन्न से आये हुए अतिथियों का सत्कार भी करते थे। वे महातपस्वी पशुबलि-विहीन 'इष्टीकृत' यज्ञ भी नित्य करते थे। इसके सिवा अमावस और पूर्णिमा को दर्श तथा पौर्णमास नाम के यज्ञ भी करते थे। कपोतवृत्ति से अपना निर्वाह करनेवाले वे ब्राह्मण इस प्रकार एक पक्ष में द्रोण भर अन्न बीन लाते थे। उसी से देवता-पितर और अतिथि आदि की पूजा-सेवा करने के पश्चात् जो कुछ बचता था, उसी को वे और उनकी स्त्री तथा पुत्र खाते थे। साक्षात् इन्द्र, देवताओं के साथ, हर पर्व में आकर उनके यज्ञ का भाग लेते थे। महर्षि मुद्गल मुनि-वृत्ति से अपना निर्वाह करते हुए प्रत्येक पर्व के समय प्रसन्नतापूर्वक अतिथियों को भोजन कराते थे। वे महात्मा ऋषि श्रद्धा के साथ प्रसन्नतापूर्वक अन्न-दान करते थे इस कारण वह द्रोण भर अन्न, देने से, बढ़ता जाता था—घटता

तं तु शुश्राव धर्मिष्ठं मुद्गलं संशितव्रतम् ।
दुर्वासा नृप दिग्वासास्तमथाऽभ्याजगाम ह ॥ ११ ॥
बिभ्रच्चाऽनियतं वेषमुन्मत्त इव पांडव ।
विकचः परुषा वाचो व्याहरन्विविधा मुनिः ॥ १२ ॥
अभिगम्याऽथ तं विप्रमुवाच मुनिसत्तमः ।
अन्नार्थिनमनुप्राप्तं विद्धि मां द्विजसत्तम ॥ १३ ॥
स्वागतं तेऽस्त्विति मुनिं मुद्गलः प्रत्यभाषत ।
पाद्यमाचमनीयं च प्रतिपाद्याऽर्घ्यमुत्तमम् ॥ १४ ॥
प्रादात्स तापसायाऽन्नं क्षुधितायाऽतिथिव्रती ।
उन्मत्ताय परां श्रद्धामास्थाय स धृतव्रतः ॥ १५ ॥
ततस्तदन्नं रसवत्स एव क्षुधयाऽन्वितः ।
बुभुजे कृत्स्नमुन्मत्तः प्रादात्तस्मै च मुद्गलः ॥ १६ ॥
भुक्त्वा चाऽन्नं ततः सर्वमुच्छिष्टेनाऽऽत्मनस्ततः।
अथाँऽगं लिलिपेऽन्नेन यथागतमगाच्च सः ॥ १७ ॥
एवं द्वितीये संप्राप्ते यथाकाले मनीषिणः ।
आगम्य बुभुजे सर्वमन्नमुञ्छोपजीविनः ॥ १८ ॥

नहीं था। चित्त-शुद्धि के साथ दान करने के कारण मुद्गल ऋषि उस अन्न से सैकड़ों अतिथियों को भोजन कराते थे, इस पर भी वह अन्न बढ़ता ही जाता था ॥३।१०॥

महर्षि मुद्गल के दान की महिमा सुनकर एक समय महर्षि दुर्वासा उनकी परीक्षा लेने को आये। वे सिर मुँड़ाये, नङ्ग-धड़ङ्ग, पागलों का सा वेष बनाये, कठोर वचन कहते मुद्गल ऋषि के आश्रम में पहुँचे। उन्होंने मुद्गल से कहा—हे मुनिवर! मैं भोजन की इच्छा से तुम्हारे पास आया हूँ। मुद्गल ने अटल भक्ति और श्रद्धा के साथ दुर्वासा मुनि का स्वागत किया। पाद्य, अर्घ्य, आचमन के लिए जल देकर पहले उनकी पूजा की और फिर अतिथि-भक्त मुद्गल ने उन्मत्त भाव धारण किये हुए दुर्वासा को भूखा जानकर भोजन दिया। भूखे दुर्वासा ने मुद्गल का दिया हुआ वह स्वादिष्ट अन्न खाया। यहाँ तक कि दुर्वासा वह सब अन्न खा गये और मुद्गल ने वैसी ही श्रद्धा से सब खिला दिया। भोजन करने के पश्चात् दुर्वासा ने सब जूठन अपने शरीर भर में लगा ली और फिर वे वहाँ से चले गये। इसी प्रकार दूसरे पर्व के समय फिर दुर्वासा मुनि आये और सब अन्न खाकर चले गये। मुद्गल फिर परिवार सहित भूखे रह गये और उसी तरह अन्न के दाने बीनकर एकत्र करने लगे। भूख, क्रोध, खीझ,

निराहारस्तु स मुनिरुञ्छमार्जयते पुनः ।
न चैनं विक्रियां नेतुमशकन्मुद्गलं क्षुधा ॥ १९ ॥
न क्रोधो न च मात्सर्यं नाऽवमानो न संभ्रमः ।
सपुत्रदारमुञ्छं तमाविवेश द्विजोत्तमम् ॥ २० ॥
तथा तमुञ्छधर्माणं दुर्वासा मुनिसत्तमम् ।
उपतस्थे यथाकालं षट्कृत्वः कृतनिश्चयः ॥ २१ ॥
न चाऽस्य मनसा कंश्चिद्विकारं ददृशे मुनिः ।
शुद्धसत्वस्य शुद्धं स ददृशे निर्मलं मनः ॥ २२ ॥
तमुवाच ततः प्रीतः स मुनिर्मुद्गलं ततः ।
त्वत्समो नाऽस्ति लोकेऽस्मिन्दाता मात्सर्यवर्जितः॥ २३ ॥
क्षुद्धर्मसंज्ञां प्रणुदत्यादत्ते धैर्यमेव च ।
रसानुसारिणी जिह्वा कर्षत्येव रसान्प्रति ॥ २४ ॥
आहारप्रभवाः प्राणा मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
मनसश्चेंद्रियाणां चाऽप्यैकाग्र्यं निश्चितं तपः ॥ २५ ॥
श्रमेणोपार्जितं त्यक्तु दुःखं शुद्धेन चेतसा ।
तत्सर्वं भवता साधो यथावदुपपादितम् ॥ २६ ॥

अपमान, व्याकुलता आदि किसी कारण से वे महात्मा अपने व्रत से विचलित नहीं हुए। उनकी स्त्री और पुत्र के मन में भी किसी प्रकार का विकार नहीं उत्पन्न हुआ ॥१९।२०॥

महर्षि दुर्वासा इसी तरह ■ बेर आये और हर पर्व में सब अन्न खाकर चले गये। महर्षि मुद्गल भी उन्हें भोजन कराकर फिर अन्न बीनने में लग जाते थे। उनके मन में किसी प्रकार का विकार नहीं उत्पन्न हुआ। वे जितेन्द्रिय थे, उनका अन्त करण शुद्ध था, इस कारण वे बारम्बार अधिक श्रद्धा और शान्ति के साथ दुर्वासा को भोजन कराते थे। तब दुर्वासा ने मुद्गल पर अत्यन्त प्रसन्न होकर कहा— हे मुनिवर ? इस लोक में तुम्हारे समान ईर्ष्या रहित दाता कोई दूसरा नहीं है। भूख ऐसी बुरी वस्तु है कि धर्म के ज्ञान को मिटा देती है और धैर्य को नष्ट कर देती है। जीभ भी विषयों का अनुसरण करती है, मनुष्य के मन को रस की ओर खींचती है। भोजन से ही मनुष्य के प्राणों की रक्षा होती है। मन भी अत्यन्त चञ्चल है, उसे वश में रखना बड़ा ही कठिन कार्य है। मन और इन्द्रियों को एकाग्र तथा अपने वश में करना ही निश्चित रूप से तप कहलाता है। परिश्रम करके प्राप्त की हुई वस्तु को प्रसन्नता से दे डालना बहुत ही कठिन है। हे साधु श्रेष्ठ! तुम इन बातों में पूरी सिद्धि पा चुके हो।

प्रीताः स्मोऽनुगृहीताश्च समेत्य भवता सह ।
इंद्रियाभिजयो धैर्यं संविभागो दमः शमः ॥ २७ ॥
दया सत्यं च धर्मश्च त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
जितास्ते कर्मभिर्लोकाः प्राप्तोऽसि परमां गतिम्॥ २८ ॥
अहो दानं विघुष्टं ते सुमहत्स्वर्गवासिभिः ।
सशरीरो भवान्गंता स्वर्गं सुचरितव्रत ॥ २९ ॥
इत्येवं वदतस्तस्य तदा दुर्वाससो मुनेः ।
देवदूतो विमानेन मुद्गलं प्रत्युपस्थितः ॥ ३० ॥
हंससारसयुक्तेन किंकिणीजालमालिना ।
कामगेन विचित्रेण दिव्यगंधवता तथा ॥ ३१ ॥
उवाच चैनं विप्रर्षिं विमानं कर्मभिर्जितम् ।
समुपारोह संसिद्धिं प्राप्तोऽसि परमां मुने ॥ ३२ ॥
तमेवंवादिनमृषिर्देवदूतमुवाच ह ।
इच्छामि भवता प्रोक्तान्गुणान्स्वर्गनिवासिनाम्॥ ३३ ॥
के गुणास्तत्र वसतां किं तपः कश्च निश्चयः ।
स्वर्गे तत्र सुखं किं च दोषो वा देवदूतक ॥ ३४ ॥

मैं तुमसे मिलकर बहुत प्रसन्न और अनुगृहीत हुआ। इन्द्रियजय, धैर्य, अन्न आदि बांट देना, दम, शम, दया, सत्य और धर्म, ये सब श्रेष्ठ गुण तुममें पूरे पूरे देख पड़ते हैं। तुमने अपने कर्मों से सब शुभ लोकों को जीत लिया है। तुम सहज ही मुक्ति के अधिकारी हो चुके हो। अहो, कैसे आश्चर्य की बात है कि स्वर्गवासी देवता भी तुम्हारे दान की प्रशंसा करते हुए उसकी घोषणा कर रहे हैं! हे सच्चरित्र ब्राह्मण, तुम इसी शरीर से स्वर्ग जाओगे। महर्षि दुर्वासा के यों कहते ही एक देवदूत, सुन्दर विमान लेकर, मुद्गल के सामने आ गया ॥२१।३०॥

उस रथ में दिव्य हंस और सारस जुते हुए थे। चारों ओर किङ्किणीजाल की मालाएँ पड़ी हुई थीं। चाहे जहाँ जा सकनेवाले उस दिव्य विमान में अगुरु-धूप-चन्दन आदि की सुगन्ध छाई हुई थी। वह विचित्र विमान लाकर देवदूत ने मुद्गल से कहा—हे ब्रह्मन्! आप अपने कर्मों से परम सिद्धि पा चुके, इसलिए इस विमान पर बैठकर देवलोक को चलिए। यह सुनकर मुद्गल ने कहा—हे देवदूत! मैं स्वर्गवासियों के गुण तुम्हारे मुँह से सुनना चाहता हूँ। स्वर्ग में रहनेवाले किन गुणों के अधिकारी होते हैं? उनका तप (ज्ञान) और सिद्धान्त क्या है? स्वर्ग में सुख क्या है और दोष क्या है? सज्जन कुलीन लोग सात पग एक साथ चलने पर

सतां साप्तपदं मित्रमाहुः संतः कुलोचिताः ।
मित्रतां च पुरस्कृत्य पृच्छामि त्वामहं विभो ॥ ३५ ॥
यदत्र तथ्यं पथ्यं च तद् ब्रवीह्यविचारयन् ।
श्रुत्वा तथा करिष्यामि व्यवसायं गिरा तव ॥ ३६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि व्रीहिद्रौणिकपर्वणि मुद्गलोपाख्याने षष्टयधिकद्विशततमोऽध्यायः२६०

परस्पर मित्र हो जाते है । वैसी ही मित्रता को मानकर मैं मित्रभाव से तुमसे ये बातें पूछता हू । इस विषय में जो सत्य और उपयोगी हो वह, बिना सोच-विचार किये तुम मुझसे कह दो। तुम्हारे उत्तर को सुनकर मैं फिर स्वर्ग जाने के सम्बन्ध में निश्चय करूँगा। ॥३१।३६॥

वनपर्व का दो सौ साठ अध्याय समाप्त हुआ ॥२६०॥

अथ एकषष्टयधिकद्विशततमोऽध्याय ॥२६१॥

देवदूत उवाच—महर्षे आर्यबुद्धिस्त्वं यः स्वर्गसुखमुत्तमम् ।
संप्राप्तं बहु मंतव्यं विमृशस्यबुधो यथा ॥ १ ॥
उपरिष्टाद्य स्वर्लोको योऽयं स्वरिति संज्ञितः ।
ऊर्ध्वगः सत्पथः शश्वद्देवयानचरो मुने ॥ २ ॥
नाऽतप्ततपसः पुंसो नाऽमहायज्ञयाजिनः ।
नाऽनृता नास्तिकाश्चैव तत्र गच्छंति मुद्गल ॥ ३ ॥
धर्मात्मानो जितात्मानः शांता दांता विमत्सराः ।
दानधर्मरताः पुंसः शूराश्चाऽऽहवलक्षणाः ॥ ४ ॥
तत्र गच्छंति धर्माग्र्यं कृत्वा शमदमात्मकम् ।
लोकान्पुण्यकृतां ब्रह्मन्सद्भिराचरितान्नृभिः ॥ ५ ॥
देवाः साध्यास्तथा विश्वे तथैव च महर्षयः ।

दो सौ एकसठ अध्याय ॥२६१॥

देवदूत ने कहा—हे ऋषिवर ! आप बहुत ही सीधे-साधे हैं । लोग स्वर्गलोक पाने से आदरणीय होते हैं, उसी स्वर्गलोक को जाने के बारे में आप मूर्खों की तरह सोच-विचार कर रहे हैं। हे मुनिवर! वह स्वर्गलोक ऊपर स्थित है । वह ऊर्ध्वगामी है और शुभ मार्ग (ब्रह्ममार्ग) से युक्त है । स्वर्गलोक के मार्गों में सदा देवताओं के विमान घूमा करते हैं। हे मुद्गल ! जिन लोगों ने कठिन तप नहीं किया, महायज्ञ नहीं किये, जो लोग सत्य से हीन और नास्तिक हैं वे वहां नहीं जा सकते । धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, शान्त, दमनिरत, मत्सर हीन, दान करनेवाले, शूर, शुभ लक्षणों और गुणों से युक्त लोग, महापुरुषों

यामा धामाश्च मौद्गल्य गंधर्वाप्सरसस्तथा ॥ ६ ॥
एषां देवनिकायानां पृथक् पृथगनेकशः ।
भास्वंतः कामसंपन्ना लोकास्तेजोमयाः शुभाः ॥ ७ ॥
त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि योजनानि हिरण्मयः ।
मेरुः पर्वतराड्यत्र देवोद्यानानि मुद्गल ॥ ८ ॥
नंदनादीनि पुण्यानि विहाराः पुण्यकर्मणाम् ।
न क्षुत्पिपासे न ग्लानिर्न शीतोष्णे भयं तथा ॥ ९ ॥
बीभत्समशुभं चापि तत्र किंचिन्न विद्यते ।
मनोज्ञाः सर्वतो गंधाः सुखस्पर्शाश्च सर्वशः ॥ १० ॥
शब्दाः श्रुतिमनोग्राह्याः सर्वतस्तत्र वै मुने ।
न शोको न जरा तत्र नाऽऽयासपरिदेवने ॥ ११ ॥
ईदृशः स मुने लोकः स्वकर्मफलहेतुकः ।
सुकृतैस्तत्र पुरुषाः संभवंत्यात्मकर्मभिः ॥ १२ ॥
तैजसानि शरीराणि भवंत्यत्रोपपद्यताम् ।
कर्मजान्येव मौद्गल्य न मातृपितृजान्युत ॥ १३ ॥
न संस्वेदो न दौर्गंध्यं पुरीषं मूत्रमेव च ।
तेषां न च रजो वस्त्रं बाधते तत्र वै मुने ॥ १४ ॥

के अनुगामी होकर शम-दमरूपी श्रेष्ठ धर्मों का आचरण करके, पुण्यात्मा पुरुषों के लोकों में जाते हैं ॥१।५॥

उस स्वर्गभूमि में देवता, साध्य, विश्वदेव, महर्षि, याम-धामगण, गन्धर्व और अप्सरा आदि के काम भोगयुक्त, तेजोमय, शुभ लोक अलग-अलग देख पड़ते हैं। वहा सुवर्ण का पर्वत-राज सुमेरु है। उसका घेरा तेंतीस हज़ार योजन का है। उस पर्वत पर पुण्यात्माओं के विचरने और विहार करने के लिए नन्दन आदि श्रेष्ठ और पवित्र बाग लगेहुए हैं। वहाभूख प्यास, उदासी, गर्मी-जाड़ा, भय बीभत्स दृश्य, रोग या और कोई अशुभ भाव का नाम तक भी नहीं देख पड़ता। वहा का वायु सुगन्धित, मन को हरनेवाला और शरीर में लगकर सुख को बढ़ानेवाला है ॥६।१०॥

वहा के शब्द कानों को सुख पहुँचानेवाले, मधुर और मनोहर हैं। वहा शोक, बुढ़ापा, परिश्रम और रोना-धोना नाम को भी नहीं है। हे मुद्गल! वह स्वर्गलोक ऐसा है। वहा जाकर मनुष्य अपने शुभकर्मों का फल भोगते हैं। लोग अपने पुण्यकर्मों के फल से ही वहा जा सकते हैं। वहा रहनेवालों के शरीर तेजोमय होते हैं। वे शरीर पिता-माता के सयोग से नहीं, अपने कर्मों से ही उत्पन्न होते हैं। हे मुनिवर! उन शरीरों मे पसीना नहीं निकलता,

न म्लायंति स्रजस्तेषां दिव्यगंधा मनोरमाः ।
संयुज्यन्ते विमानैश्च ब्रह्मन्नेवंविधैश्च ते ॥ १५ ॥
ईर्ष्याशोकक्लमापेता मोहमात्सर्यवर्जिताः ।
सुखं स्वर्गजितस्तत्र वर्तयंते महामुने ॥ १६ ॥
तेषां तथाविधानां तु लोकानां मुनिपुंगव ।
उपर्युपरि लोकस्य लोका दिव्या गुणान्विताः ॥ १७ ॥
पुरस्ताद्ब्रह्मणस्तत्र लोकास्तेजोमयाः शुभाः ।
यत्र यांत्यृषयो ब्रह्मन्पूताः स्वैः कर्मभिः शुभैः ॥ १८ ॥
ऋभवो नाम तत्राऽन्ये देवानामपि देवताः ।
तेषां लोकात्परतरे यान्यजंतीह देवताः ॥ १९ ॥
स्वयंप्रभास्ते भास्वंतो लोकाः कामदुघाः परे ।
न तेषां स्त्रीकृतस्तापो न लोकैश्वर्यमत्सरः ॥ २० ॥
न वर्तयंत्याहुतिभिस्ते नाऽप्यमृतभोजनाः ।
तथा दिव्यशरीरास्ते न च विग्रहमूर्तयः ॥ २१ ॥
न सुखे सुखकामास्ते देवदेवाः सनातनाः ।
न कल्पपरिवर्तेषु परिवर्तन्ति ते तथा ॥ २२ ॥
जरा मृत्युः कुतस्तेषां हर्षः प्रीतिः सुखं न च ।

दुर्गन्ध नहीं आती । वे लोग मल-मूत्र-त्याग नहीं करते । न तो उन लोगों के वस्त्र धूल से मैले ही होते हैं और न ही उनकी दिव्य गन्धवाली पुष्पमालाएँ कुम्हलाती हैं । वहां के निवासी विमानों पर बैठकर इधर-उधर घूमा करते हैं ॥११।१५॥

वे ईर्ष्या, शोक, थकन, मोह, मत्सर आदि से रहित होकर सुख से स्वर्ग में रहते हैं । इन्द्रलोक के ऊपर इन दिव्य गुणों से युक्त और भी अनेक पुण्यलोक हैं । हे भगवन् ! इस प्रकार के सब लोकों के ऊपर ब्रह्मलोक है । उस तेजोमय शुभलोक में वे ऋषि लोग जाते हैं जो अपने शुभ कर्मों से सर्वथा पवित्र हो जाते हैं । वहां ऋभु नाम देवताओं के लोक हैं । वे देवताओं के भी देवता हैं, अर्थात् देवगण भी उनका लोक पाने को उनकी पूजा और आराधना किया करते हैं । उनके लोक स्वयं प्रकाशमान और यथेष्ट इच्छाओं के पूर्ण करनेवाले हैं । उन देवताओं को स्त्रीजनित ताप (काम भोग की इच्छा) और ऐश्वर्य से उत्पन्न होनेवाला मत्सर(ईर्ष्या) नहीं सताता ॥१६।२०॥

वे आहुति या अमृत का आहार नहीं करते। उनके शरीर दिव्य ज्योति-स्वरूप हैं ; उनका कोई आकार नहीं है । वे सनातन देव देवताओं के भी

न दुःखं न सुखं चापि रागद्वेषौ कुतो मुने ॥ २३ ॥
देवानामपि मौद्गल्य कांक्षिता सा गतिः परा ।
दुष्प्रापा परमा सिद्धिरगम्या कामगोचरैः ॥ २४ ॥
त्रयस्त्रिंशदिमे देवा येषां लोका मनीषिभिः ।
गम्यंते नियमैः श्रेष्ठैर्दानैर्वा विधिपूर्वकैः ॥ २५ ॥
सेयं दानकृता व्युष्टिरनुप्राप्ता सुखं त्वया ।
तां भुंक्ष्व सुकृतैर्लब्धां तपसा द्योतितप्रभः ॥ २६ ॥
एतत्स्वर्गसुखं विप्र लोका नानाविधास्तथा ।
गुणाः स्वर्गस्य प्रोक्तास्ते दोषानपि निबोध मे ॥ २७ ॥
कृतस्य कर्मणस्तत्र भुज्यते यत्फलं दिवि ।
न चाऽन्यत्क्रियते कर्म मूलच्छेदेन भुज्यते ॥ २८ ॥
सोऽत्र दोषो मम मतस्तस्यांते पतनं च यत् ।
सुखव्याप्तमनस्कानां पतनं यच्च मुद्गल ॥ २९ ॥
असंतोषः परीतापो दृष्ट्वा दीप्ततराः श्रियः ।
यद्भवत्यमरे स्थाने स्थितानां तत्सुदुष्करम् ॥ ३० ॥

देवता हैं। सुख की इच्छा न रखने पर भी वे सदा सुखी रहते हैं। कल्पान्त में भी वे नहीं बदलते। बुढ़ापा, मृत्यु, हर्ष, प्रीति, सुख, दुःख, राग, द्वेष आदि कुछ भी उनमें नहीं है ॥२१।२३॥

हे मुद्गल! इस शुभ गति को देवता लोग भी चाहते हैं। विषय-वासना के वशीभूत लोग इस परम सिद्धि को नहीं प्राप्त कर सकते। इन देवताओं के तेंतीस लोक हैं। बुद्धिमान् लोग श्रेष्ठ धर्म के नियमों का पालन करके अथवा विधिपूर्वक दान करके इन लोकों को पाते हैं। हे मुनिवर! आपने दान धर्म के कारण सहज ही वह सुखदायक स्थान और सिद्धि प्राप्त कर ली है। अपने तप के तेज से सब लोकों को प्रकाशित करते हुए आप चलिए और पुण्यलोकों में चलकर सुख भोगिए। हे विप्र! यही स्वर्गभूमि का सुख है और वहाँ के ये ही अनेक प्रकार के लोक हैं। मैंने आपके आगे स्वर्गलोक के गुणों का वर्णन कर दिया; अब दोष भी सुनिए ॥२४।२७॥

देवलोक में जाकर जीव अपने किये हुए कर्मों का फल ही भोगते हैं; और कोई कर्म नहीं कर सकते। इस प्रकार केवल भोग करने के कारण जब पहले के पुण्य का फल घट जाता है तब उन्हें स्वर्गलोक से नीचे कर्मभूमि में गिरना पड़ता है। मेरी बुद्धि में, स्वर्गवास में यही एक बड़ा भारी दोष है। हे मुद्गल! लगातार सुख भोगनेवाले लोगों का वहाँ से नीचे गिरना अत्यन्त क्लेश की बात है।

संज्ञा मोहश्च पततां रजसा च प्रधर्षणम् ।
प्रम्लानेषु च माल्येषु ततः पिपतिषोर्भयम् ॥ ३१ ॥
आब्रह्मभवनादेते दोषा मौद्गल्य दारुणाः ।
नाकलोके सुकृतिनां गुणास्त्वयुतशो नृणाम् ॥ ३२ ॥
अयं त्वन्यो गुणः श्रेष्ठश्च्युतानां स्वर्गतो मुने ।
शुभानुशययोगेन मनुष्येषूपजायते ॥ ३३ ॥
तत्रापि स महाभागः सुखभागभिजायते ।
न चेत्संबुध्यते तत्र गच्छत्यधमतां ततः ॥ ३४ ॥
इह यत्क्रियते कर्म तत्परत्रोपभुज्यते ।
कर्मभूमिरियं ब्रह्मन्फलभूमिरसौ मता ॥ ३५ ॥
मुद्गल उवाच—महांतस्तु अमी दोषास्त्वया स्वर्गस्य कीर्तिताः।
निर्दोष एव यस्त्वन्यो लोकं तं प्रवदस्व मे ॥ ३६ ॥
देवदूत उवाच—ब्रह्मणः सदनादूर्ध्वं तद्विष्णोः परमं पदम् ।
शुद्धं सनातनं ज्योतिः परं ब्रह्मेति यद्विदुः ॥ ३७ ॥
न तत्र विप्र गच्छंति पुरुषा विषयात्मकाः ।
दंभलोभमहाक्रोधमोहद्रोहैरभिद्रुताः ॥ ३८ ॥

अपने से श्रेष्ठ लोक में रहनेवाले औरों के अतुल ऐश्वर्य या अभ्युदय को देखकर स्वर्गवासियों के हृदय में जो असन्तोष और सन्ताप होता है, वह भी एक भारी दोष है । स्वर्ग से नीचे गिरते समय वे लोग रजोगुण के आक्रमण से ज्ञान हीन और मोह के वशीभूत हो जाते हैं । उनके गले की दिव्य माला सूखने पर उनके हृदय में स्वर्ग से गिरने का भय उत्पन्न हो जाता है ॥२८।३१॥

हे मुद्गल ! ब्रह्मलोक से लेकर नीचे के देवलोकों तक, नीचे गिरने के, ये दारुण दोष देख पड़ते हैं । हे महाशय ! स्वर्गलोक में रहते समय मनुष्यों में हज़ारों गुण देखे जाते हैं, किन्तु वहां से पतन होने पर भी यह एक श्रेष्ठ गुण देख पड़ता है कि स्वर्ग से गिरनेवाला जीव पहले के शुभ कर्मों के संस्कार से मनुष्य-योनि में उत्पन्न होता है । मनुष्य-लोक में आकर मनुष्य यदि सँभलकर नहीं चलता, अच्छे कर्म नहीं करता, तो फिर वह अधम योनियों में जाकर दारुण कष्ट सहता है । हे भगवन् ! तात्पर्य यह है कि यह पृथ्वी ही कर्मभूमि है, स्वर्ग आदि लोक तो फल-भूमि हैं । [यहां जीव जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल परलोक में भोगता है ।] ॥३२।३५॥

मुद्गल ने उस देवदूत से कहा—तुमने स्वर्ग के प्रधान दोषों का वर्णन कर दिया, अब ऐसा कोई लोक बताओ जहां किसी तरह का दोष न हो । देवदूत

निर्ममा निरहंकारा निर्द्वंद्वाः संयतेंद्रियाः ।
ध्यानायोगपराश्चैव तत्र गच्छंति मानवाः ॥ ३९ ॥
एतत्ते सर्वमाख्यातं यन्मां पृच्छसि मुद्गल ।
तवाऽनुकंपया साधो साधु गच्छाम मा चिरम् ॥ ४० ॥
व्यास उवाच—एतच्छ्रुत्वा तु मौद्गल्यो वाक्यं विममृशे धिया ।
विमृश्य च मुनिश्रेष्ठो देवदूतमुवाच ह ॥ ४१ ॥
देवदूत नमस्तेऽस्तु गच्छ तात यथासुखम् ।
महादोषेण मे कार्यं न स्वर्गेण सुखेन वा ॥ ४२ ॥
पतनांते महादुःखं परितापः सुदारुणः ।
स्वर्गभाजश्चरंतीह तस्मात्स्वर्गं न कामये ॥ ४३ ॥
यत्र गत्वा न शोचंति न व्यथंति चलंति वा ।
तदहं स्थानमत्यंतं मार्गयिष्यामि केवलम् ॥ ४४ ॥
इत्युक्त्वा स मुनिर्वाक्यं देवदूतं विसृज्य तम् ।
शिलोञ्छवृत्तिर्धर्मात्मा शममातिष्ठदुत्तमम् ॥ ४५ ॥
तुल्यनिंदास्तुतिर्भूत्वा समलोष्टाश्मकांचनः ।
ज्ञानयोगेन शुद्धेन ध्याननित्यो बभूव ह ॥ ४६ ॥

ने कहा—ब्रह्मलोक के ऊपर शुद्ध, सनातन, ज्योतिर्मय विष्णुपद है । उसी को लोग परब्रह्म कहते हैं । उस स्थान में दम्भ, लोभ, मोह, क्रोध, द्रोह और विषय-वासनाओं में लिप्त पुरुष नहीं जाते । ममता, अहङ्कार, द्वन्द्व आदि की बाधाओं से रहित, जितेन्द्रिय, ध्यान-योगपरायण पुरुष ही वहां जा सकते हैं । हे ब्रह्मन् ! आपने जो पूछा था सो मैंने आपसे कह दिया । अब कृपा करके शीघ्र मेरे साथ चलिए—विलम्ब न कीजिए ॥३६।४०॥

व्यासजी कहते हैं—देवदूत से यह सब समाचार सुनकर, विशेष रूप से विचार करके, मुद्गल ने कहा—हे देवदूत ! मैं तुमको प्रणाम करता हूँ; अब तुम सुखपूर्वक स्वर्ग को लौट जाओ । मैं तुम्हारे कहे महा-दोषों का खयाल करके इसी मनुष्यलोक में रहना चाहता हूँ । मैं न तो स्वर्ग जाऊँगा और न वहां के सुख भोगूँगा । स्वर्ग के निवासी, पुण्य क्षीण होने पर, इसी मनुष्य-लोक में गिरते हैं । स्वर्ग के भोग भोगकर वहां से गिरना बड़े ही दुःख और सन्ताप का कारण होता है; इसी लिए मैं स्वर्ग की इच्छा नहीं करता । जहां जाने से फिर गिरने का खटका नहीं रहता—शोक, दुःख या मानसिक सन्ताप नहीं भोगना पड़ता—वही स्थान खोजकर मैं उसे पाने की चेष्टा करूंगा । हे राजा युधिष्ठिर ! यह कहकर मुद्गल ने देवदूत को विदा कर दिया । वे फिर उसी

ध्यानयोगाद्बलं लब्ध्वा प्राप्य बुद्धिमनुत्तमाम् ।
जगाम शाश्वतीं सिद्धिं परां निर्वाणलक्षणाम् ॥ ४७ ॥
तस्मात्त्वमपि कौन्तेय न शोकं कर्तुमर्हसि ।
राज्यात्स्फीतात्परिभ्रष्टस्तपसा तदवाप्स्यसि ॥ ४८ ॥
सुखस्याऽनंतरं दुःखं दुःखस्याऽनंतरं सुखम् ।
पर्यायेणोपसर्पंते नरं नेमिमरा इव ॥ ४९ ॥
पितृपैतामहं राज्यं प्राप्स्यस्यमितविक्रम ।
वर्षात्त्रयोदशादूर्ध्वं व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ ५० ॥
वैशम्पायन उवाच—स एवमुक्त्वा भगवान्व्यासः पांडवनंदनम् ।
जगाम तपसे धीमान्पुनरेवाऽऽश्रमं प्रति ॥ ५१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि व्रीहिद्रौणिकपर्वणि मुद्गलदेवदूतसंवादे एकषष्टयाधिकद्विशततमोऽध्यायः
समाप्तं च व्रीहिद्रौणिकपर्व ।

प्रकार शिलोञ्छवृत्ति से अन्न बटोर लाकर अपनी जीविका चलाते हुए धर्म का पालन करने लगे। उत्तम शान्तिगुण का सहारा लेकर वे विष्णुपद पाने का प्रयत्न करने लगे ॥४१।४५॥

निन्दा और स्तुति को समान मानकर सुवर्ण और मिट्टी को वे बराबर समझने लगे । इस प्रकार ज्ञानयोग के साथ परम समाधि का आश्रय लेने से उनकी बुद्धि निर्मल हो गई । अन्त को योग बल से उन्हें मोक्ष की परम सिद्धि प्राप्त हो गई । इसलिए हे धर्मराज ! तुम राज्य से भ्रष्ट होने के कारण शोक मत करो । तुम तप के बल से फिर अपना राज्य पाओगे । देखो, पहिये के आरों की तरह दुःख के पश्चात् सुख का और सुख के पश्चात् दुःख का फेरा हुआ ही करता है । हे राजा युधिष्ठिर ! तेरहवां वर्ष व्यतीत होने पर तुम फिर अपने पिता का राज्य पाओगे। इसलिए मानसिक चिन्ता और दुःख छोड़ दो । हे राजा जनमेजय ! महर्षि व्यासदेव युधिष्ठिर को यों समझाकर फिर तप करने के लिए अपने आश्रम को चले गये ॥४६।५१॥

—०—

वनपर्व का दो सौ एकसठ अध्याय समाप्त हुआ ॥२६१॥

अथ द्रौपदीहरणपर्व ।
अथ द्विषष्टयधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२६२॥

जनमेजय उवाच—वसत्स्वेवं वने तेषु पांडवेषु महात्मसु ।
रममाणेषु चित्राभिः कथाभिर्मुनिभिः सह ॥ १ ॥
सूर्यदत्ताक्षयान्नेन कृष्णाया भोजनावधि ।

ब्राह्मणांस्तर्पमाणेषु ये चाऽन्नार्थमुपागताः ॥ २ ॥
आरण्यानां मृगाणां च मांसैर्नानाविधैरपि ।
धार्तराष्ट्रा दुरात्मानः सर्वे दुर्योधनादयः ॥ ३ ॥
कथं तेष्वन्ववर्तंत पापाचारा महामुने ।
दुःशासनस्य कर्णस्य शकुनेश्च मते स्थिताः ॥ ४ ॥
एतदाचक्ष्व भगवन्वैशंपायन पृच्छतः ।

वैशम्पायन उवाच—श्रुत्वा तेषां तथा वृत्तिं नगरे वसतामिव ॥ ५ ॥
दुर्योधनो महाराज तेषु पापमरोचयत् ।
तथा तैर्निकृतिप्रज्ञैः कर्णदुःशासनादिभिः ॥ ६ ॥
नानोपायैरघं तेषु चिंतयत्सु दुरात्मसु ।
अभ्यागच्छत्तत धर्मात्मा तपस्वी सुमहायशाः ॥ ७ ॥
शिष्यायुतसमोपेतो दुर्वासा नाम कामतः ।
तमागतमभिप्रेक्ष्य मुनिं परमकोपनम् ॥ ८ ॥
दुर्योधनो विनीतात्मा प्रश्रयेण दमेन च ।
सहितो भ्रातृभिः श्रीमानातिथ्येन न्यमंत्रयत् ॥ ९ ॥
विधिवत्पूजयामास स्वयं किंकरवत्स्थितः ।

दो सौ बासठ अध्याय ॥२६२॥

राजा जनमेजय ने कहा—हे ब्रह्मन्! महात्मा पाण्डव लोग महर्षियों से तरह-तरह की मनोहर कथाएँ सुनकर अपने चित्त को प्रसन्न कर रहे थे। सूर्य से उनको एक ऐसी थाली मिल गई थी, जो द्रौपदी के भोजन करने के पहले तक यथेष्ट अन्न देती थी। उस थाली की सहायता से, और तरह-तरह के जङ्गली मृगों का शिकार करके उनके मांस से, पाण्डव लोग ब्राह्मणों का और अन्य अतिथि-अभ्यागतों का सत्कार करते थे। कृपा कर कहिए, उस समय दुःशासन, कर्ण और शकुनि की सम्मति पर चलनेवाले दुष्ट-प्रकृति दुर्योधन आदि ने उनके साथ कैसा व्यवहार किया? यह वृत्तान्त सुनने की मुझे बड़ी अभिलाषा है ॥१।५॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे महाराज! पाण्डव लोग नगर की तरह वन में भी सुखपूर्वक रहते हैं, उन्हें किसी तरह की कमी नहीं है, यह सूचना पाकर दुर्योधन बड़ा ही व्याकुल हुआ। उसने फिर उन्हें कष्ट पहुँचाने का इरादा किया। वह कर्ण, शकुनि, दुःशासन आदि दुष्ट मन्त्रियों के साथ मिल-कर इसके लिए उपाय सोचने लगा। इसी बीच में घूमते हुए महायशस्वी, तपस्वी, धर्मात्मा, परम क्रोधी महर्षि दुर्वासा अपने दस हज़ार शिष्यों के साथ

अहानि कतिचित्तत्र तस्थौ स मुनिसत्तमः ॥ १० ॥
तं च पर्यचरद्राजा दिवारात्रमतंद्रितः ।
दुर्योधनो महाराज शापात्तस्य विशंकितः ॥ ११ ॥
क्षुधितोऽस्मि ददस्वाऽन्नं शीघ्रं मम नराधिप ।
इत्युक्त्वा गच्छति स्नातुं प्रत्यागच्छति वै चिरात्॥ १२ ॥
न भोक्ष्याम्यद्य मे नास्ति क्षुधेत्युक्त्वैत्यदर्शनम्।
अकस्मादेत्य च ब्रूते भोजयाऽस्मांस्त्वरान्वितः ।
कदाचिच्च निशीथे स उत्थाय निकृतौ स्थितः॥ १३ ॥
पूर्ववत्कारयित्वाऽन्नं न भुंक्ते गर्हयन्स्म सः ।
वर्तमाने तथा तस्मिन्यदा दुर्योधनो नृपः ॥ १४ ॥
विकृतिं नैति न क्रोधं तदा तुष्टोऽभवन्मुनिः ।
आह चैनं दुराधर्षो वरदोऽस्मीति भारत ॥ १५ ॥
दुर्वासा उवाच—वरं वरय भद्रं ते यत्ते मनसि वर्तते ।
मयि प्रीते तु यद्धर्म्यं नाऽलभ्यं विद्यते तव ॥ १६ ॥
वैशम्पायन उवाच—एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य महर्षेर्भावितात्मनः ।

लिये हुए दुर्योधन के यहा आये। उसने विनयपूर्वक अधीनता और सन्तोष का भाव दिखाकर मुनिवर को भोजन का निमन्त्रण दिया। भाइयों सहित दुर्योधन ने विधिपूर्वक उनकी पूजा की और दास की तरह खड़े रहकर उनकी सेवा और सत्कार का प्रबन्ध किया। मुनिश्रेष्ठ दुर्वासा कई दिन तक दुर्योधन के यहा ठहरे। दुर्योधन भी आलस्य रहित होकर दिन-रात उनकी सेवा में लगा रहा। कारण यही था कि उसे शङ्का थी कि तनिक सी असावधानी होते ही क्रोधी मुनि शाप दे देंगे। [दुर्वासा जी भी परीक्षा लेने के लिए तरह-तरह से दुर्योधन को हैरान करने लगे] ॥६।११॥

कभी वे "राजन्! मुझे बड़ी भूख लगी है, शीघ्र भोजन दो" कहकर स्नान करने चले जाते और फिर बहुत देर में लौटकर आते थे। कभी यह कहकर चल देते थे कि "आज मुझे भूख नहीं है, मैं भोजन नहीं करूँगा" और फिर अकस्मात् आकर कहते थे कि "मुझे और मेरे शिष्यों को शीघ्र भोजन कराओ।" कभी आधी रात को उठकर पहले की तरह भोजन तैयार कराकर फिर भोजन नहीं करते थे, उल्टे दुर्योधन को ही बुरा भला कहने लगते थे। महर्षि दुर्वासा के ऐसे कठोर व्यवहार से भी जब दुर्योधन को क्रोध नहीं आया, तब मन में कुछ विकार भी नहीं उत्पन्न हुआ, तब कठिनाई से काबू में आनेवाले मुनि ने प्रसन्न होकर उससे कहा—हे भरतकुल-तिलक! तुम्हारा भला हो। तुम अपनी इच्छा के अनुसार धर्म-सङ्गत

अमन्यत पुनर्जातमात्मानं स सुयोधनः ॥ १७ ॥
प्रागेवं मंत्रितं चाऽऽसीत्कर्णदुःशासनादिभिः ।
याचनीयं मुनेस्तुष्टादिति निश्चित्य दुर्मतिः ॥ १८ ॥
अतिहर्षान्वितो राजन्वरमेनमयाचत ।
शिष्यैः सह मम ब्रह्मन्यथा जातोऽतिथिर्भवान् ॥ १९ ॥
अस्मत्कुले महाराजो ज्येष्ठः श्रेष्ठो युधिष्ठिरः ।
वने वसति धर्मात्मा भ्रातृभिः परिवारितः ॥ २० ॥
गुणवान्शीलसंपन्नस्तस्य त्वमतिथिर्भव ।
यदा च राजपुत्री सा सुकुमारी यशस्विनी ॥ २१ ॥
भोजयित्वा द्विजान्सर्वान्पतींश्च वरवर्णिनी ।
विश्रांता च स्वयं भुक्त्वा सुखासीना भवेद्यदा ॥ २२ ॥
तदा त्वं तत्र गच्छेथा यद्यनुग्राह्यता मयि ।
तथा करिष्ये त्वत्प्रीत्येत्येवमुक्त्वा सुयोधनम् ॥ २३ ॥
दुर्वासा अपि विप्रेंद्रो यथागतमगात्ततः ।
कृतार्थमपि चाऽऽत्मानं तदा मेने सुयोधनः ॥ २४ ॥
करेण च करं गृह्य कर्णस्य मुदितो भृशम् ।
कर्णोऽपि भ्रातृसहितमित्युवाच नृपं मुदा ॥ २५ ॥

वरदान मुझसे माँगो । मेरे प्रसन्न होने पर कोई बात तुम्हें दुर्लभ नहीं है ॥१२।१६॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजेन्द्र! दुर्योधन ने कर्ण और दुःशासन आदि के साथ पहले से ही सम्मति कर ली थी कि दुर्वासा ऋषि जब प्रसन्न होकर वरदान के लिए कहेंगे तब उनसे क्या मांगना होगा। महर्षि दुर्वासा के मुँह से वरदान माँगने के लिए ये वचन सुनकर दुर्योधन बहुत प्रसन्न हुआ। मरकर फिर जी उठने से मनुष्य को जैसा हर्ष हो सकता है वैसा ही हर्ष उसको हुआ। दुर्योधन ने हाथ जोड़कर कहा—हे भगवन्! हमारे कुल में महाराज युधिष्ठिर ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हैं। वे गुणी, सच्चरित्र और सुशील हैं। वे धर्मात्मा इस समय स्त्री और भाइयों सहित वन में रहते हैं। मैं आपसे यही वर माँगता हूँ कि जैसे आप शिष्यों सहित पधारकर मेरे अतिथि हुए हैं वैसे ही जाकर उनके भी अतिथि हों। यदि आप मुझ पर कृपा करना चाहते हैं तो ऐसे समय जाकर अतिथि हूजिए, जब सुकुमारी यशस्विनी द्रौपदी सब ब्राह्मणों को और पतियों को खिला-पिलाकर आप भोजन करके सुखपूर्वक बैठी विश्राम कर रही हो। ॥१७।२३॥

"तुम्हारी प्रसन्नता के लिए मैं यही करूँगा", यों

कर्ण उवाच—दिष्ट्या कामः सुसंवृत्तो दिष्ट्या कौरव वर्धसे ।
दिष्ट्या ते शत्रवो मग्ना दुस्तरे व्यसनार्णवे ॥ २६ ॥
दुर्वासःक्रोधजे वह्नौ पतिताः पांडुनंदनाः ।
स्वैरेव ते महापापैर्गता वै दुस्तरं तमः ॥ २७ ॥
वैशम्पायन उवाच—इत्थं ते निकृतिप्रज्ञा राजन्दुर्योधनादयः ।
हसंतः प्रीतमनसो जग्मुः स्वं स्वं निकेतनम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि दुर्वासउपाख्याने द्विषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

कहकर महर्षि दुर्वासा यथेष्ट स्थानको चले गये। दुर्योधन अपने को कृतार्थ समझकर प्रसन्नतामें उछल पड़ा। उसने प्रसन्नता प्रकट करके कर्ण से हाथ मिलाया [भाव यह था कि बस बाज़ी मार ली]। कर्ण ने दुःशासन आदि के सामने दुर्योधन से कहा—हे भरतकुलश्रेष्ठ ! बड़े भाग्य की बात है कि तुम्हारा काम बन गया। अब अवश्य तुम्हारा और भी अभ्युदय होगा। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि तुम्हारे शत्रु सङ्कट के समुद्र में डूब गये। महर्षि दुर्वासा को भोजन न करा सकने के कारण, उनके क्रोध की अग्नि में पड़कर, पाण्डव लोग भस्म हो जायँगे। अपने ही महापाप के कारण उन्हें अनन्त नरक यातना भोगनी पड़ेगी। वैशम्पायन कहते हैं—हे राजेन्द्र ! कपट में प्रवीण दुर्योधन आदि इस प्रकार आपस में बातचीत कर हंसते हुए प्रसन्नतापूर्वक अपने-अपने घरों को गये ॥२४।२८॥

वनपर्व का दो सौ बासठ अध्याय समाप्त हुआ ॥२६२॥

अथ त्रिषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२६३॥

वैशम्पायन उवाच—ततः कदाचिद्दुर्वासाः सुखासीनांस्तु पांडवान् ।
भुक्त्वा चाऽवस्थितां कृष्णां ज्ञात्वा तस्मिन्वने मुनिः॥ १॥
अभ्यागच्छत्परिवृतः शिष्यैरयुतसंमितैः ।
दृष्ट्वाऽऽयांतं तमतिथिं स च राजा युधिष्ठिरः ॥ २ ॥
जगामाऽभिमुखः श्रीमान्सह भ्रातृभिरच्युतः ।
तस्मै बद्धांजलिं सम्यगुपवेश्य वरासने ॥ ३ ॥

दो सौ तिरसठ अध्याय ॥२६३॥

वैशम्पायन ने कहा—हे महाराज ! इसके पश्चात् एक समय, जब पाण्डव लोग भोजन करके द्रौपदी के साथ सुख से बैठे हुए थे तब महर्षि दुर्वासा दस हज़ार शिष्यों के साथ उनके स्थान पर पहुँचे। अतिथि को आते हुए देखकर श्रीमान् युधिष्ठिर भाइयों के साथ अपने आसन से उठ खड़े हुए और आगे बढ़कर महर्षि को ले आये। फिर आसन पर बैठाकर, विधिपूर्वक उनकी पूजा करके, युधिष्ठिर ने हाथ जोड़कर

विधिवत्पूजयित्वा तमातिथ्येन न्यमंत्रयत् ।
आह्निकं भगवन्कृत्वा शीघ्रमेहीति चाऽब्रवीत् ॥ ४ ॥
जगाम च मुनिः सोऽपि स्नातुं शिष्यैः सहाऽनघः ।
भोजयेत्सहशिष्यं मां कथमित्यविचिन्तयन् ॥ ५ ॥
न्यमज्जत्सलिले चापि मुनिसंघः समाहितः ।
एतस्मिन्नंतरे राजन्द्रौपदी योषितां वरा ॥ ६ ॥
चिंतामवाप परमामन्नहेतोः पतिव्रता ।
सा चिंतयंती च यदा नाऽन्नहेतुमविंदत ॥ ७ ॥
मनसा चिंतयामास कृष्णं कंसनिषूदनम् ।
कृष्ण कृष्ण महाबाहो देवकीनंदनाऽव्यय ॥ ८ ॥
वासुदेव जगन्नाथ प्रणतार्तिविनाशन ।
विश्वात्मन्विश्वजनक विश्वहर्तः प्रभोऽव्यय ॥ ९ ॥
प्रपन्नपाल गोपाल प्रजापाल परात्पर ।
आकूतीनां च चित्तीनां प्रवर्तक नताऽस्मि ते ॥ १० ॥
वरेण्य वरदाऽनंत अगतीनां गतिर्भव ।
पुराणपुरुष प्राणमनोवृत्त्याद्यगोचर ॥ ११ ॥
सर्वाध्यक्ष पराध्यक्ष त्वामहं शरणं गता ।

कहा—हे ब्रह्मन्! स्नान संध्या आदि दिन के आवश्यक कर्म समाप्त करके आइए और भोजन कीजिए ॥१।४॥

दुर्वासा तो इसलिए आये ही थे, उन्होंने यह विचार भी नहीं किया कि इस समय युधिष्ठिर मुझे और मेरे दस हज़ार शिष्यों को किस तरह कहां से भोजन करावेंगे। वे उसी समय शिष्यों के साथ स्नान करने को नदी-तट पर गये। सब मुनि जल में गोता लगाकर एकाग्रभाव से ध्यान करने लगे। इधर पतिव्रता द्रौपदी बड़े असमञ्जस में पड़ गईं। बहुत सोच-विचार करने पर भी जब उन्हें अन्न प्राप्त करने का कोई उपाय न सूझ पड़ा, तब वे घोर चिन्ता में पड़कर अशरण-शरण श्रीकृष्ण का स्मरण करने लगीं ॥५।८॥

द्रौपदी मन में कहने लगी—हे कृष्ण-कृष्ण! हे महाबाहु! हे देवकीनन्दन! हे अच्युत! हे वासुदेव! हे जगदीश्वर! हे प्रणत पुरुषों के सङ्कट काटनेवाले! हे विश्वरूप! हे विश्व के विधाता! हे विश्व का संहार करने वाले! हे प्रभु! हे प्रणतपाल! हे गोपाल! हे प्रजापालक! तुम सबसे परे परमात्मा हो। आकूति और चिति नाम की चित्त की वृत्तियों के प्रवर्त्तक तुम्हीं हो। मैं तुमको प्रणाम करती हूँ। तुम श्रेष्ठ, वर देनेवाले, अनन्त और जिनको किसी का सहारा नहीं है उनको सहारा देनेवाले हो। हे पुराणपुरुष! प्राण और मन की वृत्तियां तुम तक

पाहि मां कृपया देव शरणागतवत्सल ॥ १२ ॥
नीलोत्पलदलश्याम पद्मगर्भारुणेक्षण ।
पीतांवरपरीधान लसत्कौस्तुभभूषण ॥ १३ ॥
त्वमादिरंतो भूतानां त्वमेव च परायणम् ।
परात्परतरं ज्योतिर्विश्वात्मा सर्वतोमुखः ॥ १४ ॥
त्वामेवाहुः परं बीजं निधानं सर्वसंपदाम् ।
त्वया नाथेन देवेश सर्वापद्भ्यो भयं न हि ॥ १५ ॥
दुःशासनादहं पूर्वं सभायां मोचिता यथा ।
तथैव संकटादस्मान्मामुद्धर्तुमिहाऽर्हसि ॥ १६ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवंस्तुतस्तदा देवः कृष्णया भक्तवत्सलः ।
द्रौपद्याः संकटं ज्ञात्वा देवदेवो जगत्पतिः ॥ १७ ॥
पार्श्वस्थां शयने त्यक्त्वा रुक्मिणीं केशवः प्रभुः ।
तत्राऽऽजगाम त्वरितो ह्यचिंत्यगतिरीश्वरः ॥ १८ ॥
ततस्तं द्रौपदी दृष्ट्वा प्रणम्य परया मुदा ।
अब्रवीद्वासुदेवाय मुनेरागमनादिकम् ॥ १९ ॥
ततस्तामब्रवीत्कृष्णः क्षुधितोऽस्मि भृशातुरः ।
शीघ्रं भोजय मां कृष्णे पश्चात्सर्वं करिष्यसि ॥ २० ॥

पहुँच ही नहीं सकतीं। हे सबके स्वामी! हे सबसे बढ़-कर स्वामी! मैं तुम्हारी शरणमें आई हूँ। हे शरणागत-वत्सल देव! कृपा करके मेरी रक्षा करो ॥९।१२॥

नीलकमल-दल के समान श्याम शरीरवाले, कमलकोष के समान लाल आखोंवाले, पीताम्बर और कौस्तुभमणि धारण करनेवाले! सब प्राणी तुम्हीं से उत्पन्न होकर तुम्हीं में लीन हो जाते हैं। तुम्हीं सबकी परम गति हो। तुम परम से भी परम ज्योति, विश्वात्मा और सर्वतोमुख अर्थात् सर्वव्यापी हो। पण्डित जन तुम्हें ही इस जगत् का परम बीज और सब ऐश्वर्यों का आकार कहते है। हे देवेश! तुम हमारे नाथ हो, इसलिए हम लोग सारी आपत्तियों से नहीं डरते। हे नाथ! पहले कुरु सभा में तुमने जैसे दुःशासन के हाथ से मेरी रक्षा की थी, वैसे ही इस सङ्कट से भी मुझे उबारिए ॥१३।१६॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! द्रौपदी ने भक्तवत्सल भगवान् की इस प्रकार स्तुति की। देव-देव जगदीश्वर जान गये कि इस समय द्रौपदी पर सङ्कट आ पड़ा है। अचिन्त्य-गति श्रीकृष्ण उस समय पलंग पर रुक्मिणी के पास लेटे थे, सो उन्हें वहीं छोड़कर आप दौड़े हुए द्रौपदी के पास पहुंच गये। उन्हें देखते ही द्रौपदी के हर्ष का ठिकाना

निशम्य तद्वचः कृष्णा लज्जिता वाक्यमब्रवीत्।
स्थाल्यां भास्करदत्तायामन्नं मद्भोजनावधि ॥ २१ ॥
भुक्तवत्यस्म्यहं देव तस्मादन्नं न विद्यते ।
ततः प्रोवाच भगवान्कृष्णां कमललोचनः ॥ २२ ॥
कृष्णे न नर्मकालोऽयं क्षुच्छ्रमेणाऽऽतुरे मयि ।
शीघ्रं गच्छ मम स्थालीमानयित्वा प्रदर्शय ॥ २३ ॥
इति निर्बंधतः स्थालीमानाय्य स यदूद्वहः ।
स्थाल्याः कण्ठेऽथ संलग्नं शाकान्नं वीक्ष्य केशवः॥ २४ ॥
उपयुज्याऽब्रवीदेनामनेन हरिरीश्वरः ।
विश्वात्मा प्रीयतां देवस्तुष्टश्चाऽस्त्विति यज्ञभुक्॥ २५ ॥
आकारय मुनीन्शीघ्रं भोजनायेति चाऽब्रवीत् ।
सहदेवं महाबाहुः कृष्ण· क्लेशविनाशनः ॥ २६ ॥
ततो जगाम त्वरितः सहदेवो महायशाः ।
आकारितुं तु तान्सर्वान्भोजनार्थं नृपोत्तम ॥ २७ ॥
स्नातुं गतान्देवनद्यां दुर्वासःप्रभृतीन्मुनीन् ।
ते चाऽवतीर्णाः सलिले कृतवंतोऽघमर्षणम् ॥ २८ ॥

न रहा। द्रौपदी ने प्रणाम करके दुर्वासा के आने का सब हाल कह सुनाया। श्रीकृष्ण ने कहा—हे पाञ्चाली! मैं बहुत थका हुआ और भूखा हूं इसलिए पहले मुझे शीघ्र भोजन कराओ, पीछे और सब प्रबन्ध करती रहना ॥१७।२०॥

श्रीकृष्ण के यों कहने से द्रौपदी बहुत ही लज्जित हुई। उन्होंने कहा—हे प्रभो! जब तक मैं भोजन नहीं करती तभी तक सूर्यनारायण की दी हुई बटलोही में अन्न रहता है, फिर कुछ नहीं रहता। इस समय मेरे भोजन कर चुकने के कारण उस बटलोही में कुछ भी नहीं है। तब कमलनयन कृष्णचन्द्र ने द्रौपदी से कहा—हे द्रौपदी! देखो, मैं भूखा और थका हुआ हूं; इसलिए यह दिल्लगी करने का समय नहीं है। शीघ्र जाओ, बटलोही लाकर मुझे दिखाओ।२१।२३।

श्रीकृष्ण का अधिक आग्रह देखकर द्रौपदी वह बटलोही उठा लाईं। उस बटलोही की कगर में एक कण भर साग लगा हुआ था। श्रीकृष्ण ने उसे ही लेकर खा लिया और कहा—इससे विश्वरूप और यज्ञ के अधिपति देव प्रसन्न और तृप्त हों। इसके पश्चात् कष्टनाशन श्रीकृष्ण ने सहदेव से कहा—जाओ, ब्राह्मणों को शीघ्र भोजन के लिए बुला लाओ। दुर्वासा और उनके शिष्य देवनदी में स्नान करने गये थे। उन्हें भोजन के लिए बुलाने को वहां सहदेव गये ॥२४।२७॥

दृष्ट्वोद्गारान्सान्नरसांस्तृप्त्या परमया युताः ।
उत्तीर्य सलिलात्तस्माद् दृष्टवंतः परस्परम् ॥ २९ ॥
दुर्वाससमभिप्रेक्ष्य ते सर्वे मुनयोऽब्रुवन् ।
राज्ञा हि कारयित्वाऽन्नं वयं स्नातुं समागताः ॥ ३० ॥
आकंठतृप्ता विप्रर्षे किंस्विद्भुंजामहे वयम् ।
वृथा पाकः कृतोऽस्माभिस्तत्र किं करवामहे ॥ ३१ ॥

दुर्वासा उवाच—वृथापाकेन राजर्षेरपराधः कृतो महान् ।
माऽस्मानधाक्षुर्दृष्ट्वैव पांडवाः क्रूरचक्षुषा ॥ ३२ ॥
स्मृत्वाऽनुभाव राजर्षेरंबरीषस्य धीमतः ।
बिभेमि सुतरां विप्रा हरिपादाश्रयाज्जनात् ॥ ३३ ॥
पांडवाश्च महात्मानः सर्वे धर्मपरायणाः ।
शूराश्च कृतविद्याश्च व्रतिनस्तपसि स्थिताः ॥ ३४ ॥
सदाचाररता नित्यं वासुदेवपरायणाः ।
क्रुद्धास्ते निर्दहेयुर्वै तूलराशिमिवाऽनलः ॥
तत एतानपृष्ट्वैव शिष्याः शीघ्रं पलायत ॥ ३५ ॥

वैशम्पायन उवाच—इत्युक्तास्ते द्विजाः सर्वे मुनिना गुरुणा तदा ।
पांडवेभ्यो भृशं भीता दुद्रुवुस्ते दिशो दश ॥ ३६ ॥

सब ब्राह्मण जल में गोता लगाकर "अघमर्षण" कर रहे थे । उसी समय उन्हें [अजीर्ण की] डकार आई । उन्हें जान पड़ा कि वे खूब डटकर भोजन कर चुके हैं । जल से बाहर निकलकर परस्पर एक दूसरे की ओर देखकर उन मुनियों ने महात्मा दुर्वासा से कहा— हे भगवन् ! हम लोग युधिष्ठिर से भोजन-सामग्री तैयार करने के लिए कहकर यहां स्नान करने को आये थे, किन्तु इस समय अचानक हम ऐसे तृप्त हो गये हैं कि गले तक भोजन भरा हुआ है । अब हम लोग वहां चलकर क्या भोजन करेंगे ? हम लोगों ने व्यर्थ रसोई बनवाकर पाण्डवों का अन्न व्यर्थ करवाया । अब क्या करें ? ॥२८।३१॥

दुर्वासा मुनि ने कहा—इसमें तो सन्देह नहीं कि वृथा रसोई बनवाकर हमने राजर्षि युधिष्ठिर का बड़ा भारी अपराध किया है । अब ऐसा उपाय करना चाहिए जिसमें प्रतापी पाण्डव क्रूर दृष्टि से देखकर हम पर रुष्ट न हो जायँ । राजर्षि अम्बरीष का प्रभाव मुझे स्मरण है । तब से मैं हरिचरणानुरागी भक्तों से बहुत डरता हूं । पाण्डव लोग महात्मा, धर्मात्मा, शूर, विद्वान्, सच्चरित्र, तपस्वी, सदाचारी और भगवान् के परम भक्त हैं । अग्नि जैसे रूई के ढेर को जला देती है वैसे ही क्रुद्ध होने पर वे लोग सहज ही हमें

सहदेवो देवनद्यामपश्यन्मुनिसत्तमान् ।
तीर्थेष्वितस्ततस्तस्या विचचार गवेषयन् ॥ ३७ ॥
तत्रस्थेभ्यस्तापसेभ्यः श्रुत्वा तांश्चैव विद्रुतान् ।
युधिष्ठिरमथाऽभ्येत्य तं वृत्तांतं न्यवेदयत् ॥ ३८ ॥
ततस्ते पांडवाः सर्वे प्रत्यागमनकांक्षिणः ।
प्रतीक्षंतः कियत्कालं जितात्मानोऽवतस्थिरे ॥ ३९ ॥
निशीथेऽभ्येत्य चाऽकस्मादस्मान्स छलयिष्यति।
कथं च निस्तरेमाऽस्मात्कृच्छ्राद्दैवोपसादितात् ॥ ४० ॥
इति चिंतापरान्दृष्ट्वा निःश्वसंतो मुहुर्मुहुः ।
उवाच वचनं श्रीमान्कृष्णः प्रत्यक्षतां गतः ॥ ४१ ॥

श्रीकृष्ण उवाच—भवतामापदं ज्ञात्वा ऋषेःपरमकोपनात् ।
द्रौपद्या चिंतितः पार्था अहं सत्वरमागतः ॥ ४२ ॥
न भयं विद्यते तस्माद्दृषेर्दुर्वाससोऽल्पकम् ।
तेजसा भवतां भीतः पूर्वमेव पलायितः ॥ ४३ ॥
धर्मनित्यास्तु ये केचिन्न ते सीदंति कर्हिचित् ।
आपृच्छे वो गमिष्यामि नियतं भद्रमस्तु वः ॥ ४४ ॥

भस्म कर सकते हैं। इसलिए आओ, उनसे बिना पूछे ही हम लोग शीघ्र भाग चलें ॥३२।३५॥

वैशम्पायन ने कहा—हे महाराज ! गुरु महर्षि दुर्वासा के यों कहने पर वे सब ब्राह्मण पाण्डवों के भय से इधर-उधर भाग गये। उधर भीमसेन ने देवनदी के तट पर जाकर दुर्वासा आदि को जब न देखा तब वे सब घाटों पर इधर-उधर उनकी खोज करने लगे। अन्त को वहां के निवासी तपस्वियों के मुंह से दुर्वासा और उनके शिष्यों के भाग जाने का समाचार सुनकर भीमसेन लौट पड़े। युधिष्ठिर के पास जाकर उन्होंने सब समाचार कह सुनाया। जितेन्द्रिय पाण्डव कुछ समय तक दुर्वासा के लौटकर आने की राह देखते रहे। इसके पश्चात् वे लोग बारम्बार यह सोचकर लम्बी-लम्बी सांसें लेने लगे कि आधी रात को या न जाने किस समय अचानक आकर दुर्वासा हमको धोखा देंगे। हाय ! हम लोग दैव की भेजी हुई इस विपत्ति से कैसे छुटकारा पावेंगे ॥३६।४१॥

पाण्डवों को यों चिन्तित देखकर श्रीकृष्ण ने कहा—हे महाभाग पाण्डवो ! द्रौपदी के स्मरण करने से मैं शीघ्र यहां आया हूं। क्रोधी दुर्वासा के द्वारा तुम पर जो विपत्ति आनेवाली थी उसे जानकर उसका प्रतीकार करने के लिए ही मैं आया था; किन्तु अब दुर्वासा से तुम्हें तिल भर भी खटका नहीं है। वे स्वयं तुम्हारे तेज और प्रताप से डरकर भाग

वैशम्पायन उवाच—श्रुत्वेरितं केशवस्य बभूवुः स्वस्थमानसाः ।
द्रौपद्या सहिताः पार्थास्तमूचुर्विगतज्वराः ॥ ४५ ॥
त्वया नाथेन गोविंद दुस्तरामापदं विभो ।
तीर्णाः प्लवमिवाऽऽसाद्य मज्जमाना महार्णवे ॥ ४६ ॥
स्वस्ति साधय भद्रं ते इत्याज्ञातो ययौ पुरीम् ।
पांडवाश्च महाभाग द्रौपद्या सहिताः प्रभो ! ॥ ४७ ॥
ऊचुः प्रहृष्टमनसो विहरंतो वनाद्वनम् ।
इति तेऽभिहितं राजन्यत्पृष्टोऽहमिह त्वया ॥ ४८ ॥
एवंविधान्यलीकानि धार्त्तराष्ट्रैर्दुरात्मभिः ।
पांडवेषु वनस्थेषु प्रयुक्तानि वृथाऽभवन् ॥ ४९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि दुर्वासउपाख्याने त्रिषष्ठ्यधिकद्विशततमोऽध्यायः२६३

गये हैं। जो लोग सदा धर्म का पालन करते रहते हैं वे कभी संकट में नहीं फँसते। तुम्हारा नित्य कल्याण हो। अब मैं अपनी नगरी को जाता हूं ॥४२।४४॥

द्रौपदी सहित पाचों पाण्डव श्रीकृष्ण के य वचन सुनकर सुस्थ हुए, उनके चित्त से चिन्ता जाती रही। उन्होंने कहा—हे गोविन्द! महासागर में डूबते हुए मनुष्य जैसे जहाज़ पाकर उसके सहारे उबर जाते हैं, वैसे ही तुम्हारी सहायता पाकर हम लोग इस दुस्तर विपत्ति के सागर में डूबने से बच गये। तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम अपनी नगरी को जाओ। हे राजा जनमेजय! इस प्रकार पाण्डवों से पूछकर यदुपति श्रीकृष्ण अपनी नगरी को गये। उधर पाचों पाण्डव भी द्रौपदी को साथ लिए एक वन से दूसरे वन में विचरते हुए वनवास का आन्तिम वर्ष व्यतीत करने लगे। धृतराष्ट्र के पुत्रों ने इस प्रकार कपट करके पाण्डवों को विपत्ति में डालने के लिए जो जाल फैलाया था, वह निष्फल होगया। हे राजेन्द्र! तुमने जो पूछा था, सो सब मैंने तुमको सुना दिया।४५।४९।

वनपर्व का दो सौ तिरसठ अध्याय समाप्त हुआ ॥२६३॥

अथ चतुःषष्ठ्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२६४॥

वैशम्पायन उवाच—तस्मिन्बहुमृगेऽरण्ये अटमाना महारथाः ।
काम्यके भरतश्रेष्ठ विजन्हुस्ते यथाऽमराः ॥ १ ॥
प्रेक्षमाणा बहुविधान्वनोद्देशान्समंततः ।

दो सौ चौंसठ अध्याय ॥२६४॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे भरतश्रेष्ठ! इन्द्र-तुल्य प्रतापी महारथी पाण्डव लोग इस प्रकार इधर-उधर वनों में, सब ऋतुओं में रमणीय, फूले हुए वृक्षों की शोभा देखते और शिकार खेलते रहते थे। बहुत

यथर्तुकालरम्याश्च वनराजीः सुपुष्पिताः ॥ २ ॥
पांडवा मृगयाशीलाश्चरंतस्तन्महद्वनम् ।
विजन्हुरिंद्रप्रतिमाः कंचित्कालमरिंदम ॥ ३ ॥
ततस्ते यौगपद्येन ययुः सर्वे चतुर्दिशम् ।
मृगयां पुरुषव्याघ्रा ब्राह्मणार्थे परंतपाः ॥ ४ ॥
द्रौपदीमाश्रमे न्यस्य तृणबिंदोरनुज्ञया ।
महर्षेर्दीप्ततपसो धौम्यस्य च पुरोधसः ॥ ५ ॥
ततस्तु राजा सिंधूनां वार्धक्षत्रिर्महायशाः ।
विवाहकामः शाल्वेयान्प्रयातः सोऽभवत्तदा ॥ ६ ॥
महता परिबर्हेण राजयोग्येन संवृतः ।
राजभिर्बहुभिः सार्धमुपायात्काम्यकं च सः ॥ ७ ॥
तत्राऽपश्यत्प्रियां भार्यां पांडवानां यशस्विनीम् ।
तिष्ठंतीमाश्रमद्वारि द्रौपदीं निर्जने वने ॥ ८ ॥
विभ्राजमानां वपुषा बिभ्रतीं रूपमुत्तमम् ।
भ्राजयंतीं वनोद्देशं नीलाभ्रमिव विद्युतम् ॥ ९ ॥
अप्सरा देवकन्या वा माया वा देवनिर्मिता ।
इति कृत्वांऽजलिं सर्वे ददृशुस्तामनिंदिताम् ॥ १० ॥
ततः स राजा सिंधूनां वार्धक्षत्रिर्जयद्रथः ।

मृगों से पूर्ण काम्यक वन में वे देवताओं की तरह घूमते फिरते थे। महर्षि तृणबिन्दु और महातपस्वी पुरोहित धौम्य की आज्ञा के अनुसार ब्राह्मण-भोजन के लिए मृगों का शिकार करने को पांचों पाण्डव एक समय चारों दिशाओं में गये। आश्रम में द्रौपदी अकेली ही रह गईं। जिस समय पांचों पाण्डव शिकार करने गये थे उसी समय, सिन्धु देश का राजा, जयद्रथ राजसी पोशाक और गहने पहने हुए विवाह करने के लिए शाल्वेय देश को जा रहा था। उसके साथ बहुत से राजा थे। वह उसी काम्यक वन में आकर पहुंचा; उधर से ही उसके जाने की राह थी। उस समय अद्वितीय सुन्दरी द्रौपदी उस निर्जन वन में अपने आश्रम के पास खड़ी हुई थीं। बिजली की चमक से जैसे श्याम घन की शोभा होती है वैसे ही द्रौपदी के शरीर की कान्ति से वह सारा वन जगमगा रहा था। जयद्रथ और उसके साथी द्रौपदी को एकटक निहारते हुए मन में तर्क-वितर्क करने लगे कि यह कोई अप्सरा है, या देवकन्या है, अथवा देवनिर्मित मनोमोहिनी माया है ॥१।१०॥

परम सुन्दरी द्रौपदी को देखकर जयद्रथ बहुत

विस्मितस्त्वनवद्यांगीं दृष्ट्वा तां दुष्टमानसः ॥ ११ ॥
स कोटिकास्यं राजानमब्रवीत्काममोहितः ।
कस्य त्वेषाऽनवद्यांगी यदि वाऽपि न मानुषी ॥ १२ ॥
विवाहार्थो न मे कश्चिदिमां प्राप्याऽतिसुंदरीम् ।
एतामेवाऽहमादाय गमिष्यामि स्वमालयम् ॥ १३ ॥
गच्छ जानीहि सौम्येमां कस्य वाऽत्र कुतोऽपि वा ।
किमर्थमागता सुभ्रूरिदं कंटकितं वनम् ॥ १४ ॥
अपि नाम वरारोहा मामेषा लोकसुंदरी ।
भजेदद्याऽऽयतापांगी सुदती तनुमध्यमा ॥ १५ ॥
अप्यहं कृतकामः स्यामिमां प्राप्य वरस्त्रियम् ।
गच्छ जानीहि को न्वस्या नाथ इत्येव कोटिक॥ १६ ॥
स कोटिकास्यस्तच्छ्रुत्वा रथात्प्रस्कंद्य कुण्डली ।
उपेत्य पप्रच्छ तदा क्रोष्टा व्याघ्रवधूमिव ॥ १७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि जयद्रथागमने चतुःषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः २६४

चकराया। वह देखते ही कामदेव के वश हो मोहित हो गया। उसके मन में बुरा विचार उत्पन्न हो गया। उसने अपने साथी कोटिकास्य नाम के राजा से कहा— यह त्रिभुवन-सुन्दरी कौन है ? किसकी स्त्री है ? ऐसा जान पड़ता है कि यह मानुषी नहीं है । इस अत्यन्त सुन्दरी स्त्री को देखकर अब मेरा विवाह करने का विचार जाता रहा। मुझे अब और स्त्री से व्याह करने की आवश्यकता नहीं । मैं इसी को लेकर अपने नगर को लौट जाऊँगा । हे सौम्य ! जाकर यह पता लगाओ कि यह बाकी भौंहोंवाली सुन्दरी किसकी बेटी और किसकी स्त्री है । यह कहा से किसलिए इस कण्टक-पूर्ण दुर्गम वन में आई है ? यह भी जान लो कि यह सुन्दर मुखवाली, सुन्दर दांतोंवाली, पतली कमरवाली, त्रिभुवन-सुन्दरी मुझे स्वीकार करेगी या नहीं । मैं इस श्रेष्ठ स्त्री को पाकर अपने मनोरथ को सफल कर सकूँगा या नहीं ? हे कोटिक ! जाकर पता लगा लाओ कि इस स्त्री का पति कौन है । कुण्डल आदि गहने पहने हुए कोटिकास्य, जयद्रथ के यों कहने पर, अपने रथ से उतरकर वैसे ही द्रौपदी के पास गया और सब बातें पूछने लगा, जैसे सियार सिंहिनी के पास जाय ॥११।१७॥

—o—

वनपर्व का दो सौ चौंसठ अध्याय समाप्त हुआ ॥२६४॥

अथ पंचषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२६५॥

कोटिक उवाच—का त्वं कदंबस्य विनाम्य शाखामेकाऽऽश्रमे तिष्ठसि शोभमाना ।
देदीप्यमानाऽग्निशिखेव नक्तं व्याधूयमाना पवनेन सुभ्रूः ॥ १ ॥

अतीव रूपेण समन्विता त्वं न चाप्यरण्येषु बिभेपि किं नु ।
देवी नु यक्षी यदि दानवी वा वराप्सरा दैत्यवरांगना वा ॥ २ ॥
वपुष्मतीवोरगराजकन्या वनेचरी वा क्षणदाचरस्त्री ।
यथैव राज्ञो वरुणस्य पत्नी यमस्य सोमस्य धनेश्वरस्य ॥ ३ ॥
धातुर्विधातुः सवितुर्विभोर्वा शक्रस्य वा त्वं सदनात्प्रपन्ना ।
न ह्येव नः पृच्छसि ये वयं स्म न चापि जानीम तवेह नाथम् ॥ ४ ॥
वयं हि मानं तव वर्धयंतः पृच्छाम भद्रे प्रभवं प्रभुं च ।
आचक्ष्व बन्धूंश्च पतिं कुलं च तत्त्वेन यच्चेह करोषि कार्यम् ॥ ५ ॥
अहं तु राज्ञः सुरथस्य पुत्रो यं कोटिकास्येति विदुर्मनुष्याः ।
असौ तु यस्तिष्ठति कांचनांगे रथे हुतोऽग्निश्चयने यथैव ॥ ६ ॥
त्रिगर्तराजः कमलायताक्षः क्षेमंकरो नाम स एष वीरः ।
अस्मात्परस्त्वेष महाधनुष्मान्पुत्रः कुलिंदाधिपतेर्वरिष्ठः ॥ ७ ॥
निरीक्षते त्वां विपुलायताक्षः सुपुष्पितः पर्वतवासनित्यः ।
असौ तु यः पुष्करिणीसमीपे श्यामो युवा तिष्ठति दर्शनीयः ॥ ८ ॥
इक्ष्वाकुराज्ञः सुभवस्य पुत्रः स एव हंता द्विपतां सुगात्रि ।
यस्याऽनुचक्रं ध्वजिनः प्रयांति सौवीरका द्वादश राजपुत्राः ॥ ९ ॥

दो सौ पैंसठ अध्याय ॥२६५॥

कोटिक ने कहा—हे सुन्दर भौंहोंवाली ! कदम्ब की डाल झुकाकर, रात्रि के समय पवन-सन्धानित अग्नि की लौ के समान प्रकाशमान, तुम इस आश्रम में अकेली खड़ी हो । तुम कौन हो ? तुम्हारा रूप त्रिभुवन मे निराला है । क्या इस वन में अकेले रहने मे तुमको भय नहीं लगता ? तुम किसी देवता, यक्ष, दानव या दैत्य की सुन्दरी स्त्री हो ? या कोई श्रेष्ठ अप्सरा हो ? तुम किसी नागराज की बेटी तो नहीं हो ? या वन में रहनेवाले किसी राक्षस की स्त्री हो ? सच-सच बताओ, तुम वरुण, यमराज, चन्द्रमा अथवा कुबेर की, किसकी स्त्री हो ? तुम धाता, विधाता, सूर्य, विष्णु या इन्द्र के भवन से, कहां से इस वन में आई हो ? तुम सरस्वती, पार्वती, संज्ञा, लक्ष्मी या इन्द्राणी में से कौन हो ? तुम हमसे हमारे बारे में कुछ नहीं पूछती हो कि हम कौन हैं और न हमीं को यह मालूम पड़ता है कि तुम्हारा स्वामी कौन है ॥१।४॥

हे भद्रे ! हम लोग तुम्हारा मान बढ़ाते हुए तुमसे पूछते हैं कि तुम्हारा पिता कौन है और तुम्हारा पति कौन है । तुम अपने बन्धुओं, पति, कुल और जाति का परिचय देकर हमें बताओ कि यहां किस तात्पर्य से क्या करने आई हो ? हे सुन्दरी ! मैं राजा

शोणाश्वयुक्तेषु रथेषु सर्वे मखेषु दीप्ता इव हव्यवाहाः ।
अंगारकः कुंजरो गुप्तकश्च शत्रुंजयः संजयसुप्रवृद्धौ ॥ १० ॥
भयंकरोऽथ भ्रमरो रविश्च शूरः प्रतापः कुहनश्च नाम ।
यं षट्सहस्रा रथिनोऽनुयांति नागा हयाश्चैव पदातिनश्च ॥ ११ ॥
जयद्रथो नाम यदि श्रुतस्ते सौवीरराजः सुभगे स एषः ।
तस्याऽपरे भ्रातरोऽदीनसत्त्वा वलाहकानीकविदारणाद्याः ॥ १२ ॥
सौवीरवीराः प्रवरा युवानो राजानमेते बलिनोऽनुयांति ।
एतैः सहायैरुपयाति राजा मरुद्गणैरिंद्र इवाऽभिगुप्तः ॥ १३ ॥
अजानतां ख्यापय नः सुकेशि कस्याऽसि भार्या दुहिता च कस्य ॥ १४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि कोटिकास्यप्रश्ने पंचषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

सुरथ का पुत्र हूँ; मेरा नाम कोटिकास्य है। और देखो, कुण्ड में स्थित और आहुति पड़ने से प्रज्वलित अग्नि के समान तेजस्वी जो कमल-नयन वीर पुरुष सुवर्ण के पहियोंवाले रथ पर सवार देख पड़ते है वे त्रिगर्तराज के पुत्र क्षेमङ्कर हैं। उनके पश्चात् जो फूल मालाएँ पहने, विशाल नेत्रोंवाले, हाथ में महा-धनुष लिये खड़े हुए तुमको देख रहे हैं वे पर्वत-निवासी कुलिंदनरेश के पुत्र हैं। उनके पश्चात् जो श्यामवर्ण परमसुन्दर युवा पुरुष सरोवर के पास खड़े हैं वे इक्ष्वाकु देश के राजा सुबल के पुत्र हैं। वे दर्शनीय पुरुष युद्ध में शत्रुओं का नाश किया करते हैं। हे सुन्दरी! वह देखो सिन्धु-सौवीर देश के राजा जयद्रथ हैं। मैं समझता हूँ, तुमने उनका नाम सुना ही होगा। यज्ञ में प्रज्वलित अग्नि के समान तेजस्वी, सौवीर देश के बारह राजकुमार, लाल घोड़ों-वाले रथों पर बैठकर, असंख्य सेना साथ लेकर, यात्रा के समय उनके पीछे-पीछे चलते हैं ॥५।९॥

अङ्गारक, कुञ्जर, गुप्तक, शत्रुञ्जय, सञ्जय, सुप्रवृद्ध भयङ्कर, भ्रमर, रवि, शूर, प्रताप और कुहन, ये उन बारह राजकुमारों के नाम हैं। इनके सिवा छः हज़ार रथों, बहुत से पैदल, हाथी, घोड़े, और बलाहक, अनीक, विदारण आदि महाबली नौजवान भाई भी महाराज जयद्रथ के साथ चलते हैं। तात्पर्य यह है कि अपने सहायकों, सेनापतियों और सैनिकों के साथ जब महाराज जयद्रथ चलते हैं तब वे देवताओं के बीच विराजमान इन्द्र के समान शोभित होते हैं। हे सुन्दर केशोंवाली! अब तुम भी बताओ कि तुम किसकी कन्या और किसकी स्त्री हो? हम तुमको नहीं जानते, इसी से पूछते हैं। हमें अपना ठीक-ठीक परिचय दो ॥१०।१४॥

वनपर्व का दो सौ पैंसठ अध्याय समाप्त हुआ ॥२६५॥

अथ षट्षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२६६॥

वैशम्पायन उवाच—अथाऽब्रवीद् द्रौपदी राजपुत्री पृष्टा शिवीनां प्रवरेण तेन ।
अवेक्ष्य मंदं प्रविमुच्य शाखां संगृह्णती कौशिकमुत्तरीयम् ॥ १ ॥

बुद्धयाऽभिजानामि नरेंद्रपुत्र न मादृशी त्वामभिभाष्टुमर्हति ।
न त्वेह वक्ताऽस्ति तवेह वाक्यमन्यो नरो वाऽप्यथवाऽपि नारी ॥ २ ॥
एका ह्यहं संप्रति तेन वाचं ददानि वै भद्र निबोध चेदम् ।
अहं ह्यरण्ये कथमेकमेका त्वामालपेयं निरता स्वधर्मे ॥ ३ ॥
जानामि च त्वां सुरथस्य पुत्रं यं कोटिकास्येति विदुर्मनुष्याः ।
तस्मादहं शैब्य तथैव तुभ्यमाख्यामि बंधून्प्रथितं कुलं च ॥ ४ ॥
अपत्यमस्मि द्रुपदस्य राज्ञः कृष्णेति मां शैब्य विदुर्मनुष्याः ।
साऽहं वृणे पंच जनान्पतित्वे ये खांडवप्रस्थगताः श्रुतास्ते ॥ ५ ॥
युधिष्ठिरो भीमसेनार्जुनौ च माद्र्याश्च पुत्रौ पुरुषप्रवीरौ ।
ते मां निवेश्येह दिशश्चतस्रो विभज्य पार्था मृगयां प्रयाताः॥ ६ ॥
प्राचीं राजा दक्षिणां भीमसेनो जयः प्रतीचीं यमजावुदीचीम्।
मन्ये तु तेषां रथसत्तमानां कालोऽभितः प्राप्त इहोपयातुम् ॥ ७ ॥
संमानिता यास्यथ तैर्यथेष्टं विमुच्य वाहानवरोहयध्वम् ।
प्रियातिथिर्धर्मसुतो महात्मा प्रीतो भविष्यत्यभिवीक्ष्य युष्मान्॥ ८ ॥
एतावदुक्त्वा द्रुपदात्मजा सा शैब्यात्मजं चंद्रमुखी प्रतीता ।
विवेश तां पर्णशालां प्रशस्तां संचिंत्य तेषामतिथित्वमर्थे ॥ ९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि षट्षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२६६॥

दो सौ छाछठ अध्याय ॥२६६॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजेन्द्र ! शिविवंश में उत्पन्न कोटिकास्य के यों पूछने पर उस कदम्ब की डाली का सहारा छोड़कर, अपने वस्त्र संभालकर और एक बार उसकी ओर देखकर राजपुत्री द्रौपदी ने कहा—हे राजपुत्र ! मैं समझती हूँ कि मुझसी पतिव्रता स्त्री को तुमसे बात तक न करनी चाहिए। परन्तु यहाँ पर ऐसा कोई पुरुष या स्त्री नहीं, जो तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर दे। इसलिए हे भद्र ! मैं अकेली होने के कारण लाचार होकर, तुमसे बोलती हूँ। मैं अपने धर्म में निरत पतिव्रता हूँ; विशेषकर इस समय यहाँ पर तुम अकेले हो और मैं भी अकेली हू। इसलिए तुमसे बातचीत करना उचित नहीं समझती किन्तु मैं तुमको जानती हूं कि तुम सुरथ राजा के पुत्र कोटिकास्य हो; इसी कारण तुमको अपने कुल और बन्धुओं का परिचय देती हू—सुनो ॥१।४॥

हे शैब्य ! मैं राजा द्रुपद की कन्या हूं; मेरा नाम कृष्णा है। खाण्डवप्रस्थ में राज्य करनेवाले पाण्डवों का नाम तुमने अवश्य सुना ही होगा। उन्हीं युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव [illegible]

के वीर पुरुषों के साथ मेरा विवाह हुआ है। वे लोग इस समय, मुझे इस आश्रम में छोड़कर, शिकार के लिए वन में गये हैं। राजा युधिष्ठिर पूर्व दिशा को, भीमसेन दक्षिण दिशा को, अर्जुन पश्चिम दिशा को और नकुल और सहदेव उत्तर दिशा को गये हैं। अब इनके लौट आने का समय हो गया है। तुम लोग अपने वाहन खोलकर इस स्थान पर विश्राम करो। मेरे पति आकर अच्छी तरह तुम्हारा सत्कार करेंगे। महात्मा युधिष्ठिर बड़े अतिथिभक्त हैं। वे तुम लोगों को देखकर बहुत प्रसन्न होंगे। अतिथि-सत्कार स्वीकार करने के पश्चात् फिर तुम लोग यथेष्ट स्थान को चले जाना। चन्द्रमुखी द्रौपदी इतना कहकर अतिथि-सत्कार की तैयारी करने के लिए अपनी पर्णशाला के भीतर चली गई ॥५।९॥

वनपर्व का दो सौ छाछठ अध्याय समाप्त हुआ ॥२६६॥

अथ सप्तषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२६७॥

वैशम्पायन उवाच—तथाऽऽसीनेषु सर्वेषु तेषु राजसु भारत ।
यदुक्तं कृष्णया सार्धं तत्सर्वं प्रत्यवेदयत् ॥ १ ॥
कोटिकास्यवचः श्रुत्वा शैव्यं सौवीरकोऽब्रवीत्।
यदा वाचं व्याहरंत्यामस्यां मे रमते मनः ॥ २ ॥
सीमंतिनीनां मुख्यायां विनिवृत्तः कथं भवान्।
एतां दृष्ट्वा स्त्रियो मेऽन्या यथा शाखामृगस्त्रियः ॥ ३ ॥
प्रतिभांति महाबाहो सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ।
दर्शनादेव हि मनस्तया मेऽपहृतं भृशम् ॥ ४ ॥
तां समाचक्ष्व कल्याणीं यदि स्याच्छैव्य मानुषी।
कोटिक उवाच—एषा वै द्रौपदी कृष्णा राजपुत्री यशस्विनी ॥ ५ ॥
पंचानां पांडुपुत्राणां महिषी संमता भृशम् ।

दो सौ सड़सठ अध्याय ॥२६७॥

वैशम्पायन कहते हैं कि हे महाराज! द्रौपदी से कोटिकास्य ने जो कुछ बातचीत की थी सो सब जयद्रथ से, सब राजाओं के सामने, जाकर कह दी। कोटिकास्य से सब हाल सुनकर जयद्रथ ने कहा—हे शैव्य! उधर वह त्रिभुवन-सुन्दरी तुमसे बातचीत कर रही थी और इधर मेरा मन उस पर आसक्त हो रहा था। बड़े आश्चर्य की बात है कि तुम उससे बातें करके भी कैसे खाली लौट आये! वह तो ऐसी सुन्दरी है कि संसार भर में उसके समान दूसरी कोई नहीं है। मैं सत्य कहता हूँ कि जब से मैंने उसे देखा है तब से और सुन्दरियां मुझे बंदरिया की सी जान पड़ती हैं। इसने मेरे मन को अपने वश में कर लिया है। शीघ्र बताओ, वह मानुषी है कि नहीं ॥१।५॥

सर्वेषां चैव पार्थानां प्रिया बहुमता सती ॥ ६ ॥
तया समेत्य सौवीरं सौवीराभिमुखो व्रज ।
वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तः प्रत्युवाच पश्यामि द्रौपदीमिति ॥ ७ ॥
पतिः सौवीरसिंधूनां दुष्टभावो जयद्रथः ।
स प्रविश्याऽऽश्रमं पुण्यं सिंहगोष्टं वृको यथा ॥ ८ ॥
आत्मना सप्तमः कृष्णामिदं वचनमब्रवीत् ।
कुशलं ते वरारोहे भर्तारस्तेऽप्यनामयाः ॥ ९ ॥
येषां कुशलकामाऽसि तेऽपि कच्चिदनामयाः ।
द्रौपद्युवाच—अपि ते कुशलं राजन्राष्ट्रे कोशे बले तथा ॥ १० ॥
कच्चिदेकः शिबीनाढ्यान्सौवीरान्सह सिंधुभिः ।
अनुतिष्ठसि धर्मेण ये चाऽन्ये विदितास्त्वया ॥ ११ ॥
कौरव्यः कुशली राजा कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
अहं च भ्रातरश्चाऽस्य यांश्चाऽन्यान्परिपृच्छसि ॥ १२ ॥
पाद्यं प्रतिगृहाणेदमासनं च नृपात्मज ।
मृगान्पंचाशतं चैव प्रातराशं ददानि ते ॥ १३ ॥
ऐणेयान्पृषतान्न्यंकून्हरिणाञ्शरभाञ्शशान् ।
ऋक्षान्रुरूञ्शंबरांश्च गवयांश्च मृगान्बहून् ॥ १४ ॥

कोटिकास्य ने कहा—हे राजन्! वह यशस्विनी पाण्डवों की प्यारी पत्नी और राजा द्रुपद की कन्या है। उसका नाम कृष्णा है। सब पाण्डव उसको बहुत मान और प्यार से रखते हैं। हे सौवीर-नरेश! इसे लेकर तुम शीघ्र अपने नगर की ओर चल दो। वैशम्पायन कहते हैं कि सिन्धु-सौवीर देश का राजा, दुष्टमति, जयद्रथ कोटिकास्य के ये वचन सुनकर कहने लगा—"मैं जाकर द्रौपदी को देखूंगा।" भेड़िया जैसे सिंह के स्थान में घुसे वैसे ही पाण्डवों के पवित्र आश्रम में प्रवेश करके उसने द्रौपदी से कहा—हे सुन्दरी! तुम आनन्द में तो हो? तुम्हारे स्वामी भी आरोग्य और कुशल-क्षेम से हैं न? तुम जिनकी भलाई चाहती हो वे लोग सकुशल हैं॥६।१०॥

द्रौपदी ने कहा—हे सौवीर-नरेश! राज्य, कोष, और सेनासहित तुम तो सकुशल हो? समृद्धिसम्पन्न शिवि, सौवीर और सिन्धु देश तथा अन्य जिन देशों पर तुम्हारा अधिकार है वहां की प्रजा का पालन तुम धर्म और न्याय के अनुसार करते रहते हो न? महाराज युधिष्ठिर, उनके चारों भाई, मैं और अन्य सब लोग—जिनके बारे में तुमने पूछा—कुशल से हैं। हे राजन्! यह पांव धोने के

वराहान्महिषांश्चैव याश्चाऽन्या मृगजातयः ।
प्रदास्यति स्वयं तुभ्यं कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १५ ॥

जयद्रथ उवाच—कुशलं प्रातराशस्य सर्वं मे दित्सितं त्वया ।
एहि मे रथमारोह सुखमाप्नुहि केवलम् ॥ १६ ॥
गतश्रीकान्हृतराज्यान्कृपणान्गतचेतसः ।
अरण्यवासिनः पार्थान्नाऽनुरोद्धुं त्वमर्हसि ॥ १७ ॥
नैव प्राज्ञा गतश्रीकं भर्तारमुपयुंजते ।
युंजानमनुयुंजीत न श्रियः संक्षये वसेत् ॥ १८ ॥
श्रिया विहीना राष्ट्राच्च विनष्टाः शाश्वतीः समाः।
अलं ते पांडुपुत्राणां भक्त्या क्लेशमुपासितुम् ॥ १९ ॥
भार्या मे भव सुश्रोणि त्यजैनान्सुखमाप्नुहि ।
अखिलान्सिंधुसौवीरानाप्नुहि त्वं मया सह ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच—इत्युक्ता सिंधुराजेन वाक्यं हृदयकंपनम् ।
कृष्णा तस्मादपाक्रामद्देशात्सभ्रुकुटीमुखी ॥ २१ ॥
अवमत्याऽस्य तद्वाक्यमाक्षिप्य च सुमध्यमा ।
मैवमित्यब्रवीत्कृष्णा लज्जस्वेति च सैंधवम् ॥ २२ ॥

लिए जल और आसन लीजिए। प्रात काल के जलपान के लिए ये पचास मृग लीजिए। इसके अतिरिक्त महाराज युधिष्ठिर स्वयं आकर ऐणेय, पृषत, न्यंकु, हरिण, शरभ, शश, ऋक्ष, रुरु, शम्बर, गवय आदि अनेक जाती के मृग और वराह, महिष आदि तुमको अर्पण करेंगे ॥११।१५॥

जयद्रथ ने कहा—प्रात काल के भोजन के लिए तुम सब कुछ मुझे दे चुकीं। आओ, मेरे रथ पर बैठो और चलकर मेरे साथ लगातार सुख भोगो। श्रीहीन, राज्य से भ्रष्ट, दीन, उत्साहहीन, वनवासी पाण्डवों का विचार छोड़ दो। उनका साथ देकर कष्ट भोगना तुम्हारे योग्य नहीं है। बुद्धिमती स्त्री कभी श्रीहीन स्वामी के साथ नहीं रहती। स्वामी के पास जब तक लक्ष्मी रहे तभी तक उसके साथ रहना चाहिए। जब लक्ष्मी उसे छोड़ दे तब स्त्री को भी उसका साथ छोड़ देना चाहिए। हे सुन्दरी! पाण्डव लोग कई वर्षों से सदा के लिए लक्ष्मी और राज्य से भ्रष्ट हो गये हैं। उनकी भक्ति करके, उनके साथ रहकर, क्लेश सहना छोड़ो। उन्हें छोड़कर मेरी भार्या बनो। समूचे सिन्धु-सौवीर देश की महारानी बनकर मेरे साथ आनन्द से चैन करो ॥१६।२०॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजेन्द्र! हृदय को कँपा देनेवाले जयद्रथ के ये वाक्य सुनकर पतिव्रता

सा कांक्षमाणा भर्तॄणामुपयातमनिंदिता ।
विलोभयामास परं वाक्यैर्वाक्यानि युञ्जती ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि जयद्रथद्रौपदीसंवादे सप्तषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

द्रौपदी भौंहें टेढ़ी करके उस स्थान से हट गईं। उसकी बात पर अनादर प्रकट करके, उसे झिड़ककर, द्रौपदी ने कहा—ऐसी बात अब मुख से कभी न निकालना! तुम्हें ऐसे वचन कहते लज्जा नहीं आती! द्रौपदी अपने स्वामियों के आने की प्रतीक्षा में जयद्रथ से उत्तर-प्रत्युत्तर करके उसे बिलमाने लगी। वे चाहती थीं कि बातचीत में देर हो जाय और इसी बीच पाण्डवों में से कोई आ जाय ॥२१।२३॥

वनपर्व का दो सौ सड़सठ अध्याय समाप्त हुआ ॥२६७।

अथ अष्टषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२६८॥

वैशम्पायन उवाच—सरोपरागोपहतेन वल्गुना सरागनेत्रेण नतोन्नतभ्रुवा ।
मुखेन विस्फूर्य सुवीरराष्ट्रपं ततोऽब्रवीत्तं द्रुपदात्मजा पुनः ॥ १ ॥
यशस्विनस्तीक्ष्णविषान्महारथानभिब्रुवन्मूढ न लज्जसे कथम् ।
महेन्द्रकल्पान्निरतान्स्वकर्मसु स्थितान्समूहेष्वपि यक्षरक्षसाम् ॥ २ ॥
न किंचिदीड्यं प्रवदंति पापं वनेचरं वा गृहमेधिनं वा ।
तपस्विनं संपरिपूर्णविद्यं भषंति हैवं श्वनराः सुवीर ॥ ३ ॥
अहं तु मन्ये तव नास्ति कश्चिदेतादृशे क्षत्रियसंनिवेशे ।
यस्त्वद्य पातालमुखे पतंतं पाणौ गृहीत्वा प्रतिसंहरेत ॥ ४ ॥
नागं प्रभिन्नं गिरिकूटकल्पमुपत्यकां हैमवतीं चरंतम् ।
दंडीव यूथादपसेधसि त्वं यो जेतुमाशंससि धर्मराजम् ॥ ५ ॥

दो सौ अड़सठ अध्याय ॥२६८॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजेन्द्र! क्रोध के कारण द्रौपदी का सुन्दर मुख लाल हो आया। आंखों में खून सा उतर आया। वे भौंहें टेढ़ी करके जयद्रथ से कहने लगीं—अरे मूढ़! यक्षों और राक्षसों से भी युद्ध करने में जो कभी विचलित नहीं हुए उन महेन्द्रतुल्य, अपने कर्तव्य कर्मों में निरत, तीक्ष्ण विषवाले नाग के समान क्रोधी, यशस्वी, महारथी पाण्डवों के लिए ऐसे कुवाक्य कहते हुए तुझे लज्जा नहीं आती! तपस्वी, विद्वान् और पूजनीय पुरुष चाहे वनवासी हो और चाहे गृहस्थ, इसके लिए कटुवचन कहना आर्यों का धर्म नहीं है। इस तरह के कुवाक्य कहकर भौंकना तुझ जैसे कुत्तों का काम है। जान पड़ता है, तेरे साथ की इस क्षत्रियमण्डली में ऐसा कोई तेरा हितचिन्तक आत्मीय नहीं है, जो हाथ पकड़कर तुझे पाताल में गिरने से बचा ले ॥१।४॥

अरे दुरात्मा! जैसे कोई मूर्ख पुरुष हिमालय

वाल्यात्प्रसुप्तस्य महावलस्य सिंहस्य पक्ष्माणि मुखाल्लुनासि।
पदा समाहत्य पलायमानः क्रुद्धं यदा द्रक्ष्यसि भीमसेनम् ॥ ६ ॥
महावलं घोरतरं प्रवृद्धं जातं हरिं पर्वतकंदरेषु ।
प्रसुप्तमुग्रं प्रपदेन हंसि यः क्रुद्धमायोत्स्यसि जिष्णुमुग्रम् ॥ ७ ॥
कृष्णोरगौ तीक्ष्णमुखौ द्विजिह्वौ मत्तः पदाऽऽक्रामसि पुच्छदेशे।
यः पांडवाभ्यां पुरुषोत्तमाभ्यां जघन्यजाभ्यां प्रयुयुत्ससे त्वम्॥ ८ ॥
यथा च वेणुः कदली नलो वा फलंत्यभावाय न भूतयेऽऽत्मनः।
तथैव मां तैः परिरक्ष्यमाणामादास्यसे कर्कटकीव गर्भम् ॥ ९ ॥
जयद्रथ उवाच—जानामि कृष्णे विदितं ममैतद्यथाविधास्ते नरदेवपुत्राः।
न त्वेवमेतेन विभीषणेन शक्या वयं त्रासयितुं त्वयाऽद्य ॥ १० ॥
वयं पुनः सप्तदशेषु कृष्णे कुलेषु सर्वेऽनवमेषु जाताः ।
षड्भ्यो गुणेभ्योऽभ्यधिका विहीनान्मन्यामहे द्रौपदि पांडुपुत्रान् ११ ॥
सा क्षिप्रमातिष्ठ गजं रथं वा न वाक्यमात्रेण वयं हि शक्याः ।
आशंस वा त्वं कृपणं वदन्ती सौवीरराजस्य पुनः प्रसादम् ॥ १२ ॥

पर्वत के पास की भूमि पर विचरनेवाले पर्वत-शिखर-तुल्य गजराज को, डण्डे से हाँककर, उसके झुण्ड से अलग कर लाना चाहे वैसे ही तू धर्मपुत्र युधिष्ठिर को जीतने की इच्छा प्रकट कर रहा है। जिस समय क्रोध में भरे हुए भीमसेन को तू देखेगा उस समय तुझे जान पड़ेगा कि सोये हुए महाबली सिंह को लात मारकर, उसकी गर्दन के बाल उखाड़कर, तू भागने की चेष्टा कर रहा है। जब उग्र धनुषवाले अर्जुन क्रुद्ध होकर युद्ध करेंगे तब तेरी समझ में आवेगा कि पर्वत की कन्दरा में उत्पन्न और पले हुए, महाबली, सोये हुए भयङ्कर सिंह को तूने लात मारी है ॥५।७॥

जब पुरुष श्रेष्ठ नकुल और सहदेव से तुझे युद्ध करना पड़ेगा तब तेरी समझ में आवेगा कि तीक्ष्ण विषवाले दो काले नागों की पूँछ पर तूने पाँव रक्खा है। बाँस, केला या नरकुल में जैसे उनके नाश के लिए ही फल लगते हैं, अथवा केकड़े की स्त्री जैसे अपनी मृत्यु के लिए ही गर्भवती होती है, वैसे ही तू भी अपने नाश के लिए मुझे—पाण्डवों के द्वारा सुरक्षित जानकर भी—हर ले जाना चाहता है ॥८।९॥

जयद्रथ ने कहा—हे द्रौपदी! पाण्डवों का बल और पराक्रम मैं अच्छी तरह से जानता हूँ। तुम्हारे यों धमकाने से मैं डर नहीं सकता। मैं आठ कर्म*, तीन शक्ति† आदि गुण और शौर्य, तेज, धैर्य, अनुरक्तता,

---

* खेती, व्यापार, दुर्ग, पुल, हाथी रखना, खान से कर वसूल करना, उजड़े हुए स्थानों को आबाद करना इत्यादि।
† प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति, उत्साहशक्ति, प्रभुसिद्धि, मन्त्रसिद्धि, उत्साहसिद्धि, प्रभूदय, मन्त्रोदय और उत्साहोदय।

द्रौपद्युवाच—महाबला किं त्विह दुर्बलेव सौवीरराजस्य मताऽहमस्मि।
नाऽहं प्रमादादिह संप्रतीता सौवीरराजं कृपणं वदेयम् ॥ १३ ॥
यस्या हि कृष्णौ पदवीं चरेतां समास्थितावेकरथे समेतौ ।
इंद्रोऽपि तां नाऽपहरेत्कथंचिन्मनुष्यमात्रः कृपणः कुतोऽन्यः॥ १४ ॥
यथा किरीटी परवीरघाती निघ्नन्रथस्थो द्विषतां मनांसि ।
मदंतरे त्वद्ध्वजिनीं प्रवेष्टा कक्षं दहन्नग्निरिवोष्णगेषु ॥ १५ ॥
जनार्दनः सांधकवृष्णिवीरो महेष्वासाः केकयाश्चापि सर्वे ।
एते हि सर्वे मम राजपुत्राः प्रहृष्टरूपाः पदवीं चरेयुः ॥ १६ ॥
मौर्वीविसृष्टाः स्तनयित्नुघोषा गांडीवमुक्तास्त्वतिवेगवंतः ।
हस्तं समाहत्य धनंजयस्य भीमाः शब्दं घोरतरं नदंति ॥ १७ ॥
गांडीवमुक्तांश्च महाशरौघान्पतंगसंघानिव शीघ्रवेगान् ।
यदा द्रष्टाऽस्यर्जुनं वीर्यशालिनं तदा स्वबुद्धिं प्रतिनिंदिताऽसि ॥ १८ ॥
सशंखघोषः सतलत्रघोषो गांडीवधन्वा मुहुरुद्वहंश्च ।
यदा शरानर्पयिता तवोरसि तदा मनस्ते किमिवाऽभविष्यत् ॥ १९ ॥

दान तथा ऐश्वर्य इन छः बातों मे भूषित श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न हुआ हूँ। इस कारण मैं पाण्डवों को अपने मे हीन समझता हूँ। तुम्हारी इन बातों से डरकर मैं तुम्हें छोड़ नहीं सकता। तुम इस समय हाथी पर या रथ पर चढ़कर मेरे साथ चलो। मैं तुमसे सत्य कहता हू कि जो इस समय मेरा कहना न मानोगी तो अन्त को पाण्डवों के हारने पर तुम्हें दीन वचन कहकर मेरे आगे गिड़गिड़ाना पड़ेगा ॥१०।१२॥

द्रौपदी ने कहा—महाबली पाण्डवों की पत्नी होने के कारण मैं महाबलशालिनी हू। दुर्बल अबला की तरह मैं कैसे तेरा कहा मान सकती हू? तेरे अत्याचार करने पर भी मैं कभी तेरे आगे दीन वचन नहीं कह सकती। एक रथ पर विराजमान श्रीकृष्ण और अर्जुन जिसकी रक्षा करनेवाले हैं उस मुझको एक क्षुद्र मनुष्य की मजाल क्या है, जो ले जा सके; साक्षात् इन्द्र भी नहीं हरकर ले जा सकते। शत्रुदमन अर्जुन रथ पर चढ़कर शत्रुओं के हृदय को उत्साह-हीन करते हुए जब मेरे लिए तेरी सेना में प्रवेश करेंगे तब वे, गर्मियों में घास-फूस को अग्नि की तरह तुझे और तेरी सेना को भस्म कर डालेंगे ॥१३।१५॥

अरे मूढ़! अन्धक और वृष्णिवंश के वीर यादवों के साथ कृष्णचन्द्र और बड़े-बड़े धनुष धारण करने-वाले केकयदेश के राजपुत्र मेरी रक्षा करेंगे। अर्जुन के गाण्डीव धनुष की डोरी से छूटे हुए वेगशाली बाण बिजली की कड़क के समान घोर शब्द करते हुए शत्रु-सेना के भीतर जाते हैं। जब तू पराक्रमी अर्जुन को लगातार शीघ्रगामी तीक्ष्ण बाणों की वर्षा करते देखेगा तब अवश्य अपनी कुमति की निन्दा करेगा ॥१६।१८॥

गदाहस्तं भीममभिद्रवंतं माद्रीपुत्रौ संपतंतौ दिशश्च ।
अमर्षजं क्रोधविषं वमंतौ दृष्ट्वा चिरं तापमुपैष्यसेऽधम ॥ २० ॥
यथा वाऽहं नाऽतिचरे कथंचित्पतीन्महार्हान्मनसाऽपि जातु ।
तेनाऽद्य सत्येन वशीकृतं त्वां द्रष्टाऽस्मि पार्थैः परिकृष्यमाणम् ॥ २१ ॥
न संभ्रमं गंतुमहं हि शक्ष्ये त्वया नृशंसेन विकृष्यमाणा ।
समागताऽहं हि कुरुप्रवीरैः पुनर्वनं काम्यकमागताऽस्मि ॥ २२ ॥
वैशम्पायन उवाच–सा ताननुप्रेक्ष्य विशालनेत्रा जिघृक्षमाणानवभर्त्सयंती।
प्रोवाच मा मा स्पृशतेति भीता धौम्यं प्रचुक्रोश पुरोहितं सा ॥ २३ ॥
जग्राह तामुत्तरवस्त्रदेशे जयद्रथस्तं समवाक्षिपत्सा ।
तया समाक्षिप्ततनुः स पापः पपात शाखीव निकृत्तमूलः ॥ २४ ॥
प्रगृह्यमाणा तु महाजवेन मुहुर्विनिःश्वस्य च राजपुत्री ।
साऽऽकृष्यमाणा रथमारुरोह धौम्यस्य पादावभिवाद्य कृष्णा ॥ २५ ॥
धौम्य उवाच——नेयं शक्या त्वया नेतुमविजित्य महारथान् ।
धर्मं क्षत्रस्य पौराणमवेक्षस्व जयद्रथ ॥ २६ ॥

जब गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले अर्जुन शङ्खनाद के साथ ताल ठोंककर बारम्बार तीक्ष्ण बाण निकालकर तेरे हृदय में मारेंगे तब तेरे मन की क्या दशा होगी सो तनिक सोचकर देख । रे अधम ! जब तू युद्धभूमि में गदा हाथ में लिए भीमसेन को दौड़ते देखेगा, क्रोध का विष उगलते हुए नकुल और सहदेव को अपनी ओर झपटकर आते देखेगा, तब तुझे जो सन्ताप होगा वह सदा तेरे हृदय को जलाता रहेगा । पूजनीय पतियों के विरुद्ध कोई विचार कभी मेरे मन में भी नहीं आया है । उसी धर्म के प्रभाव से मैं शीघ्र ही तुझे पाण्डवों की कैद में देखूँगी । मैं देखूँगी कि पाण्डव तुझे पकड़कर घसीटते हुए ले चलेंगे । अरे नीच ! इस समय जो तू मुझे बलपूर्वक ले भी जायगा तो उससे मैं बिल्कुल न डरूँगी; क्योंकि कुरुवीर पाण्डवों को ज्योंही यह सूचना मिलेगी त्योंही वे मुझे छुड़ाकर इसी काम्यक वन में ले आवेंगे ।१९।२२।

वैशम्पायन कहते हैं—हे महाराज ! विशाल नेत्रोंवाली द्रौपदी यों कहकर उत्सुकता के साथ पाण्डवों के आने की राह देखने लगीं । जयद्रथ ने जब द्रौपदी को पकड़कर ले जाना चाहा तब द्रौपदी उसे झिड़ककर कहने लगीं—मुझे छू मत । फिर डरकर वे पुरोहित धौम्य को अपनी रक्षा के लिए जोर से पुकारने लगीं । जयद्रथ ने लपककर द्रौपदी का वस्त्र पकड़ लिया । द्रौपदी ने झटका देकर अपना वस्त्र छुड़ाया तो उसके साथ ही, कटे हुए पेड़ की तरह, जयद्रथ पृथ्वी पर गिर पड़ा । फिर उठकर वेग के साथ जब जयद्रथ उन्हें पकड़ने लगा तब वे उसके स्पर्श से बचने के लिए आप ही, पुरोहित धौम्य के पाँव छूकर, बारम्बार

क्षुद्रं कृत्वा फलं पाप त्वं प्राप्स्यसि न संशयः ।
आसाद्य पांडवान्वीरान्धर्मराजपुरोगमान् ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच–इत्युक्त्वा ह्रियमाणां तां राजपुत्रीं यशस्विनीम् ।
अन्वगच्छत्तदा धौम्यः पदातिगणमध्यगः ॥ २८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि द्रौपदीहरणे अष्टषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२६८॥

सांस लेती हुई जयद्रथ के रथ पर चढ़ गई ॥२३।२५॥

धौम्य ने जयद्रथ से कहा–अरे मूढ़ ! तू महारथी पाण्डवों को जीते बिना पतिव्रता द्रौपदी को नहीं ले जा सकता । अरे जयद्रथ ! क्षत्रियों के प्राचीन धर्म का ख्याल कर । धर्मराज आदि पाण्डवों से भेंट होते ही तुझे अपने इस नीच कर्म का फल भोगने को मिलेगा । इतना कहकर पुरोहित धौम्य जयद्रथ की पैदल सेना के बीच में होकर यशस्विनी राजपुत्री द्रौपदी के पीछे-पीछे चले ॥२६।२८॥

—०—

वनपर्व का दो सौ अड़सठ अध्याय समाप्त हुआ ॥२६८॥

अथ ऊनसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२६९॥

वैशम्पायन उवाच–ततो दिशः संप्रविहृत्य पार्था मृगान्वराहान्महिषांश्च हत्वा।
धनुर्धराः श्रेष्ठतमाः पृथिव्यां पृथक्चरंतः सहिता बभूवुः ॥ १ ॥
ततो मृगव्यालगणानुकीर्णं महावनं तद्विहगोपघुष्टम् ।
भ्रातॄंश्च तानभ्यवदद्युधिष्ठिरः श्रुत्वा गिरो व्याहरतां मृगाणाम्॥ २ ॥
आदित्यदीप्तां दिशमभ्युपेत्य मृगा द्विजाः क्रूरमिमे वदंति ।
आयासमुग्रं प्रतिवेदयंतो महावनं शत्रुभिर्बाध्यमानम् ॥ ३ ॥
क्षिप्रं निवर्तध्वमलं मृगैर्नो मनो हि मे दूयति दह्यते च ।
बुद्धिं समाच्छाद्य च मे समन्युरुद्धूयते प्राणपतिः शरीरे ॥ ४ ॥

दो सौ उनहत्तर अध्याय ॥२६९॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजेन्द्र ! अद्वितीय धनुर्धर पाण्डव लोग भिन्न-भिन्न दिशाओं में मृग, वराह, भैंसे आदि का शिकार करके फिर एक जगह पर आकर मिल गये । मृग, सर्प, हाथी आदि जीवों से पूर्ण और पक्षियों के शब्द से व्याप्त काम्यक वन मृगों के शब्द को सुनकर युधिष्ठिर ने कहा—हे भाइयो ! देखो, ये वन में विचरनेवाले मृग और पक्षी पूर्व दिशा की ओर मुँह करके क्रूर शब्द सुना रहे हैं । यह उत्पात किसी घोर संकट की सूचना दे रहा है । शत्रुओं के द्वारा हमारा किसी प्रकार का अपमान अथवा हम पर आक्रमण होने की भी सम्भावना पाई जाती है । मेरा मन व्याकुल हो रहा है, हृदय में जलन हो रही है । मेरा अन्तरात्मा शोक और मोह से पीड़ित सा हो रहा है—बुद्धि विचलित सी हो

सरः सुपर्णेन हृतोरगं यथा राष्ट्रं यथाऽराजकमात्तलक्ष्मि ।
एवंविधं मे प्रतिभाति काम्यकं शौंडैर्यथा पीतरसश्च कुंभः ॥ ५ ॥
ते सैंधवैरत्यनिलौघवेगैर्महाजवैर्वाजिभिरुह्यमानाः ।
युक्तैर्बृहद्भिः सुरथैर्नृवीरास्तदाऽऽश्रमायाऽभिमुखा बभूवुः ॥ ६ ॥
तेषां तु गोमायुरनल्पघोषो निवर्ततां वाममुपेत्य पार्श्वम् ।
प्रव्याहरत्तत्प्रविमृश्य राजा प्रोवाच भीमं च धनंजयं च ॥ ७ ॥
यथा वदत्येष विहीनयोनिः शालावृको वाममुपेत्य पार्श्वम् ।
सुव्यक्तमस्मानवमन्य पापैः कृतोऽभिमर्दः कुरुभिः प्रसह्य ॥ ८ ॥
इत्येव ते तद्वनमाविशंतो महत्यरण्ये मृगयां चरित्वा ।
बालामपश्यंत तदा रुदंतीं धात्रेयिकां प्रेष्यवधू प्रियायाः ॥ ९ ॥
तामिंद्रसेनस्त्वरितोऽभिसृत्य रथादवप्लुत्य ततोऽभ्यधावत् ।
प्रोवाच चैनां वचनं नरेन्द्र धात्रेयिकामंतितरस्तदानीम् ॥ १० ॥
किं रोदिषि त्वं पतिता धरण्यां किं ते मुखं शुष्यति दीनवर्णम् ।
कच्चिन्न पापैः सुनृशंसकृद्भिः प्रमाथिता द्रौपदी राजपुत्री ॥ ११ ॥
अचिंत्यरूपा सुविशालनेत्रा शरीरतुल्या कुरुपुंगवानाम् ।
पतिव्रता सत्ययुक्ता तथैव क वा नीता केन वा शंस तथ्यम् ।

है। इसलिए अब मृगों का शिकार करने की आवश्यकता नहीं, शीघ्र अपने आश्रम को लौट चलो ॥१।४॥

गरुड़ के द्वारा सर्पराज के हर लिये जाने पर कुण्ड जैसे शोभाहीन देख पड़ता है, राजा से हीन राज्य जैसे श्रीहीन हो जाता है, शराबियों के शराब पी जाने पर घड़ा जैसे खाली देख पड़ता है, वैसे ही इस समय काम्यक वन भी मुझे शून्य और शोभा हीन जान पड़ता है। इसके पश्चात् वायु के समान शीघ्रगामी सिन्धु देश के घोड़े जिनमें जुते हुए थे उन श्रेष्ठ रथों पर बैठकर पाँचों पाण्डव अपने आश्रम की ओर चले। उस समय सियार उनकी बाईं ओर खड़े होकर ज़ोर से चिल्लाने लगा। यह असगुन देख विचार करके राजा युधिष्ठिर ने भीमसेन और अर्जुन से कहा—देखो, यह नीच योनि का सियार बाईं ओर आकर ज़ोर से चिल्ला रहा है। इससे जान पड़ता है कि पापी कौरवों ने आश्रम में आकर, हमारा अपमान करके, किसी प्रकार का उपद्रव कर डाला है ॥५।८॥

महावन में शिकार खेलकर लौटे हुए पाण्डवों ने फुर्ती के साथ आश्रम में जाते ही देखा कि प्रिया द्रौपदी की दासी धात्रेयिका रो रही है। तब इन्द्रसेन सारथी शीघ्रता से रथ से उतर पड़ा और दौड़ता हुआ उसके पास पहुँचा। उसने अत्यन्त व्याकुल होकर दासी से पूछा—तुम पृथ्वी पर पड़ी क्यों रो रही हो? तुम्हारा चेहरा सूखा और उतरा हुआ क्यों

यद्येव देवी पृथिवीं प्रविष्टा दिवं प्रपन्नाऽप्यथवा समुद्रम् ॥ १२ ॥
तस्या गमिष्यंति पदे हि पार्था यथा हि संतप्यति धर्मपुत्रः ।
को हीदृशानामरिमर्दनानां क्लेशक्षमानामपराजितानाम् ॥ १३ ॥
प्राणैः समामिष्टतमां जिहीर्षेदनुत्तमं रत्नमिव प्रमूढः ।
न बुध्यते नाथवतीमिहाऽद्य बहिश्चरं हृदयं पांडवानाम् ॥ १४ ॥
कस्याऽद्य कायं प्रतिभिद्य घोरा महीं प्रवेक्ष्यंति शिताः शराग्र्याः ।
मा त्वं शुचस्तां प्रति भीरु विद्धि यथाऽद्य कृष्णा पुनरेष्यतीति ॥ १५ ॥
निहत्य सर्वान्द्विषतः समग्रान्पार्थाः समेष्यंत्यथ याज्ञसेन्या ।
अथाऽब्रवीच्चारुमुखं त्रिमृज्य धात्रेयिका सारथिमिन्द्रसेनम् ॥ १६ ॥
जयद्रथेनाऽपहृता प्रमथ्य पंचेंद्रकल्पान्परिभूय कृष्णा ।
तिष्ठंति वर्त्मानि नवान्यमूनि वृक्षाश्च न म्लांति तथैव भग्नाः ॥ १७ ॥
आवर्तयध्वं ह्यनुयात शीघ्रं न दूरयातेव हि राजपुत्री ।
सन्नह्यध्वं सर्वे एवेंद्रकल्पा महांति चारूणि च दंशनानि ॥ १८ ॥
गृह्णीत चापानि महाधनानि शरांश्च शीघ्रं पदवीं चरध्वम् ।
पुरा हि निर्भर्त्सनदंडमोहिता प्रमोहचित्ता वदनेन शुष्यता ॥ १९ ॥

हे ! निठुर पापी कौरव यहां आकर राजपुत्री द्रौपदी को तो हर नहीं ले गये ? धर्मराज ऐसे व्याकुल हो रहे हैं कि पाण्डवों को शरीर के समान प्यारी, परम-सुन्दरी, विशाल आंखोंवाली पाञ्चाली को जो कोई पाताल में, अन्तरिक्ष में या महासागर के भीतर ले गया होगा तो पाण्डव वीर वहां भी जाकर उन्हें ढूंढ लावेंगे ॥९।१३॥

ऐसे शत्रुदमन, क्लेश सहनेवाले, अपराजित पाण्डवों की प्राणों से प्यारी पत्नी को, महामूल्य रत्न की तरह, कौन महामूढ़ हर ले गया है ? द्रौपदी पाण्डवों का बाहरी हृदय है। पाण्डव उनके रक्षक हैं। मालूम नहीं कौन मूर्ख प्राणों का मोह छोड़कर उन्हें हर ले गया है ? आज पाण्डवों के भयानक तीक्ष्ण बाण किसके शरीर को काटकर पृथ्वी में समा जायेंगे ? हे भीरु ! तुम अब द्रौपदी के लिए शोक मत करो। द्रौपदी तो अभी अपने आश्रम में लौट आवेगी। सब शत्रुओं को मारकर पाण्डव अभी द्रौपदी को ले आवेंगे ॥१४।१६॥

हे राजा जनमेजय ! तब दोनों हाथों से अपने आंसू पोंछकर दासी ने पाण्डवों के सारथी इन्द्रसेन से कहा—इन्द्रतुल्य प्रतापी पांचों पाण्डवों का अपमान करके दुष्ट जयद्रथ द्रौपदी को हर ले गया है। जान पड़ता है कि राजपुत्री को लेकर वह दुष्ट अभी दूर नहीं पहुंचा होगा। वह देखो, उसके जाने की नई राहें अभी वैसी ही बनी हुई हैं। राह में जाने समय जो वृक्षों की डालियां टूटी हैं वे अभी मुरझाई नहीं हैं।

ददाति कस्मैचिदनर्हते तनुं वराज्यपूर्णामिव भस्मनि स्रुचम् ।
पुरा तुषाग्नाविव हूयते हविः पुरा श्मशाने स्रगिवाऽपविध्यते ॥ २० ॥
पुरा च सोमोऽध्वरगोऽवलिह्यते शुना यथा विप्रजने प्रमोहिते ।
महत्यरण्ये मृगयां चरित्वा पुरा श्रृगालो नलिनीं विगाहते ॥ २१ ॥
मा वः प्रियायाः सुनसं सुलोचनं चन्द्रप्रभाच्छं वदनं प्रसन्नम् ।
स्पृश्याच्छुभं कश्चिदकृत्यकारी श्वा वै पुरोडाशमिवाऽध्वरस्थम् ॥ २२ ॥
एतानि वर्त्मान्यनुयात शीघ्रं मा वः कालः क्षिप्रमिहाऽत्यगाद्वै ॥ २३ ॥
युधिष्ठिर उवाच—भद्रे प्रतिक्राम नियच्छ वाचं माऽस्मत्सकाशे परुषाण्यवोचः ।
राजानो वा यदि वा राजपुत्रा बलेन मत्ता वंचनां प्राप्नुवंति ॥ २४ ॥
वैशम्पायन उवाच—एतावदुक्त्वा प्रययुर्हि शीघ्रं तान्येव वर्त्मान्यनुवर्तमानाः ।
मुहुर्मुहुर्व्यालवदुच्छ्वसंतो ज्यां विक्षिपंतश्च महाधनुर्भ्यः ॥ २५ ॥
ततोऽपश्यंस्तस्य सैन्यस्य रेणुमुद्भूतं वै वाजिखुरप्रणुन्नम् ।
पदातीनां मध्यगतं च धौम्यं विक्रोशंतं भीममभिद्रवेति ॥ २६ ॥
ते सान्त्व्य धौम्यं परिदीनसत्त्वाः सुखं भवानेत्विति राजपुत्राः ।
श्येना यथैवाऽमिषसंप्रयुक्ता जवेन तत्सैन्यमथाऽभ्यधावन् ॥ २७ ॥

इस कारण तुम लोग फुर्ती से शत्रु का पीछा करो। इन्द्रतुल्य पराक्रमी पाण्डव लोग अभेद्य कवच पहनकर धनुष-बाण लेकर, अभी जयद्रथ का पीछा करके, उसके हाथ से द्रौपदी की रक्षा करें। जो डाट-डपट और दण्ड के भय से द्रौपदी व्याकुल-हृदय और मलिन मुख लेकर किसी अयोग्य पुरुष को आत्मसमर्पण कर देंगी तो महा अनर्थ हो जायगा। पाण्डव लोग यदि इसी समय जाकर द्रौपदी का उद्धार नहीं करेंगे तो उत्तम घी में पड़ा हुआ सुआ राख में गिरकर खराब हो जायगा; हवि की आहुति भूसी की आग में पड़ जायगी; सुन्दर माला ममान में गिरकर अशुद्ध हो जायगी; ब्राह्मणों को असावधान देख करके यज्ञ-भूमि में रक्खे हुए सोमरस को कुत्ता पी जायगा; शिकार करके सियार पवित्र सरोवर में घुस पड़ेगा और उसे गन्दा कर देगा। हे पाण्डवो! जैसे कुत्ता यज्ञभूमि में रक्खे हुए देवताओं के भाग को छू ले, वैसे कोई कुकर्मी पुरुष कहीं तुम्हारी प्रिया के सुन्दर नासिका और नेत्र आदि से शोभित, चन्द्रतुल्य, प्रसन्न मुखमण्डल को स्पर्श करके दूषित न कर दे? तुम लोग अभी इसी राह से जाओ; देर न करो ॥१७-२३॥

युधिष्ठिर ने दासी से कहा—हे भद्रे! हट जाओ, चुप रहो। हम लोगों के आगे द्रौपदी के बारे में ऐसा अनुचित और कठोर बातें मुख पर मत लाओ। अपने बल के घमण्ड में आकर ऐसा काम करनेवाला पुरुष चाहे राजा हो और चाहे राजपुत्र, वह मरेगा; उसे अपने किये का फल चखना ही पड़ेगा ॥२४॥

तेषां महेंद्रोपमविक्रमाणां संरब्धानां धर्षणाद्याज्ञसेन्याः ।
क्रोधः प्रजज्वाल जयद्रथं च दृष्ट्वा प्रियां तस्य रथे स्थितां च ॥ २८ ॥
प्रचुक्रुशुश्चाप्यथ सिंधुराजं वृकोदरश्चैव धनंजयश्च ।
यमौ च राजा च महाधनुर्धरास्ततो दिशः संमुमुहुः परेषाम् ॥ २९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि पार्थागमने ऊनसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२६९॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजा जनमेजय! अब पाण्डव लोग बारम्बार धनुष की डोरी बजाते और साँप की सी फुफकार छोड़ते उसी नवीन मार्ग से चले, जो जयद्रथ की सेना के जाने से बन गया था। कुछ दूर जाने पर घोड़ों की टापों से उड़ी हुई धूल देख पड़ी, जिससे उन्हें शत्रु का पता लग गया। उन्होंने जयद्रथ की पैदल सेना के बीच में पुरोहित धौम्य को भी देखा। वे बारम्बार "हे भीम! हे अर्जुन!" कहकर चिल्ला रहे थे। राजपुत्र पाण्डवों ने दूर से ही यह कहकर धौम्य को धीरज बँधाया कि "हम लोग पहुँच गये, इसलिए आप सुखपूर्वक चले आइए।" बाज जैसे मांस के लिए झपटता है, वैसे ही पराक्रमी पाण्डव लोग वेग के साथ शत्रु-सेना की ओर बढ़े। इन्द्र के समान बल और पराक्रमवाले पाण्डव द्रौपदी का अपमान और हरा जाना देखकर क्रोध से विह्वल हो रहे थे। इस समय जयद्रथ को और उसके रथ पर द्रौपदी को देखकर उनका क्रोध अग्नि के समान और भी प्रज्वलित हो उठा। तब महाधनुर्द्धर महाराज युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव, पाँचों पाण्डव जोर से चिल्लाकर जयद्रथ को ललकारते हुए उससे ठहरने के लिए कहने लगे। पाण्डवों का सिंहनाद सुनकर शत्रुओं की आँखों के आगे अँधेरा सा छा गया ॥२५।२९॥

—०—

वनपर्व का दो सौ उनहत्तर अध्याय समाप्त हुआ ॥२६९॥

अथ सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२७०॥

वैशम्पायन उवाच—ततो घोरतरः शब्दो वने समभवत्तदा ।
भीमसेनार्जुनौ दृष्ट्वा क्षत्रियाणाममर्षिणाम् ॥ १ ॥
तेषां ध्वजाग्राण्यभिवीक्ष्य राजा स्वयं दुरात्मा कुरुपुंगवानाम् ।
जयद्रथो याज्ञसेनीमुवाच रथे स्थितां भानुमतीं हतौजाः ॥ २ ॥
आयान्तीमे पंच रथा महान्तो मन्ये च कृष्णे पतयस्तवेति ।

दो सौ सत्तर अध्याय ॥२७०॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! भीमसेन और अर्जुन को देखकर क्रोधित क्षत्रिय लोग घोर शब्द करने लगे। उस शब्द से वह वन गूँज उठा। दुरात्मा जयद्रथ भी पाण्डवों के ध्वजों की चोटियाँ देखकर भय के मारे उत्साहहीन हो गया। उस समय वह अपने रथ पर बैठी हुई द्रौपदी से बोला—हे द्रौपदी! ये जो पाँच रथी बड़े रथों पर बैठे हुए दूर से आ रहे हैं, मेरी समझ में तुम्हारे

सा जानती ख्यापय नः सुकेशि परं परं पांडवानां रथस्थम् ॥ ३ ॥
द्रौपद्युवाच—किं ते ज्ञातैर्मूढ महाधनुर्धरैरनायुष्यं कर्म कृत्वाऽतिघोरम् ।
एते वीराः पतयो मे समेता न वः शेषः कश्चिदिहाऽस्ति युद्धे ॥ ४ ॥
आख्यातव्यं त्वेव सर्वं मुमूर्षोर्मया तुभ्यं पृष्टया धर्म एषः ।
न मे व्यथा विद्यते त्वद्भयं वा संपश्यंत्याः सानुजं धर्मराजम् ॥ ५ ॥
यस्य ध्वजाग्रे नदतो मृदंगौ नंदोपनन्दौ मधुरौ युक्तरूपौ ।
एतं स्वधर्मार्थविनिश्चयज्ञं सदा जनाः कृत्यवंतोऽनुयांति ॥ ६ ॥
य एष जांबूनदशुद्धगौरः प्रचंडघोणस्तनुरायताक्षः ।
एतं कुरुश्रेष्ठतमं वदंति युधिष्ठिरं धर्मसुतं पतिं मे ॥ ७ ॥
अप्येष शत्रोः शरणागतस्य दद्यात्प्राणान्धर्मचारी नृवीरः ।
परेह्येनं मूढजवेन भूतये त्वमात्मनः प्रांजलिर्न्यस्तशस्त्रः ॥ ८ ॥
अथाऽप्येनं पश्यसि यं रथस्थं महाभुजं शालमिव प्रवृद्धम् ।
संदष्टोष्ठं भ्रुकुटीसंहतभ्रुवं वृकोदरो नाम पतिर्ममैषः ॥ ९ ॥
आजानेया बलिनः साधु दांता महाबलाः शूरमुदावहंति ।
एतस्य कर्माण्यतिमानुषाणि भीमेति शब्दोऽस्य गतः पृथिव्याम्॥ १० ॥

पति पाण्डव हैं। हे सुन्दर केशोंवाली! तुम क्रम से अपने पांचों पतियों का परिचय दो ॥१।३॥

द्रौपदी ने कहा—अरे मूर्ख! आयुर्बल को घटानेवाला ऐसा घोर नीच कर्म करने के पश्चात् अब तू इन महाधनुर्द्धर वीरों का परिचय पूछकर क्या करेगा? ये पांचों वीर मेरे पति हैं। ये ऐसा भयङ्कर युद्ध करेंगे कि तेरे पक्ष का एक मनुष्य भी जीता न बचेगा। भाइयों सहित धर्मराज को सामने देखकर अब न मुझे दुःख है और न तेरा भय ही है। तू अब शीघ्र ही मरनेवाला है, इसलिए धर्म का ख्याल करके मैं तेरे इस प्रश्न का उत्तर देती हूँ, सुन ॥४।५॥

जिनकी ध्वजा के सिरे पर बंधे हुए नन्द और उपनन्द नाम के दो मृदङ्ग मधुर शब्द में बज रहे हैं, जिनके शरीर का रङ्ग सुवर्ण के समान उज्ज्वल और चमकीला है, जिनकी नाक नुकीली और ऊंची है, जिनके दोनों नेत्र विशाल हैं, वे अपने धर्म के मर्म को अच्छी तरह जाननेवाले, मेरे पति धर्मपुत्र युधिष्ठिर हैं। सज्जन लोग इन्हीं के आचरणों को अपना आदर्श मानते हैं। ये वीर पुरुष ऐसे धर्मात्मा हैं कि शरण में आये हुए शत्रु को भी प्राणदान दे देते हैं। रे मूर्ख! जो तू अपनी भलाई और जीवन चाहता है तो शीघ्र हथियार रख दे और हाथ जोड़कर इनकी शरण में चला जा ॥६।८॥

वह देख, जो साखू के पेड़ के समान विशाल शरीर और लम्बी भुजाओं से शोभित वीर पुरुष रथ

नाऽस्याऽपराद्धाः शेषमत्राप्नुवंति नाऽयं वैरं विस्मरते कदाचित्।
वैरस्यांऽतं संविधायोपयाति पश्चाच्छांतिं न च गच्छत्यतीव ॥ ११ ॥
धनुर्धराग्र्यो धृतिमान्यशस्वी जितेंद्रियो वृद्धसेवी नृवीरः ।
भ्राता च शिष्यश्च युधिष्ठिरस्य धनंजयो नाम पतिर्ममैषः ॥ १२ ॥
यो वै न कामान्न भयान्न लोभात्त्यजेद्धर्मं न नृशंसं च कुर्यात्।
स एष वैश्वानरतुल्यतेजाः कुंतीसुतः शत्रुसहः प्रमाथी ॥ १३ ॥
यः सर्वधर्मार्थविनिश्चयज्ञो भयार्तानां भयहर्ता मनीषी ।
यस्योत्तमं रूपमाहुः पृथिव्यां यं पांडवाः परिरक्षंति सर्वे ॥ १४ ॥
प्राणैर्गरीयांसमनुव्रतं वै स एष वीरो नकुलः पतिर्मे ।
यः खड्गयोधी लघुचित्रहस्तो महांश्च धीमान्सहदेवोऽद्वितीयः॥ १५ ॥
यस्याऽद्य कर्म द्रक्ष्यसे मूढसत्त्व शतक्रतोर्वा दैत्यसेनासु संख्ये।
शूरः कृतास्त्रो मतिमान्मनस्वी प्रियंकरो धर्मसुतस्य राज्ञः ॥ १६ ॥
य एष चंद्रार्कसमानतेजा जघन्यजः पांडवानां प्रियश्च ।
बुद्ध्या समो यस्य नरो न विद्यते वक्ता तथा सत्सु विनिश्चयज्ञः ॥ १७ ॥

पर बैठे हैं, जो क्रोध के मारे भौंहें टेढ़ी करके अपने ओठ चबा रहे हैं, वे मेरे स्वामी भीमसेन हैं। बड़े बली, परिश्रमी, सुशिक्षित आजानेय नाम के घोड़े इनके रथ को खींचते हैं। भीमसेन के सब कर्म भयानक होते हैं, उन्हें और कोई मनुष्य नहीं कर सकता। इसी से पृथ्वी पर सब लोग इन्हें भीम कहते हैं। इनका अपराध करनेवाला कोई पुरुष इनसे क्षमा नहीं पा सकता। ये कभी किसी समय वैर को नहीं भूलते। चाहे जिस तरह हो, ये वैरी से बदला अवश्य लेते हैं। बदला लेने पर भी ये अच्छी तरह शान्त नहीं होते ॥९।११॥

हे जयद्रथ! वे तीसरे वीर पुरुष मेरे स्वामी पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन हैं। ये युधिष्ठिर के भाई और प्रिय शिष्य हैं। ये सब धनुर्द्धर पुरुषों में प्रधान, यशस्वी, धैर्यशाली, सहनशील, जितेन्द्रिय और बड़े-बूढ़ों के सेवक हैं। ये कभी काम, लोभ या भय के वश होकर अपने धर्म का त्याग या नीच कर्म नहीं करते। इनका तेज अग्नि के समान है और ये सहज ही सब शत्रुओं का नाश कर सकते हैं। चौथे रथ पर बैठे हुए मेरे पति महाबली नकुल हैं। ये सब प्रकार के धर्म और अर्थ के सिद्धान्तों को जाननेवाले, भय से पीड़ित मनुष्यों को अभय देनेवाले, विवेकी, बुद्धिमान्, खड्गयुद्ध में अद्वितीय, बड़े फुर्तीले और पृथ्वी भर में अद्वितीय रूपवान् माने जाते हैं। ये अपने भाइयों पर बड़ा अनुराग रखते हैं; इसीकारण सब भाई इन्हें प्राणों से भी अधिक प्यारा समझकर इनकी रक्षा करते हैं। रे मूर्ख! दैत्य-सेना में इन्द्र जैसे अद्भुत कार्य करते हैं वैसे ही इनके अद्भुत रण-

स एष शूरो नित्यममर्षणश्च धीमान्प्राज्ञः सहदेवः पतिर्मे ।
त्यजेत्प्राणान्प्रविशेद्धव्यवाहं न त्वेवैष व्याहरेद्धर्मबाह्यम् ॥ १८ ॥
सदा मनस्वी क्षत्रधर्मे रतश्च कुंत्याः प्राणैरिष्टतमो नृवीरः ।
विशीर्यंतीं नावमिवार्णवांते रत्नाभिपूर्णां मकरस्य पृष्ठे ॥ १९ ॥
सेनां तवेमां हतसर्वयोधां विक्षोभितां द्रक्ष्यसि पांडुपुत्रैः ।
इत्येते वै कथिताः पांडुपुत्रा यांस्त्वं मोहादवमन्य प्रवृत्तः ॥
यद्येतेभ्यो मुच्यसेऽरिष्टदेहः पुनर्जन्म प्राप्स्यसे जीव एव ॥ २० ॥
वैशम्पायन उवाच–ततःपार्थाः पंच पंचेंद्रकल्पास्त्यक्त्वा त्रस्तान्प्रांजलींस्तान्पदातीन्
रथानीकं शरवर्षांधकारं चक्रुः क्रुद्धाः सर्वतः संनिगृह्य ॥ २१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि द्रौपदीवाक्ये सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२७०॥

कौशल को आज तू देखेगा और जो शूर, अस्त्रविद्या में निपुण, बुद्धिमान्, उदार, धर्मराज का प्रिय करने वाले, चन्द्रमा और सूर्य के समान परम तेजस्वी, सब भाइयों मे छोटे और सबके प्रीतिपात्र हैं, वही उस पाँचवें रथ पर बैठे हुए मेरे पति सहदेव हैं। बोलने की निपुणता में और न्याय में इनकी बराबरी करने-वाला पृथ्वी भर पर कोई नहीं है। ये बड़े पण्डित हैं। ये चाहे अपने प्राण त्याग दें, चाहे अग्नि में कूद पड़ें, पर धर्म-विरुद्ध बात कभी न कहेंगे। ये पुरुषश्रेष्ठ सदा क्षत्रिय-धर्म का पालन करने में तत्पर हैं। देवी कुन्ती को ये प्राणों से भी बढ़कर प्यारे हैं ॥१२।१९॥

रे मूर्ख ! रत्नों से लदी नाव जैसे समुद्र के बीच किसी बड़े मच्छ की पीठ से टकराकर टूट जाती है वैसे ही पाण्डव लोग तेरी इस सेना के योद्धाओं को मारकर छिन्न भिन्न कर देंगे। तू अभी अपनी सेना की दुर्दशा देखेगा। तूने मोहवश जिनका अनादर करके यह कुकर्म किया है, उन पाण्डवों का परिचय मैंने तुझे दे दिया। जो आज तू इनके हाथ से जीता बच गया तो समझना कि इसी शरीर से तेरा दूसरा जन्म हुआ। वैशम्पायन ने कहा—हे राजेन्द्र ! उधर इन्द्रतुल्य पराक्रमी पाण्डवों ने जयद्रथ की पैदल सेना को, डरकर हाथ जोड़ते देख, छोड़ दिया। फिर वे कुपित होकर रथ, हाथी, घोड़े आदि के सवारों को चारों ओर से घेरकर उन पर बाण बरसाने लगे ॥२०।२१॥

वनपर्व का दो सौ सत्तर अध्याय समाप्त हुआ ॥२७०॥

अथ एकसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्याय ॥२७१॥

वैशम्पायन उवाच—संतिष्ठत प्रहरत तूर्णं विपरिधावत ।
इति स्म सैंधवो राजा चोदयामास तान्नृपान् ॥ १ ॥
ततो घोरतमः शब्दो रणे समभवत्तदा ।

भीमार्जुनयमान्दृष्ट्वा सैन्यानां सयुधिष्ठिरान् ॥ २ ॥
शिबिसौवीरसिंधूनां विषादश्चाप्यजायत ।
तान्दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्रान्व्याघ्रानिव बलोत्कटान् ॥ ३ ॥
हेमचित्रसमुत्सेधां सर्वशैक्यायसीं गदाम् ।
प्रगृह्याऽभ्यद्रवद्भीमः सैन्धवं कालचोदितम् ॥ ४ ॥
तदन्तरमथाऽऽवृत्य कोटिकास्योऽभ्यहारयत् ।
महता रथवंशेन परिवार्य वृकोदरम् ॥ ५ ॥
शक्तितोमरनाराचैर्वीरबाहुप्रचोदितैः ।
कीर्यमाणोऽपि बहुभिर्न स्म भीमोऽभ्यकंपत ॥ ६ ॥
गजं तु सगजारोहं पदातींश्च चतुर्दश ।
जघान गदया भीमः सैंधवध्वजिनीमुखे ॥ ७ ॥
पार्थः पंचशताञ्छूरान्पार्वतीयान्महारथान् ।
परीप्समानः सौवीरं जघान ध्वजिनीमुखे ॥ ८ ॥
राजा स्वयं सुवीराणां प्रवराणां प्रहारिणाम् ।
निमेषमात्रेण शतं जघान समरे तदा ॥ ९ ॥
ददृशे नकुलस्तत्र रथात्प्रस्कंद्य खड्गधृक् ।
शिरांसि पादरक्षाणां बीजवत्प्रवपन्मुहुः ॥ १० ॥

दो सौ इकहत्तर अध्याय ॥२७१॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! तब जयद्रथ "ठहरो, मारो, दौड़ो" ऐसा कहकर अपने साथी राजाओं को युद्ध के लिए उकसाने लगा। युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, और सहदेव को देखकर युद्धभूमि में जयद्रथ के सैनिक लोग बड़ा कोलाहल करने लगे। सिंह के समान बली पाण्डवों को देखकर शिवि, सिन्धु और सौवीर देशों के राजाओं को अत्यन्त खेद हुआ। भीम-पराक्रमी भीमसेन सुवर्ण-भूषित लोहे की गदा लेकर जयद्रथ को मारने के लिए उसकी ओर दौड़े ॥१।४॥

यह देखकर कोटिकास्य ने बहुत से रथों की सेना से, चारों ओर से, उनको घेर लिया; घिर जाने से भीमसेन जयद्रथ के पास तक नहीं पहुँच सके। उस समय योद्धा लोग चारों ओर से भीमसेन के ऊपर तोमर, नाराच और शक्ति आदि शस्त्रों की वर्षा करने लगे। किन्तु उन शस्त्रों के लगने से भीमसेन तनिक भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने गदाप्रहार से सेना के अग्र भाग में स्थित हाथी, महावत और चौदह पैदलों को मार डाला। जयद्रथ के पास पहुँचने के लिए महावीर अर्जुन ने पहाड़ी

सहदेवस्तु संयाय रथेन गजयोधिनः ।
पातयामास नाराचैर्द्रुमेभ्य इव बर्हिणः ॥ ११ ॥
ततस्त्रिगर्तः सधनुरवतीर्य महारथात् ।
गदया चतुरो वाहान्राज्ञस्तस्य तदाऽवधीत् ॥ १२ ॥
तमभ्याशगतं राजा पदातिं कुंतिनंदनः ।
अर्धचंद्रेण बाणेन विव्याधोरसि धर्मराट् ॥ १३ ॥
स भिन्नहृदयो वीरो वक्त्राच्छोणितमुद्वमन् ।
पपाताऽभिमुखः पार्थं छिन्नमूल इव द्रुमः ॥ १४ ॥
इंद्रसेनद्वितीयस्तु रथात्प्रस्कंद्य धर्मराट् ।
हताश्वः सहदेवस्य प्रतिपेदे महारथम् ॥ १५ ॥
नकुलं त्वभिसंधाय क्षेमंकरमहामुखौ ।
उभावुभयतस्तीक्ष्णैः शरवर्षैरवर्षताम् ॥ १६ ॥
तोमरैरभिवर्षंतौ जीमूताविव वार्षिकौ ।
एकैकेन विपाठेन जघ्ने माद्रवतीसुतः ॥ १७ ॥
त्रिगर्तराजः सुरथस्तस्याऽथ रथधूर्गतः ।
रथमाक्षेपयामास गजेन गजयानवित् ॥ १८ ॥

जातियों के पांच सौ महारथी योद्धाओं को देखते ही देखते मार डाला। स्वयं राजा युधिष्ठिर ने अपने ऊपर प्रहार करनेवाले सौवीर क्षत्रियों के सौ प्रधान वीरों को क्षण भर में नष्ट कर दिया। महावीर नकुल खड्ग लेकर रथ पर से कूद पड़े और [हाथियों के] पांवों के पास रहकर रक्षा करनेवाले वीर सिपाहियों के सिर काट-काटकर बीज की तरह पृथ्वी पर बोने लगे। रथ पर चढ़े हुए वीर सहदेव हाथियों पर चढ़कर युद्ध करनेवालों को नाराच बाण मारकर--वृक्षों के ऊपर से मोरों की तरह--गिराने लगे ॥५।११॥

इसके पश्चात् त्रिगर्त देश का धनुर्धर राजा रथ पर से कूद पड़ा। उसने गदा चलाकर युधिष्ठिर के रथ के चारों घोड़ों को मार डाला। पैदल ही सामने झपटकर आते हुए त्रिगर्तराज के हृदय में धर्मराज ने एक अर्धचन्द्र बाण मारा। उस बाण के लगने से त्रिगर्तराज का हृदय फट गया, उसके हृदय और मुँह से रक्त बहने लगा। वह जड़ से कटे पेड़ की तरह पृथ्वी पर गिर पड़ा। रथ के घोड़े मर जाने से महाराज युधिष्ठिर इन्द्रसेन सारथी के साथ सहदेव के रथ पर सवार हो गये ॥१२।१५॥

उधर क्षेमङ्कर और महामुख नाम के दो वीर राजा नकुल से भिड़कर उनके ऊपर वर्षा के बादलों की तरह तीक्ष्ण बाण बरसाने लगे। नकुल ने एक-एक विपाठ नामक बाण मारकर उन दोनों को घायल

नकुलस्त्वपभीस्तस्माद्रथाच्चर्मासिपाणिमान् ।
उद्भ्रान्तं स्थानमास्थाय तस्थौ गिरिरिवाऽचलः ॥ १९ ॥
सुरथस्तं गजवरं वधाय नकुलस्य तु ।
प्रेषयामास सक्रोधमत्युच्छ्रितकरं ततः ॥ २० ॥
नकुलस्तस्य नागस्य समीपपरिवर्तिनः ।
सविषाणं भुजं मूले खड्गेन निरकृन्तत ॥ २१ ॥
स विनद्य महानादं गजः किंकिणिभूषणः ।
पतन्नवाक्शिरा भूमौ हस्त्यारोहमपोथयत् ॥ २२ ॥
स तत्कर्म महत्कृत्वा शूरो माद्रवतीसुतः ।
भीमसेनरथं प्राप्य शर्म लेभे महारथः ॥ २३ ॥
भीमस्त्वापततो राज्ञः कोटिकास्यस्य संगरे ।
सूतस्य नुदतो वाहान्क्षुरेणाऽपाहरच्छिरः ॥ २४ ॥
न बुबोध हतं सूतं स राजा बाहुशालिना ।
तस्याऽश्वा व्यद्रवन्संख्ये हतसूतास्ततस्ततः ॥ २५ ॥
विमुखं हतसूतं तं भीमः प्रहरतां वरः ।
जघान तलयुक्तेन प्रासेनाऽभ्येत्य पांडवः ॥ २६ ॥

कर दिया। त्रिगर्तराज सुरथ हाथी की सवारी में बड़ा चतुर था। उसने अपना हाथी बढ़ाकर नकुल के रथ पर विकट आक्रमण किया। इससे नकुल तनिक भी नहीं डरे। ढाल-तलवार लेकर वे रथ से कूद पड़े और अपनी जगह पर पर्वत की तरह अचल भाव से खड़े रहे। सुरथ ने फिर अंकुश मारकर अपने हाथी को नकुल के मारने के लिए बढ़ाया। वह हाथी कोपित होकर, सूँड उठाकर, नकुल की ओर झपटा॥१९।२०॥

जब वह हाथी पास आया तब नकुल ने इस ज़ोर से तलवार मारी कि दाँतों समेत उसकी सूँड कटकर गिर पड़ी। किंकिणी आदि गहने पहने वह हाथी ज़ोर से चिल्लाकर घोर शब्द करता हुआ पृथ्वी पर गिर पड़ा। उसके साथ ही उसका सवार भी नीचे आ गया। महाशूर और महारथी नकुल यह अद्भुत साहस का काम कर चुकने पर भीमसेन के रथ पर आ गये। वहाँ पहुँचने पर उनको शान्ति मिली॥२१।२३॥

भीमपराक्रमी भीमसेन ने देखा कि कोटिकास्य युद्ध के लिए सामने आ रहा है। तब उन्होंने ऐसे कौशल और फुर्ती के साथ क्षुरप्र बाण से उसके सारथी का सिर काट डाला कि कोटिकास्य को मालूम ही न हुआ। सारथी के मर जाने पर घोड़े कोटिकास्य के रथ को लेकर इधर-उधर भागने लगे।

द्वादशानां तु सर्वेषां सौवीराणां धनंजयः ।
चकर्त निशितैर्भल्लैर्धनूंषि च शिरांसि च ॥ २७ ॥
शिबीनिक्ष्वाकुमुख्यांश्च त्रिगर्तान्सैन्धवानपि ।
जघानाऽतिरथः संख्ये बाणगोचरमागतान् ॥ २८ ॥
सादिताः प्रत्यदृश्यंत बहवः सव्यसाचिना ।
सपताकाश्च मातंगाः सध्वजाश्च महारथाः ॥ २९ ॥
प्रच्छाद्य पृथिवीं तस्थुः सर्वमायोधनं प्रति ।
शरीराण्यशिरस्कानि विदेहानि शिरांसि च ॥ ३० ॥
श्वगृध्रकंककाकोलभासगोमायुवायसाः ।
अतृप्यंस्तत्र वीराणां हतानां मांसशोणितैः ॥ ३१ ॥
हतेषु तेषु वीरेषु सिंधुराजो जयद्रथः ।
विमुच्य कृष्णां संत्रस्तः पलायनमनाऽभवत् ॥ ३२ ॥
स तस्मिन्संकुले सैन्ये द्रौपदीमवतार्य ताम् ।
प्राणप्रेप्सुरुपाधावद्वनं येन नराधमः ॥ ३३ ॥
द्रौपदीं धर्मराजस्तु दृष्ट्वा धौम्यपुरस्कृताम् ।
माद्रीपुत्रेण वीरेण रथमारोपयत्तदा ॥ ३४ ॥
ततस्तद्विद्रुतं सैन्यमपयाते जयद्रथे ।

इसी बीच में भीमसेन ने पास पहुँचकर मूठदार प्रास नाम के शस्त्र से कोटिकास्य को मार डाला। अर्जुन ने भी तीक्ष्ण भल्ल बाणों से सौवीर देश के बारहों राजकुमारों के धनुष काटकर सिर भी काट गिराये। शिबी, इक्ष्वाकु त्रिगर्त और सिन्धु देश के जो वीर योद्धा महारथी अर्जुन के सामने आ गये उन्हें अर्जुन ने बाणों से मारकर गिरा दिया ॥२४।२८॥

पताकाओं सहित हाथियों और ध्वजाओं सहित बड़े-बड़े रथों का, अर्जुन के बाणों से छिन्न-भिन्न होने पर, युद्ध-भूमि में ढेर लग गया। देखते ही देखते उस युद्ध-भूमि में चारों ओर कटे हुए सिरों और धड़ों का ढेर लग गया। मरे हुए वीरों के मास और रक्त से तृप्त कुत्ते, गिद्ध, कङ्क, काकोल, भास, सियार, कौए आदि जीव चारों ओर आनन्द मनाते देख पड़ने लगे। जब जयद्रथ की ओर के सब वीर योद्धा मार डाले गये तब वह दुर्बुद्धि भय के मारे द्रौपदी को वहीं छोड़कर भाग खड़ा हुआ। उसी भयानक युद्ध भूमि में द्रौपदी को उतार अपनी जान बचाने के लिए वह नराधम वन की ओर भागा ॥२९।३३॥

धर्मराज युधिष्ठिर ने धौम्य पुरोहित के साथ खड़ी हुई द्रौपदी को जब देखा तब सहदेव से उन्हें रथ पर चढ़ा लेने के लिए कहा। सहदेव ने उसी

आदिश्याऽऽदिश्य नाराचैराजघान वृकोदरः ॥ ३५ ॥
सव्यसाची तु तं दृष्ट्वा पलायंतं जयद्रथम् ।
वारयामास निघ्नंतं भीमं सैंधवसैनिकान् ॥ ३६ ॥

अर्जुन उवाच—यस्याऽपचारात्प्राप्तोऽयमस्मान्क्लेशो दुरासदः ।
तमस्मिन्समरोद्देशे न पश्यामि जयद्रथम् ॥ ३७ ॥
तमेवाऽन्विष भद्रं ते किं ते योधैर्निपातितैः ।
अनामिषमिदं कर्म कथं वा मन्यते भवान् ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन उवाच—इत्युक्तो भीमसेनस्तु गुडाकेशेन धीमता ।
युधिष्ठिरमभिप्रेक्ष्य वाग्मी वचनमब्रवीत् ॥ ३९ ॥
हतप्रवीरा रिपवो भूयिष्ठं विद्रुता दिशः ।
गृहीत्वा द्रौपदीं राजन्निवर्ततु भवानितः ॥ ४० ॥
यमाभ्यां सह राजेंद्र धौम्येन च महात्मना ।
प्राप्याऽऽश्रमपदं राजन्द्रौपदीं परिसांत्वय ॥ ४१ ॥
न हि मे मोक्ष्यते जीवन्मूढः सैन्धवको नृपः ।
पातालतलसंस्थोऽपि यदि शक्रोऽस्य सारथिः ॥ ४२ ॥

युधिष्ठिर उवाच—न हंतव्यो महाबाहो दुरात्माऽपि स सैंधवः ।
दुःशलामभिसंस्मृत्य गांधारीं च यशस्विनीम् ॥ ४३ ॥

समय बड़े भाई की आज्ञा का पालन किया। जयद्रथ के भागने पर उसकी सेना के बचे हुए लोग भी भाग खड़े हुए। भागते हुए सैनिकों को, ललकार-ललकारकर, भीमसेन नाराच बाणों से मारकर पृथ्वी पर गिराने लगे। उस समय जयद्रथ को भागते देखकर अर्जुन ने भीमसेन से कहा—हे भाई! इन भगोड़े सैनिकों को मारना वृथा है। जिसके अत्याचार के कारण हमें ऐसा कष्ट उठाना पड़ा है वह जयद्रथ मुझे समर-भूमि में नहीं देख पड़ता। द्रौपदी को क्लेश पहुंचानेवाले, मूर्ख, दुष्ट, छली जयद्रथ को ही ढूंढना चाहिए। इन भगोड़ों को मारना क्या तुम ठीक समझते हो ॥३४।३८॥

वैशम्पायन कहते हैं कि अर्जुन के यों कहने पर भीमसेन युधिष्ठिर के पास जाकर कहने लगे—शत्रुओं के सब श्रेष्ठ योद्धा मार डाले गये। जो कुछ बचे, वे जान लेकर इधर-उधर भाग गये। इसलिए अब आप नकुल, सहदेव, पुरोहित धौम्य और द्रौपदी को साथ लेकर आश्रम को लौट जाइए और द्रौपदी को ढाढ़स बंधाइए। मैं दुरात्मा जयद्रथ को जीता न छोड़ूंगा। चाहे वह पाताल में जाकर छिपे और चाहे साक्षात् इन्द्र उसकी सहायता करें; परन्तु मैं उसे छोड़ने का नहीं ॥३९।४२॥

वैशम्पायन उवाच—तच्छ्रुत्वा द्रौपदी भीममुवाच व्याकुलेंद्रिया ।
कुपिता ह्रीमती प्राज्ञा पती भीमार्जुनावुभौ ॥ ४४ ॥
कर्तव्यं चेत्प्रियं मह्यं वध्यः स पुरुषाधमः ।
सैंधवापसदः पापो दुर्मतिः कुलपांसनः ॥ ४५ ॥
भार्याभिहर्त्ता वैरी यो यश्च राज्यहरो रिपुः ।
याचमानोऽपि संग्रामे न मोक्तव्यः कथंचन ॥ ४६ ॥
इत्युक्तौ तौ नरव्याघ्रौ ययतुर्यत्र सैंधवः ।
राजा निववृते कृष्णामादाय सपुरोहितः ॥ ४७ ॥
स प्रविश्याऽऽश्रमपदमपविद्धवृसीमठम् ।
मार्कंडेयादिभिर्विप्रैरनुकीर्णं ददर्श ह ॥ ४८ ॥
द्रौपदीमनुशोचद्भिर्ब्राह्मणैस्तैः समाहितैः ।
समियाय महाप्राज्ञः सभार्यो भ्रातृमध्यगः ॥ ४९ ॥
ते स्म तं मुदिता दृष्ट्वा पुनः प्रत्यागतं नृपम् ।
जित्वा तान्सिंधुसौवीरान्द्रौपदीं चाऽऽहृतां पुनः ॥ ५० ॥
स तैः परिवृतो राजा तत्रैवोपविवेश ह ।
प्रविवेशाऽऽश्रमं कृष्णा यमाभ्यां सह भाविनी ॥ ५१ ॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे भाई भीम! इसमें सन्देह नहीं कि जयद्रथ बड़ा दुष्ट है; पर दुःशला (दुर्योधन की बहन) और यशस्विनी गान्धारी का ख़याल करके उसे जीवित से रहित मत करना ॥४३॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! यह सुनकर बुद्धिमती, लजीली द्रौपदी व्याकुल हो उठीं। उन्होंने कुपित होकर भीमसेन और अर्जुन से कहा—जो मेरा प्रिय करना चाहते हो तो उस दुर्बुद्धि कुल-कलङ्क नराधम को जीता न छोड़ना। जो शत्रु स्त्री को या राज्य को हरनेवाला हो, वह यदि हाथ जोड़कर प्राणों की भिक्षा मांगे तो भी उसे ज़िन्दा न छोड़ना चाहिए। द्रौपदी की बात सुनकर भीमसेन और अर्जुन जयद्रथ के पीछे चले ॥४४।४७॥

महाराज युधिष्ठिर भी नकुल, सहदेव, द्रौपदी और पुरोहित धौम्य को साथ लेकर आश्रम को लौटे। आश्रम में ऋषियों के बैठने के आसन आदि इधर-उधर उलटे-पलटे पड़े थे। मार्कण्डेय आदि ऋषि एकत्र होकर द्रौपदी के लिए शोक कर रहे थे। स्त्री और भाइयों सहित राजा युधिष्ठिर को आते देखकर सब तपस्वियों को बड़ा आनन्द हुआ। उन्हें मालूम हो गया कि पाण्डव लोग सिन्धु-सौवीर देश की सेना को मार-काटकर, जयद्रथ को हराकर, अपने पराक्रम से द्रौपदी को ले आये हैं। राजा युधिष्ठिर उन मुनियों के पास बाहर ही बैठ गये। नकुल और

भीमसेनार्जुनौ चापि श्रुत्वा क्रोशगतं रिपुम् ।
स्वयमश्वांस्तुदंतौ तौ जवेनैवाऽभ्यधावताम् ॥ ५२ ॥
इदमत्यद्भुतं चाऽत्र चकार पुरुषोऽर्जुनः ।
क्रोशमात्रगतानश्वान्सैंधवस्य जघान यत् ॥ ५३ ॥
स हि दिव्यास्त्रसंपन्नः कृच्छ्रकालेऽप्यसंभ्रमः ।
अकरोद्दुष्करं कर्म शरैरस्त्रानुमंत्रितैः ॥ ५४ ॥
ततोऽभ्यधावतां वीरावुभौ भीमधनंजयौ ।
हताश्वं सैंधवं भीतमेकं व्याकुलचेतसम् ॥ ५५ ॥
सैंधवस्तु हतान्दृष्ट्वा तथाऽश्वान्स्वान्सुदुःखितः ।
अतिविक्रमकर्माणि कुर्वाणं च धनंजयम् ॥ ५६ ॥
पलायनकृतोत्साहः प्राद्रवद्येन वै वनम् ।
सैंधवं त्वभिसंप्रेक्ष्य पराक्रांतं पलायने ॥ ५७ ॥
अनुयाय महाबाहुः फाल्गुनो वाक्यमब्रवीत् ।
अनेन वीर्येण कथ स्त्रियं प्रार्थयसे बलात् ॥ ५८ ॥
राजपुत्र निवर्तस्व न ते युक्त पलायनम् ।
कथं ह्यनुचरान्हित्वा शत्रुमध्ये पलायसे ॥ ५९ ॥

सहदेव के साथ द्रौपदी आश्रम के भीतर चली गईं ॥४८।५१॥

इधर भीम और अर्जुन को दुष्ट जयद्रथ के एक कोस की दूरी पर भाग जाने की सूचना मिली तब वे स्वयं रथ हाँकते हुए वहाँ शीघ्रता से आगे बढ़े। साथ ही अर्जुन ने एक बहुत ही अद्भुत कार्य यह किया कि दिव्य अस्त्र के प्रभाव से वहीं से बाण चलाकर, कोस भर आगे जा रहे, जयद्रथ के रथ के घोड़ों को मार डाला। महारथी अर्जुन में यह विशेष गुण था कि सङ्कट या कष्ट के समय वे तनिक भी व्याकुल न होते थे। इसी से वे अस्त्रयुक्त बाण मारकर अनायास ही यह दुष्कर कर्म कर सके। भय से व्याकुल होकर जयद्रथ अकेला ही भागा जा रहा था और उसके पीछे दोनों वीर पाण्डव रथ दौड़ाये हुए आ रहे थे। जयद्रथ अपने घोड़ों का मरना देखकर बहुत ही दुखी और निराश हो गया। अर्जुन के पराक्रम और अद्भुत कार्यों को देखकर पहले से ही वह बहुत व्याकुल हुआ-हुआ था। अब रथ के घोड़े मर जाने पर वह छिपने के लिए पैदल ही जङ्गल की ओर भागा। अर्जुन और भीमसेन इसी बीच में जयद्रथ के पास पहुच गये ॥५२।५७॥

जयद्रथ को सामने देख कर पीछा करनेवाले अर्जुन ने कहा—अरे ओ राजपुत्र ! इसी पराक्रम के बल पर तुम पराई स्त्री को हरने गये थे ? लौटो।

इत्युच्यमानः पार्थेन सैंधवो न न्यवर्तत ।
तिष्ठ तिष्ठेति तं भीमः सहसाऽभ्यद्रवद्बली ।
मा वधीरिति पार्थस्तं दयावान्प्रत्यभाषत ॥ ६० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि जयद्रथपलायने एकसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः२७१

समाप्तं च द्रौपदीहरणपर्व ।

लौटो, यों भागना तुम्हारे योग्य काम नहीं है ! अरे शत्रुओं के बीच अपने अनुचरों को असहाय छोड़कर कहां भागे चले जा रहे हो ? अर्जुन के यों ललकारने पर भी जयद्रथ नहीं लौटा। तब "ठहर जा, ठहर जा" कहकर डाटते हुए महाबली भीमसेन वेग से उसके पीछे दौड़े। उस समय दयालु अर्जुन ने भीमसेन से फिर कह दिया कि भाई, इसे जान से न मारना ॥५८।६०॥

वनपर्व का दो सौ एकहत्तर अध्याय समाप्त हुआ ॥२७१॥

अथ जयद्रथविमोक्षणपर्व ।

अथ द्विसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२७२॥

वैशम्पायन उवाच—जयद्रथस्तु संप्रेक्ष्य भ्रातरावुद्यतावुभौ ।
प्राधावत्तूर्णमव्यग्रो जीवितेप्सुः सुदुःखितः ॥ १ ॥
तं भीमसेनो धावंतमवतीर्य रथाद्बली ।
अभिद्रुत्य निजग्राह केशपक्षे ह्यमर्षणः ॥ २ ॥
समुद्यम्य च तं भीमो निष्पिपेष महीतले ।
शिरो गृहीत्वा राजानं ताडयामास चैव ह ॥ ३ ॥
पुनः संजीवमानस्य तस्योत्पतितुमिच्छतः ।
पदा मूर्ध्नि महाबाहुः प्राहरद्विलापिष्यतः ॥ ४ ॥
तस्य जानू ददौ भीमो जघ्ने चैनमरत्निना ।
स मोहमगमद्राजा प्रहारवरपीडितः ॥ ५ ॥

दो सौ बहत्तर अध्याय ॥२७२॥

वैशम्पायन ने कहा—हे महाराज! जयद्रथ ने देखा कि भीमसेन और अर्जुन, दोनों भाई, शस्त्र ताने हुए आ रहे हैं। तब वह अत्यन्त दुःखित होने पर भी जीने की आशा से, व्याकुलता छोड़कर, भागा। क्रोध के मारे भीमसेन का शरीर कांपने लगा। वे रथ से उतरकर बड़ी शीघ्रता से दौड़े। जयद्रथ के पास पहुँचकर भीमसेन ने उसके बाल पकड़ लिये। फिर उस दुष्ट को ऊपर उठाकर उन्होंने पृथ्वी पर दे मारा। अब वे उसके बाल पकड़कर चाटे और घूंसे मारने लगे। पहले तो जयद्रथ अचेत हो गया।

सरोषं भीमसेनं तु वारयामास फाल्गुनः ।
दुःशलायाः कृते राजा यत्तदाऽऽहेति कौरव ॥ ६ ॥

भीमसेन उवाच—नाऽयं पापसमाचारो मत्तो जीवितुमर्हति ।
कृष्णायास्तदनर्हायाः परिक्लेष्टा नराधमः ॥ ७ ॥
किं नु शक्यं मया कर्तुं यद्राजा सततं घृणी ।
त्वं च बालिशया बुद्ध्या सदैवाऽस्मान्प्रबाधसे॥ ८ ॥
एवमुक्त्वा सटास्तस्य पंच चक्रे वृकोदरः ।
अर्धचंद्रेण बाणेन किंचिदब्रुवतस्तदा ॥ ९ ॥
विकत्थयित्वा राजानं ततः प्राह वृकोदरः ।
जीवितुं चेच्छसे मूढ हेतुं मे गदतः शृणु ॥ १० ॥
दासोऽस्मीति त्वया वाच्यं संसत्सु च सभासु च ।
एवं ते जीवितं दद्यामेष युद्धजितो विधिः ॥ ११ ॥
एवमस्त्विति तं राजा कृष्यमाणो जयद्रथः ।
प्रोवाच पुरुषव्याघ्रं भीममाहवशोभिनम् ॥ १२ ॥
तत एनं विचेष्टंतं बध्वा पार्थो वृकोदरः ।
रथमारोपयामास विसंज्ञं पांसुगुंठितम् ॥ १३ ॥

किन्तु फिर होश में आकर उठने लगा तब भीमसेन ने उसके सिर में लात मारी । जयद्रथ पीड़ित होकर रोने लगा । क्रोधित भीमसेन उसकी छाती पर चढ़कर घुटनों और घूंसों से उसको मारने लगे । भीमसेन की मार न सह सकने के कारण वह फिर मूर्छित हो गया ॥१।५॥

भीमसेन को अत्यन्त कुपित देखकर अर्जुन ने कहा—हे भाई ! दुःशला के वैधव्य का ख्याल करके महाराज युधिष्ठिर ने जो तुमसे कहा था उसका विचार रखना । ऐसी मार न मारो कि यह दुष्ट मर जाय । भीमसेन ने कहा—इस दुराचारी नराधम ने क्लेश पाने के अयोग्य द्रौपदी को बहुत सताया है इस कारण मेरे हाथ में आकर फिर इसका जीवित रहना ठीक नहीं है; किन्तु मैं क्या करूं ! राजा युधिष्ठिर बड़े दयालु हैं, दूसरे तुम भी अल्पज्ञता के कारण मेरे ऐसे कामों में सदा रोक-टोक करते हो । इसी से मैं लाचार हूं ॥६।८॥

अब भीमसेन ने अर्धचन्द्र बाण से जयद्रथ के सिर के बाल मूँड़कर पांच चोटियां रख दीं । जयद्रथ चुपचाप पड़ा रहा, हिला तक भी नहीं । इस प्रकार जयद्रथ का रूप बिगाड़कर और खूब तिरस्कार करके भीमसेन ने कहा—अरे मूर्ख ! जो तू जीना चाहता है तो मैं जो कहता हूँ सो सुन । सदा सभा-समाज आदि में तुझे अपने को दास बताना होगा । यदि

ततस्तं रथमास्थाय भीमः पार्थानुगस्तदा ।
अभ्येत्याऽऽश्रममध्यस्थमभ्यगच्छद्युधिष्ठिरम् ॥ १४ ॥
दर्शयामास भीमस्तु तदवस्थं जयद्रथम् ।
तं राजा प्राहसद् दृष्ट्वा मुच्यतामिति चाऽब्रवीत्॥ १५ ॥
राजानं चाऽब्रवीद्भीमो द्रौपद्याः कथ्यतामिति ।
दासभावं गतो ह्येष पांडूनां पापचेतनः ॥ १६ ॥
तमुवाच ततो ज्येष्ठो भ्राता सप्रणयं वचः ।
मुंचेममधमाचारं प्रमाणा यदि ते वयम् ॥ १७ ॥
द्रौपदी चाऽब्रवीद्भीममभिप्रेक्ष्य युधिष्ठिरम् ।
दासोऽयं मुच्यतां राज्ञस्त्वया पंचसटः कृतः ॥ १८ ॥
स मुक्तोऽभ्येत्य राजानमभिवाद्य युधिष्ठिरम् ।
ववंदे विह्वलो राजंस्तांश्च दृष्ट्वा मुनींस्तदा ॥ १९ ॥
तमुवाच घृणी राजा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
तथा जयद्रथं दृष्ट्वा गृहीतं सव्यसाचिना ॥ २० ॥
अदासो गच्छ मुक्तोऽसि मैवं कार्षीः पुनः क्वचित् ।
स्त्रीकामं वा धिगस्तु त्वां क्षुद्रः क्षुद्रसहायवान् ॥ २१ ॥

तुझे यह स्वीकार हो तो मैं तुझे जीता छोड़ सकता हूँ । युद्ध में जीते हुए शत्रु के साथ क्षत्रिय को ऐसा ही व्यवहार करना चाहिए; यही रीति है । पीड़ित जयद्रथ ने कष्ट के मारे विजयी भीमसेन की यह प्रतिज्ञा स्वीकार कर ली । धरती पर लोटने और तड़पने के कारण जयद्रथ के शरीर में धूल भरी हुई थी । भीमसेन ने अचेत से जयद्रथ को बाँधकर अपने रथ पर बैठा लिया । फिर भीमसेन और अर्जुन दोनों भाई अपने आश्रम में युधिष्ठिर के पास आये ॥९।१५॥

जयद्रथ की यह दुर्दशा देखकर युधिष्ठिर हँस पड़े और भीमसेन से कहने लगे—अब इसे छोड़ दो । भीमसेन ने कहा—हे महाराज ! यह बड़ा नराधम है; यह हम लोगों का दास हो चुका है । द्रौपदी से भी इसके छुटकारे के बारे में पूछ लीजिए । तब युधिष्ठिर ने प्रेमपूर्वक भीमसेन से कहा—हे भाई भीम ! जो तुम मुझे मानते हो तो इस दुरात्मा को शीघ्र छोड़ दो । तब युधिष्ठिर की ओर देखकर द्रौपदी ने भीमसेन से कहा—तुमने सिर पर पांच चोटियां रखकर इसको दास बना दिया; [यह इसके कुकर्म का दण्ड हो चुका] अब इसको छोड दो ॥१६।१८॥

भीमसेन ने जयद्रथ के हाथ-पांव खोल दिये । बन्धन खुल जाने पर विह्वल जयद्रथ ने धर्मराज युधिष्ठिर को और उस आश्रम में रहनेवाले तपोधन वृद्ध मुनियों को प्रणाम किया । उस हालत में जय-

एवंविधं हि कः कुर्यात्त्वदन्यः पुरुषाधमः ।
गतसत्त्वमिव ज्ञात्वा कर्तारमशुभस्य तम् ॥ २२ ॥
संप्रेक्ष्य भरतश्रेष्ठः कृपां चक्रे नराधिपः ।
धर्मे ते वर्धतां बुद्धिर्मा चाऽधर्मे मनः कृथाः ॥ २३ ॥
साश्वः सरथपादातः स्वस्ति गच्छ जयद्रथ ।
एवमुक्तस्तु सव्रीडं तूष्णीं किंचिदवाङ्मुखः ॥ २४ ॥
जगाम राजन्दुःखार्तो गंगाद्वाराय भारत ।
स देवं शरणं गत्वा विरूपाक्षमुमापतिम् ॥ २५ ॥
तपश्चचार विपुलं तस्य प्रीतो वृषध्वजः ।
बलिं स्वयं प्रत्यगृह्णात्प्रीयमाणास्त्रिलोचनः ॥ २६ ॥
वरं चाऽस्मै ददौ देवः स जग्राह च तच्छृणु ।
समस्तान्सरथान्पंच जयेयं युधि पांडवान् ॥ २७ ॥
इति राजाऽब्रवीद्देवं नेति देवस्तमब्रवीत् ।
अजय्यांश्चाप्यवध्यांश्च वारयिष्यसि तान्युधि ॥ २८ ॥
ऋतेऽर्जुनं महाबाहुं नरं नाम सुरेश्वरम् ।
बदर्यां तप्ततपसं नारायणसहायकम् ॥ २९ ॥

द्रथ को देखकर दयालु राजा युधिष्ठिर ने उससे कहा—इस समय तुम दासभाव और बन्धन से छुटकारा पा गये। जाओ, किन्तु स्मरण रक्खो, कि फिर कभी ऐसा कार्य न करना। तुम पराई स्त्री पर कुदृष्टि डालनेवाले और क्षुद्र विचारोंवाले पुरुष हो और वैसे ही निन्दनीय पुरुष तुम्हारे साथी थे। विचार कर देखो, तुम्हारे ऐसे अधम और धिक्कार के योग्य पुरुषों के सिवाय और कौन ऐसा कुकर्म करने को तैयार होगा? वैशम्पायन कहते हैं—हे राजा जनमेजय! पापकर्म करने के कारण तेज से हीन मुर्दार जयद्रथ को देखकर युधिष्ठिर को दया आ गई। उन्होंने कृपा करके फिर उससे कहा—हे जयद्रथ! जाओ, अब अधर्म की ओर अपना मन न लगाना। मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि तुम्हारी बुद्धि सदा धर्म में लगी रहे। तुम घोड़े, रथ, पैदल आदि के साथ अपने नगर को जाओ। तुम्हारा भला हो। जयद्रथ ने चुपचाप सब बातें सुन लीं, उससे कुछ कहते न बना। लज्जा के मारे सिर झुकाकर जयद्रथ वहां से चल दिया। उसके हृदय में अपार दुःख था। यह वहां से राजधानी में नहीं गया ॥१९।२४॥

हे महाराज! पाण्डवों से अपने अपमान का बदला लेने की इच्छा से हरद्वार में जाकर वह उमापति महादेव को प्रसन्न करने के लिए अत्यन्त घोर तपस्या करने लगा। यथा-समय प्रसन्न होकर त्रिलोचन शङ्कर

अजितं सर्वलोकानां देवैरपि दुरासदम् ।
मया दत्तं पाशुपतं दिव्यमप्रतिमं शरम् ।
अवाप लोकपालेभ्यो वज्रादीन्स महाशरान् ॥ ३० ॥
देवदेवो ह्यनंतात्मा विष्णुः सुरगुरुः प्रभुः ।
प्रधानपुरुषोऽव्यक्तो विश्वात्मा विश्वमूर्तिमान् ॥ ३१ ॥
युगांतकाले संप्राप्ते कालाग्निर्दहते जगत् ।
सपर्वतार्णवद्वीपं सशैलवनकाननम् ॥ ३२ ॥
निर्दहन्नागलोकांश्च पातालतलचारिणः ।
अथांऽतरिक्षे सुमहन्नानावर्णाः पयोधराः ॥ ३३ ॥
घोरस्वरा विनादिनस्तडिन्मालावलंबिनः ।
समुत्तिष्ठन्दिशः सर्वा विवर्षंतः समंततः ॥ ३४ ॥
ततोऽग्निं नाशयामासुः संवर्ताग्निनियामकाः ।
अक्षमात्रैश्च धाराभिस्तिष्ठंत्यापूर्य सर्वशः ॥ ३५ ॥
एकार्णवे तदा तस्मिन्नुपशान्तचराचरे ।
नष्टचंद्रार्कपवने ग्रहनक्षत्रवर्जिते ॥ ३६ ॥

प्रकट हुए। उन्होंने जयद्रथ की दी हुई पूजा ग्रहण की। फिर रुद्र ने उससे वरदान माँगने के लिए कहा। तब जयद्रथ ने कहा—हे भगवन्! मैं यही वर चाहता हूँ कि युद्ध में पाँचों पाण्डवों को जीत सकूँ। महादेव ने कहा—पाँचों पाण्डवों को तुम नहीं हरा सकते। उन्हें न तो कोई जीत सकता है और न मार सकता है। तथापि मेरे वरदान से अर्जुन को छोड़कर अन्य चारों पाण्डवों को, केवल एक दिन, तुम हरा सकोगे। महाबाहु अर्जुन नर नामक ऋषि का अवतार हैं। उन्होंने महर्षि नारायण के साथ बदरिकाश्रम में घोर तप किया है। भगवान् नारायण उनके सहायक हैं। तीनों लोकों में कोई उन्हें जीत नहीं सकता। देवता भी उन पर आक्रमण नहीं कर सकते। मैंने उन्हें अपना दिव्य अद्वितीय पाशुपत अस्त्र दिया है। अन्य लोकपालों ने भी उन्हें अपने वज्र आदि श्रेष्ठ अस्त्र दिये हैं ॥२५।३०॥

अब मैं तुमसे उनके सहायक नारायण भगवान् की महिमा कहता हूं—सुनो। प्रलयकाल उपस्थित होने पर अपार पुरुष देवदेव नारायण, विष्णु कालाग्नि के रूप में पर्वत, वन, समुद्र, द्वीप आदि सहित पृथ्वी को और नागलोक तथा पाताल को भस्म करने के लिए उद्यत होते हैं। उस समय, सब जगत् भस्म हो जाने पर, आकाश में अनेक रंग के भयानक बादल घिर आते हैं और बिजलियां चमकने लगती हैं। वे बादल घोर शब्द से गरज-गरजकर रथ के के धुरे के बराबर मोटी धाराओं से लगातार जल बरसाते हैं ॥३१।३५॥

चतुर्युगसहस्रांते सलिलेनाऽऽप्लुता मही ।
ततो नारायणाख्यस्तु सहस्राक्षः सहस्रपात् ॥ ३७ ॥
सहस्रशीर्षा पुरुषः स्वप्तुकामस्त्वतींद्रियः ।
फटासहस्रविकटं शेषं पर्यंकभाजनम् ॥ ३८ ॥
सहस्रमिव तिग्मांशुसंघातममितद्युतिम् ।
कुंदेंदुहारगोक्षीरमृणालकुमुदप्रभम् ॥ ३९ ॥
तत्राऽसौ भगवान्देवः स्वपञ्जलनिधौ तदा ।
नैशेन तमसा व्याप्तां स्वां रात्रिं कुरुते विभुः ॥ ४० ॥
सत्त्वोद्रेकात्प्रबुद्धस्तु शून्यं लोकमपश्यत ।
इमं चोदाहरंत्यत्र श्लोकं नारायणं प्रति ॥ ४१ ॥
आपो नारास्तत्तनव इत्यपां नाम शुश्रुम ।
अयनं तेन चैवाऽऽस्ते तेन नारायणः स्मृतः ॥ ४२ ॥
प्रध्यानसमकालं तु प्रजाहेतोःसनातनः ।
ध्यानमात्रे तु भगवन्नाभ्यां पद्मः समुत्थितः ॥ ४३ ॥
ततश्चतुर्मुखो ब्रह्मा नाभिपद्माद्विनिःसृतः ।
तत्रोपविष्टः सहसा पद्मे लोकपितामहः ॥ ४४ ॥

दसों दिशाओं में जल भर जाता है और प्रलयाग्नि बुझ जाता है। चारों ओर एकाकार जलमय समुद्र देख पड़ता है, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, आदि कुछ नहीं रह जाता; जगत् के चराचर जीव नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार चार हजार युग व्यतीत होने पर प्रलय हो जाता है। इसी समय नारायण नाम से प्रसिद्ध, सहस्रचरण सहस्रनेत्र सहस्र मस्तक से शोभित, इन्द्रियातीत महापुरुष सोने की इच्छा से उसी महासमुद्र के बीच सहस्र फणों से भयानक, सहस्र सूर्य के समान तेजोमय, कुन्द चन्द्र और कुमुदकुसुम के समान श्वेत शेषनाग की शैय्या पर शयन करके योगनिद्रा को स्वीकार करते हैं। उस समय चारों ओर रात्रि का अँधेरा छा जाता है ॥३९।४०॥

उसके पश्चात् जब सृष्टि के आरम्भ का समय आता है और सत्वगुण की अधिकता होती है तब नारायण जाग उठते हैं और अपने चारों ओर शून्य ही शून्य देखते हैं। हे जयद्रथ! पण्डितों ने नारायण शब्द का अर्थ इस प्रकार से किया है—जल का नाम 'नार' है, उस जल को 'अयन' अर्थात् निवास स्थान बनाने के कारण ईश्वर का ही नाम नारायण है। जागने पर भगवान् सनातन पुरुष, प्रजा की सृष्टि के लिए, ध्यान करते हैं और वैसे ही उनकी नाभि से एक बड़ा भारी कमल प्रकट होता है। फिर सब

शून्यं दृष्ट्वा जगत्कृत्स्नं मानसानात्मनः समान् ।
ततो मरीचिप्रमुखान्महर्षीनसृजन्नव ॥ ४५ ॥
तेऽसृजन्सर्वभूतानि त्रसानि स्थावराणि च ।
यक्षराक्षसभूतानि पिशाचोरगमानुषान् ॥ ४६ ॥
सृज्यते ब्रह्ममूर्तिस्तु रक्षते पौरुषी तनुः ।
रौद्रीभावेन शमयेत्तिस्रोऽवस्थाः प्रजापतेः ॥ ४७ ॥
न श्रुतं ते सिंधुपते विष्णोरद्भुतकर्मणः ।
कथ्यमानानि मुनिभिर्ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ॥ ४८ ॥
जलेन समनुप्राप्ते सर्वतः पृथिवीतले ।
तदा चैकार्णवे तस्मिन्नेकाकाशे प्रभुश्चरन् ॥ ४९ ॥
निशायामिव खद्योतः प्रावृट्काले समंततः ।
प्रतिष्ठानाय पृथिवीं मार्गमाणस्तदाऽभवत् ॥ ५० ॥
जले निमग्नां गां दृष्ट्वा चोद्धर्तुं मनसेच्छति ।
किं नु रूपमहं कृत्वा सलिलादुद्धरे महीम् ॥ ५१ ॥
एवं संचिन्त्य मनसा दृष्ट्वा दिव्येन चक्षुषा ।
जलक्रीडाभिरुचितं वाराहं रूपमस्मरत् ॥ ५२ ॥

लोकों के पितामह चार मुखवाले ब्रह्मा, नारायण के नाभि-कमल से, निकलकर उसी कमल के ऊपर एकाएक जा बैठे । सब जगत् को शून्य देखकर ब्रह्मा ने पहले अपने तुल्य प्रतापी मरीचि आदि नव मानस पुत्रों को उत्पन्न किया ॥४१।४५॥

उन मानस पुत्रों से चराचर जगत् और यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच, नाग, मनुष्य आदि उत्पन्न हुए । वही प्रजापति तीन अवस्थाओं में इस सृष्टि का सञ्चालन करते हैं—ब्रह्मा के रूप से सृष्टि करते हैं, विष्णु की पुरुष-मूर्ति में पालन करते हैं और रुद्ररूप से संहार करते हैं । हे सिन्धु नरेश ! तुमने शायद वेदपाठी ब्राह्मणों के मुंह से विष्णु के अद्भुत कर्मों की महिमा नहीं सुनी । सुनो, जब पृथ्वी और आकाश जलमय एकाकार था, तब चराचर के स्वामी भगवान्, वर्षाकाल में जुगनू के समान, पृथ्वी को स्थापित करने के लिए इधर-उधर खोजने लगे । अन्त को यह देखकर कि पृथ्वी जल में डूबी हुई है, उन्होंने उसे ऊपर निकालना चाहा । वे सोचने लगे कि कौन सा रूप रखकर मैं जल के भीतर से पृथ्वी को निकालूं ॥४६।५१॥

सोचते ही दिव्य दृष्टि के प्रभाव से उन्हें जलविहार की रुचि रखनेवाले वराह के रूप का स्मरण हो आया । तब भगवान्, चतुर्वेदमय यज्ञवराह का रूप रखकर, जल के भीतर घुसे । वह रूप बहुत ही

कृत्वा वराहवपुषं वाङ्मयं वेदसंमितम् ।
दशयोजनविस्तीर्णमायतं शतयोजनम् ॥ ५३ ॥
महापर्वतवर्ष्माभं तीक्ष्णदंष्ट्रं प्रदीप्तिमत् ।
महामेघौघनिर्घोषं नीलजीमूतसन्निभम् ॥ ५४ ॥
भूत्वा यज्ञवराहो वै अपः संप्राविशत्प्रभुः ।
दंष्ट्रेणैकेन चोद्धृत्य स्वे स्थाने न्यविशन्महीम् ॥ ५५ ॥
पुनरेव महाबाहुरपूर्वां तनुमाश्रितः ।
नरस्य कृत्वाऽर्धतनुं सिंहस्याऽर्धतनुं प्रभुः ॥ ५६ ॥
दैत्येंद्रस्य सभां गत्वा पाणिं संस्पृश्य पाणिना ।
दैत्यानामादिपुरुषः सुरारिर्दितिनंदनः ॥ ५७ ॥
दृष्ट्वा चाऽपूर्वपुरुषं क्रोधात्संरक्तलोचनः ।
शूलोद्यतकरः स्रग्वी हिरण्यकशिपुस्तदा ॥ ५८ ॥
मेघस्तनितनिर्घोषो नीलाभ्रचयसन्निभः ।
देवारिर्दितिजो वीरो नृसिंहं समुपाद्रवत् ॥ ५९ ॥
समुपेत्य ततस्तीक्ष्णैर्मृगेंद्रेण बलीयसा ।
नारसिंहेन वपुषा दारितः करजैर्भृशम् ॥ ६० ॥
एवं निहत्य भगवान्दैत्येंद्रं रिपुघातिनम् ।
भूयोऽन्यः पुंडरीकाक्षः प्रभुर्लोकहिताय च ॥ ६१ ॥

विचित्र था। वह शरीर दस योजन चौड़ा और सौ योजन लम्बा था। वह आकाश को छूनेवाले महापर्वत के समान ऊंचा और नीले रङ्ग के बादल के समान श्याम वर्ण चमकीला था। बड़ी और तीक्ष्ण दाढ़ बाहर निकली हुई थी। यज्ञवाराह भगवान् महामेघ के समान गरजते हुए समुद्र के भीतर घुस गये और एक दाढ़ पर पृथ्वी को ऊपर उठा लाये। इस प्रकार पृथ्वी का उद्धार करके उन्होंने उसे उसके स्थान पर स्थापित कर दिया ॥५२।५५॥

वही महाबाहु भगवान् फिर आधे मनुष्य और आधे सिंह के आकार का विचित्र शरीर धारण करके देवताओं के वैरी दैत्यराज हिरण्यकशिपु की सभा में गये। दिति का पुत्र महाबली हिरण्यकशिपु उनका वह विचित्र रूप देखते ही, क्रोध से लाल-लाल आंखें करके, त्रिशूल तानकर, मेघ के समान गम्भीर शब्द से गरजता हुआ उनकी ओर दौड़ा। माला पहने हुए, मेघ के समान श्याम वर्ण दैत्य को, झपटकर आते देख, नृसिंह भगवान् ने पकड़ लिया और तीक्ष्ण नखों से पेट फाड़कर उसे मार डाला ॥५६।६०॥

उन्हीं कमलनयन भगवान् ने, संसार का भला

कश्यपस्याऽऽत्मजः श्रीमानदित्या गर्भधारितः।
पूर्णे वर्षसहस्रे तु प्रसूता गर्भमुत्तमम् ॥ ६२ ॥
दुर्दिनांभोपसदृशो दीप्ताक्षो वामनाकृतिः ।
दंडी कमंडलुधरः श्रीवत्सोरसिभूषितः ॥ ६३ ॥
जटी यज्ञोपवीती च भगवान्बालरूपधृक् ।
यज्ञवाटं गतः श्रीमान्दानवेंद्रस्य वै तदा ॥ ६४ ॥
बृहस्पतिसहायोऽसौ प्रविष्टो बलिनो मखे ।
तं दृष्ट्वा वामनतनुं प्रहृष्टो बलिरब्रवीत् ॥ ६५ ॥
प्रीतोऽस्मि दर्शने विप्र ब्रूहि त्वं किं ददानि ते।
एवमुक्तस्तु बलिना वामनः प्रत्युवाच ह ॥ ६६ ॥
स्वस्तीत्युक्त्वा बलिं देवः स्मयमानोऽभ्यभाषत।
मेदिनीं दानवपते देहि मे विक्रमत्रयम् ॥ ६७ ॥
बलिर्ददौ प्रसन्नात्मा विप्रायाऽमिततेजसे ।
ततो दिव्याद्भुततमं रूपं विक्रमतो हरेः ॥ ६८ ॥
विक्रमैस्त्रिभिरक्षोभ्यो जहाराऽऽशु स मेदिनीम्।
ददौ शक्राय च महीं विष्णुर्देवः सनातनः ॥ ६९ ॥
एष ते वामनो नाम प्रादुर्भावः प्रकीर्तितः ।
तेन देवाः प्रादुरासन्वैष्णवं चोच्यते जगत् ॥ ७० ॥

करने के लिए, कश्यप के वीर्य से अदिति के गर्भ में जन्म लिया। सहस्र वर्ष तक गर्भ में रहकर भगवान् ने वामरूप से जन्म लिया। उनका रङ्ग बादल का-सा श्याम था। नेत्र चमकीले थे। वे दण्ड, कमण्डलु, जटा, यज्ञोपवीत, श्रीवत्स आदि से भूषित होकर बृहस्पति के साथ दानवेन्द्र बलि के यज्ञ की सभा में गये ॥६१।६५॥

उनका वामनरूप देखकर राजा बलि बहुत प्रसन्न हुए और कहने लगे—हे विप्र! मैं तुम्हारा रूप देखकर बहुत प्रसन्न हुआ। मांगो, क्या चाहते हो! मैं तुमको क्या दूं? वामनरूपी विष्णु ने 'स्वस्ति' कहकर हंसकर कहा—हे दानवेन्द्र! मुझे मेरे पावों से नपी हुई तीन पग पृथ्वी दीजिए। राजा बलि प्रसन्न होकर उनकी प्रार्थना पूरी करने को तैयार हो गये। तब वामन देव ने विराट रूप धरकर, बहुत बढ़कर, तीन पग से पृथ्वी और तीनों लोकों को नाप लिया। इस प्रकार सनातन देव विष्णु ने बलि से पृथ्वी और त्रिभुवन का राज्य लेकर इन्द्र को दे दिया। हे जयद्रथ! यह मैंने वामन अवतार का वृत्तान्त तुमको सुना दिया। उन विष्णु से बहुत से देवता उत्पन्न हुए और इसी कारण यह

असतां निग्रहार्थाय धर्मसंरक्षणाय च ।
अवतीर्णो मनुष्याणामजायत यदुक्षये ॥ ७१ ॥
स एवं भगवान्विष्णुः कृष्णेति परिकीर्त्यते ।
अनाद्यंतमजं देवं प्रभुं लोकनमस्कृतम् ॥ ७२ ॥
यदेवं विदुषो गांति तस्य कर्माणि सैंधव ।
यमाहुरजितं कृष्णं शंखचक्रगदाधरम् ॥ ७३ ॥
श्रीवत्सधारिणं देवं पीतकौशेयवाससम् ।
प्रधानं सोऽस्त्रविदुषां तेन कृष्णेन रक्ष्यते ॥ ७४ ॥
सहायः पुंडरीकाक्षः श्रीमानतुलविक्रमः ।
समानस्यंदने पार्थमास्थाय परवीरहा ॥ ७५ ॥
न शक्यते तेन जेतुं त्रिदशैरपि दुःसहः ।
कः पुनर्मानुषो भावो रणे पार्थं विजेष्यति ॥ ७६ ॥
तमेकं वर्जयित्वा तु सर्वं यौधिष्ठिरं बलम् ।
चतुरः पांडवान्राजन्दिनैकं जेष्यसे रिपून् ॥ ७७ ॥
वैशम्पायन उवाच—इत्येवमुक्त्वा नृपतिं सर्वपापहरो हरः ।
उमापतिः पशुपतिर्यज्ञहा त्रिपुरार्दनः ॥ ७८ ॥
वामनैर्विकटैः कुब्जैरुग्रश्रवणदर्शनैः ।

जगत् वैष्णव कहलाता है ॥६६।७०॥

हे राजेन्द्र ! वही भगवान् विष्णु सज्जनों की रक्षा और दुष्टों का दमन करने के लिए इस समय मनुष्यलोक के बीच यदुकुल में उत्पन्न हुए हैं और कृष्ण नाम से प्रसिद्ध हैं । बुद्धिमान् विद्वान् लोक उन्हें अनादि, अनन्त, अज-मा, प्रभु और त्रिभुवन-वन्दनीय देवता कहकर उनके पवित्र कर्मों का कीर्तन करते हैं। वही शङ्ख-चक्र-गदा-श्रीवत्स-धारी, पीताम्बर-भूषित, सब अस्त्रों के जाननेवालों में श्रेष्ठ, अजित, कृष्ण भगवान् सदा अर्जुन की रक्षा करते हैं । वे कमलनयन ! अतुल-पराक्रमी, श्रीमान्, शत्रुदमन, कृष्णचन्द्र अर्जुन के रथ पर सारथी के रूप से बैठकर उनकी सहायता और रक्षा किया करते हैं । इसी कारण देवता भी रण में अर्जुन के तेज को नहीं सह सकते । देवता भी जब उन्हें नहीं जीत सकते, तब तुच्छ मनुष्य होकर तुम कैसे उनको जीत सकोगे ? इस कारण मैं तुमको यह वरदान देता हूँ कि अर्जुन को छोड़कर चारों पाण्डवों को और युधिष्ठिर की सेना को केवल एक दिन तुम जीत सकोगे ॥७१।७७॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजेन्द्र ! जयद्रथ से यों कहकर सब पापों के हरनेवाले त्रिपुरारि, दक्षयज्ञ नाशन, पशुपति, उमापति, शङ्कर भगवान् उमा समान

वृतः पारिषदैर्घोरैर्नानाप्रहरणोद्यतैः ॥ ७९ ॥
त्र्यंबको राजशार्दूल भगनेत्रनिपातनः ।
उमासहायो भगवांस्तत्रैवांऽतरधीयत ॥ ८० ॥
जयद्रथोऽपि मंदात्मा स्वमेव भवनं ययौ ।
पांडवाश्च वने तस्मिन्न्यवसन्काम्यके तथा ॥ ८१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि जयद्रथविमोक्षणपर्वणि द्विसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२७२॥
समाप्तं च जयद्रथविमोक्षणपर्व ।

पर अन्तर्द्धान हो गये । उनके साथ ही अनेक अस्त्र-शस्त्र हाथ में लिये बौने, विकटरूप, कुबड़े, भयानक नेत्रों और कानोंवाले गण भी अन्तर्द्धान हो गये । पार्वती सहित शङ्कर भगवान् के चले जाने पर दुरात्मा जयद्रथ अपने नगर को चला गया । उधर पाण्डव उसी काम्यक वन में सुख से रहने लगे ॥७८।८१॥

वनपर्व का दो सौ बहत्तर अध्याय समाप्त हुआ ॥२७२॥

अथ रामोपाख्यानपर्व ॥
अथ त्रिसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२७३॥

जनमेजय उवाच—एवं हृतायां कृष्णायां प्राप्य क्लेशमनुत्तमम् ।
अत ऊर्ध्वं नरव्याघ्राः किमकुर्वत पांडवाः ॥ १ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवं कृष्णां मोक्षयित्वा विनिर्जित्य जयद्रथम् ।
आसांचक्रे मुनिगणैर्धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ २ ॥
तेषां मध्ये महर्षीणां शृण्वतामनुशोचताम् ।
मार्कंडेयमिदं वाक्यमब्रवीत्पांडुनंदनः ॥ ३ ॥
युधिष्ठिर उवाच—भगवन्देवर्षीणां त्वं ख्यातो भूतभविष्यवित् ।
संशयं परिपृच्छामि छिंधि मे हृदि संस्थितम् ॥ ४ ॥

दो सौ तिहत्तर अध्याय ॥२७३॥

राजा जनमेजय ने पूछा—हे ऋषिश्रेष्ठ ! द्रौपदी हरण से अत्यन्त क्लेश पाने के उपरान्त पाण्डवों ने फिर क्या-क्या कार्य किये ? वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! जयद्रथ को परास्त करके द्रौपदी को छुड़ा लाने के पश्चात् महाराज युधिष्ठिर मुनियों के बीच में बैठकर बातचीत करने लगे । सब मुनि लोग पाण्डवों के दुःख का हाल सुनकर शोक प्रकट करने लगे । इसी बीच में धर्मात्मा युधिष्ठिर ने मार्कण्डेय-जी से कहा—हे भगवन् ! आप महर्षियों में श्रेष्ठ हैं । आपको भूत और भविष्यत् का सब हाल मालूम है । इसलिए आप कृपा करके मेरे प्रश्न का उत्तर देकर मेरा संशय दूर कर दीजिए ॥१।४॥

द्रुपदस्य सुता ह्येषा वेदिमध्यात्समुत्थिता ।
अयोनिजा महाभागा स्नुषा पांडोर्महात्मनः ॥ ५ ॥
मन्ये कालश्च भगवान्दैवं च विधिनिर्मितम् ।
भवितव्यं च भूतानां यस्य नास्ति व्यतिक्रमः ॥ ६ ॥
इमां हि पत्नीमस्माकं धर्मज्ञां धर्मचारिणीम् ।
संस्पृशेदीदृशो भावः शुचिं स्तैन्यमिवाऽनृतम् ॥ ७ ॥
न हि पापं कृतं किंचित्कर्म वा निंदितं क्वचित् ।
द्रौपद्या ब्राह्मणेष्वेव धर्मः सुचरितो महान् ॥ ८ ॥
तां जहार बलाद्राजा मूढबुद्धिर्जयद्रथः ।
तस्याः संहरणात्पापः शिरसः केशपातनम् ॥ ९ ॥
पराजयं च संग्रामे ससहायः समाप्तवान् ।
प्रत्याहृता तथाऽस्माभिर्हत्वा तत्सैंधवं बलम् ॥ १० ॥
तद्दारहरणं प्राप्तमस्माभिरवितर्कितम् ।
दुःखश्चाऽयं वने वासो मृगयायां च जीविका ॥ ११ ॥
हिंसा च मृगजातीनां वनौकोभिर्वनौकसाम् ।
ज्ञातिभिर्विप्रवासश्च मिथ्याव्यवसितैरयम् ॥ १२ ॥
अस्ति नूनं मया कश्चिदल्पभाग्यतरो नरः ।
भवता दृष्टपूर्वो वा श्रुतपूर्वोऽपि वा भवेत् ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि युधिष्ठिरप्रश्ने त्रिसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।२७३।

मैं समझता हूं कि समय, दैव और होनी को कोई जीव न तो टाल सकता है और न मिथ्या कर सकता है। जो ऐसा न होता तो महाराज द्रुपद की कन्या, यज्ञवेदी से उत्पन्न और अयोनिजा, महात्मा पाण्डु की पुत्रवधू, हम लोगों की पत्नी, पतिव्रता, धर्म का ज्ञान रखनेवाली द्रौपदी को पर पुरुष कैसे हर ले जाता? जैसे पवित्र हृदयवाले मनुष्य को चोरी और बेईमानी के भाव नहीं छू सकते वैसे ही पर पुरुष का द्रौपदी को छूना असम्भव था। द्रौपदी ने कोई पाप या निन्दित कर्म कभी नहीं किया, वे सदा ब्राह्मणों की सेवा आदि धर्मकार्यों में ही लगी रहती हैं ॥५-८॥

उन्हें मूढमति जयद्रथ बलपूर्वक हर ले गया। पीछे से हम लोगों ने पकड़कर उस पापी का सिर मूंड दिया और संग्राम में सहायकों सहित उस दुष्ट को हराया। इस प्रकार उसकी सेना का संहार करके, उसको उसके कुकर्म का दण्ड देकर हम द्रौपदी को

ले आये । हे भगवन् ! इस प्रकार अचानक हमारी स्त्री हरी गई । हम वनवास के अनेक कष्ट पा रहे है । शिकार करके हम अपनी जीविका चला रहे हैं। वन में रहकर हमें वनवासी जीवों की हिंसा करनी पड़ती है । हमारे ही भाइयों ने कपट करके हमें देश से निकाल दिया है । इन सब कष्टों को सहते-सहते मैं बहुत ही दु:खित हो रहा हूँ। हे ब्रह्मन्! मैं आपसे यही पूछता हूँ कि मुझ-सा अभागा कोई और पुरुष भी पहले कभी आपने देखा या सुना है ? ॥९।१३॥

—०—

वनपर्व का दो सौ तिहत्तर अध्याय समाप्त हुआ ॥२७३॥

अथ चतुःसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२७४॥

मार्कंडेय उवाच—प्राप्तमप्रतिमं दुःखं रामेण भरतर्षभ ।
रक्षसा जानकी तस्य हृता भार्या बलीयसा ॥ १ ॥
आश्रमाद्राक्षसेन्द्रेण रावणेन दुरात्मना ।
मायामास्थाय तरसा हत्वा गृध्रं जटायुषम् ॥ २ ॥
प्रत्याजहार तां रामः सुग्रीवबलमाश्रितः ।
बद्ध्वा सेतुं समुद्रस्य दग्ध्वा लंकां शितैः शरैः ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर उवाच—कस्मिन्रामः कुले जातः किंवीर्यः किंपराक्रमः ।
रावणः कस्य पुत्रो वा किं वैरं तस्य तेन ह ॥ ४ ॥
एतन्मे भगवन्सर्वं सम्यगाख्यातुमर्हसि ।
श्रोतुमिच्छामि चरितं रामस्याऽक्लिष्टकर्मणः ॥ ५ ॥

मार्कंडेय उवाच—अजो नामाऽभवद्राजा महानिक्ष्वाकुवंशजः ।
तस्य पुत्रो दशरथः शश्वत्स्वाध्यायवाञ्छुचिः ॥ ६ ॥

दो सौ चौहत्तर अध्याय ॥२७४॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—हे भरतश्रेष्ठ ! रामचन्द्र ने वनवास और स्त्री-वियोग के कारण तुमसे भी अधिक दु:ख पाया है । राक्षसेन्द्र दुरात्मा महाबली रावण मायाबल का आश्रय ले, जटायु गिद्ध को मारकर, आश्रम से रामचन्द्र, की भार्या सीता को हर ले गया था। पीछे से वानर-राज सुग्रीव की सहायता से रामचन्द्र समुद्र में सेतु बाधकर, लङ्का में पहुँचे और तीक्ष्ण वाणों से लङ्का का तहस-नहस और वहां के राक्षसों को मारकर अपनी स्त्री को वहा से ले आये ॥१।३॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे भगवन् ! रामचन्द्र का जन्म किस वंश में हुआ था ? वे कैसे शूर-वीर थे ? उनका वैरी रावण किसका बालक था ? रामचन्द्र से रावण का वैर क्यों हुआ ? विस्तार के साथ सब कथा मुझसे कहिए । मैं यशस्वी रामचन्द्र के चरित्र को सुनना चाहता हूँ । मार्कण्डेय मुनि ने कहा—हे राजेन्द्र ! इक्ष्वाकु के वंश में अज नाम के एक

अभवंस्तस्य चत्वारः पुत्रा धर्मार्थकोविदाः ।
रामलक्ष्मणशत्रुघ्ना भरतश्च महाबलः ॥ ७ ॥
रामस्य माता कौसल्या कैकेया भरतस्य तु ।
सुतौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्रायाः परंतपौ ॥ ८ ॥
विदेहराजो जनकः सीता तस्याऽऽत्मजा विभो।
यां चकार स्वयं त्वष्टा रामस्य महिषीं प्रियाम् ॥ ९ ॥
एतद्रामस्य ते जन्म सीतायाश्च प्रकीर्तितम् ।
रावणस्यापि ते जन्म व्याख्यास्यामि जनेश्वर ॥ १० ॥
पितामहो रावणस्य साक्षाद्देवः प्रजापतिः ।
स्वयंभूः सर्वलोकानां प्रभुः स्रष्टा महातपाः ॥ ११ ॥
पुलस्त्यो नाम तस्याऽऽसीन्मानसो दयितः सुतः।
तस्य वैश्रवणो नाम गवि पुत्रोऽभवत्प्रभुः ॥ १२ ॥
पितरं स समुत्सृज्य पितामहमुपस्थितः ।
तस्य कोपात्पिता राजन्ससर्जाऽऽत्मानमात्मना ॥ १३ ॥
स जज्ञे विश्रवा नाम तस्याऽऽत्मार्धेन वै द्विजः ।
प्रतीकाराय सक्रोधस्ततो वैश्रवणस्य वै ॥ १४ ॥
पितामहस्तु प्रीतात्मा ददौ वैश्रवणस्य ह ।

प्रसिद्ध राजा हो गये हैं । उनके पुत्र दशरथ स्वाध्याय-*निरत और पवित्रहृदय थे। दशरथ के राम, लक्ष्मण,* भरत और शत्रुघ्न नाम के प्रसिद्ध—धर्म और अर्थ के विषयों में पण्डित—चार पुत्र उत्पन्न हुए। रामचन्द्र की माता का नाम कौसल्या, भरत की माता का नाम कैकेयी और लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न की माता का नाम सुमित्रा था। रामचन्द्र की स्त्री सीता विदेहराज जनक की कन्या थीं। उन्हें विश्वकर्मा ने अपने हाथ से बनाया था। वे अयोनिजा थीं ।१।९।

यह रामचन्द्र और सीता के जन्म का ब्योरा मैंने तुमसे कहा। अब रावण के जन्म का हाल सुनो। रावण के पितामह महातपस्वी साक्षात् ब्रह्मा *जी हैं, जिन्हें सब लोग स्वयंभू, सब लोकों के प्रभु* और उत्पन्न करनेवाले कहते हैं। ब्रह्मा के मानस पुत्रों में से एक का नाम पुलस्त्य था। पुलस्त्य के गो नाम की भार्या से वैश्रवण नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ। वैश्रवण, पिता की सेवा छोड़कर, अपने पितामह ब्रह्मा की उपासना करने लगा। इससे पिता ने कुपित होकर, पुत्र को पीड़ा पहुँचाने के लिए, योगबल से दूसरा शरीर धारण कर लिया। इस प्रकार अपने आधे अङ्ग से दूसरा रूप रखकर महात्मा पुलस्त्य विश्रवा नाम से प्रसिद्ध हुए। १०।१४।

अमरत्वं धनेशत्वं लोकपालत्वमेव च ॥ १५ ॥
ईशानेन तथा सख्यं पुत्रं च नलकूबरम् ।
राजधानीनिवेशं च लंकां रक्षोगणान्विताम् ॥ १६ ॥
विमानं पुष्पकं नाम कामगं च ददौ प्रभुः ।
यक्षाणामाधिपत्यं च राजराजत्वमेव च ॥ १७ ॥

इतिश्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वणिरामोपाख्यानपर्वणिरामरावणयोर्जन्मकथनेचतुःसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्याय.

उधर ब्रह्मा ने प्रसन्न होकर वैश्रवण को अमर, धनेश्वर और लोकपाल बना दिया। महादेव से वैश्रवण की मित्रता हो गई। उनके नलकूबर नाम का पुत्र भी उत्पन्न हुआ। ब्रह्माजी ने वैश्रवण को राक्षसों से बसी हुई लङ्का नाम की राजधानी और पुष्पक नाम का विमान भी दिया। वह विमान सब जगह पर जा सकता था। इस प्रकार ब्रह्मा ने वैश्रवण को सब यक्षों का स्वामी और राजराज बना दिया॥१५।१७॥

वनपर्व का दो सौ चौहत्तर अध्याय समाप्त हुआ ॥२७४॥

अथ पंचसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२७५॥

मार्कंडेय उवाच—पुलस्त्यस्य तु यः क्रोधादर्धदेहोऽभवन्मुनिः ।
विश्रवा नाम सक्रोधः स वैश्रवणमैक्षत ॥ १ ॥
बुबुधे तं तु सक्रोधं पितरं राक्षसेश्वरः ।
कुबेरस्तत्प्रसादार्थं यतते स्म सदा नृप ॥ २ ॥
स राजराजो लंकायां न्यवसन्नरवाहनः ।
राक्षसीः प्रददौ तिस्रः पितुर्वै परिचारिकाः ॥ ३ ॥
ताः सदा तं महात्मानं संतोषयितुमुद्यताः ।
ऋषिं भरतशार्दूल नृत्यगीतविशारदाः ॥ ४ ॥
पुष्पोत्कटा च राका च मालिनी च विशांपते ।

दो सौ पचहत्तर अध्याय ॥२७५॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजेन्द्र ! पुलस्त्य के कुपित होने पर उनके आधे शरीर से विश्रवा नाम के जो मुनि उत्पन्न हुए वे क्रोधपूर्ण दृष्टि से कुबेर की ओर देखने लगे। हे राजेन्द्र ! राक्षसों और यक्षों के राजा कुबेर अपने पिता को कुपित देखकर उन्हें प्रसन्न करने का यत्न करने लगे। लङ्कानिवासी नर-वाहन राजराज कुबेर ने पिता विश्रवा के पास-उनकी सेवा करने के लिए—राका, मालिनी और पुष्पोत्कटा नाम की तीन राक्षसियाँ रख दीं। नाचने और गाने में चतुर वे सुन्दरी राक्षसियाँ कल्याण की

अन्योन्यस्पर्धया राजञ्श्रेयस्कामाः सुमध्यमाः ॥ ५ ॥
स तासां भगवांस्तुष्टो महात्मा प्रददौ वरान् ।
लोकपालोपमान्पुत्रानेकैकस्या यथेप्सितान् ॥ ६ ॥
पुष्पोत्कटायां जज्ञाते द्वौ पुत्रौ राक्षसेश्वरौ ।
कुंभकर्णदशग्रीवौ बलेनाऽप्रतिमौ भुवि ॥ ७ ॥
मालिनी जनयामास पुत्रमेकं विभीषणम् ।
राकायां मिथुनं जज्ञे खरः शूर्पणखा तथा ॥ ८ ॥
विभीषणस्तु रूपेण सर्वेभ्योऽभ्यधिकोऽभवत् ।
स बभूव महाभागो धर्मगोप्ता क्रियारतिः ॥ ९ ॥
दशग्रीवस्तु सर्वेषां श्रेष्ठो राक्षसपुंगवः ।
महोत्साहो महावीर्यो महासत्त्वपराक्रमः ॥ १० ॥
कुंभकर्णो बलेनाऽऽसीत्सर्वेभ्योऽभ्यधिको युधि ।
मायावी रणशौंडश्च रौद्रश्च रजनीचरः ॥ ११ ॥
खरो धनुषि विक्रांतो ब्रह्मद्विट् पिशिताशनः ।
सिद्धविघ्नकरी चापि रौद्री शूर्पणखा तदा ॥ १२ ॥
सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे सुचरितव्रताः ।
ऊषुः पित्रा सह रता गंधमादनपर्वते ॥ १३ ॥
ततो वैश्रवणं तत्र ददृशुर्नरवाहनम् ।

इच्छा से, परस्पर होड़ लगाकर, एक दूसरे से बढ़कर ऋषि को प्रसन्न करने की चेष्टा करने लगी ॥१।५॥

महात्मा विश्रवा ने प्रसन्न होकर तीनों राक्षसियों को, उनकी इच्छा के अनुसार, लोकपाल सदृश प्रतापी पुत्र दिये। मुनि के वरदान से पुष्पोत्कटा के महाबली रावण और कुम्भकर्ण नाम के दो पुत्र उत्पन्न हुए। मालिनी के गर्भ से विभीषण का जन्म हुआ। राका के गर्भ से खर नाम का एक पुत्र और शूर्पणखा नाम की एक कन्या उत्पन्न हुई। विभीषण सब भाइयों से बढ़कर सुन्दर, धर्मात्मा और कर्मनिष्ठ थे। रावण सबमें श्रेष्ठ, बड़ा उत्साही, महावीर, महाबली और पराक्रमी था ॥६।१०॥

कुम्भकर्ण रजनीचर, मायावी, रौद्रमूर्ति, असीम बलवान् और युद्ध करने में सबसे बढ़कर था। खर मांसाहारी, ब्राह्मणद्रोही और धनुर्विद्या में सबसे बढ़कर निपुण था। भयङ्कर रूपवाली राक्षसी शूर्पणखा सदा सिद्ध लोगों की तपस्या में विघ्न डाला करती थी। हे राजन्! वे सब शूर, सुचरित, सुव्रत और वेदपाठी थे और अपने पिता के साथ गन्धमादन

पित्रा सार्धं समासीनमृद्ध्या परमया युतम् ॥ १४ ॥
जातामर्षास्ततस्ते तु तपसे धृतनिश्चयाः ।
ब्रह्माणं तोषयामासुर्घोरेण तपसा तदा ॥ १५ ॥
अतिष्ठदेकपादेन सहस्रं परिवत्सरान् ।
वायुभक्षो दशग्रीवः पंचाग्निः सुसमाहितः ॥ १६ ॥
अधःशायी कुंभकर्णो यताहारो यतव्रतः ।
विभीषणः शीर्णपर्णमेकमभ्यवहारयन् ॥ १७ ॥
उपवासरतिर्धीमान्सदा जप्यपरायणः ।
तमेव कालमातिष्ठत्तीव्रं तप उदारधीः ॥ १८ ॥
खरः शूर्पणखा चैव तेषां वै तप्यतां तपः ।
परिचर्यां च रक्षां च चक्रतुर्हृष्टमानसौ ॥ १९ ॥
पूर्णे वर्षसहस्रे तु शिरश्छित्त्वा दशाननः ।
जुहोत्यग्नौ दुराधर्षस्तेनाऽतुष्यज्जगत्प्रभुः ॥ २० ॥
ततो ब्रह्मा स्वयं गत्वा तपसस्तान्न्यवारयत् ।
प्रलोभ्य वरदानेन सर्वानेव पृथक् पृथक् ॥ २१ ॥
ब्रह्मोवाच—प्रीतोऽस्मि वो निवर्तध्वं वरान्वृणुत पुत्रकाः ।
यद्यदिष्टमृते त्वेकममरत्वं तथाऽस्तु तत् ॥ २२ ॥

पर्वत पर रहते थे ॥११।१३॥

एक दिन उन्होंने अपने भाई नरवाहन कुबेर को परम ऐश्वर्य से भूषित होकर पिता के पास बैठे देखा। कुबेर के ऐश्वर्य को न देख सकने के कारण अत्यन्त कुपित होकर, आप भी ऐश्वर्य पाने के लिए, उन्होंने घोर तप करने का निश्चय किया सब भाई ब्रह्मा को प्रसन्न करने के लिए घोर तप करने लगे। रावण केवल वायु भक्षण करके पञ्चाग्नि तापता हुआ एक पाव से खड़ा रहकर हजार वर्ष तक तप करता रहा। कुम्भकर्ण ने यताहार और यतव्रत होकर, सिर नीचे लटकाकर, हजार वर्ष तक घोर तप किया। विभीषण भी केवल एक सूखा पत्ता खाकर उपवासपूर्वक जप में तत्पर रहकर हज़ार वर्ष तक कठिन तप करते रहे ॥१४।१८॥

इन लोगों के तप करने के समय खर और शूर्पणखा, दोनों इन लोगों की सेवा और रक्षा करते थे। हज़ार वर्ष पूरे होने पर दुर्द्धर्ष रावण ने अपना सिर काटकर अग्नि में आहुति दे दी। उसके इस काम से जगत्पति ब्रह्मा बहुत सन्तुष्ट हुए। उन्होंने रावण आदि के पास आकर उन्हें तप करने से रोका और सबसे अलग-अलग वरदान माँगने के लिए कहा ॥१९।२१॥

यद्यदग्नौ हुतं सर्वं शिरस्ते महदीप्सया ।
तथैव तानि ते देहे भविष्यन्ति यथेप्सया ॥ २३ ॥
वैरूप्यं च न ते देहे कामरूपधरस्तथा ।
भविष्यसि रणेऽरीणां विजेता न च संशयः ॥ २४ ॥

रावण उवाच—गंधर्वदेवासुरतो यक्षराक्षसतस्तथा ।
सर्पकिंनरभूतेभ्यो न मे भूयात्पराभवः ॥ २५ ॥

ब्रह्मोवाच—य एते कीर्तिताः सर्वे न तेभ्योऽस्ति भयं तव ।
ऋते मनुष्याद्भद्रं ते तथा तद्विहितं मया ॥ २६ ॥

मार्कण्डेय उवाच—एवमुक्तो दशग्रीवस्तुष्टः समभवत्तदा ।
अवमेने हि दुर्बुद्धिर्मनुष्यान्पुरुषादकः ॥ २७ ॥
कुंभकर्णमथोवाच तथैव प्रपितामहः ।
स वव्रे महतीं निद्रां तमसा ग्रस्तचेतनः ॥ २८ ॥
तथा भविष्यतीत्युक्त्वा विभीषणमुवाच ह ।
वरं वृणीष्व पुत्र त्वं प्रीतोऽस्मीति पुनः पुनः ॥ २९ ॥

विभीषण उवाच—परमापद्गतस्यापि नाऽधर्मे मे मतिर्भवेत् ।
अशिक्षितं च भगवन्ब्रह्मास्त्रं प्रतिभातु मे ॥ ३० ॥

ब्रह्मा ने कहा—हे पुत्रों ! मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। अब तप करना छोड़कर वरदान माँगो। अमर भाव के सिवा तुममें से जिसका जो जी चाहे वह एक-एक वर माँग लो। हे रावण ! तुमने श्रेष्ठ पद पाने की इच्छा से अपना सिर काटकर अग्नि में आहुति दे दी है, इसलिए मैं तुमको यह वर देता हूं कि तुम जितने चाहोगे उतने सिर तुम्हारे हो जायंगे और उनसे तुम्हारा रूप नहीं बिगड़ेगा। तुम अपनी इच्छा के अनुसार जैसा चाहोगे वैसा रूप रख सकोगे। युद्ध में सब शत्रुओं को तुम हरा सकोगे ॥२२।२३॥

रावण ने कहा—हे भगवन् ! मैं यह वरदान आपसे माँगता हूं कि गन्धर्व, देवता, असुर, यक्ष, राक्षस, नाग, किन्नर और भूतों से मेरी हार न हो।

ब्रह्मा ने कहा—एक मनुष्यजाति को छोड़कर, तुमने जिनका नाम लिया उन लोगों से तुम्हें तनिक भी भय नहीं होगा। मैंने ऐसा ही विधान कर रक्खा है ॥२४।२६॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर ! दुर्बुद्धि दशानन ब्रह्मा से यह वर पाकर सन्तुष्ट हुआ। मनुष्यों को अपना आहार जानकर उसने उन्हें कुछ समझा ही नहीं। उसने सोचा कि तुच्छ मनुष्यों से मुझे क्या भय है। भगवान् ब्रह्मा वहां से कुम्भकर्ण के पास आये। उन्होंने उससे भी वर माँगने के लिए कहा। देवताओं की माया से मोहवश हो-

ब्रह्मोवाच—यस्माद्राक्षसयोनौ ते जातस्याऽमित्रकर्शन ।
नाऽधर्मे धीयते बुद्धिरमरत्वं ददानि ते ॥ ३१ ॥

मार्कण्डेय उवाच—राक्षसस्तु वरं लब्ध्वा दशग्रीवो विशांपते ।
लंकायाश्च्यावयामास युधि जित्वा धनेश्वरम् ॥ ३२ ॥
हित्वा स भगवांल्लंकामाविशद्गंधमादनम् ।
गंधर्वयक्षानुगतो रक्षःकिंपुरुषैः सह ॥ ३३ ॥
विमानं पुष्पकं तस्य जहाराऽऽक्रम्य रावणः ।
शशाप तं वैश्रवणो न त्वामेतद्वहिष्यति ॥ ३४ ॥
यस्तु त्वां समरे हंता तमेवैतद्वहिष्यति ।
अवमन्य गुरुं मां च क्षिप्रं त्वं न भविष्यसि ॥ ३५ ॥
विभीषणस्तु धर्मात्मा सतां मार्गमनुस्मरन् ।
अन्वगच्छन्महाराज श्रिया परमया युतः ॥ ३६ ॥
तस्मै स भगवांस्तुष्टो भ्राता भ्रात्रे धनेश्वरः ।
सैनापत्यं ददौ धीमान्यक्षराक्षससेनयोः ॥ ३७ ॥
राक्षसाः पुरुषादाश्च पिशाचाश्च महाबलाः ।
सर्वे समेत्य राजानमभ्यषिंचन्दशाननम् ॥ ३८ ॥

कर उसने ब्रह्मा से बहुत समय तक सोने का वरदान माँगा। उसे वरदान देकर ब्रह्माजी विभीषण के पास गये। उनसे ब्रह्मा ने कहा—हे पुत्र! मैं तुम पर प्रसन्न हूं, तुम मुझसे जो चाहो सो वरदान माग लो। ब्रह्मा के बारम्बार यों कहने पर विभीषण ने कहा—हे ब्रह्मन्! मैं यही वर मागता हूं कि घोर आपत्ति के समय भी मेरी प्रवृत्ति अधर्म की ओर न हो और बिना सीखे ही मुझे ब्रह्मास्त्र का ज्ञान हो जाय। ब्रह्मा ने कहा—हे शत्रुदमन! राक्षसयोनि में जन्म लेने पर भी तुम्हारी प्रवृत्ति अधर्म की ओर नहीं है, इसलिए इन वरदानों के सिवा मैं तुमको अमरभाव भी देता हूं ॥२७।३१॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजेन्द्र! रावण ने इस प्रकार ब्रह्मा से वरदान पाने पर कुबेर पर चढ़ाई की और उन्हें युद्ध में हराकर लङ्कापुरी छीन ली। कुबेरजी लङ्कापुरी को छोड़कर गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किम्पुरुष आदि के साथ गन्धमादन पर्वत पर चले गये। रावण ने बलपूर्वक उनसे पुष्पक विमान भी छीन लिया। कुबेर ने कुपित होकर रावण को शाप दिया कि अरे दुष्ट! यह विमान तुझे लेकर नहीं चलेगा। जो महापुरुष युद्ध में तुझे मारेंगे वही इस पर सवारी कर सकेंगे। मैं तेरा बड़ा भाई हूं। तूने मेरा अपमान किया है, इस कारण शीघ्र ही तू मारा जायगा ॥३२।३५॥

दशग्रीवश्च दैत्यानां देवानां च बलोत्कटः ।
आक्रम्य रत्नान्यहरत्कामरूपी विहंगमः ॥ ३९ ॥
रावयामास लोकान्यत्तस्माद्रावण उच्यते ।
दशग्रीवः कामबलो देवानां भयमादधत् ॥ ४० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि रावणादिवरप्राप्तौ पंचसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

हे—महाराज ! धर्मात्मा विभीषण सज्जनों के अनुगामी और सुमार्ग पर चलनेवाले होने के कारण शोभा और ऐश्वर्य के अधिकारी हुए । कुबेरजी ने उन पर अत्यन्त प्रसन्न होकर उन्हें यक्षों और राक्षसों का सेनापति बना लिया। उधर मनुष्यभक्षी महाबली राक्षसों और पिशाचों ने मिलकर रावण को अपना राजा बना लिया । इस प्रकार राज्यासन पाकर कामरूपी आकाशचारी प्रबल राक्षसराज रावण ने दैत्यों, दानवों और देवताओं के सब श्रेष्ठ पदार्थ छीन लिये। महाबली दशानन ने सब लोकों को पीड़ा पहुंचाकर रुला दिया,इसी से उसका नाम रावण पड़ा। हे महाराज! रावण से सब देवता भी डरते थे ॥३९।४०॥

वनपर्व का दो सौ पचहत्तर अध्याय समाप्त हुआ ॥२७५॥

अथ षट्सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्याय ॥२७६॥

मार्कंडेय उवाच—ततो ब्रह्मर्षयः सर्वे सिद्धा देवर्षयस्तथा ।
हव्यवाहं पुरस्कृत्य ब्रह्माणं शरणं गताः ॥ १ ॥
अग्निरुवाच—योऽसौ विश्रवसः पुत्रो दशग्रीवो महाबलः ।
अवध्यो वरदानेन कृतो भगवता पुरा ॥ २ ॥
स बाधते प्रजाः सर्वा विप्रकारैर्महाबलः ।
ततो नस्त्रातु भगवान्नान्यस्त्राता हि विद्यते ॥ ३ ॥
ब्रह्मोवाच—न स देवासुरैः शक्यो युद्धे जेतुं विभावसो ।
विहितं तत्र यत्कार्यमभितस्तस्य निग्रहः ॥ ४ ॥

दो सौ छिहत्तर अध्याय ॥२७६॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं कि तब रावण के सताये हुए सब ब्रह्मर्षि, देवर्षि और सिद्ध लोग अग्निदेव को आगे करके ब्रह्मा की शरण में गये । अग्नि ने ब्रह्मा से कहा—हे भगवन् ! विश्रवा के बेटा रावण को आपके वरदान से कोई मार नहीं सकता। इस समय वह महाबली हुए तरह-तरह से सब प्रजा को सता रहा है । आप ही उससे हम सबकी रक्षा कीजिए। आपके सिवा और कोई हम लोगों की रक्षा नहीं कर सकता ॥१।३॥

ब्रह्मा ने कहा—हे अग्नि ! देवता और दैत्य, कोई भी युद्ध करके रावण को हरा नहीं सकता । मैंने उस दुष्ट के दमन का उपाय पहले से ही ठीक

तदर्थमवतीर्णोऽसौ मन्नियोगाच्चतुर्भुजः ।
विष्णुः प्रहरतां श्रेष्ठः स तत्कर्म करिष्यति ॥ ५ ॥

मार्कंडेय उवाच—पितामहस्ततस्तेषां संनिधौ शक्रमब्रवीत् ।
सर्वैर्देवगणैः सार्धं संभव त्वं महीतले ॥ ६ ॥
विष्णोः सहायानृक्षीषु वानरीषु च सर्वशः ।
जनयध्वं सुतान्वीरान्कामरूपबलान्वितान् ॥ ७ ॥
ततो भागानुभागेन देवगंधर्वदानवाः ।
अवतर्तुं महीं सर्वे मंत्रयामासुरंजसा ॥ ८ ॥
तेषां समक्षं गंधर्वीं दुंदुभीं नाम नामतः ।
शशास वरदो देवो गच्छ कार्यार्थसिद्धये ॥ ९ ॥
पितामहवचः श्रुत्वा गन्धर्वी दुंदुभी ततः ।
मंथरा मानुषे लोके कुब्जा समभवत्तदा ॥ १० ॥
शक्रप्रभृतयश्चैव सर्वे ते सुरसत्तमाः ।
वानरर्क्षवरस्त्रीषु जनयामासुरात्मजान् ॥ ११ ॥
तेऽन्ववर्तन्पितॄन्सर्वे यशसा च बलेन च ।
भेत्तारो गिरिशृंगाणां सालतालशिलायुधाः ॥ १२ ॥
वज्रसंहननाः सर्वे सर्वे चौघबलास्तथा ।

कर रक्खा है। मेरे कहने से, योद्धाओं में श्रेष्ठ, चतुर्भुज, विष्णु भगवान् मनुष्य-शरीर से पृथ्वी पर अवतार लेंगे और वही रावण को मारकर तुम्हारी सहायता करेंगे ॥४।५॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजेन्द्र ! अब प्रजापति ब्रह्मा ने सब देवताओं के सामने इन्द्र से कहा—हे इन्द्र ! तुम विष्णु की सहायता करने के लिए सब देवताओं के साथ पृथ्वी पर वानरों और रीछों की स्त्रियों में अपने-अपने अंश से ऐसे पुत्र उत्पन्न करो जो कामरूपी और महाबली हों। अब देवता, गन्धर्व और दानव लोग अपने-अपने अंश से पृथ्वी पर उत्पन्न होने के लिए सम्मति करने लगे। हे महाराज ! भगवान् ब्रह्मा ने देवताओं के सामने ही दुन्दुभी नाम की गन्धर्व-कन्या से कहा—तुम देवताओं का काम बनाने के लिए पृथ्वी पर जन्म लो। ब्रह्मा की आज्ञा पाकर दुन्दुभी ने मनुष्यलोक में जन्म लिया। कैकेयी की दासी कुबड़ी मन्थरा उसी का अवतार थी ॥६।१०॥

इन्द्र आदि देवताओं ने भी वानरों और रीछों की स्त्रियों में अपने अंशों से अपने ही समान बल, वीर्य और यशवाले श्रेष्ठ पुत्र उत्पन्न किये। वे सब पर्वतों के शिखरों को तोड़नेवाले, वृक्षों और शिलाओं

कामवीर्यबलाश्चैव सर्वे युद्धविशारदाः ॥ १३ ॥
नागायुतसमप्राणा वायुवेगसमा जवे ।
यत्रेच्छकनिवासाश्च केचिदत्र वनौकसः ॥ १४ ॥
एवं विधाय तत्सर्वं भगवाँल्लोकभावनः ।
मंथरां बोधयामास यद्यत्कार्यं यथा यथा ॥ १५ ॥
सा तद्वचः समाज्ञाय तथा चक्रे मनोजवा ।
इतश्चेतश्च गच्छंती वैरसंधुक्षणे रता ॥ १६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि वानराद्युत्पत्तौ षट्सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

को लेकर लड़नेवाले, वज्र के समान दृढ शरीरवाले, बड़े बलवान्, वायु-वेगशाली हुए। उनमें से किसी-किसी के शरीर में दस हज़ार हाथियों का बल था। वे लोग चाहे जहां जा सकते थे। हे महाराज! संसार के सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने रावण वध के लिए यह व्यवस्था करके मन्थरा के रूप से पृथ्वी पर जन्म लेनेवाली गन्धर्व-कन्या दुन्दुभी को उसका कर्तव्य अच्छी तरह समझा दिया। वायु के समान वेग से चलनेवाली दुन्दुभी पृथ्वी पर जन्म लेकर, मन्थरा के रूप से इधर-उधर जाकर, देवकार्य की सिद्धि के लिए लगाने-बुझाने लगी ॥११।१६॥

—०—

वनपर्व का दो सौ छिहत्तर अध्याय समाप्त हुआ ॥२७६॥

अथ सप्तसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२७७॥

युधिष्ठिर उवाच—उक्तं भगवता जन्म रामादीनां पृथक् पृथक् ।
प्रस्थानकारणं ब्रह्मञ्श्रोतुमिच्छामि कथ्यताम् ॥ १ ॥
कथं दाशरथी वीरौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
संप्रस्थितौ वने ब्रह्मन्मैथिली च यशस्विनी ॥ २ ॥
मार्कंडेय उवाच—जातपुत्रो दशरथः प्रीतिमानभवन्नृप ।
क्रियारतिर्धर्मरतः सततं वृद्धसेविता ॥ ३ ॥

दो सौ सतहत्तर अध्याय ॥२७७॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे भगवन्! आप रामचन्द्र आदि के जन्म का वृत्तान्त कह चुके। अब कृपा करके यह बताइए कि दशरथ के वीर पुत्र राम, लक्ष्मण और यशस्विनी राजनन्दिनी सीता को वन में क्यों जाना पड़ा? ॥१।२॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजेन्द्र! धर्म-कर्म करने में तत्पर, वृद्धों की सेवा करनेवाले, महाराज दशरथ पुत्रों के उत्पन्न होने पर बहुत ही प्रसन्न हुए।

क्रमेण चाऽस्य ते पुत्रा व्यवर्धंत महौजसः ।
वेदेषु सरहस्येषु धनुर्वेदेषु पारगाः ॥ ४ ॥
चरितब्रह्मचर्यास्ते कृतदाराश्च पार्थिव ।
यदा तदा दशरथः प्रीतिमानभवत्सुखी ॥ ५ ॥
ज्येष्ठो रामोऽभवत्तेषां रमयामास हि प्रजाः ।
मनोहरतया धीमान्पितुर्हृदयनंदनः ॥ ६ ॥
ततः स राजा मतिमान्मत्वाऽऽत्मानं वयोधिकम् ।
मंत्रयामास सचिवैर्धर्मज्ञैश्च पुरोहितैः ॥ ७ ॥
अभिषेकाय रामस्य यौवराज्येन भारत ।
प्राप्तकालं च ते सर्वे मेनिरे मंत्रिसत्तमाः ॥ ८ ॥
लोहिताक्षं महाबाहुं मत्तमात्तंगगामिनम् ।
दीर्घबाहुं महोरस्कं नीलकुंचितमूर्धजम् ॥ ९ ॥
दीप्यमानं श्रिया वीरं शक्रादनवरं रणे ।
पारगं सर्वधर्माणां बृहस्पतिसमं मतौ ॥ १० ॥
सर्वानुरक्तप्रकृतिं सर्वविद्याविशारदम् ।
जितेंद्रियममित्राणामपि दृष्टिमनोहरम् ॥ ११ ॥
नियंतारमसाधूनां गोप्तारं धर्मचारिणाम् ।
धृतिमंतमनाधृष्यं जेतारमपराजितम् ॥ १२ ॥

उनके चारों महापराक्रमी पुत्र दिन-दिन बढ़कर विद्या सीखने लगे । वेद, वेदाङ्ग, धनुर्वेद आदि की पूरी शिक्षा पाकर जब चारों कुमार ब्रह्मचर्य का समय पूरा कर चुके, तब महाराज दशरथ ने प्रसन्नतापूर्वक उनके विवाह कर दिये । रामचन्द्र को देखकर दशरथ बड़े प्रसन्न और सुखी होते थे । सबमें बड़े राम गुणों में भी श्रेष्ठ थे । बुद्धिमान् होने के कारण वे पिता को जैसे प्यारे थे वैसे ही सब प्रजा के भी हृदय को आनन्द देते थे ॥३।६॥

हे राजेन्द्र ! रामचन्द्र की भुजाएँ घुटनों तक लम्बी थीं, चाल मस्त हाथी की सी गम्भीर थी, कन्धे बैल के से भरे हुए थे, काले घुँघराले केश थे । उनके सुन्दर शान्त स्वरूप को देखकर शत्रु भी प्रसन्न हो उठते थे । उनकी गरदन शङ्ख ऐसी थी । आंखें लाल और छाती चौड़ी थी । वे बल में इन्द्र के समान, श्रीमान्, महाबाहु, बुद्धि में बृहस्पति के समान, सब विद्याओं में पण्डित, जितेन्द्रिय, दुष्टों को दण्ड देनेवाले, साधुओं की रक्षा करनेवाले, धीर, विजयी, दुर्द्धर्ष और अजेय थे । कौसल्या के आनन्द और कुल की कीर्त्ति को बढ़ानेवाले पुत्र राम को देखकर राजा दशरथ को बड़ा आनन्द हुआ ७।१२

पुत्रं राजा दशरथः कौसल्यानंदिवर्धनम् ।
संदृश्य परमां प्रीतिमगच्छत्कुरुनंदन ॥ १३ ॥
चिंतयंश्च महातेजा गुणान्रामस्य वीर्यवान् ।
अभ्यभाषत भद्रं ते प्रीयमाणः पुरोहितम् ॥ १४ ॥
अद्य पुष्यो निशि ब्रह्मन्पुण्यं योगमुपैष्यति ।
संभाराः संभ्रियंतां मे रामश्चोपनिमंत्र्यताम् ॥ १५ ॥
इति तद्राजवचनं प्रतिश्रुत्याऽथ मंथरा ।
कैकेयीमभिगम्येदं काले वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥
अद्य कैकेयि दौर्भाग्यं राज्ञा ते ख्यापितं महत् ।
आशीविषस्त्वां संक्रुद्धश्चंडो दशतु दुर्भगे ॥ १७ ॥
सुभगा खलु कौसल्या यस्याः पुत्रोऽभिषेक्ष्यते।
कुतो हि तव सौभाग्यं यस्याः पुत्रो न राज्यभाक्॥ १८ ॥
सा तद्वचनमाज्ञाय सर्वाभरणभूषिता ।
वेदीविलग्नमध्येव बिभ्रती रूपमुत्तमम् ॥ १९ ॥
विविक्ते पतिमासाद्य हसंतीव शुचिस्मिता ।
प्रणयं व्यंजयंतीव मधुरं वाक्यमब्रवीत् ॥ २० ॥

रामचन्द्र में सब राजोचित गुण और अपने को वृद्ध देखकर एक दिन राजा दशरथ ने पुरोहित से कहा—हे ब्रह्मन् ! आज शुभ पुष्य नक्षत्र है और रात्रि को पुण्ययोग उपस्थित होगा। मैं राम का राज्याभिषेक करना चाहता हूँ । यह सूचना राम को देकर आप अभिषेक की सब सामग्री मँगवाइए। कैकेयी की दासी मन्थरा ने ज्योंही राजा के ये वचन सुने त्योंही, देवकार्य का ठीक समय जानकर, वह कैकेयी के पास गई और कहने लगी—हे रानी ! राजा ने इस समय तुम्हारे बड़े दुर्भाग्य की घोषणा की है। क्रोधित विषैला सर्प गुप्त रूप से तुम्हें डसने के लिए तैयार है। इस समय सौभाग्य कौसल्या का है, जिनके पुत्र राम को राजसिंहासन मिलेगा । तुम अपने को *सौभाग्य शालिनी मानती हो; पर तुम्हारे पुत्र को जब राजगद्दी ही नहीं मिली, तब तुम कैसे सौभाग्यशालिनी कही जा सकती हो ?* ॥१४।१८॥

कुटिल प्रकृतिवाली मन्थरा के ये वचन सुनकर राम के राज्याभिषेक का हाल जानकर, कैकेयी ने उसमें विघ्न डालने का निश्चय कर लिया। वह गहने पहनकर, अपूर्व रूप बनाकर, एकान्त में राजा दशरथ के पास गई । उसने हँसकर मधुर स्वर से कहा—हे महाराज ! आप सत्य-प्रतिज्ञ कहे जाते हैं। मैं इस समय आपसे वह वर माँगने आई हूँ जो आपने एक समय मुझसे माँगने के लिए कहा था, और मैंने

सत्यप्रतिज्ञ यन्मे त्वं काममेकं निसृष्टवान् ।
उपाकुरुष्व तद्राजंस्तस्मान्मुच्यस्व संकटात् ॥ २१ ॥
राजोवाच—वरं ददानि ते हंत तद् गृहाण यदिच्छसि ।
अवध्यो वध्यतां कोऽद्य वध्यः कोऽद्य विमुच्यताम्॥ २२ ॥
धनं ददानि कस्याऽद्य ह्रियतां कस्य वा पुनः।
ब्राह्मणस्वादिहाऽन्यत्र यत्किंचिद्वित्तमस्ति मे ॥ २३ ॥
पृथिव्यां राजराजोऽस्मि चातुर्वर्ण्यस्य रक्षिता ।
यस्तेऽभिलषितः कामो ब्रूहि कल्याणि मा चिरम्॥ २४ ॥
सा तद्वचनमाज्ञाय परिगृह्य नराधिपम् ।
आत्मनो बलमाज्ञाय तत एनमुवाच ह ॥ २५ ॥
आभिषेचनिकं यत्ते रामार्थमुपकल्पितम् ।
भरतस्तदवाप्नोतु वनं गच्छतु राघवः ॥ २६ ॥
स तद्राजा वचः श्रुत्वा विप्रियं दारुणोदयम् ।
दुःखार्तो भरतश्रेष्ठ न किंचिद्व्याजहार ह ॥ २७ ॥
ततस्तथोक्तं पितरं रामो विज्ञाय वीर्यवान् ।
वनं प्रतस्थे धर्मात्मा राजा सत्यो भवत्विति ॥ २८ ॥
तमन्वगच्छल्लक्ष्मीवान्धनुष्माँल्लक्ष्मणस्तदा ।

आपसे और किसी समय माग लेने की इच्छा प्रकट की थी । हे राजन् ! वह वर इस समय देकर मुझे सङ्कट से बचाइए ॥१९।२१॥

राजा ने कहा—हे प्रिय ! मैं बड़ी प्रसन्नता के साथ वह वर तुमको देता हूँ; जो तुम्हारी इच्छा हो सो मांग लो । बोलो, किस अवध्य का वध किया जाय या कौन मृत्यु-दण्ड के योग्य पुरुष छोड़ दिया जाय ? जो कुछ मेरी सम्पत्ति और धन है वह किसको दे दूँ ? या ब्राह्मण के सिवा किसका सर्वस्व हर लूँ? मैं इस पृथ्वी पर राजराज और चारों वर्णों की रक्षा करनेवाला हूँ । जो तुम्हारी इच्छा हो उसे शीघ्र ही कहो, मैं तुम्हारी इच्छा पूरी करने के लिए तैयार हूँ ॥२२।२४॥

यह सुनकर, राजा को अपने वश में करके उन पर अपना ज़ोर जानकर कैकेयी ने कहा—हे महाराज ! मैं यही वर मागती हूँ कि राम के राज्याभिषेक के लिए जो सामग्री आई है उससे मेरे पुत्र भरत का राज्याभिषेक किया जाय; और उधर राम मुनिवेष से चौदह वर्ष के लिए वन में जाकर रहें । हे राजा युधिष्ठिर ! महाराज दशरथ कैकेयी के मुँह से इस दारुण वरदान की बात सुनकर चुप रह गये। उनसे कुछ कहते न बना । धर्मात्मा राम को जब यह हाल मालूम हुआ तब वे, पिता की प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए, तुरन्त वन को चल दिये । श्रीमान्

सीता च भार्या भद्रं ते वैदेही जनकात्मजा ॥ २९ ॥
ततो वनं गते रामे राजा दशरथस्तदा ।
समयुज्यत देहस्य कालपर्यायधर्मणा ॥ ३० ॥
रामं तु गतमाज्ञाय राजानं च तथा गतम् ।
आनाय्य भरतं देवी कैकेयी वाक्यमब्रवीत् ॥ ३१ ॥
गतो दशरथः स्वर्गं वनस्थौ रामलक्ष्मणौ ।
गृहाण राज्यं विपुलं क्षेमं निहतकंटकम् ॥ ३२ ॥
तामुवाच स धर्मात्मा नृशंसं बत ते कृतम् ।
पतिं हत्वा कुलं चेदमुत्साद्य धनलुब्धया ॥ ३३ ॥
अयशः पातयित्वा मे मूर्ध्नि त्वं कुलपांसने ।
सकामा भव मे मातरित्युक्त्वा प्ररुरोद ह ॥ ३४ ॥
स चारित्रं विशोध्याऽथ सर्वप्रकृतिसन्निधौ ।
अन्वयाद् भ्रातरं रामं विनिवर्तनलालसः ॥ ३५ ॥
कौसल्यां च सुमित्रां च कैकेयीं च सुदुःखितः ।
अग्रे प्रस्थाप्य यानैः स शत्रुघ्नसहितो ययौ ॥ ३६ ॥
वासिष्ठवामदेवाभ्यां विप्रैश्चाऽन्यैः सहस्रशः ।

लक्ष्मण भी धनुष-बाण लेकर बड़े भाई के साथ वन को गये। जनक राजा की कन्या रामचन्द्र की भार्या सीता भी उनके साथ हो गईं ॥२५।२९॥

उधर राम वन को गये, इधर पुत्रशोक से विह्वल राजा दशरथ ने शरीर छोड़ दिया। कैकेयी ने देखा, राम वन को चले गये और राजा की मृत्यु हो गई। तब उसने भरत को बुलवाकर कहा—हे बेटा! राजा दशरथ स्वर्गवासी हो गये, और लक्ष्मण के साथ राम वन को चले गये। अब तुम यह निष्कण्टक राज्य लेकर सुख से प्रजा-पालन और ऐश्वर्य भोग करो ॥३०।३२॥

धर्मात्मा भरत ने माता के इस कथन से दुःखित होकर कहा—हे कुलनाशिनी माता! तुमने यह बहुत ही नीच और निष्ठुर कर्म किया है। तुमने धन के लोभ से पति को मारा और इस कुल का सत्यानाश किया। इस प्रकार मेरे सिर पर घोर अपयश लादकर तुमने अपनी इच्छा पूरी की। यों कहकर भरत रोने लगे। इसके पश्चात् भरत ने नगरवासियों और प्रजा से यह कहकर कि इस अनर्थ का कारण मैं नहीं हूं, मेरी माता है, रामचन्द्र को वन से लौटा लाने की तैयारी की ॥३३।३५॥

कौसल्या, सुमित्रा और कैकेयी को सवारियों पर बैठाकर आगे भेज दिया और पीछे से शत्रुघ्न और वशिष्ठ, वामदेव आदि ब्राह्मणों और नगरवासियों को साथ लेकर आप भी चले। चित्रकूट पर्वत पर जाकर

पौरजानपदैः सार्धं रामानयनकांक्षया ॥ ३७ ॥
ददर्श चित्रकूटस्थं स रामं सहलक्ष्मणम् ।
तापसानामलंकारं धारयंतं धनुर्धरम् ॥ ३८ ॥
विसर्जितः स रामेण पितुर्वचनकारिणा ।
नंदिग्रामेऽकरोद्राज्यं पुरस्कृत्याऽस्य पादुके ॥ ३९ ॥
रामस्तु पुनराशंक्य पौरजानपदागमम् ।
प्रविवेश महारण्यं शरभंगाश्रमं प्रति ॥ ४० ॥
सत्कृत्य शरभंगं स दंडकारण्यमाश्रितः ।
नदीं गोदावरीं रम्यामाश्रित्य न्यवसत्तदा ॥ ४१ ॥
वसतस्तस्य रामस्य ततः शूर्पणखाकृतम् ।
खरेणाऽऽसीन्महद्वैरं जनस्थाननिवासिना ॥ ४२ ॥
रक्षार्थं तापसानां तु राघवो धर्मवत्सलः ।
चतुर्दश सहस्राणि जघान भुवि राक्षसान् ॥ ४३ ॥
दूषणं च खरं चैव निहत्य सुमहाबलौ ।
चक्रे क्षेमं पुनर्धीमान्धर्मारण्यं स राघवः ॥ ४४ ॥
हतेषु तेषु रक्षःसु ततः शूर्पणखा पुनः ।
ययौ निकृत्तनासोष्ठी लंकां भ्रातुर्निवेशनम् ॥ ४५ ॥

भरत ने लक्ष्मण सहित रामचन्द्र को धनुष लिये हुए मुनिवेष से विराजमान देखा। भरत ने रामचन्द्र से बहुत कहा, परन्तु रामचन्द्र तो पिता की प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए दृढ़ निश्चय कर ही चुके थे, इस कारण वे लौटने के लिए प्रसन्न न हुए। रामचन्द्र ने भरत को लौट जाने की आज्ञा दी। राम की खड़ाऊँ लेकर भरत लौट आये और नन्दिग्राम में रहकर राज्य का पालन करने लगे। पुरवासी लोग फिर आकर लौटने के लिए न कहें, इस आशङ्का से रामचन्द्र और आगे बढ़ गये और महावन के बीच शरभङ्ग ऋषि के आश्रम में पहुंचे ॥३६।४०॥

रामचन्द्र वहां शरभङ्ग ऋषि का सत्कार करके, दण्डकारण्य के भीतर जाकर, परम रमणीय गोदावरी नदी के किनारे पर पहुँचे और वहीं रहने लगे। वहाँ शूर्पणखा के कारण जनस्थान में रहनेवाले खर नामक राक्षस से रामचन्द्र की शत्रुता हो गई। धर्मात्मा राघव ने तपस्वी मुनियों की रक्षा के लिए चौदह हजार राक्षसों सहित खर और दूषण को युद्ध में मार डाला। इस प्रकार राक्षसों को मारकर रामचन्द्र ने उस तपोवन को बाधा विहीन कर दिया ॥४१।४४॥

उन राक्षसों के मारे जाने पर और अपने नाक-ओठ कट जाने पर रक्त बहाती हुई शूर्पणखा लङ्का

ततो रावणमभ्येत्य राक्षसी दुःखमूर्छिता ।
पपात पादयोर्भ्रातुः संशुष्करुधिरानना ॥ ४६ ॥
तां तथा विकृतां दृष्ट्वा रावणः क्रोधमूर्छितः ।
उत्पपाताऽऽसनात्क्रुद्धो दंतैर्दंतानुपस्पृशन् ॥ ४७ ॥
स्वानमात्यान्विसृज्याऽथ विविक्ते तामुवाच सः ।
केनाऽस्येवं कृता भद्रे मामाचिंत्याऽवमन्य च ॥ ४८ ॥
कः शूलं तीक्ष्णमासाद्य सर्वगात्रैर्निषेवते ।
कः शिरस्यग्निमाधाय विश्वस्तः स्वपते सुखम् ॥ ४९ ॥
आशीविषं घोरतरं पादेन स्पृशतीह कः ।
सिंहं केसरिणं कश्च दंष्ट्रायां स्पृश्य तिष्ठति ॥ ५० ॥
इत्येवं ब्रुवतस्तस्य स्रोतोभ्यस्तेजसोऽर्चिषः ।
निश्चेरुर्दह्यतो रात्रौ वृक्षस्येव स्वरंध्रतः ॥ ५१ ॥
तस्य तत्सर्वमाचख्यौ भगिनी रामविक्रमम् ।
खरदूषणसंयुक्तं राक्षसानां पराभवम् ॥ ५२ ॥
स निश्चित्य ततः कृत्यं स्वसारमुपसांत्व्य च ।
ऊर्ध्वमाचक्रमे राजा विधाय नगरे विधिम् ॥ ५३ ॥

में अपने भाई रावण के पास गई। दुःख से विह्वल शूर्पणखा रावण के पांवों पर गिर पड़ी। सूखे हुए रक्त से उसका चेहरा और भी भयानक हो रहा था। शूर्पणखा का चेहरा बिगड़ा हुआ देखकर रावण बहुत ही कुपित हुआ। वह दांत पीसता हुआ अपने आसन से उठ खड़ा हुआ। उसने अपने मन्त्रियों और अनुचरों को वहां से हटाकर एकान्त में शूर्पणखा से कहा—हे बहन! मेरा कुछ खयाल न करके यह मेरा अनादर किसने किया है? किसने तेरी यह दशा की है? कौन तीक्ष्ण शूल हाथ में लेकर आप अपने शरीर में झोंकना चाहता है? कौन मूर्ख सिर पर अग्नि रखकर बेखटके सो रहा है? किसने तीक्ष्ण विषवाले सर्प को लात मारी है? किसने महाबली सिंह की दाढ़ उखाड़ने का दुःसाहस किया है ॥४५।५०॥

हे महाराज! यों कहते कहते रावण के आंख, नाक, कान आदि अङ्गों से उसी तरह अग्नि की चिनगारियाँ निकलने लगीं, जिस तरह रात्रि को जलते हुए वृक्ष के छेदों से अग्नि की लपटें निकलती हैं। तब रावण की बहन शूर्पणखा ने उससे रामचन्द्र के पराक्रम का हाल और खर-दूषण आदि राक्षसों के मरने का वृत्तान्त, आदि से अन्त तक, कह सुनाया। रावण ने विचारकर कर्तव्य का निश्चय किया। इसके पश्चात् नगर की रक्षा का प्रबन्ध करके वह समुद्र के ऊपर आकाश में पहुंचा। गम्भीर

त्रिकूटं समतिक्रम्य कालपर्वतमेव च ।
ददर्श मकरावासं गंभीरोदं महोदधिम् ॥ ५४ ॥
तमतीत्याऽथ गोकर्णमभ्यगच्छद्दशाननः ।
दयितं स्थानमव्यग्रं शूलपाणेर्महात्मनः ॥ ५५ ॥
तत्राऽभ्यगच्छन्मारीचं पूर्वामात्यं दशाननः ।
पुरा रामभयादेव तापस्यं समुपाश्रितम् ॥ ५६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि रामवनाभिगमने सप्तसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

जलवाले सागर की सैर करता हुआ रावण इस प्रकार त्रिकूट पर्वत और काल पर्वत को लांघकर भगवान् शङ्कर के प्रिय स्थान गोकर्ण क्षेत्र में पहुंचा। वहीं पर रावण का पुराना मन्त्री मारीच राक्षस राम के भय से, जान बचाने के लिए, तपस्वी के वेष में रहता था। रावण उसके पास गया ॥५१।५६॥

वनपर्व का दो सौ सतहत्तर अध्याय समाप्त हुआ ॥२७७॥

अथ अष्टसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२७८॥

मार्कंडेय उवाच—मारीचस्त्वथ संभ्रांतो दृष्ट्वा रावणमागतम् ।
पूजयामास सत्कारैः फलमूलादिभिस्ततः ॥ १ ॥
विश्रांतं चैनमासीनमन्वासीनः स राक्षसः ।
उवाच प्रश्रितं वाक्यं वाक्यज्ञो वाक्यकोविदम् ॥ २ ॥
न ते प्रकृतिमान्वर्णः कच्चित्क्षेमं पुरे तव ।
कच्चित्प्रकृतयः सर्वा भजंते त्वां यथा पुरा ॥ ३ ॥
किमिहाऽऽगमने चापि कार्यं ते राक्षसेश्वर ।
कृतमित्येव तद्विद्धि यद्यपि स्यात्सुदुष्करम् ॥ ४ ॥

दो सौ अठहत्तर अध्याय ॥२७८॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—रावण को अपने यहां आया हुआ देखकर मारीच शीघ्र से खड़ा हो गया। उसने फल-मूल आदि अर्पण करके रावण का सत्कार किया। रावण जब विश्राम कर चुका तब बुद्धिमान् मारीच ने पूछा—हे राक्षसराज! आप आज व्याकुल क्यों हैं? आपका मुख मलिन क्यों देख पड़ रहा है? आपकी राजधानी में कुशल-मङ्गल तो है न? आपकी सब प्रजा पहले की तरह आपके अधीन तो है न? यहाँ आपके आने का क्या कारण है? आज्ञा कीजिए, आपका क्या कार्य है? वह कैसा ही कठिन क्यों न हो, मैं उसे करने के लिए तैयार हूं ॥१।४॥

शशंस रावणस्तस्मै तत्सर्वं रामचेष्टितम् ।
समासेनैव कार्याणि क्रोधामर्षसमन्वितः ॥ ५ ॥
मारीचस्त्वब्रवीच्छ्रुत्वा समासेनैव रावणम् ।
अलं ते राममासाद्य वीर्यज्ञो ह्यस्मि तस्य वै ॥ ६ ॥
बाणवेगं हि कस्तस्य शक्तः सोढुं महात्मनः ।
प्रव्रज्यायां हि मे हेतुः स एव पुरुषर्षभः ॥ ७ ॥
विनाशमुखमेतत्ते केनाऽऽख्यातं दुरात्मना ।
तमुवाचाऽथ सक्रोधो रावणः परिभर्त्सयन् ॥ ८ ॥
अकुर्वतोऽस्मद्वचनं स्यान्मृत्युरपि ते ध्रुवम् ।
मारीचश्चिंतयामास विशिष्टान्मरणं वरम् ॥ ९ ॥
अवश्यं मरणे प्राप्ते करिष्याम्यस्य यन्मतम् ।
ततस्तं प्रत्युवाचाथ मारीचो रक्षसां वरम् ॥ १० ॥
किं ते साह्यं मया कार्यं करिष्याम्यवशोऽपि तत् ।
तमब्रवीद्दशग्रीवो गच्छ सीतां प्रलोभय ॥ ११ ॥
रत्नश्रृंगो मृगो भूत्वा रत्नचित्रतनूरुहः ।
ध्रुवं सीता समालक्ष्य त्वां रामं चोदयिष्यति ॥ १२ ॥
अपक्रांते च काकुत्स्थे सीता वश्या भविष्यति।

क्रोध से विह्वल रावण ने संक्षेप में राम की करनी कहकर अपना विचार मारीच के आगे प्रकट किया। रावण के मुंह से सब हाल सुनकर मारीच ने कहा—हे राजेन्द्र ! राम से भिड़ने का विचार छोड़ दीजिए। मैं उनके बल और पराक्रम को अच्छी तरह से जानता हूं। महात्मा राम के बाण के वेग को भला कौन सह सकता है ? मेरे यों तपस्वी होने का कारण वही पुरुषश्रेष्ठ हैं। किस दुरात्मा ने आपको यह विनाश का द्वार दिखाया है ॥५।८॥

हे महाराज ! मारीच के ये वचन सुनकर कुपित रावण ने डाटकर उससे कहा—जो तुम मेरा कहा न मानोगे तो मैं तुमको मार डालूंगा। यह सुनकर मारीच ने मन में सोचा कि मुझे दोनों तरह मरना पड़ेगा, तो फिर राम के हाथ से ही क्यों न मरूं ? वही मृत्यु श्रेष्ठ है। मैं इसका कहना करके राम के हाथ से मरूंगा तो मुझे सद्गति मिलेगी। सोच विचारकर मारीच ने रावण से कहा—बताइए, मैं आपका कौन सा कार्य करूं ? इच्छा न होने पर भी, विवश होकर, उसे मैं करूंगा ॥९।११॥

रावण ने कहा—हे मारीच ! तुम विचित्र [स्वर्णमय] मृग का रूप रखकर राम के आश्रम में जाओ और सीता को लुभाओ। रत्नमय रोम और

तामादायाऽपनेष्यामि ततः स न भविष्यति ॥ १३ ॥
भार्यावियोगाद्दुर्बुद्धिरेतत्साह्यं कुरुष्व मे ।
इत्येवमुक्तो मारीचः कृत्वोदकमथाऽऽत्मनः ॥ १४ ॥
रावणं पुरतो यांतमन्वगच्छत्सुदुःखितः ।
ततस्तस्याऽऽश्रमं गत्वा रामस्याऽक्लिष्टकर्मणः ॥ १५ ॥
चक्रतुस्तद्यथा सर्वमुभौ यत्पूर्वमंत्रितम् ।
रावणस्तु यतिर्भूत्वा मुंडः कुंडी त्रिदंडधृक् ॥ १६ ॥
मृगश्च भूत्वा मारीचस्तं देशमुपजग्मतुः ।
दर्शयामास मारीचो वैदेहीं मृगरूपधृक् ॥ १७ ॥
चोदयामास तस्याऽर्थे सा रामं विधिचोदिता ।
रामस्तस्याः प्रियं कुर्वन्धनुरादाय सत्वरः ॥ १८ ॥
रक्षार्थे लक्ष्मणं न्यस्य प्रययौ मृगलिप्सया ।
स धन्वी बद्धतूणीरः खड्गगोधांगुलित्रवान् ॥ १९ ॥
अन्वधावन्मृगं रामो रुद्रस्तारामृगं यथा ।
सोऽन्तर्हितः पुनस्तस्य दर्शनं राक्षसो व्रजन् ॥ २० ॥
चकर्ष महदध्वानं रामस्तं बुबुधे ततः ।
निशाचरं विदित्वा तं राघवः प्रतिभानवान् ॥ २१ ॥

वैसे ही सींगों से शोभित तुमको देखकर, तुम्हें लाने के लिए, सीता अवश्य राम को भेजेगी। राम जब आश्रम से चले जायगे तब सीता को वश में करके मैं हर लाऊंगा। प्यारी स्त्री का वियोग होने पर, उसके दुःख से, राम अपने प्राण दे देंगे। बस, इतनी ही सहायता मैं तुमसे चाहता हूं ॥१२।१४॥

रावण के वाक्य सुनकर मन में अत्यन्त दुःखित मारीच ने अपने हाथ अपना और्ध्वदैहिक कर्म (मृतककर्म) किया। अब वह रावण के पीछे पीछे हो लिया। पराक्रमी राम के आश्रम के पास पहुंचकर दोनों राक्षस पहले की सम्मति के अनुसार कार्य करने लगे। रावण ने आश्रम के पास पहुचकर सिर मुड़ाये हुए त्रिदण्डधारी सन्यासी का रूप रख लिया। मारीच भी विचित्र मृग बनकर उस स्थान में पहुंचा दैव की प्रेरणा से मोहित होकर सीता ने राम से उस मृग को पकड़ लाने के लिए कहा। प्रिया का प्रिय करने के लिए रामचन्द्र धनुष लेकर शीघ्र उस मृग के पीछे-पीछे चले। जाते समय वे सीता की रक्षा के लिए लक्ष्मण को छोड़ गये। धनुष, तर्कस, खड्ग आदि बांधे, हाथों में गोह के चमड़े के अंगुलित्राण आदि पहने रामचन्द्र उसी तरह मृग के पीछे पीछे चले, जिस तरह रुद्रदेव तारामृगरूपी प्रजापति के

अमोघं शरमादाय जघान मृगरूपिणम् ।
स रामबाणाभिहतः कृत्वा रामस्वरं तदा ॥ २२ ॥
हा सीते लक्ष्मणेत्येवं चुक्रोशाऽऽर्तस्वरेण ह ।
शुश्राव तस्य वैदेही ततस्तां करुणां गिरम् ॥ २३ ॥
सा प्राद्रवद्यतः शब्दस्तामुवाचाऽथ लक्ष्मणः ।
अलं ते शंकया भीरु को रामं प्रहरिष्यति ॥ २४ ॥
मुहूर्त्ताद् द्रक्ष्यसे रामं भर्त्तारं त्वं शुचिस्मिते ।
इत्युक्ता सा प्ररुदती पर्यशंकत लक्ष्मणम् ॥ २५ ॥
हता वै स्त्रीस्वभावेन शुक्लचारित्रभूषणा ।
सा तं परुषमारब्धा वक्तुं साध्वी पतिव्रता ॥ २६ ॥
नैष कामो भवेन्मूढ यं त्वं प्रार्थयसे हृदा ।
अप्यहं शस्त्रमादाय हन्यामात्मानमात्मना ॥ २७ ॥
पतेयं गिरिशृंगाद्वा विशेयं वा हुताशनम् ।
रामं भर्त्तारमुत्सृज्य न त्वहं त्वां कथंचन ॥ २८ ॥
निहीनमुपतिष्ठेयं शार्दूली क्रोष्टुकं यथा ।
एतादृशं वचः श्रुत्वा लक्ष्मणः प्रियराघवः ॥ २९ ॥

पीछे-पीछे दौड़े थे। मृगरूपधारी मायावी मारीच राक्षस कभी छिप जाता था और कभी देख पड़ता था।१५।२०।

इस तरह वह रामचन्द्र को बहुत दूर ले गया। अन्त को राम ने जान लिया कि यह मृग कोई मायावी राक्षस है। तब उन्होंने धनुष पर अमोघ बाण चढ़ाकर मृगरूपी मारीच को मारा। रामचन्द्र का बाण लगने पर मरते समय मारीच ने राम के से स्वर में आर्तनाद करके ज़ोर से "हाय सीता! हाय लक्ष्मण!" कहा ॥२१।२३॥

उस करुण वाणी को सुनते ही, राम के अनिष्ट की आशङ्का से व्याकुल होकर, सीता उसी ओर दौड़ पड़ीं। तब लक्ष्मण ने कहा—हे वैदेही! तुम किसी प्रकार की शङ्का न करो। महाबाहु रामचन्द्र जी को कौन मार सकता है? अभी दम भर में तुम रामचन्द्र को यहीं देखोगी। लक्ष्मण की बातें सुनकर सीता को, उनके मन में पाप होने का, सन्देह हुआ। ये रामचन्द्र के मरने पर मुझे प्राप्त करना चाहते हैं, इसी से राम की सहायता करने नहीं जाते। यह सोचकर वे रोने और लक्ष्मण को कठोर वचन कहने लगीं। पतिव्रता सीता का चरित्र बहुत ही शुद्ध था, परन्तु उस समय स्त्रीस्वभाव के वश होकर उन्होंने आप अपना सर्वनाश कर लिया। वे, लक्ष्मण से कहने लगीं—अरे मूढ़! तू अपने हृदय में जो इच्छा रखता है वह कभी पूरी नहीं हो सकती।

पिधाय कर्णौ सद्वृत्तः प्रस्थितो येन राघवः ।
स रामस्य पदं गृह्य प्रससार धनुर्धरः ॥ ३० ॥
अवेक्षमाणो विंबोष्ठीं प्रययौ लक्ष्मणस्तदा ।
एतस्मिन्नंतरे रक्षो रावणः प्रत्यदृश्यत ॥ ३१ ॥
अभव्यो भव्यरूपेण भस्मच्छन्न इवाऽनलः ।
यतिवेषप्रतिच्छन्नो जिहीर्षुस्तामनिंदिताम् ॥ ३२ ॥
सा तमालक्ष्य संप्राप्तं धर्मज्ञा जनकात्मजा ।
निमंत्रयामास तदा फलमूलाशनादिभिः ॥ ३३ ॥
अवमन्य ततः सर्वं स्वरूपं प्रत्यपद्यत ।
सांत्वयामास वैदेहीमिति राक्षसपुंगवः ॥ ३४ ॥
सीते राक्षसराजोऽहं रावणो नाम विश्रुतः ।
मम लंकापुरी नाम्ना रम्या पारे महोदधेः ॥ ३५ ॥
तत्र त्वं नरनारीषु शोभिष्यसि मया सह ।
भार्या मे भव सुश्रोणि तापसं त्यज राघवम् ॥ ३६ ॥
एवमादीनि वाक्यानि श्रुत्वा तस्याऽथ जानकी ।
पिधाय कर्णौ सुश्रोणी मैवमित्यब्रवीद्वचः ॥ ३७ ॥

मैं शस्त्र लेकर अपने हाथ से अपनी हत्या कर लूँगी, पर्वत के शिखर पर से नीचे गिर पड़ूगी, या जलती हुई अग्नि में जल मरूगी, परन्तु अपने पति राम को छोड़कर कभी तुझे स्वीकार नहीं करूगी। जैसे सिंह की स्त्री सियार को नहीं स्वीकार कर सकती, वैसे ही मैं तुझ नीचप्रकृति गुणहीन को न ग्रहण करूंगी। राम को परम प्रिय समझनेवाले, सच्चरित्र लक्ष्मण सीता की ये कठोर बातें सुनकर, हाथों से कान मूदकर, रामचन्द्र के पास चल दिये। धनुर्द्धर लक्ष्मण राम के चरण-चिह्न देखते हुए, सीता का ख्याल छोड़कर, चले गये ॥२४।३०॥

इसी बीच में अवसर पाकर नीच राक्षस रावण, राख में छिपी अग्नि के समान, सन्यासी के रूप से, सीता को हर ले जाने के लिए राम के आश्रम में पहुंचा। धर्म को जाननेवाली जानकी ने [अतिथि-रूप से] आये हुए सन्यासी को देखकर उसका सत्कार किया और खाने के लिए कन्द-मूल-फल आदि भी दिये। रावण ने सीता के दिये हुए फल आदि को स्वीकार न करके, अपना पहला रूप प्रकट करके, कहा—हे सीता ! मैं राक्षसराज रावण हू। महासागर के उस पार मेरी राजधानी लङ्कापुरी है। वहा तुम नर-नारियों के बीच मेरे साथ परम शोभा पाओगी। हे सुन्दरी ! तपस्वी राघव को छोड़कर तुम मेरी भार्या हो जाओ ॥३१।३६॥

प्रपतेद्द्यौः सनक्षत्रा पृथिवी शकलीभवेत् ।
शैत्यमग्निरियान्नाऽहं त्यजेयं रघुनंदनम् ॥ ३८ ॥
कथं हि भिन्नकरटं पद्मिनं वनगोचरम् ।
उपस्थाय महानागं करेणुः सूकरं स्पृशेत् ॥ ३९ ॥
कथं हि पीत्वा माध्वीकं पीत्वा च मधुमाधवीम्।
लोभं सौवीरके कुर्यान्नारी काचिदिति स्मरेत् ॥ ४० ॥
इति सा तं समाभाष्य प्रविवेशाऽऽश्रमं ततः ।
क्रोधात्प्रस्फुरमाणौष्ठी विधुन्वाना करौ मुहुः ॥ ४१ ॥
तामभिद्रुत्य सुश्रोणीं रावणः प्रत्यषेधयत् ।
भर्त्सयित्वा तु रूक्षेण स्वरेण गतचेतनाम् ॥ ४२ ॥
मूर्धजेषु निजग्राह ऊर्ध्वमाचक्रमे ततः ।
तां ददर्श ततो गृध्रो जटायुर्गिरिगोचरः ।
रुदतीं रामरामेति ह्रियमाणां तपस्विनीम् ॥ ४३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि मारीचवधे सीताहरणे चाष्टसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः.

रावण के ये दुर्वाक्य सुनकर, पतिव्रता जानकी दोनों कानों में उंगली लगाकर, कहने लगीं—ऐसा न कह, ऐसा न कह। नक्षत्रों सहित आकाश चाहे पृथ्वी पर गिर पड़े, पृथ्वी के चाहे टुकड़े-टुकड़े हो जायें और अग्नि चाहे शीतल हो जाय, पर मैं रघुनन्दन के सिवा किसी और को नहीं भज सकती। हथिनी क्या कभी मदमस्त जङ्गली गजराज को छोड़कर शूकर को छू सकती है? जिस स्त्री ने पुष्पों से उत्पन्न मधु और बढ़िया मदिरा पी है, वह क्या कभी कांजी को पी सकती है? ॥३७।४०॥

इस प्रकार रावण का तिरस्कार करके जानकी अपनी कुटिया के भीतर चली गईं। क्रोध के मारे उनके ओठ फड़कने लगे और वे अपने हाथ मींजने लगीं। रावण ने दौड़कर उन्हें रोक लिया। फिर वह दुष्ट रूखे वचनों से झिड़ककर अचेत सी सती सीता के केश पकड़कर आकाश-मार्ग में चला गया। राक्षस जब उनको इस प्रकार हरकर ले चला तब वे "हा राम! हा राम!!" कहकर जोर से चिल्लाने और रोने लगीं। पर्वत-निवासी गिद्धराज-जटायु ने दूर से सीता की यह दशा देखी ॥४१।४३॥

वनपर्व का दो सौ अठहत्तर अध्याय समाप्त हुआ ॥२७८॥

अथ ऊनाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२७९॥

मार्कंडेय उवाच—सखा दशरथस्याऽऽसीज्जटायुररुणात्मजः ।
गृध्रराजो महावीरः संपातिर्यस्य सोदरः ॥ १ ॥

स ददर्श तदा सीतां रावणांकगतां स्नुषाम् ।
सक्रोधोऽभ्यद्रवत्पक्षी रावणं राक्षसेश्वरम् ॥ २ ॥
अथैनमब्रवीद् गृध्रो मुंच मुंचस्व मैथिलीम् ।
ध्रियमाणे मयि कथं हरिष्यसि निशाचर ॥ ३ ॥
नहि मे मोक्ष्यसे जीवन्यदि नोत्सृज्यसे वधूम् ।
उक्त्वैवं राक्षसेन्द्रं तं चकर्त नखरैर्भृशम् ॥ ४ ॥
पक्षतुंडप्रहारैश्च शतशो जर्जरीकृतम् ।
चक्षार रुधिरं भूरि गिरिः प्रस्रवणैरिव ॥ ५ ॥
स वध्यमानो गृध्रेण रामप्रियहितैषिणा ।
खड्गमादाय चिच्छेद भुजौ तस्य पतत्रिणः ॥ ६ ॥
निहत्य गृध्रराजं स भिन्नाभ्रशिखरोपमम् ।
ऊर्ध्वमाचक्रमे सीतां गृहीत्वांऽकेन राक्षसः ॥ ७ ॥
यत्र यत्र तु वैदेही पश्यत्याश्रममंडलम् ।
सरो वा सरितो वाऽपि तत्र मुंचति भूषणम् ॥ ८ ॥
सा ददर्श गिरिप्रस्थे पंच वानरपुंगवान् ।
तत्र वासो महद्दिव्यमुत्ससर्ज मनस्विनी ॥ ९ ॥

दो सौ उनहत्तर अध्याय ॥२७९॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—अरुण का पुत्र, गिद्धों का राजा, जटायु महाराज दशरथ का मित्र था। उसके भाई का नाम सम्पाति था। जटायु ने दशरथ की बहू सीता को रावण की गोद में देखकर, कुपित होकर, राक्षसराज पर आक्रमण किया। रावण के पास पहुँचकर जटायु ने कहा—अरे राक्षस! तू शीघ्र मैथिली को छोड़ दे। ये मेरी बहू है। मेरे जीते-जी तू इनको कैसे ले जा सकता है? जो तू इनको नहीं छोड़ेगा तो मैं भी तुझे जीता न रहने दूँगा। अब जटायु अपने तीक्ष्ण नखों और पङ्खों से रावण के शरीर पर प्रहार करने लगा ॥१।४॥

उसने इतनी चोंचें मारीं कि रावण घायल हो गया। पर्वत से जैसे झरने झरते हैं वैसे ही रावण के शरीर से रक्त की धाराएँ बह चलीं। राम का प्रिय और हित करने की इच्छा से जटायु जब इस प्रकार रावण को विस्मय करने लगा तब उसने कुपित होकर, खड्ग निकालकर, जटायु के दोनों पङ्ख काट डाले। रावण ने इस प्रकार पर्वत के टूटे हुए शिखर के समान जटायु को मार गिराया। इसके पश्चात् फिर वह दुष्ट राक्षस सीता को गोद में लेकर आकाश-मार्ग से, अपनी नगरी की ओर चल दिया। राह में जानकी जहां-जहा कोई आश्रम, सरोवर या

तत्तेषां वानरेंद्राणां पपात पवनोद्धतम् ।
मध्ये सुपीतं पंचानां विद्युन्मेघांतरे यथा ॥ १० ॥
अचिरेणाऽतिचक्राम खेचरः खेचरन्निव ।
ददर्शाऽथ पुरीं रम्यां बहुद्वारां मनोरमाम् ॥ ११ ॥
प्राकारवप्रसंबाधां निर्मितां विश्वकर्मणा ।
प्रविवेश पुरीं लंकां ससीतो राक्षसेश्वरः ॥ १२ ॥
एवं हृतायां वैदेह्यां रामो हत्वा महामृगम् ।
निवृत्तो ददृशे धीमान्भ्रातरं लक्ष्मणं तथा ॥ १३ ॥
कथमुत्सृज्य वैदेहीं वने राक्षससेविते ।
इति तं भ्रातरं दृष्ट्वा प्राप्तोऽसीति व्यगर्हयत् ॥ १४ ॥
मृगरूपधरेणाऽथ रक्षसा सोऽपकर्षणम् ।
भ्रातुरागमनं चैव चिंतयन्पर्यतप्यत ॥ १५ ॥
गर्हयन्नेव रामस्तु त्वरितस्तं समासदत् ।
अपि जीवति वैदेही नेति पश्यामि लक्ष्मण ॥ १६ ॥
तस्य तत्सर्वमाचख्यौ सीताया लक्ष्मणो वचः ।
यदुक्तवत्यसदृशं वैदेही पश्चिमं वचः ॥ १७ ॥

नवीं देखती थीं वहां-वहां अपने गहने उतारकर फेंकती जाती थीं ॥५।८॥

एक स्थान पर पर्वत के ऊपर उन्हें पांच बन्दर बैठे हुए देख पड़े । जानकी ने वहां पर अपना दिव्य वस्त्र उतारकर फेंक दिया । वह पीले रङ्ग का वस्त्र, बादल में बिजली की तरह, वायु में उड़कर उन वानरों के बीच में जा गिरा । आकाशगामी राक्षस शीघ्र ही विश्वकर्मा की बनाई हुई अपनी लङ्कापुरी में पहुँच गया । हे महाराज ! वह पुरी बहुत ही सुन्दर और अनेक द्वारों से शोभित थी; वह चारों ओर दीवार और खाई से अत्यन्त दुर्गम थी, राक्षसराज रावण सीता को लेकर लङ्का के भीतर चला गया ॥९।१२॥

इधर रामचन्द्र मृगरूपी मारीच को मारकर लौटे तो उन्हें राह में लक्ष्मण अपनी ओर आते देख पड़े । उनको देखकर रामचन्द्र मन में कहने लगे कि राक्षस-परिपूर्ण उस वन में सीता को अकेली छोड़कर लक्ष्मण कैसे चले आये । मृगरूपधारी राक्षस का अपने को दूर ले जाना और लक्ष्मण का चले आना सोचकर रामचन्द्र बहुत ही चिन्तित हुए । अपनी बुद्धि की निन्दा करते हुए रामचन्द्र शीघ्रता के साथ लक्ष्मण के पास पहुँचकर कहने लगे—तुम यहां कैसे चले आये ? जान पड़ता है कि अब मैं जाकर सीता को जीवित न देख सकूंगा । राम के ये वाक्य सुनकर लक्ष्मण ने सीता के दुर्वचन कहने का सब वृत्तान्त

दह्यमानेन तु हृदा रामोऽभ्यपतदाश्रमम् ।
स ददर्श तदा गृध्रं निहतं पर्वतोपमम् ॥ १८ ॥
राक्षसं शंकमानस्तं विकृष्य बलवद्धनुः ।
अभ्यधावत काकुत्स्थस्ततस्तं सहलक्ष्मणः ॥ १९ ॥
स तावुवाच तेजस्वी सहितौ रामलक्ष्मणौ ।
गृध्रराजोऽस्मि भद्रं वां सखा दशरथस्य वै ॥ २० ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा स गृह्य धनुषी शुभे ।
कोऽयं पितरमस्माकं नाम्नाऽऽहेत्यूचतुश्च तौ ॥ २१ ॥
ततो ददृशतुस्तौ तं छिन्नपक्षद्वयं खगम् ।
तयोःशशंस गृध्रस्तु सीतार्थे रावणाद्वधम् ॥ २२ ॥
अपृच्छद्राघवो गृध्रं रावणः कां दिशं गतः ।
तस्य गृध्रः शिरःकंपैराचचक्षे ममार च ॥ २३ ॥
दक्षिणामिति काकुत्स्थो विदित्वाऽस्य तदिंगितम्।
सत्कारं लंभयामास सखायं पूजयन्पितुः ॥ २४ ॥
ततो दृष्ट्वाऽऽश्रमपदं व्यपविद्धवृसीमठम् ।
विध्वस्तकलशं शून्यं गोमायुशतसंकुलम् ॥ २५ ॥

कह सुनाया। सब वृत्तान्त सुनकर अमङ्गल की आशङ्का से रामचन्द्र का हृदय मानों जलने लगा। वे शीघ्रता के साथ आश्रम की ओर चले ॥१३।१७॥

मार्ग में उन्हें पर्वत के समान शरीरवाला, मृत-प्राय, जटायु देख पड़ा। राक्षस समझकर, धनुष चढ़ाकर, लक्ष्मण सहित रामचन्द्र उसकी ओर दौड़े। तब तेजस्वी गिद्धराज जटायु ने राम-लक्ष्मण से कहा तुम्हारा भला हो। मैं दशरथ का मित्र, गिद्धों का राजा, जटायु हूँ। जटायु के अस्पष्ट शब्द को सुन-कर राम और लक्ष्मण आपस में कहने लगे—यह कौन है, जो हमारे पिता का नाम ले रहा है। पास पहुँचकर राम और लक्ष्मण ने देखा कि वह एक पक्षी है, जिसके दोनों पङ्ख कटे हुए हैं। जटायु ने दोनों भाइयों से कहा कि सीता को छुड़ाने के लिए मैं रावण से युद्ध कर रहा था, उसी ने मेरी यह दशा की है ॥१८।२१॥

तब रामचन्द्र ने जटायु से पूछा—रावण किस दिशा को गया है? जटायु में बोलने तक की शक्ति न थी। उसने सिर हिलाकर रावण के जाने का मार्ग बताया और प्राण छोड़ दिये। जटायु के इशारे से रामचन्द्र को प्रतीत हो गया कि रावण दक्षिण दिशा को गया है। अब उन्होंने लक्ष्मण के साथ अपने पिता के मित्र जटायु का दाह-कर्म किया[और तिलोदक दिया]। वहा से चलकर रामचन्द्र अपने आश्रम में

दुःखशोकसमाविष्टौ वैदेहीहरणार्दितौ ।
जग्मतुर्दंडकारण्यं दक्षिणेन परंतपौ ॥ २६ ॥
वने महति तस्मिंस्तु रामः सौमित्रिणा सह ।
ददर्श मृगयूथानि द्रवमाणानि सर्वशः ॥ २७ ॥
शब्दं च घोरं सत्वानां दावाग्नेरिव वर्धतः ।
अपश्येतां मुहूर्ताच्च कबंधं घोरदर्शनम् ॥ २८ ॥
मेघपर्वतसंकाशं शालस्कंधं महाभुजम् ।
उरोगतविशालाक्षं महोदरमहामुखम् ॥ २९ ॥
यदृच्छयाऽथ तद्रक्षः करे जग्राह लक्ष्मणम् ।
विषादमगमत्सद्यः सौमित्रिरथ भारत ॥ ३० ॥
स राममभिसंप्रेक्ष्य कृष्यते येन तन्मुखम् ।
विषण्णश्चाऽब्रवीद्रामं पश्याऽवस्थामिमां मम ॥ ३१ ॥
हरणं चैव वैदेह्या मम चाऽयमुपप्लवः ।
राज्यभ्रंशश्च भवतस्तातस्य मरणं तथा ॥ ३२ ॥
नाऽहं त्वां सह वैदेह्या समेत कोसलागतम् ।
द्रक्ष्यामि पृथिवीराज्ये पितृपैतामहे स्थितम् ॥ ३३ ॥
द्रक्ष्यन्त्यार्यस्य धन्या ये कुशलाजशमीदलैः ।
अभिषिक्तस्य वदनं सोमं शांतघनं यथा ॥ ३४ ॥

पहुँचे । जाकर देखा कि कुटिया सूनी पड़ी है, आसन आदि उलटे-पलटे पड़े हैं, कलश आदि टूटे फूटे पड़े हैं और सैकड़ों सियार इधर-उधर घूम रहे हैं ॥२२।२६॥

सीता हरण से अत्यन्त दुःखित और शोक-विह्वल होकर दोनों भाई उन्हें खोजते हुए दण्डकारण्य में दक्षिण की ओर बढ़े । उन्होंने एक स्थान पर देखा, जैसे दावानल लगा हो वैसे सब जीव भय के मारे चिल्ला रहे हैं और मृगों के झुण्ड आगे चले जा रहे हैं । कुछ देर के पश्चात् उन्हें पर्वत सा ऊँचा भयङ्कर कबन्ध देख पड़ा । उसके कन्धे सालू के पेड़ इतने ऊँचे और हाथ बहुत ही लम्बे थे । उसके पेट के भीतर बड़ा भारी मुँह था और उसमें बड़ी-बड़ी आँखें चमक रही थीं । उस कबन्धरूपी राक्षस ने आगे बढ़कर लक्ष्मण का हाथ पकड़ लिया । यह देखकर लक्ष्मण बहुत ही व्याकुल और दुःखित हुए । वे रामचन्द्र से कहने लगे—यह मेरी दशा देखिए ॥२७।३१॥

आप राज्य से वञ्चित हुए, पिता की मृत्यु हुई, सीता को राक्षस हर ले गया, और मैं इस सङ्कट में पड़ गया । आप जब अयोध्या में सीता के साथ लौटकर जायँगे और अपने पुरखों के राज्य सिंहासन

एवं बहुविधं धीमान्विललाप स लक्ष्मणः ।
तमुवाचाऽथ काकुत्स्थः संभ्रमेष्वप्यसंभ्रमः ॥ ३५ ॥
मा विषीद नरव्याघ्र नैष कश्चिन्मयि स्थिते ।
छिंध्यस्य दक्षिणं बाहुं छिन्नः सव्यो मया भुजः ॥ ३६ ॥
इत्येवं वदता तस्य भुजो रामेण पातितः ।
खड्गेन भृशतीक्ष्णेन निकृत्तस्तिलकांडवत् ॥ ३७ ॥
ततोऽस्य दक्षिणं बाहुं खड्गेनाऽजघ्निवान्बली ।
सौमित्रिरपि संप्रेक्ष्य भ्रातरं राघवं स्थितम् ॥ ३८ ॥
पुनर्जघान पार्श्वे वै तद्रक्षो लक्ष्मणो भृशम् ।
गतासुरपतद्भूमौ कबंधः सुमहांस्ततः ॥ ३९ ॥
तस्य देहाद्विनिःसृत्य पुरुषो दिव्यदर्शनः ।
ददृशे दिवमास्थाय दिवि सूर्य इव ज्वलन् ॥ ४० ॥
पप्रच्छ रामस्तं वाग्मी कस्त्वं प्रब्रूहि पृच्छतः ।
कामया किमिदं चित्रमाश्चर्यं प्रतिभाति मे ॥ ४१ ॥
तस्याऽऽचचक्षे गंधर्वो विश्वावसुरहं नृप ।
प्राप्तो ब्राह्मणशापेन योनिं राक्षससेविताम् ॥ ४२ ॥

पर बैठेंगे तब उस उत्सव को मैं अभागा न देख सकूंगा। वे धन्य है, जो कुश, लाई, शमी और जल से अभिषेक होने पर आपके, मेघ मुक्त चन्द्रमण्डल के समान शोभित, मुख को देखेंगे। बुद्धिमान् लक्ष्मण इस तरह कहकर अनेक प्रकार से विलाप करने लगे ३२।३५

लक्ष्मण को विलाप करते देखकर कभी न व्याकुल होनेवाले रामचन्द्र ने कहा—हे पुरुषसिंह! मेरे रहते यह दुष्ट राक्षस तुम्हारा कुछ नहीं कर सकता। तुम व्याकुल मत होओ। तुम फुर्ती के साथ इसका दाहना हाथ काट डालो, मैं इसका बाया हाथ काटे डालता हू। बस, उन्होंने पैनी तलवार से तिल के पेड की तरह उसका बाया हाथ काट डाला। बलशाली लक्ष्मण ने भी रामचन्द्र को अपने पास देखकर खड्ग से राक्षस का दाहना हाथ काट डाला। अब लक्ष्मण उसकी कोख में प्रहार करने लगे। तब वह राक्षस प्राण-हीन होकर पृथ्वी पर गिर पडा। उस समय उसके शरीर से एक दिव्य रूपवाला पुरुष निकला। प्रज्वलित सूर्य के समान वह तेजस्वी पुरुष आकाशमार्ग में जाकर विराजमान हुआ। रामचन्द्र ने उससे पूछा—तुम कौन हो? यह अद्भुत घटना कैसे और किसकी इच्छा से हुई? ॥३६।४१॥

उस पुरुष ने कहा—हे नरेन्द्र! मैं गन्धर्व हू। मेरा नाम विश्वावसु है। ब्राह्मण के शाप से मुझे यह राक्षसयोनि मिली थी। हे विभो! लङ्का में रहनेवाला

रावणेन हृता सीता राज्ञा लंकाधिवासिना ।
सुग्रीवमभिगच्छस्व स ते साह्यं करिष्यति ॥ ४३ ॥
एषा पंपा शिवजला हंसकारंडवायुता ।
ऋष्यमूकस्य शैलस्य संनिकर्षे तटाकिनी ॥ ४४ ॥
वसते तत्र सुग्रीवश्चतुर्भिः सचिवैः सह ।
भ्राता वानरराजस्य वालिनो हेममालिनः ॥ ४५ ॥
तेन त्वं सह संगम्य दुःखमूलं निवेदय ।
समानशीलो भवतः साहाय्यं स करिष्यति ॥ ४६ ॥
एतावच्छक्यमस्माभिर्वक्तुं द्रष्टाऽसि जानकीम् ।
ध्रुवं वानरराजस्य विदितो रावणालयः ॥ ४७ ॥
इत्युक्त्वाऽन्तर्हितो दिव्यः पुरुषः स महाप्रभः ।
विस्मयं जग्मतुश्चोभौ प्रवीरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ४८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि कबंधहनने ऊनाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२७९॥

राक्षसराज रावण सीता को हर ले गया है। इसलिए आप वानरराज सुग्रीव के पास जाइए; वे आपकी सहायता करेंगे। ऋष्यमूक पर्वत के पास पवित्र जलवाली, हँस-कारण्डव आदि पक्षियों से शोभित, पम्पा नाम की झील है। वहीं पर सुवर्णमालाधारी वानरराज वाली के भाई सुग्रीव, अपने चार सचिव वानरों के साथ रहते हैं ॥४२।४५॥

उनसे मिलकर आप अपने दुःख का हाल कहिए। वे भी आपके समान विपन्न हैं। वे अवश्य आपकी सहायता करेंगे। मैं इतना ही बता सकता हूँ कि वानरराज सुग्रीव को रावण का स्थान मालूम है और उनकी सहायता से आप जानकी के दर्शन पावेंगे। हे राजा युधिष्ठिर! इतना कहकर वह तेजस्वी दिव्य पुरुष अन्तर्धान हो गया। यह दृश्य देखकर वीर राम और लक्ष्मण को बड़ा ही आश्चर्य हुआ ॥४६।४८॥

वनपर्व का दो सौ उनासी अध्याय समाप्त हुआ ॥२७९॥

अथ अशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२८०॥

मार्कंडेय उवाच—ततोऽविदूरे नलिनीं प्रभूतकमलोत्पलाम् ।
सीताहरणदुःखार्तः पंपां रामः समासदत् ॥ १ ॥

दो सौ अस्सी अध्याय ॥२८०॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर! सीता के वियोग से व्याकुल रामचन्द्र अब थोड़ी ही दूर पर स्थित, कमल-उत्पल आदि पुष्पों से शोभित 'पम्पा' झील के पास पहुंचे। वहाँ शीतल मन्द सुगन्ध

मारुतेन सुशीतेन सुखेनाऽमृतगंधिना ।
सेव्यमानो वने तस्मिन्जगाम मनसा प्रियाम् ॥ २ ॥
विललाप स राजेंद्रस्तत्र कांतामनुस्मरन् ।
कामबाणाभिसंतप्तः सौमित्रिस्तमथाऽब्रवीत् ॥ ३ ॥
न त्वामेवंविधो भावः स्प्रष्टुमर्हति मानद ।
आत्मवंतमिव व्याधिः पुरुषं वृद्धशीलिनम् ॥ ४ ॥
प्रवृत्तिरुपलब्धा ते वैदेह्या रावणस्य च ।
तां त्वं पुरुषकारेण बुद्ध्या चैवोपपादय ॥ ५ ॥
अभिगच्छाव सुग्रीवं शैलस्थं हरिपुंगवम् ।
मयि शिष्ये च भृत्ये च सहाये च समाश्वस ॥ ६ ॥
एवं बहुविधैर्वाक्यैर्लक्ष्मणेन स राघवः ।
उक्तः प्रकृतिमापेदे कार्ये चाऽनंतरोऽभवत् ॥ ७ ॥
निषेव्य वारि पंपायास्तर्पयित्वा पितॄनपि ।
प्रतस्थतुरुभौ वीरौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ८ ॥
तावृष्यमूकमभ्येत्य बहुमूलफलद्रुमम् ।
गिर्यग्रे वानरान्पंच वीरौ ददृशतुस्तदा ॥ ९ ॥
सुग्रीवः प्रेषयामास सचिवं वानरं तयोः ।
बुद्धिमंतं हनूमंतं हिमवंतमिव स्थितम् ॥ १० ॥

मनोहर वायु लगने से उन्हें अपनी प्रिया की प्रेम-पवित्र मूर्ति का स्मरण हो आया। प्रिया की स्मरण आ जाने से कामबाण-पीड़ित रामचन्द्र विलाप करने लगे ॥१।३॥

तब लक्ष्मण ने कहा—हे आर्य! जैसे वृद्ध विद्वानों का संग करनेवाले आत्मज्ञानी पुरुष को माया नहीं सताती वैसे ही आपको ऐसा मोह का भाव न होना चाहिए। आपको सीता की सूचना और रावण का पता मिल गया है। अब पौरुष और बुद्धि की सहायता से आप अपना कार्य सिद्ध करने का यत्न कीजिए। आइए, हम लोग पर्वत पर वानरराज सुग्रीव के पास चलें। आपका शिष्य, सहायक और सेवक मैं साथ हूँ। आप क्यों खेद कर रहे हैं? धैर्य धरिए ॥४।६॥

लक्ष्मण के प्रबोध वचन सुनकर रामचन्द्र सुस्थ और कार्य करने में तत्पर हुए। पम्पा के किनारे पहुँचकर दोनों भाइयों ने स्नान और पितरों का तर्पण किया। फिर वहां से चलकर वे बहुत से फल-मूल आदि से पूर्ण ऋष्यमूक पर्वत के पास पहुँचे। वहां पर्वत के शिखर पर उन्हें पांच वानर

तेन संभाष्य पूर्वं तौ सुग्रीवमभिजग्मतुः ।
सख्यं वानरराजेन चक्रे रामस्तदा नृप ॥ ११ ॥
तद्वासो दर्शयामासुस्तस्य कार्ये निवेदिते ।
वानराणां तु यत्सीता ह्रियमाणा व्यपासृजत् ॥ १२ ॥
तत्प्रत्ययकरं लब्ध्वा सुग्रीवं प्लवगाधिपम् ।
पृथिव्यां वानरैश्वर्ये स्वयं रामोऽभ्यषेचयत् ॥ १३ ॥
प्रतिजज्ञे च काकुत्स्थः समरे वालिनो वधम् ।
सुग्रीवश्चापि वैदेह्याः पुनरानयनं नृप ॥ १४ ॥
इत्युक्त्वा समयं कृत्वा विश्वास्य च परस्परम् ।
अभ्येत्य सर्वे किष्किंधां तस्थुर्युद्धाभिकांक्षिणः ॥ १५ ॥
सुग्रीवः प्राप्य किष्किंधां ननादौघनिभस्वनः ।
नाऽस्य तन्ममृषे वाली तारा तं प्रत्यषेधयत् ॥ १६ ॥
यथा नदति सुग्रीवो बलवानेष वानरः ।
मन्ये चाऽऽश्रयवान्प्राप्तो न त्वं निष्क्रांतुमर्हसि॥ १७ ॥
हेममाली ततो वाली तारां ताराधिपाननाम् ।
प्रोवाच वचनं वाग्मी तां वानरपतिः पतिः ॥ १८ ॥

देख पड़े । वानरराज सुग्रीव ने राम-लक्ष्मण को देखकर उनके पास, हिमाचल के समान विशाल शरीरवाले, बुद्धिमान् हनुमान् को भेजा। उनसे बातचीत करने के पश्चात् दोनों भाई सुग्रीव के पास गये। वहां रामचन्द्र से सुग्रीव की मित्रता हो गई। रामचन्द्र ने सुग्रीव से सीता हरण का हाल और अपना काम कह सुनाया ॥७।११॥

तब हरे जाने के समय सीता ने जो अपना वस्त्र फेंका था वह लाकर सुग्रीव ने रामचन्द्र जी को दिया। यह निशानी पाकर उनको निश्चय हो गया कि सीता को रावण ही हर ले गया है। अब रामचन्द्र ने अभिषेक करके सुग्रीव को पृथ्वी भर के वानरों का राजा बना दिया। हे राजा युधिष्ठिर! इसके पश्चात् रामचन्द्र ने युद्ध में वाली को मारने की प्रतिज्ञा की और सुग्रीव ने भी सीता का पता लगाकर उन्हें ले आना अङ्गीकार किया। इस प्रकार परस्पर विश्वास, मित्रता और प्रतिज्ञा करने के पश्चात् राम, लक्ष्मण और अनुचरों सहित सुग्रीव किष्किन्धा पुरी में युद्ध के लिए आये ॥१२।१५॥

किष्किन्धा में पहुँचकर सुग्रीव बड़े ज़ोर से जलप्रवाह की तरह गरजे। वाली उसे नहीं सह सका। वह सुग्रीव से युद्ध करने के लिए चला। तब उसकी स्त्री तारा ने उसे रोककर कहा—सुग्रीव का सिंहनाद सुनने से मुझे जान पड़ता है कि वह

सर्वभूतरुतज्ञा त्वं पश्य बुद्ध्या समन्विता ।
केन चाऽऽश्रयवान्प्राप्तो ममैष भ्रातृगंधिकः ॥ १९ ॥
चिंतयित्वा मुहूर्तं तु तारा ताराधिपप्रभा ।
पतिमित्यब्रवीत्प्राज्ञा शृणु सर्वं कपीश्वर ॥ २० ॥
हृतदारो महासत्वो रामो दशरथात्मजः ।
तुल्यारिमित्रतां प्राप्तः सुग्रीवेण धनुर्धरः ॥ २१ ॥
भ्राता चाऽस्य महाबाहुः सौमित्रिरपराजितः ।
लक्ष्मणो नाम मेधावी स्थितः कार्यार्थसिद्धये ॥ २२ ॥
मैंदश्च द्विविदश्चापि हनूमांश्चानिलात्मजः ।
जांबवानृक्षराजश्च सुग्रीवसचिवाः स्थिताः ॥ २३ ॥
सर्व एते महात्मानो बुद्धिमंतो महाबलाः ।
अलं तव विनाशाय रामवीर्यबलाश्रयात् ॥ २४ ॥
तस्यास्तदाक्षिप्य वचो हितमुक्तं कपीश्वरः ।
पर्यशंकत तामीर्षुः सुग्रीवगतमानसाम् ॥ २५ ॥
तारां परुषमुक्त्वा तु निर्जगाम गुहामुखात् ।
स्थितं माल्यवतोऽभ्याशे सुग्रीवं सोऽभ्यभाषत ॥ २६ ॥

किसी बड़े बली पुरुष का सहारा पाकर, बली होकर, आया है । इसलिए तुम उससे युद्ध करने के लिये पुरी के बाहर मत जाओ । यह सुनकर सुवर्णमाला से भूषित बाली ने चन्द्रमुखी तारा से कहा—तुम सब जीवों के शब्दों और बोलियों को पहचानती हो। भला अपनी बुद्धि से विचारकर बताओ तो कि मेरा भाई सुग्रीव किसका आश्रय पाकर यहां आया है और मुझे युद्ध करने के लिए ललकार रहा है॥१६।१९॥

चन्द्रमा के समान कान्तिवाली बुद्धिमती तारा ने कुछ देर सोचकर कहा—हे राजेन्द्र ! सुनो। महाराज दशरथ के पुत्र राम की स्त्री वन में हरी गई है । महाधनुर्धारी रामचन्द्र ने सुग्रीव से मित्रता की है । दोनों में यह प्रतिज्ञा हुई है कि एक के शत्रु और मित्र का दूसरा भी अपना शत्रु और मित्र समझेगा । राम के छोटे भाई, सुमित्रा के पुत्र, अपराजित, महाबाहु, मेधावी लक्ष्मण भी सुग्रीव का कार्य सिद्ध करने को तैयार है । मैन्द, द्विविद, वायुपुत्र हनुमान् और रीछों के राजा जाम्बवान्, ये चारों सुग्रीव के सचिव भी महात्मा, बुद्धिमान् और बड़े बली हैं । रामचन्द्र के बल का आश्रय पाकर इन सचिवों सहित सुग्रीव तुम्हें मार सकता है ॥२०।२४॥

तारा ने बाली के हित की बात कही थी, पर उसको यह सन्देह हुआ कि तारा सुग्रीव को चाहती है । वानरराज बाली ने ईर्ष्या के मारे तारा को

असकृत्त्वं मया पूर्वं निर्जितो जीवितप्रियः ।
मुक्तो ज्ञातिरिति ज्ञात्वा का त्वरा मरणे पुनः॥ २७ ॥
इत्युक्तः प्राह सुग्रीवो भ्रातरं हेतुमद्वचः ।
प्राप्तकालममित्रघ्नो रामं संबोधयन्निव ॥ २८ ॥
हृतराज्यस्य मे राजन्हृतदारस्य च त्वया ।
किं मे जीवितसामर्थ्यमिति विद्धि समागतम् ॥ २९ ॥
एवमुक्त्वा बहुविधं ततस्तौ सन्निपेततुः ।
समरे वालिसुग्रीवौ शालतालशिलायुधौ ॥ ३० ॥
उभौ जघ्नतुरन्योन्यमुभौ भूमौ निपेततुः ।
उभौ ववल्गतुश्चित्रं मुष्टिभिश्च निजघ्नतुः ॥ ३१ ॥
उभौ रुधिरसंसिक्तौ नखदंतपरिक्षतौ ।
शुशुभाते तदा वीरौ पुष्पिताविव किंशुकौ ॥ ३२ ॥
न विशेषस्तयोर्युद्धे यदा कश्चन दृश्यते ।
सुग्रीवस्य तदा मालां हनूमान्कंठ आसजत् ॥ ३३ ॥
स मालया तदा वीरः शुशुभे कंठसक्तया ।
श्रीमानिव महाशैलो मलयो मेघमालया ॥ ३४ ॥

झिड़क दिया और कुछ कठोर वचन भी कहे। इसके पश्चात् वाली कन्दरा के द्वार से निकलकर माल्यवान् पर्वत के पास खड़े हुए सुग्रीव की ओर चला। उसने सुग्रीव से कहा—अरे कायर ! मैंने कई बार तुझे जीतकर भी, भाई समझकर, छोड़ दिया है और तू प्राण लेकर भाग चुका है। अब क्यों मृत्यु को शीघ्र बुला रहा है ॥२५।२७॥

बाली के ये वाक्य सुनकर रामचन्द्र को मानों उपयुक्त समय की सूचना देते हुए सुग्रीव ने कहा-हे राजेन्द्र ! तुमने मेरा राज्य और मेरी स्त्री छीन ली है, इसलिए मेरा जीना वृथा है। यही सोचकर मैं तुमसे युद्ध करने और मरने अथवा मारने आया हूँ। हे राजा युधिष्ठिर ! इस तरह परस्पर बातचीत करके बाली और सुग्रीव दोनों शाल, ताल आदि के वृक्षों और शिलाओं से घोर युद्ध करने लगे। दोनों एक दूसरे पर प्रहार करते थे। एक दूसरे को पृथ्वी पर पटकता था। दोनों इधर-उधर पैंतरे बदलकर परस्पर घूँसे मारते थे। इस प्रकार घोर संग्राम होने लगा। नकोटों और दांतों के प्रहार से दोनों घायल हो गये; शरीर से रक्त बहने लगा। दोनों वीर फूले हुए ढाक के पेड़ों के समान जान पड़ने लगे ॥२८।३२॥

दोनों भाइयों का आकार-प्रकार एक सा था। इस कारण पहचान के लिए हनुमान् ने सुग्रीव के गले में फूलों की माला डाल दी। उस समय श्रीमान्

कृतचिह्नं तु सुग्रीवं रामो दृष्ट्वा महाधनुः ।
विचकर्ष धनुःश्रेष्ठं वालिमुद्दिश्य लक्ष्यवत् ॥ ३५ ॥
विस्फारस्तस्य धनुषो यंत्रस्येव तदा बभौ ।
वितत्रास तदा वाली शरेणाऽभिहतोरसि ॥ ३६ ॥
स भिन्नहृदयो वाली वक्त्राच्छोणितमुद्वमन् ।
ददर्शाऽवस्थितं रामं ततः सौमित्रिणा सह ॥ ३७ ॥
गर्हयित्वा स काकुत्स्थं पपात भुवि मूर्च्छितः ।
तारा ददर्श तं भूमौ तारापतिसमौजसम् ॥ ३८ ॥
हते वालिनि सुग्रीवः किष्किंधां प्रत्यपद्यत ।
तां च तारापतिमुखीं तारां निपतितेश्वराम् ॥ ३९ ॥
रामस्तु चतुरो मासान्पृष्ठे माल्यवतः शुभे ।
निवासमकरोद्धीमान्सुग्रीवेनाऽभ्युपस्थितः ॥ ४० ॥
रावणोऽपि पुरीं गत्वा लंकां कामबलात्कृतः ।
सीतां निवेशयामास भवने नंदनोपमे ॥ ४१ ॥
अशोकवनिकाभ्याशे तापसाश्रमसंनिभे ।
भर्तृस्मरणतन्वंगी तापसीवेषधारिणी ॥ ४२ ॥
उपवासतपःशीला तत्राऽऽस पृथुलेक्षणा ।

सुग्रीव मेघमाला से युक्त मलय पर्वत के समान शोभायमान हुए। सुग्रीव को चिह्नित देखकर रामचन्द्र ने धनुष चढ़ाया और बाली के हृदय को ताककर भयङ्कर बाण मारा। धनुष के चढ़ाने से जो शब्द हुआ उससे चौंककर बाली डर गया। इतने में ही रामचन्द्र का बाण लगने से उसकी छाती फट गई। वह मुँह से रक्त उगलता हुआ पृथ्वी पर गिर पड़ा ॥३३।३७॥

बाली ने देखा कि उसके सामने लक्ष्मण सहित रामचन्द्र खड़े हुए हैं। उसने रामचन्द्र की ओर देखकर, इस प्रकार छिपकर मारने के लिए, उनका तिरस्कार किया। फिर वह अचेत और प्राणहीन हो गया। तारा ने देखा कि उसका स्वामी आकाश से गिरे हुए चन्द्रमा के समान धरती पर पड़ा हुआ है। बाली की मृत्यु हो जाने पर सुग्रीव को किष्किन्धा का राज्य और चन्द्रमुखी सुन्दरी तारा प्राप्त हुई। रामचन्द्र भी चौमासे भर माल्यवान् पर्वत पर रहे। सुग्रीव सदा उनकी सेवा में रहते थे ॥३८।४०॥

इधर काम के वशीभूत रावण ने लङ्कापुरी में जाकर तपस्वियों के आश्रम के समान शान्तिपूर्ण और नन्दनवन के समान रमणीय अशोकवाटिका के भीतर एक मनोहर भवन में सीता को ठहरा दिया। पति की याद में सीता दुबली हो गईं। कमलनयनी सीता

उवास दुःखवसतिं फलमूलकृताशना ॥ ४३ ॥
दिदेश राक्षसीस्तत्र रक्षणे राक्षसाधिपः ।
प्रासासिशूलपरशुमुद्गरालातधारिणीः ॥ ४४ ॥
द्व्यक्षीं त्र्यक्षीं ललाटाक्षीं दीर्घजिह्वामजिह्विकाम्।
त्रिस्तनीमेकपादां च त्रिजटामेकलोचनाम् ॥ ४५ ॥
एताश्चाऽन्याश्च दीप्ताक्ष्यः करभोत्कटमूर्द्धजाः ।
परिवार्याऽऽसते सीतां दिवारात्रमतंद्रिताः ॥ ४६ ॥
तास्तु तामायतापांगीं पिशाच्यो दारुणस्वराः ।
तर्जयंति सदा रौद्राः परुषव्यंजनस्वराः ॥ ४७ ॥
खादाम पाटयामैनां तिलशः प्रविभज्यताम् ।
येयं भर्तारमस्माकमवमन्येह जीवति ॥ ४८ ॥
इत्येवं परिभर्त्सन्तीस्त्रास्यमाना पुनः पुनः ।
भर्तृशोकसमाविष्टा निःश्वस्येदमुवाच ताः ॥ ४९ ॥
आर्याः खादत मां शीघ्रं न मे लोभोऽस्ति जीविते।
विना तं पुण्डरीकाक्षं नीलकुंचितमूर्धजम् ॥ ५० ॥
अप्येवाऽहं निराहारा जीवितप्रियवर्जिता ।
शोषयिष्यामि गात्राणि व्याली तालगता यथा॥ ५१ ॥

तापसी-वेष से दुःख सहती हुई वहाँ रहने लगी। वे सदा उपवास किया करती थीं, और कभी-कभी फल-मूल खा लेती थीं ॥४१।४३॥

राक्षसराज रावण ने वहाँ सीता की रखवाली के लिए बहुत सी राक्षसियां नियुक्त कर दीं। वे प्रास, शूल, तलवार, परशु, मुद्गर और जलती हुई लकड़ी आदि हाथ में लिये पहरा दिया करती थीं। इनमें किसी के एक आँख थी। किसी के दो और किसी के तीन आँखें थीं। किसी के मस्तक में आँखें थीं। किसी की बहुत लम्बी जीभ थी। किसी के जीभ थी ही नहीं। किसी के तीन स्तन थे। किसी के एक ही पाँव था। किसी के सिर पर तीन चोटियां थीं। किसी की आँखें अग्नि की तरह चमक रही थीं। किसी के केश ऊँट के से भूरे और लम्बे थे। वे राक्षसियां मुस्तैदी से दिन-रात सीता को घेरे रहती थीं ॥४४।४६॥

दारुण स्वरवाली पिशाचियां सदा सीता को धमकाया करती थीं। "मार डालेंगी, फाड़ डालेंगी, तिल-तिल काट डालेंगी, यह हमारे स्वामी का कहा न मानकर भी अब तक जीती है", इस तरह के कठोर वचनों से तर्जन गर्जन करती हुई वे राक्षसियां सुकुमारी सीता को डराती थीं। पति-वियोग के शोक से

न त्वन्यमभिगच्छेयं पुमांसं राघवादृते ।
इति जानीत सत्यं मे क्रियतां यदनन्तरम् ॥ ५२ ॥
तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा राक्षस्यस्ताः खरस्वनाः ।
आख्यातुं राक्षसेन्द्राय जग्मुस्तत्सर्वमादृताः ॥ ५३ ॥
गतासु तासु सर्वासु त्रिजटा नाम राक्षसी ।
सांत्वयामास वैदेहीं धर्मज्ञा प्रियवादिनी ॥ ५४ ॥
सीते वक्ष्यामि ते किंचिद्विश्वासं कुरु मे सखि ।
भयं त्वं त्यज वामोरु शृणु चेदं वचो मम ॥ ५५ ॥
अविंध्यो नाम मेधावी वृद्धो राक्षसपुंगवः ।
स रामस्य हितान्वेषी त्वदर्थे हि स माऽवदत् ॥ ५६ ॥
सीता मद्वचनाद्वाच्या समाश्वास्य प्रसाद्य च ।
भर्ता ते कुशली रामो लक्ष्मणानुगतो बली ॥ ५७ ॥
सख्यं वानरराजेन शक्रप्रतिमतेजसा ।
कृतवान्राघवः श्रीमांस्त्वदर्थे च समुद्यतः ॥ ५८ ॥
मा च तेऽस्तु भयं भीरु रावणाल्लोकगर्हितात् ।

दुःखी सीता लम्बी साँसें लेकर उनसे कहती थीं–हे बहनो ! तुम शीघ्र मुझे मारकर खा जाओ । मुझे तनिक भी जीने की लालसा नहीं हैं । मैं उन कमलनयन नील कुञ्चित-केशकलाप से शोभित, हृदयवल्लभ, प्राणनाथ के बिना निराहार रहकर, ताड़ के पेड़ पर रहनेवाली नागिन की तरह, अपना शरीर सुखाकर प्राण दे दूँगी । तुम निश्चय जानो, राघव के सिवा मैं और किसी पुरुष का मुँह नहीं देख सकती । तुम्हारा जो जी चाहे सो करो ॥४७।५२॥

सीता के ये वाक्य सुनकर कठोर स्वरवाली राक्षसियाँ यह हाल कहने के लिए रावण के पास गईं । केवल धर्म को जाननेवाली, प्रियवादिनी त्रिजटा राक्षसी सीता के पास रह गई । उस समय सीता को समझाकर धीरज देती हुई वह कहने लगी—हे सखी सीता ! तुम मुझ पर विश्वास करो और निडर होकर मेरी बात सुनो ॥५३।५५॥

अविन्ध्य नाम के एक बुद्धिमान् बूढ़े राक्षस है । वे राम के हितचिन्तक हैं । उन्होंने तुमसे कहने के लिए मुझसे कहा है कि तुम मेरी ओर से समझाकर और प्रसन्न करके सीताजी से कहना कि "तुम्हारे स्वामी राम अपने भाई लक्ष्मण सहित कुशल से हैं । वे इन्द्र के समान बली वानरराज सुग्रीव से मित्रता करके तुम्हारे उद्धार के लिए यत्न कर रहे हैं । हे भीरु ! सब लोग जिसकी निन्दा करते है उस पापी रावण से तुम्हें तनिक भी भय नहीं है । नलकूबर के शाप के कारण वह तुम पर अत्याचार नहीं कर

नलकूवरशापेन रक्षिता ह्यसि नन्दिनि ॥ ५९ ॥
शप्तो ह्येष पुरा पापो वधूं रंभां परामृशन् ।
न शक्नोत्यवशां नारीमुपैतुमजितेंद्रियः ॥ ६० ॥
क्षिप्रमेष्यति ते भर्ता सुग्रीवेणाऽभिरक्षितः ।
सौमित्रिसहितो धीमाँस्त्वां चेतो मोक्षयिष्यति ॥ ६१ ॥
स्वप्ना हि सुमहाघोरा दृष्टा मेऽनिष्टदर्शनाः ।
विनाशायाऽस्य दुर्बुद्धेः पौलस्त्यकुलघातिनः ॥ ६२ ॥
दारुणो ह्येष दुष्टात्मा क्षुद्रकर्मा निशाचरः ।
स्वभावाच्छीलदोषेण सर्वेषां भयवर्धनः ॥ ६३ ॥
स्पर्धते सर्वदेवैर्यः कालोपहतचेतनः ।
मया विनाशलिंगानि स्वप्ने दृष्टानि तस्य वै ॥ ६४ ॥
तैलाभिषिक्तो विकचो मज्जन्पंके दशाननः ।
असकृत् खरयुक्ते तु रथे नृत्यन्निव स्थितः ॥ ६५ ॥
कुंभकर्णादयश्चेमे नग्नाः पतितमूर्धजाः ।
गच्छन्ति दक्षिणामाशां रक्तमाल्यानुलेपनाः ॥ ६६ ॥
श्वेतातपत्रः सोष्णीषः शुक्लमाल्यानुलेपनः ।
श्वेतपर्वतमारूढ एक एव विभीषणः ॥ ६७ ॥

सकता। पापी दशानन ने पहले नलकूबर की प्रेयसी, और इसी कारण अपनी बहू, रम्भा अप्सरा से बलात्कार किया था। तब नलकूबर ने उसे शाप दिया था। उसी शाप के कारण, मृत्यु के भय से, कामी रावण किसी विवश और इच्छा न रखनेवाली स्त्री पर अत्याचार नहीं कर सकता ॥५९।६०॥

तुम्हारे स्वामी रामचन्द्र, लक्ष्मण के साथ, यहां शीघ्र आवेंगे और सुग्रीव तथा उनकी सेना की सहायता से तुम्हारा उद्धार करेंगे।" हे वैदेही! इसके अतिरिक्त मैंने भी ऐसे भयङ्कर स्वप्न देखे हैं जो रावण और उसके कुल के नाश की सूचना देनेवाले और राक्षसों के लिए अनिष्ट-सूचक हैं। यह दारुण, दुष्ट, नीच कर्म करनेवाला निशाचर अपने स्वभाव के कारण सबको डराता है। काल ने इसकी बुद्धि भ्रष्ट कर दी है। रावण सदा देवताओं से स्पर्धा रखता है। मैंने जो स्वप्न देखे हैं वे उसके विनाश के चिह्न हैं ।६१।६४।

मैंने स्वप्न में देखा है कि रावण सिर मुड़ाये, तेल से नहाये, कीचड़ में डूब रहा है। फिर कई बार देखा कि वह गधे जुते हुए रथ पर बैठा हुआ नाचता सा है। कुम्भकर्ण आदि राक्षसों को भी देखा है कि उनके सिर मुंड़े हुए हैं और वे नंगे, लाल चन्दन शरीर में लगाये, लाल फूलों की माला पहने

सचिवाश्चाऽस्य चत्वारः शुक्लमाल्यानुलेपनाः ।
श्वेतपर्वतमारूढा मोक्ष्यन्तेऽस्मान्महाभयात् ॥ ६८ ॥
रामस्याऽस्त्रेण पृथिवी परिक्षिप्ता ससागरा ।
यशसा पृथिवीं कृत्स्नां पूरयिष्यति ते पतिः ॥ ६९ ॥
अस्थिसंचयमारूढो भुंजानो मधुपायसम् ।
लक्ष्मणश्च मया दृष्टो दिधक्षुः सर्वतोदिशम् ॥ ७० ॥
रुदती रुधिरार्द्रांगी व्याघ्रेण परिरक्षिता ।
असकृत्त्वं मया दृष्टा गच्छन्ती दिशमुत्तराम् ॥ ७१ ॥
हर्षमेष्यसि वैदेहि क्षिप्रं भर्त्रा समन्विता ।
राघवेण सह भ्रात्रा सीते त्वमचिरादिव ॥ ७२ ॥
इत्येतन्मृगशावाक्षी तच्छ्रुत्वा त्रिजटावचः ।
बभूवाऽऽशावती बाला पुनर्भर्तृसमागमे ॥ ७३ ॥
यावदभ्यागता रौद्राः पिशाच्यस्ताः सुदारुणाः ।
ददृशुस्तां त्रिजटया सहाऽऽसीनां यथा पुरा ॥ ७४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि त्रिजटाकृतसीतासान्त्वनेऽशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

दक्षिण दिशा को आ रहे हैं। अकेले विभीषण को मैंने देखा है कि वे श्वेत छत्र, श्वेत पगड़ी, श्वेत चन्दन और मालाओं से शोभित होकर श्वेत पर्वत पर चढ़ रहे हैं। विभीषण के चारों मन्त्री भी श्वेत चन्दन और मालाओं से भूषित होकर श्वेत पर्वत पर चढ़ रहे हैं। इससे जान पड़ता है कि वे भी विभीषण के साथ इस होनेवाले महाभयजनक सर्वनाश से बच जायेंगे ॥६५-६८॥

हे वैदेही! मैंने देखा है कि तुम्हारे स्वामी राम के बाण सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डल पर छाये हुए हैं। इसका फल यह जान पड़ता है कि उनका उज्ज्वल यश सम्पूर्ण पृथ्वी पर छा जायगा। मैंने स्वप्न में लक्ष्मण को देखा है कि वे हड्डियों के ढेर पर चढ़े हुए मधु और खीर खा रहे हैं। और ऐसा जान पड़ता है कि वे सब दिशाओं को जलाकर भस्म कर देंगे ॥६९।७०॥ तुमको भी मैंने देखा है कि तुम्हारा सारा शरीर रक्त से तर हो रहा है और एक बाघ तुम्हारी रक्षा कर रहा है। इसके पश्चात् फिर मैंने तुमको उत्तर दिशा में जाते देखा है। मेरे कहे पर विश्वास करो, तुम शीघ्र अपने स्वामी रामचन्द्र और लक्ष्मण से मिल कर आनन्दित होगी। हे राजा युधिष्ठिर! त्रिजटा के ये वाक्य सुनकर मृगनयनी सीता को फिर पति से मिलने की आशा हुई। इसी बीच में वे भयङ्कर रूपवाली राक्षसियां लौटकर आ गईं। उन्होंने देखा कि सीता पहले की तरह त्रिजटा के साथ बैठी हुई हैं ॥७१।७४॥

वनपर्व का दो सौ अस्सी अध्याय समाप्त हुआ ॥२८०॥

अथ एकाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्याय ॥२८१॥

मार्कंडेय उवाच—ततस्तां भर्तृशोकार्त्तां दीनां मलिनवाससम् ।
मणिशेषाभ्यलंकारां रुदतीं च पतिव्रताम् ॥ १ ॥
राक्षसीभिरुपास्यन्तीं समासीनां शिलातले ।
रावणः कामबाणार्त्तो ददर्शोपससर्प च ॥ २ ॥
देवदानवगंधर्वयक्षकिंपुरुषैर्युधि ।
अजितोऽशोकवनिकां ययौ कन्दर्पपीडितः ॥ ३ ॥
दिव्यांबरधरः श्रीमान्सुमृष्टमणिकुंडलः ।
विचित्रमाल्यमुकुटो वसन्त इव मूर्तिमान् ॥ ४ ॥
न कल्पवृक्षसदृशो यत्नादपि विभूषितः ।
श्मशानचैत्यद्रुमवद् भूषितोऽपि भयंकरः ॥ ५ ॥
स तस्यास्तनुमध्यायाः समीपे रजनीचरः ।
ददृशे रोहिणीमेत्य शनैश्चर इव ग्रहः ॥ ६ ॥
स तामामंत्र्य सुश्रोणीं पुष्पकेतुशराहतः ।
इदमित्यब्रवीद्वाक्यं त्रस्तां रौहीमिवाऽबलाम् ॥ ७ ॥
सीते पर्याप्तमेतावत्कृतो भर्तुरनुग्रहः ।
प्रसादं कुरु तन्वंगि क्रियतां परिकर्म ते ॥ ८ ॥
भजस्व मां वरारोहे महार्हाभरणांबरा ।

दो सौ इक्यासी अध्याय ॥२८१॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—स्वामी के विरह से पीड़ित, मलिन वस्त्र पहने, केवल चूड़ामणि धारण किये, पतिव्रता सीता राक्षसियों के बीच चट्टान पर बैठी हुई दीन भाव से रो रही थीं। इसी समय युद्ध में देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष, किंपुरुष आदि से न हारनेवाला रावण काम-बाण से पीड़ित होकर अशोकवाटिका में आया। वह सीता को देखकर उनके पास गया। वह बढ़िया वस्त्र, मणिमय कुण्डल, विचित्र माला और मुकुट पहने, साक्षात् वसन्त के समान जान पड़ता था ॥१।४॥

सावधानी से शृङ्गार करने पर भी वह कल्पवृक्ष के समान नहीं, बल्कि मसान में लगे हुए पेड़ की तरह भयङ्कर जान पड़ता था। सीता के पास जाकर वह राक्षस, रोहिणी के पास स्थित, शनैश्चर ग्रह के समान जान पड़ा। सीताजी मृग के समान डरी हुई थीं। उनके पास जाकर कामदेव के बाणों से पीड़ित रावण कहने लगा—हे जानकी! अब तक तुम राम के ऊपर बहुत अनुराग दिखा चुकीं। अब मुझ पर

भव मे सर्वनारीणामुत्तमा वरवर्णिनी ॥ ९ ॥
संति मे देवकन्याश्च गंधर्वाणां च योषितः ।
संति दानवकन्याश्च दैत्यानां चापि योषितः ॥ १० ॥
चतुर्दश पिशाचानां कोट्यो मे वचने स्थिताः ।
द्विस्तावत्पुरुषादानां रक्षसां भीमकर्मणाम् ॥ ११ ॥
ततो मे त्रिगुणा यक्षा ये मद्वचनकारिणः ।
केचिदेव धनाध्यक्षं भ्रातरं मे समाश्रिताः ॥ १२ ॥
गंधर्वाप्सरसो भद्रे मामापानगतं सदा ।
उपतिष्ठंति वामोरु यथैव भ्रातरं मम ॥ १३ ॥
पुत्रोऽहमपि विप्रर्षेः साक्षाद्विश्रवसो मुनेः ।
पंचमो लोकपालानामिति मे प्रथितं यशः ॥ १४ ॥
दिव्यानि भक्ष्यभोज्यानि पानानि विविधानि च ।
यथैव त्रिदशेशस्य तथैव मम भाविनि ॥ १५ ॥
क्षीयतां दुष्कृतं कर्म वनवासकृतं तव ।
भार्या मे भव सुश्रोणि यथा मंदोदरी तथा ॥ १६ ॥
इत्युक्ता तेन वैदेही परिवृत्य शुभानना ।
तृणमंतरतः कृत्वा तमुवाच निशाचरम् ॥ १७ ॥
अशिवेनाऽतिवामोररुजस्रं नेत्रवारिणा ।
स्तनावपतितौ बाला संहतावभिवर्षती ॥ १८ ।

प्रसन्न होओ और सुन्दर वस्त्र-आभूषण पहनकर अपना शृङ्गार करो । हे सुन्दरी ! मुझे स्वीकार करके मेरी सब स्त्रियों में श्रेष्ठ बनो। मेरे घर में देवताओं, गन्धर्वों, दैत्यों और दानवों की सैंकड़ों कन्याएँ तथा स्त्रियां हैं ॥५।१०॥

हे वैदेही ! चौदह करोड़ पिशाच, उनसे दूने भीमकर्मा राक्षस और तिगुने यक्ष मेरी आज्ञा में रहते हैं । थोड़े से यक्ष-राक्षस ही मेरे भाई कुबेर के अधीन हैं । कुबेर की तरह मेरी सेवा में भी गन्धर्वों और अप्सराओं के झुण्ड उपस्थित रहते हैं । देखो, मैं ब्रह्मर्षि विश्रवा का पुत्र हूँ और पाचवें लोकपाल कुबेर के समान मेरा यश भी सर्वत्र प्रसिद्ध है । मेरे यहा भी इन्द्रलोक का सा ऐश्वर्य और दिव्य खाने-पीने की सामग्री है । वनवास के कष्टों को भूलकर तुम भी मन्दोदरी के समान मेरी भार्या बनो ॥११।१६॥

रावण के ये वाक्य सुनकर, अपना मुँह फेरकर, आसुओं से अपने पीन और उन्नत स्तनों को भिगोती हुई पतिव्रता सीता—तिनके की ओट करके—उस

उवाच वाक्यं तं क्षुद्रं वैदेही पतिदेवता ।
असकृद्वदतो वाक्यमीदृशं राक्षसेश्वर ॥ १९ ॥
विषादयुक्तमेतत्ते मया श्रुतमभाग्यया ।
तद्भद्रसुख भद्रं ते मानसं विनिवर्त्यताम् ॥ २० ॥
परदाराऽस्म्यलभ्या च सततं च पतिव्रता ।
न चैवौपयिकी भार्या मानुषी कृपणा तव ॥ २१ ॥
विवशां धर्षयित्वा च कां त्वं प्रीतिमवाप्स्यसि ।
प्रजापतिसमो विप्रो ब्रह्मयोनिः पिता तव ॥ २२ ॥
न च पालयसे धर्मं लोकपालसमः कथम् ।
भ्रातरं राजराजानं महेश्वरसखं प्रभुम् ॥ २३ ॥
धनेश्वरं व्यपदिशन्कथं त्विह न लज्जसे ।
इत्युक्त्वा प्रारुदत्सीता कंपयंती पयोधरौ ॥ २४ ॥
शिरोधरां च तन्वंगी मुखं प्रच्छाद्य वाससा ।
तस्या रुदत्या भाविन्या दीर्घा वेणी सुसंयता ॥ २५ ॥
ददृशे स्वासिता स्निग्धा काली व्यालीव मूर्धनि।
श्रुत्वा तद्रावणो वाक्यं सीतयोक्तं सुनिष्ठुरम्॥ २६ ॥
प्रत्याख्यातोऽपि दुर्मेधाः पुनरेवाऽब्रवीद्वचः ।
काममंगानि मे सीते दुनोतु मकरध्वजः ॥ २७ ॥

नीच निशाचर से कहने लगी—हे राक्षसेश्वर ! मैंने अभाग्यवश अनेक बार तेरे मुँह से ऐसे खेदजनक दुर्वचन सुने हैं । हे राक्षस ! तेरा भला हो । मैं तुझसे प्रार्थना करती हूँ कि तू मेरी ओर से अपना मन हटा ले।१७।२०।

देख, मैं पतिव्रता और पराई स्त्री होने के कारण तुझे नहीं मिल सकती । हे राक्षस ! इसके अतिरिक्त मनुष्य जाति की स्त्री तेरे उपयोग के योग्य भी नहीं हो सकती । विवश स्त्री पर बलात्कार करने से तुझे क्या आनन्द मिलेगा ! साक्षात् प्रजापति के तुल्य, ब्रह्मा के पुत्र, ब्राह्मण तेरे पिता हैं । तू स्वयं लोकपाल-तुल्य होकर भी धर्म का पालन क्यों नहीं करता ? महेश्वर के सखा, राज-राज, प्रभु, धनेश्वर, कुबेर को अपना भाई कहते तुझे लज्जा नहीं आती ॥२१।२४॥

अब गर्दन और मुख को वस्त्र से ढककर सीताजी रोने लगी । कलेजा धड़कने के कारण उनके स्तन कांप रहे थे । रोती हुई सीता की पीठ पर पड़ी हुई चोटी काली नागिन सी जान पड़ती थी । उनके कहे हुए इन निष्ठुर वचनों को सुनकर, उनके इनकार करने पर भी, दुर्बुद्धि रावण फिर कहने लगा—हे सुन्दरी ! कामदेव मेरे शरीर को भले ही जला दे,

न त्वामकामां सुश्रोणीं समेष्ये चारुहासिनीम् ।
किं नु शक्यं मया कर्तुं यत्त्वमद्यापि मानुषम् ॥ २८ ॥
आहारभूतमस्माकं राममेवाऽनुरुध्यसे ।
इत्युक्त्वा तामनिंद्यांगीं स राक्षसमहेश्वरः ॥ २९ ॥
तत्रैवांऽतर्हितो भूत्वा जगामाऽभिमतां दिशम् ।
राक्षसीभिः परिवृता वैदेही शोककर्शिता ।
सेव्यमाना त्रिजटया तत्रैव न्यवसत्तदा ॥ ३० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि सीतारावणसंवादे एकाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पर तुम्हारे प्रसन्न हुए बिना मैं अपनी इच्छा पूरी न करूँगा । मैं क्या करूँ, हम लोगों के आहार मनुष्य राम का खयाल तुम अभी तक नहीं छोड़तीं । हे राजा युधिष्ठिर ! राक्षसराज रावण परम सुन्दरी चारुहासिनी सीता से यों कहकर अपने घर को चला गया । शोक से दुर्बल सीता उन राक्षसियों के बीच त्रिजटा के साथ वहीं रहने लगीं ॥२५।३०॥

—०—

वनपर्व का दो सौ इक्यासी अध्याय समाप्त हुआ ॥२८१॥

अथ द्विशीत्यधिकद्विशततमोऽध्याय. ॥२८२॥

मार्कंडेय उवाच—राघवः सहसौमित्रिः सुग्रीवेणाऽभिपालितः ।
वसन्माल्यवतः पृष्ठे ददृशे विमलं नभः ॥ १ ॥
स दृष्ट्वा विमले व्योम्नि निर्मलं शशलक्षणम् ।
ग्रहनक्षत्रताराभिरनुयातममित्रहा ॥ २ ॥
कुमुदोत्पलपद्मानां गंधमादाय वायुना ।
महीधरस्थः शीतेन सहसा प्रतिबोधितः ॥ ३ ॥
प्रभाते लक्ष्मणं वीरमभ्यभाषत दुर्मनाः ।
सीतां संस्मृत्य धर्मात्मा रुद्धां राक्षसवेश्मनि ॥ ४ ॥

दो सौ बयासी अध्याय ॥२८२॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर ! इधर राम और लक्ष्मण सुग्रीव से सेवित होकर माल्यवान् पर्वत पर रहने लगे । चौमासा व्यतीत हो गया; शरद् ऋतु आने से आकाश निर्मल हो गया । राम ने देखा कि आकाश में ग्रह-नक्षत्र-सहित चन्द्रमा शोभायमान है और शीतल, मन्द वायु कुमुद-उत्पल-पद्म आदि की सुगन्ध फैलाता हुआ डोल रहा है ॥१।३॥

पर्वत पर अचानक शीत के कारण प्रातःकाल

गच्छ लक्ष्मण जानीहि किष्किंधायां कपीश्वरम् ।
प्रमत्तं ग्राम्यधर्मेषु कृतघ्नं स्वार्थपंडितम् ॥ ५ ॥
योऽसौ कुलाधमो मूढो मया राज्येऽभिषेचितः ।
सर्ववानरगोपुच्छा यमृक्षाश्च भजंति वै ॥ ६ ॥
यदर्थं निहतो वाली मया रघुकुलोद्वह ।
त्वया सह महावाहो किष्किंधोपवने तदा ॥ ७ ॥
कृतघ्नं तमहं मन्ये वानरापसदं भुवि ।
यो मामेवंगतो मूढो न जानीतेऽद्य लक्ष्मण ॥ ८ ॥
असौ मन्ये न जानीते समयप्रतिपालनम् ।
कृतोपकारं मां नूनमवमन्याऽल्पया धिया ॥ ९ ॥
यदि तावदनुद्युक्तः शेते कामसुखात्मकः ।
नेतव्यो वालिमार्गेण सर्वभूतगतिं त्वया ॥ १० ॥
अथापि घटतेऽस्माकमर्थे वानरपुंगवः ।
तमादायैव काकुत्स्थ त्वरावान्भव मा चिरम् ॥ ११ ॥
इत्युक्तो लक्ष्मणो भ्रात्रा गुरुवाक्यहिते रतः ।
प्रतस्थे रुचिरं गृह्य समार्गणगुणं धनुः ॥ १२ ॥

उठकर रामचन्द्र ने यह दृश्य देखा तो उन्हें राक्षस के यहा बन्दी (होकर कष्ट पा रही) सीता का स्मरण हो आया । तब अत्यन्त व्यथित और उदास होकर उन्होंने लक्ष्मण से कहा—हे भाई ! तुम किष्किन्धा में सुग्रीव के पास जाओ । वह विषय-भोग में लिप्त, स्वार्थी, कुलकलङ्क, अत्यन्त मूढ वानर अपनी प्रतिज्ञा को भूल गया है । मैंने उसे राजा बनाया और सब वानर, लङ्गूर, रीछ आदि उसकी आज्ञा का पालन करते हैं । उसी के लिए किष्किन्धा के उपवन में मैंने वानरराज वाली को मारा, किन्तु अब वह नीच वानर मुझे कृतघ्न सा जान पड़ता है ॥४।८॥

प्रतीत होता है कि वह अपनी प्रतिज्ञा को भूल गया है, मेरी दशा का उसे ध्यान ही नहीं है । अथवा अपनी अल्पज्ञता के कारण, मेरे द्वारा अपना उपकार हो गया देखकर, वह मेरा अनादर कर रहा है और समझता है कि मैं उसका क्या कर लूँगा । तुम उसके पास जाओ, और जो वह काम-सुख में मोहित होने के कारण इस समय भी मेरा काम करने का उद्योग न करे तो तुम वाली की तरह उसे भी यमपुरी को भेज देना । और जो देखो कि वानरराज सुग्रीव हमारा काम करने के लिए तैयार है तो उसे यहा मेरे पास ले आना । शीघ्रता से जाओ, देरी मत करो ॥९।११॥

बड़े भाई की आज्ञा का पालन करने में तत्पर लक्ष्मण, रामचन्द्र की आज्ञा पाकर, श्रेष्ठ धनुष और

किष्किंधाद्वारमासाद्य प्रविवेशाऽनिवारितः ।
सक्रोध इति तं मत्वा राजा प्रत्युद्ययौ हरिः ॥ १३ ॥
तं सदारो विनीतात्मा सुग्रीवः प्लवगाधिपः ।
पूजया प्रतिजग्राह प्रीयमाणस्तदर्हया ॥ १४ ॥
तमब्रवीद्रामवचः सौमित्रिरकुतोभयः ।
स तत्सर्वमशेषेण श्रुत्वा प्रह्वः कृतांजलिः ॥ १५ ॥
सभृत्यदारो राजेंद्र सुग्रीवो वानराधिपः ।
इदमाह वचः प्रीतो लक्ष्मणं नरकुंजरम् ॥ १६ ॥
नाऽस्मि लक्ष्मण दुर्मेधा नाऽकृतज्ञो न निर्घृणः ।
श्रूयतां यः प्रयत्नो मे सीतापर्येषणे कृतः ॥ १७ ॥
दिशः प्रस्थापिताः सर्वे विनीता हरयो मया ।
सर्वेषां च कृतः कालो मासेनाऽऽगमनं पुनः ॥ १८ ॥
यैरियं सवना साद्रिः सपुरा सागरांबरा ।
विचेतव्या मही वीर सग्रामनगराकरा ॥ १९ ॥
स मासः पंचरात्रेण पूर्णो भवितुमर्हति ।
ततःश्रोष्यसि रामेण सहितः सुमहत्प्रियम् ॥ २० ॥
इत्युक्तो लक्ष्मणस्तेन वानरेंद्रेण धीमता ।
त्यक्त्वा रोषमदीनात्मा सुग्रीवं प्रत्यपूजयत् ॥ २१ ॥

बाण लेकर, किष्किन्धापुरी में गये। किसी ने उन्हें नहीं रोका, वे राजमहल के भीतर चले गये। वानरराज सुग्रीव ने दूर से ही देखकर लक्ष्मण के क्रोध को जान लिया। स्त्री सहित सुग्रीव ने उठकर, आगे बढ़कर, लक्ष्मण को लिया और उनकी पूजा की। अब लक्ष्मण ने बे खटके रामचन्द्र की सब बातें सुग्रीव को कह सुनाईं। सेवकों और स्त्री सहित सुग्रीव ने, सब सुनने के पश्चात्, नम्रता के साथ हाथ जोड़कर लक्ष्मण से कहा—॥१२।१६॥

हे रघुनाथ! मैं दुर्बुद्धि, अकृतज्ञ अथवा निर्दय नहीं हूँ। सीता को खोजने के लिए मैं जो कुछ यत्न कर चुका हूँ सो सुनिए। असंख्य वानर मेरी आज्ञा से, एक महीने के भीतर लौट आने का वादा करके चारों ओर गये हैं। वे पृथ्वी भर के पर्वत, वन, समुद्र, गाँव, नगर आदि सभी स्थानों में सीता को खोजेंगे। इस समय मास समाप्त होने में केवल पाँच दिन रह गये हैं। पाँच दिन के पश्चात् आप और रामचन्द्रजी प्रसन्नता की सूचना सुनेंगे ॥१७।२०॥

हे राजा युधिष्ठिर! सुग्रीव के मुँह से यह समाचार सुनकर बुद्धिमान् लक्ष्मण सन्तुष्ट हुए। उनका क्रोध

स रामं सहसुग्रीवो माल्यवत्पृष्ठमास्थितम् ।
अभिगम्योदयं तस्य कार्यस्य प्रत्यवेदयत् ॥ २२ ॥
इत्येवं वानरेंद्रास्ते समाजग्मुः सहस्रशः ।
दिशस्तिस्रो विचित्याऽथ न तु ये दक्षिणां गताः॥ २३ ॥
आचख्युस्तत्र रामाय महीं सागरमेखलाम् ।
विचितां न तु वैदेह्या दर्शनं रावणस्य वा ॥ २४ ॥
गतास्तु दक्षिणामाशां ये वै वानरपुंगवाः ।
आशावांस्तेषु काकुत्स्थः प्राणानार्तोऽभ्यधारयत्॥ २५ ॥
द्विमासोपरमे काले व्यतीते प्लवगास्ततः ।
सुग्रीवमभिगम्येदं त्वरिता वाक्यमब्रुवन् ॥ २६ ॥
रक्षितं वालिना यत्तत्स्फीतं मधुवनं महत् ।
त्वया च प्लवगश्रेष्ठ तद्भुंक्ते पवनात्मजः ॥ २७ ॥
वालिपुत्रोऽङ्गदश्चैव ये चाऽन्ये प्लवगर्षभाः ।
विचेतुं दक्षिणामाशां राजन्प्रस्थापितास्त्वया ॥ २८ ॥
तेषामपनयं श्रुत्वा मेने स कृतकृत्यताम् ।
कृतार्थानां हि भृत्यानामेतद्भवति चेष्टितम् ॥ २९ ॥
स तद्रामाय मेधावी शशंस प्लवगर्षभः ।

शान्त हो गया। उन्होंने सुग्रीव की बहुत प्रशंसा की। इसके पश्चात् सुग्रीव को साथ लेकर वे माल्यवान् पर्वत पर रामचन्द्र के पास गये और सुग्रीव का बताया हुआ सब हाल उनसे कह दिया ॥२१।२२॥

हे राजा युधिष्ठिर! सीता का पता लगाने के लिए गये हुए हजारों वानर लौट-लौटकर आने लगे। पूर्व, उत्तर और पश्चिम दिशा को जो वानर गये थे वे सब लौट आये, परन्तु जो दक्षिण दिशा को गये थे वे नहीं आये। लौटे हुए वानरों ने आकर राम से कहा—हे महाराज! हम समुद्र तक पृथ्वीमण्डल में घूम आये, पर कहीं रावण और सीता को नहीं देखा। हे धर्मराज! तब सीता के वियोग से व्याकुल रामचन्द्र बड़े कष्ट से इस आशा से जीवन धारण किये रहे कि जो वानर दक्षिण दिशा को गये हैं वे आकर सीता की सूचना देंगे ॥२३।२५॥

इस तरह दो महीने व्यतीत होने पर कुछ वानरों ने फुर्ती से सुग्रीव के पास आकर कहा—हे राजेन्द्र! हनुमान् आदि जो वानर दक्षिण दिशा को गये थे वे आज लौट आये हैं और आपके, सदा से सुरक्षित, परम प्रिय मधुवन में घुसकर फल-फूल खा रहे हैं। वानरों के इस आनन्द-सूचक कार्य को सुनकर वानरराज सुग्रीव ने समझ लिया कि वे

रामश्चाऽप्यनुमानेन मेने दृष्टां तु मैथिलीम् ॥ ३० ॥
हनुमत्प्रमुखाश्चापि विश्रांतास्ते प्लवंगमाः ।
अभिजग्मुर्हरींद्रं तं रामलक्ष्मणसन्निधौ ॥ ३१ ॥
गतिं च मुखवर्णं च दृष्ट्वा रामो हनूमतः ।
अगमत्प्रत्ययं भूयो दृष्टा सीतेति भारत ॥ ३२ ॥
हनूमत्प्रमुखास्ते तु वानराः पूर्णमानसाः ।
प्रणेमुर्विधिवद्रामं सुग्रीवं लक्ष्मणं तथा ॥ ३३ ॥
तानुवाचाऽऽनतान्रामः प्रगृह्य सशरं धनुः ।
अपि मां जीवयिष्यध्वमपि वः कृतकृत्यता ॥ ३४ ॥
अपि राज्यमयोध्यायां कारयिष्याम्यहंपुनः ।
निहत्य समरे शत्रूनाहृत्य जनकात्मजाम् ॥ ३५ ॥
अमोक्षयित्वा वैदेहीमहत्वा च रणे रिपून् ।
हृतदारोऽवधूतश्च नाऽहं जीवितुमुत्सहे ॥ ३६ ॥
इत्युक्तवचनं रामं प्रत्युवाचाऽनिलात्मजः ।
प्रियमाख्यामि ते राम दृष्टा सा जानकी मया॥ ३७ ॥
विचित्य दक्षिणामाशां सपर्वतवनाकराम् ।
श्रान्ताःकाले व्यतीते स्म दृष्टवंतो महागुहाम्॥ ३८ ॥

अवश्य कार्य सिद्ध कर आये हैं। यह समझकर सुग्रीव बहुत ही प्रसन्न हुए। उन्होंने उसी समय जाकर रामचन्द्र से सब हाल कहा, और यह भी कहा कि मेरे अनुमान से ये वानर अवश्य सीताजी को देख आये हैं ॥२६।३०॥

अब हनुमान् आदि वानर, विश्राम करके, राम-लक्ष्मण के पास सुग्रीव की सेवा में आये। हे भरत-कुलश्रेष्ठ ! हनुमान् के रंग-ढंग और मुख के आकार को देखकर रामचन्द्र को निश्चय हो गया कि वे सीता को देख आये हैं। सिद्ध-मनोरथ हनुमान् आदि वानरों ने राम, लक्ष्मण और सुग्रीव को यथा-योग्य प्रणाम किया। तब धनुष-बाण धारण किये हुए रामचन्द्र ने उनसे कहा—हे वानरो! तुम लोग क्या शुभ समाचार देकर मुझे जिला लोगे ? क्या तुम लोग कार्य सिद्ध कर आये हो ? समर में शत्रुओं को मारकर और सीता का उद्धार करके क्या मैं फिर जाकर अयोध्या में राज्य करूँगा ? देखो, संग्राम में शत्रुओं को मारे बिना और सीता का उद्धार किये बिना स्त्री को गँवाकर और अपमानित रहकर मैं जीना नहीं चाहता ॥३१।३६॥

अब पवन-पुत्र हनुमान् ने कहा—हे रामचन्द्र जी ! मैं आपको प्रिय समाचार सुनाता हूँ। सीताजी

प्रविशामो वयं तां तु बहुयोजनमायताम् ।
अंधकारां सुविपिनां गहनां कीटसेविताम् ॥ ३९ ॥
गत्वा सुमहदध्वानमादित्यस्य प्रभां ततः ।
दृष्टवंतः स्म तत्रैव भवनं दिव्यमंतरा ॥ ४० ॥
मयस्य किल दैत्यस्य तदा सद्मेस्म राघव ।
तत्र प्रभावती नाम तपोऽतप्यत तापसी ॥ ४१ ॥
तया दत्तानि भोज्यानि पानानि विविधानि च ।
भुक्त्वा लब्धबलाः संतस्तयोक्तेन पथा ततः ॥ ४२ ॥
निर्याय तस्मादुद्देशात्पश्यामो लवणांभसः ।
समीपे सह्यमलयौ दर्दुरं च महागिरिम् ॥ ४३ ॥
ततो मलयमारुह्य पश्यंतो वरुणालयम् ।
विषण्णा व्यथिताः खिन्ना निराशा जीविते भृशम्॥ ४४ ॥
अनेकशतविस्तीर्णं योजनानां महोदधिम् ।
तिमिनक्रझषावासं चिंतयंतः सुदुःखिताः ॥ ४५ ॥
तत्राऽनशनसंकल्पं कृत्वाऽऽसीना वयं तदा ।

को मैं देख आया हूँ। हम लोग बहुत दिनों तक पर्वत, वन, खान आदि स्थानों सहित सम्पूर्ण दक्षिण दिशा में घूमते-घूमते थक गये थे। अन्त को एक बड़ी भारी कन्दरा देखकर हम लोग उसके भीतर घुस गये। वह कन्दरा कई योजन लम्बी-चौड़ी थी। उसमें बहुत अँधेरा था। चारों ओर घना दुर्गम जङ्गल था, जिसमें कीड़े-मकोड़े भरे पड़े थे। बहुत दूर तक जाने पर हमें सूर्य का प्रकाश और वहीं पर मय दानव का सुन्दर भवन देख पड़ा। वहां पर तपस्विनी प्रभावती तप कर रही थी। उस तपस्विनी ने फल-मूल और खाने-पीने की अनेक स्वादिष्ठ वस्तुएं दीं। उन वस्तुओं के खाने-पीने से हमारे शरीर में फिर से नया बल आ गया। हम लोग उसकी बताई हुई राह से कन्दरा के बाहर निकले ॥३७।४२॥

फिर सीताजी को खोजते हुए सह्य, मलय और दर्दुर पर्वत को खारी समुद्र के पास देखा। हम लोग मलय पर्वत पर चढ़कर सीता का पता न लगने से अत्यन्त खिन्न, व्यथित, विषादयुक्त और जीवन से निराश हो गये। कई सौ योजन में फैले हुए तिमि-तिमिंगिल-नक्र आदि जल-जन्तुओं से पूर्ण भयानक महासागर को देखकर, दुःखित हो, हम लोग सोचने लगे [कि अब हम महासागर के पार किस तरह जायंगे]। तब हम लोगों ने प्राण दे देने का निश्चय कर लिया और कुछ न खाने-पीने (प्रायोपवेशन) का व्रत धारण करके वहीं पर बैठ गये ॥४३।४५॥

ततः कथांते गृध्रस्य जटायोरभवत्कथा ॥ ४६ ॥
ततः पर्वतशृंगाभं घोररूपं भयावहम् ।
पक्षिणं ददृशुस्तत्र वैनतेयमिवाऽपरम् ॥ ४७ ॥
सोऽस्मानतर्कयद्भोक्तुमथाऽभ्येत्य वचोऽब्रवीत् ।
भोः क एष मम भ्रातुर्जटायोः कुरुते कथाम् ॥ ४८ ॥
संपातिर्नाम तस्याऽहं ज्येष्ठो भ्राता खगाधिपः ।
अन्योन्यस्पर्धया रूढावावामादित्यसत्पदम् ॥ ४९ ॥
ततो दग्धाविमौ पक्षौ न दग्धौ तु जटायुषः ।
तदा मे चिरदृष्टः स भ्राता गृध्रपतिः प्रियः ॥ ५० ॥
निर्दग्धपक्षः पतितो ह्यहमस्मिन्महागिरौ ।
तस्यैवं वदतोऽस्माभिर्हतो भ्राता निवेदितः ॥ ५१ ॥
व्यसनं भवतश्चेदं संक्षेपाद्वै निवेदितम् ।
स संपातिस्तदा राजञ्श्रुत्वा सुमहदप्रियम् ॥ ५२ ॥
विषण्णचेताः पप्रच्छ पुनरस्मानरिंदम ।
कः स रामः कथं सीता जटायुश्च कथं हतः ॥ ५३ ॥
इच्छामि सर्वमेवैतच्छ्रोतुं प्लवगसत्तमाः ।
तस्याऽहं सर्वमेवैतद्भवतो व्यसनागमम् ॥ ५४ ॥

हम लोग बैठकर आपस में गिद्धों के राजा जटायु के मरने की चर्चा करने लगे। इसी समय ऊंचे पर्वत-शिखर के समान, अत्यन्त भयानक, दूसरा गरुड़ ऐसा एक पक्षी हमको देख पड़ा। हमें खा जाने के लिए, पास आकर, उस पक्षी ने कहा—तुम लोग कौन हो ? मेरे भाई जटायु के सम्बन्ध में क्या बातचीत कर रहे हो ? मैं जटायु का बड़ा भाई हूं। मेरा नाम सम्पाति है। मैं पक्षियों का राजा हूं। हम दोनों भाई एक समय आपस में लाग-डाट करके उड़कर सूर्यमण्डल के पास पहुंचे। सूर्य की किरणों की प्रचण्ड आंच से मेरे तो पङ्ख जल गये, किन्तु जटायु के बच गये। पङ्ख जल जाने के कारण से मैं आकाश से इस महापर्वत पर गिर पड़ा ॥४६।५०॥

सम्पाति के मुंह से यह वृत्तान्त सुनकर हमने उससे कहा कि तुम्हारा भाई जटायु मारा गया। भाई के मरने की सूचना पाकर अत्यन्त व्याकुल और दुःखित होकर सम्पाति ने हम लोगों से कहा-हे भाइयो ! राम कौन है ? सीता किस कारण हरी गई ? जटायु किस तरह मारा गया ? हे वानरो ! मैं यह सब वृत्तान्त तुमसे विस्तार के साथ सुनना चाहता हूं। हे रामचन्द्र ! तब मैंने आपकी विपत्ति

प्रायोपवेशने चैव हेतुं विस्तरशोऽब्रुवम् ।
सोऽस्मानुत्थापयामास वाक्येनाऽनेन पक्षिराट् ॥ ५५ ॥
रावणो विदितो मह्यं लंका चाऽस्य महापुरी ।
दृष्टा पारे समुद्रस्य त्रिकूटगिरिकंदरे ॥ ५६ ॥
भवित्री तत्र वैदेही न मेऽस्त्यत्र विचारणा ।
इति तस्य वचः श्रुत्वा वयमुत्थाय सत्वराः ॥ ५७ ॥
सागरक्रमणे मंत्रं मंत्रयामः परंतप ।
नाऽध्यवास्यद्यदा कश्चित्सागरस्य विलंघनम् ॥ ५८ ॥
ततः पितरमाविश्य पुप्लुवेऽहं महार्णवम् ।
शतयोजनविस्तीर्णं निहत्य जलराक्षसीम् ॥ ५९ ॥
तत्र सीता मया दृष्टा रावणांतः पुरे सती ।
उपवासतपःशीला भर्तृदर्शनलालसा ॥ ६० ॥
जटिला मलदिग्धांगी कृशा दीना तपस्विनी ।
निमित्तैस्तामहं सीतामुपलभ्य पृथग्विधैः ॥ ६१ ॥
उपसृत्याऽब्रुवं चाऽऽर्यामभिगम्य रहोगताम् ।
सीते रामस्य दूतोऽहं वानरो मारुतात्मजः ॥ ६२ ॥
त्वद्दर्शनमभिप्रेप्सुरिह प्राप्तो विहायसा ।

का हाल विस्तार से कहकर अपने लोगों के प्राण-त्याग के इरादे का कारण उसे समझाया ॥५१-५४॥

पक्षियों के राजा सम्पाति ने सब सुनकर हमें धैर्य देते हुए कहा—मैं रावण को अच्छी तरह से जानता हूं। लङ्कापुरी उसकी राजधानी है। वह राजधानी समुद्र के उस पार त्रिकूट पर्वत की कन्दरा में है। मैं लङ्कापुरी को देख चुका हूं। वहीं पर अवश्य जानकी होंगी। यह सुनकर हम लोग शीघ्रता से उठ खड़े हुए और फिर महासमुद्र के उस पार जाने के विषय में सम्मति करने लगे। इनमें से कोई भी जब समुद्र लांघकर लङ्का के भीतर जाने की हिम्मत न कर सका, तब मैं अपने पिता वायु का सहारा लेकर, जल में रहनेवाली राक्षसी को मारता हुआ, सहज ही सौ योजन लम्बे-चौड़े समुद्र को फांदकर उस पार चला गया। वहां लङ्का में राक्षसराज रावण के निवास-स्थान में जा करके मैंने देखा कि पति के दर्शन की लालसा रखनेवाली, उपवास करती हुई सीता तपस्या कर रही हैं ॥५५-६०॥

उनके बालों की उलझकर एक चोटी बन गई है, सारे शरीर में धूल भरी हुई है और सब अङ्ग सूखकर कांटा हो गये हैं। आपके बताये हुए सब लक्षणों को देखकर अब मुझे निश्चय हो गया कि

राजपुत्रौ कुशलिनौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ६३ ॥
सर्वशाखामृगेंद्रेण सुग्रीवेणाऽभिपालितौ ।
कुशलं त्वाऽब्रवीद्रामः सीते सौमित्रिणा सह ॥ ६४ ॥
सखिभावाच्च सुग्रीवः कुशलं त्वाऽनुपृच्छति ।
क्षिप्रमेष्यति ते भर्त्ता सर्वशाखामृगैः सह ॥ ६५ ॥
प्रत्ययं कुरु मे देवि वानरोऽस्मि न राक्षसः ।
मुहूर्त्तमिव च ध्यात्वा सीता मां प्रत्युवाच ह ॥ ६६ ॥
अवैमि त्वां हनूमंतमविंध्यवचनादहम् ।
अविंध्यो हि महाबाहो राक्षसो वृद्धसंमतः ॥ ६७ ॥
कथितस्तेन सुग्रीवस्त्वद्विधैः सचिवैर्वृतः ।
गम्यतामिति चोक्त्वा मां सीता प्रादादिमं मणिम् ॥ ६८ ॥
धारिता येन वैदेही कालमेतमनिंदिता ।
प्रत्ययार्थं कथां चेमां कथयामास जानकी ॥ ६९ ॥
क्षिप्तामिषीकां काकाय चित्रकूटे महागिरौ ।
भवता पुरुषव्याघ्र प्रत्यभिज्ञानकारणात् ॥ ७० ॥
ग्राहयित्वाऽहमात्मानं ततो दग्ध्वा च तां पुरीम् ।
संप्राप्त इति तं रामः प्रियवादिनमार्चयत् ॥ ७१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि हनूमत्प्रत्यागमने द्व्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

वही सीता हैं तब उनके सामने जाकर मैंने कहा—हे आर्ये वैदेही ! मैं श्रीराम का दूत और पवन-पुत्र हनुमान् हूं। मैं आपको देखने आकाशमार्ग से इस जगह आया हूँ। राजकुमार रामचन्द्र और लक्ष्मण सकुशल हैं। सब वानरों के राजा सुग्रीव उनके सहायक, रक्षक और मित्र हैं। राम और लक्ष्मण ने आपके कुशल-समाचार पूछे हैं। महाराज सुग्रीव ने भी, राम के मित्र के नाते, आपके कुशल समाचार जानने की इच्छा प्रकट की है। आपके स्वामी रामचन्द्र सब वानरों के साथ शीघ्र ही यहा आवेंगे। हे देवी ! आप मेरी बात पर विश्वास करें ; मैं राक्षस नहीं—वानर हूँ ॥६१।६५॥

तब जानकी ने दमभर सोचकर कहा—हे महाबाहो ! धर्मात्मा राक्षस अविन्ध्य के कथनानुसार मैं जानती हूँ कि तुम वानर हनुमान् ही हो। उस श्रेष्ठ राक्षस से मुझे यह सूचना मिल चुकी है कि हनुमान् आदि वानर सुग्रीव के सचिव और साथी हैं। अच्छा, अब तुम जाओ। हे राम ! इतना कह-कर उन्होंने [निशानी के तौर पर] यह चूड़ामणि आपको देने के लिए दे दी। इसी चूड़ामणि ने

अब तक सीता के जीवन को बचा रक्खा है। आपकी प्रतीति के लिए उन्होंने उस घटना का हाल भी कहा है जो चित्रकूट में हुई थी—आपने वहां एक कौए को मारने के लिए इषीकास्त्र का प्रयोग किया था। हे महाराज ! सीता से विदा होने के पश्चात् मैं जान-बूझकर राक्षसों के हाथ में जा फँसा। [वे मुझे पकड़कर ले गये] अवसर पाकर लङ्कापुरी को जलाकर मैं इस पार वानरों से आ मिला। वहां से चलकर हम लोग आपकी सेवा में आये हैं। हे राजा युधिष्ठिर ! तब रामचन्द्र ने प्रिय समाचार सुनानेवाले हनुमान् का बहुत आदर सम्मान किया, उनकी बहुत प्रशंसा की ॥६६।७१॥

वनपर्व का दो सौ बयासी अध्याय समाप्त हुआ ॥२८२॥

अथ त्र्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२८३॥

मार्कंडेय उवाच—ततस्तत्रैव रामस्य समासीनस्य तैः सह ।
समाजग्मुः कपिश्रेष्ठाः सुग्रीववचनात्तदा ॥ १ ॥
वृतः कोटिसहस्रेण वानराणां तरस्विनाम् ।
श्वशुरो वालिनः श्रीमान्सुषेणो राममभ्ययात् ॥ २ ॥
कोटीशतवृतौ चाऽपि गजो गवय एव च ।
वानरेंद्रौ महावीर्यौ पृथक्पृथगदृश्यताम् ॥ ३ ॥
षष्टिकोटिसहस्राणि प्रकर्षन्प्रत्यदृश्यत ।
गोलांगूलो महाराज गवाक्षो भीमदर्शनः ॥ ४ ॥
गंधमादनवासी तु प्रथितो गंधमादनः ।
कोटीशतसहस्राणि हरीणां समकर्षत ॥ ५ ॥
पनसो नाम मेधावी वानरः सुमहाबलः ।
कोटीर्दश द्वादश च त्रिंशत्पञ्च प्रकर्षति ॥ ६ ॥

दो सौ तिरासी अध्याय ॥२८३॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजेन्द्र ! इसके पश्चात् सुग्रीव की आज्ञा के अनुसार सब प्रधान प्रधान वानर पर्वत पर सुख से बैठे हुए रामचन्द्र जी के पास पहुँचने लगे। बाली के ससुर, श्रीमान् सुषेण वानर, अत्यन्त वेगशाली हज़ार करोड़ वानरों को साथ लिये वहां पहुँचे। गज और गवय नाम के दोनों महाबली वानर अलग-अलग सौ-सौ करोड़ वानरों को साथ लेकर रामचन्द्र जी के पास पहुँचे। हे महाराज ! भयङ्कर रूपवाला गवाक्ष नाम का बली लङ्गूर साठ करोड़ हज़ार लङ्गूरों और वानरों का दल साथ लेकर राम की सेवा में उपस्थित हुआ। गन्धमादन पर्वत पर रहनेवाले गन्धमादन नाम से प्रसिद्ध महाबली वानर सौ करोड़ हज़ार वानरों की सेना लेकर पहुँचे ॥१।५॥

पनस नामक बुद्धिमान्, महाबली, पराक्रमी

श्रीमान्दधिमुखो नाम हरिवृद्धोऽतिवीर्यवान् ।
प्रचकर्ष महासैन्यं हरीणां भीमतेजसाम् ॥ ७ ॥
कृष्णानां मुखपुण्ड्राणामृक्षाणां भीमकर्मणाम् ।
कोटीशतसहस्रेण जांववान्प्रत्यदृश्यत ॥ ८ ॥
एते चाऽन्ये च वहवो हरियूथपयूथपाः ।
असंख्येया महाराज समीयू रामकारणात् ॥ ९ ॥
गिरिकूटनिभांगानां सिंहानामिव गर्जताम् ।
श्रूयते तुमुलः शब्दस्तत्र तत्र प्रधावताम् ॥ १० ॥
गिरिकूटनिभाः केचित्केचिन्महिषसन्निभाः ।
शरदभ्रप्रतीकाशाः केचिद्धिंगुलकाननाः ॥ ११ ॥
उत्पतंतः पतंतश्च प्लवमानाश्च वानराः ।
उद्धुन्वंतोऽपरे रेणून्समाजग्मुः समंततः ॥ १२ ॥
स वानरमहासैन्यः पूर्णसागरसन्निभः ।
निवेशमकरोत्तत्र सुग्रीवानुमते तदा ॥ १३ ॥
ततस्तेषु हरींद्रेषु समावृत्तेषु सर्वशः ।
तिथौ प्रशस्ते नक्षत्रे मुहूर्ते चाऽभिपूजिते ॥ १४ ॥
तेन व्यूढेन सैन्येन लोकानुद्वर्तयन्निव ।
प्रययौ राघवः श्रीमान्सुग्रीवसहितस्तदा ॥ १५ ॥

वानरराज सत्तावन करोड़ वानरों की सेना लेकर उपस्थित हुआ। अत्यन्त पराक्रमी वृद्ध वानरराज दधिमुख, ऋक्षराज जाम्बवान् के साथ, मस्तक पर श्वेत टीके के चिह्न से शोभित काले रङ्ग के सौ हजार करोड़ रीछ लाये। इतने ये, और अन्य अनेक वानर यूथपति रामचन्द्र का कार्य सिद्ध करने के लिए उस पर्वत पर आये। सब पर्वताकार वानर बड़े वेग से सिंह की तरह गर्जन और छलांगें मारते हुए रामचन्द्र जी के पास आ गये ॥६।१०॥

कुछ बा[illegible] थे। कुछ भैंस [illegible] थे। कुछ का रङ्ग शरद् ऋतु के बादलों का सा श्वेत था। कुछ का मुँह लाल था। वे उछलते-कूदते-फांदते और चारों ओर दौड़ते देख पड़ते थे। इससे धूल ही धूल छा गई। उस अपार समुद्र के समान वानरों की सेना ने सुग्रीव की आज्ञा से उसी पर्वत पर पड़ाव डाल दिया। इस प्रकार प्रधान-प्रधान वानर-वीरों के एकत्र हो जाने पर शुभ तिथि-नक्षत्र-मुहूर्त में उस सेना को साथ लेकर सुग्रीव सहित रामचन्द्र ने युद्ध-यात्रा कर दी। ऐसा जान पड़ता था कि व्यूह बना करके जाती हुई वह सेना मानों सब लोकों

मुखमासीत्तु सैन्यस्य हनूमान्मारुतात्मजः ।
जघनं पालयामास सौमित्रिरकुतोभयः ॥ १६ ॥
वद्धगोधांगुलित्राणौ राघवौ तत्र जग्मतुः ।
वृतौ हरिमहामात्रैश्चंद्रसूर्यौ ग्रहैरिव ॥ १७ ॥
प्रवभौ हरिसैन्यं तत्सालतालशिलायुधम् ।
सुमहच्छालिभवनं यथा सूर्योदयं प्रति ॥ १८ ॥
नलनीलांगदक्राथमैंदद्विविदपालिता ।
ययौ सुमहती सेना राघवस्याऽर्थसिद्धये ॥ १९ ॥
विविधेषु प्रशस्तेषु वहुमूलफलेषु च ।
प्रभूतमधुमांसेषु वारिमत्सु शिवेषु च ॥ २० ॥
निवसन्ती निरावाधा तथैव गिरिसानुषु ।
उपायाद्धरिसेना सा क्षारोदमथ सागरम् ॥ २१ ॥
द्वितीयसागरनिभं तद्वलं वहुलध्वजम् ।
वेलावनं समासाद्य निवासमकरोत्तदा ॥ २२ ॥
ततो दाशरथिः श्रीमान्सुग्रीवं प्रत्यभाषत ।
मध्ये वानरमुख्यानां प्राप्तकालमिदं वचः ॥ २३ ॥
उपायः को नु भवतां मतः सागरलंघने ।
इयं हि महती सेना सागरश्चाऽतिदुस्तरः ॥ २४ ॥

को उलट-पुलट देगी ॥११।१५॥

उस महासेना के अगले हिस्से में पवनपुत्र हनुमान् थे और जघनदेश (मध्यस्थान) की रक्षा निडर लक्ष्मण कर रहे थे। गोह के चमड़े के अंगुलित्र उँगलियों में पहने रघुकुलतिलक राम और लक्ष्मण उस वानर-सेना के बीच, ग्रहों के मध्यवर्ती सूर्य और चन्द्र के समान मालूम पड़ते थे। रामचन्द्र के सामने खड़े, शाल-ताल शिला आदि लिए हुए, वे सब वानर उदय हो रहे सूर्य के सामने पके हुए धान के खेत से जान पड़ते थे। नल, नील, अङ्गद, क्राथ, मैन्द और द्विविद आदि प्रधान यूथपों की अधीनता में रामचन्द्र का कार्य करने के लिए वह वानरों की महासेना दक्षिण दिशा में बड़ी तेज़ी से जा रही थी। अनेक प्रकार के, लम्बे-चौड़े, बहुत फल-मूल आदि से पूर्ण, मधु-मांस और पवित्र जल से मनोहर पहाड़ी स्थानों में निर्विघ्न पड़ाव करती हुई वह सेना खारी समुद्र के किनारे पर पहुँच गई ॥१६।२१॥

तब रामचन्द्र ने सुग्रीव और अन्य प्रधान वानरों से उस समय के अनुसार पूछा कि इस समुद्र को किस तरह लाँघना चाहिए,—यह विशाल सेना किस

तत्राऽन्ये व्याहरंति स्म वानरा बहुमानिनः ।
समर्था लंघने सिंधोर्न तु तत्कृत्स्नकारकम् ॥ २५ ॥
केचिन्नौभिर्व्यवस्यन्ति केचिच्च विविधैः प्लवैः ।
नेति रामस्तु तान्सर्वान्सान्त्वयन्प्रत्यभाषत ॥ २६ ॥
शतयोजनविस्तारं न शक्ताः सर्ववानराः ।
क्रान्तुं तोयनिधिं वीरा नैषा वो नैष्ठिकी मतिः ॥ २७ ॥
नावो न संति सेनाया बह्व्यस्तारयितुं तथा ।
वणिजामुपघातं च कथमस्मद्विधश्चरेत् ॥ २८ ॥
विस्तीर्णं चैव नः सैन्यं हन्याच्छिद्रेण वै परः ।
प्लवोडुपप्रतारश्च नैवाऽत्र मम रोचते ॥ २९ ॥
अहं त्विमं जलनिधिं समारप्स्याम्युपायतः ।
प्रतिशेष्याम्युपवसन्दर्शयिष्यति मां ततः ॥ ३० ॥
न चेद्दर्शयिता मार्गं धक्ष्याम्येनमहं ततः ।
महास्त्रैरप्रतिहतैरत्याग्निपवनोज्ज्वलैः ॥ ३१ ॥
इत्युक्त्वा सहसौमित्रिरुपस्पृश्याऽथ राघवः ।
प्रतिशिश्ये जलनिधिं विधिवत्कुशसंस्तरे ॥ ३२ ॥

ढङ्ग से दुस्तर समुद्र के उस पार जा सकती है ? हे राजा युधिष्ठिर ! अपने को समर्थ समझकर कुछ वानरों ने कहा कि हम समुद्र को लाँघ सकते हैं। पर यह बात सब वानरों के लिए सुविधा-जनक नहीं हुई। कुछ ने नाव डोंगी-तोंबी आदि के सहारे पार जाने की बात कही ॥२२।२५॥

रामचन्द्रजी ने सबको समझाते हुए कहा—सब के सब वानर सौ योजन के समुद्र को नहीं लाँघ सकते, इसलिए तुम्हारी यह सम्मति ठीक नहीं है। हमारी सेना को पार पहुँचानेवाली नावें (जहाज़) उतनी अधिक हैं नहीं, और दूसरे जल-मार्ग से व्यापार करनेवाले व्यापारियों के रोज़गार में बाधा पहुँचाना भी मुझ सरीखा पुरुष नहीं स्वीकार कर सकता। डोंगी-घरनई आदि के सहारे पार होना मैं इसलिए नहीं पसन्द करता कि उस समय फैली हुई मेरी सेना को, अवसर पाकर, शत्रु सहज ही नष्ट कर सकता है। मैं इस समुद्र से ही कोई उपाय पूछने की चेष्टा करूंगा। मैं इसके तट पर अन्न-जल छोड़कर जब धन्ना दूंगा, तब यह अवश्य मुझे दर्शन देगा। मुझे आशा है कि समुद्र मुझे मार्ग दे देगा। और जो सागर राह नहीं देगा तो मैं अपने अग्निमय प्रचण्ड अप्रतिहत दिव्य अस्त्रों से इसे सुखा दूंगा ॥२६।३१॥

यों कहकर, विधिपूर्वक आचमन करके, कुशासन पर सागर के किनारे रामचन्द्र लेट रहे। तब जल-

सागरस्तु ततः स्वप्ने दर्शयामास राघवम् ।
देवो नदनदीभर्ता श्रीमान्यादोगणैर्वृतः ॥ ३३ ॥
कौसल्यामातरित्येवमाभाष्य मधुरं वचः ।
इदमित्याह रत्नानामाकरैः शतशो वृतः ॥ ३४ ॥
ब्रूहि किं ते करोम्यत्र साहाय्यं पुरुषर्षभ ।
ऐक्ष्वाको ह्यस्मि त्वज्ज्ञातिरिति रामस्तमब्रवीत्॥ ३५ ॥
मार्गमिच्छामि सैन्यस्य दत्तं नदनदीपते ।
येन गत्वा दशग्रीवं हन्यां पौलस्त्यपांसनम् ॥ ३६ ॥
यद्येवं याचतो मार्गं न प्रदास्यति मे भवान् ।
शरैस्त्वां शोषयिष्यामि दिव्यास्त्रप्रतिमंत्रितैः ॥ ३७ ॥
इत्येवं ब्रुवतः श्रुत्वा रामस्य वरुणालयः ।
उवाच व्यथितो वाक्यमिति बद्धांजलिः स्थितः॥ ३८ ॥
नेच्छामि प्रतिघातं ते नाऽस्मि विघ्नकरस्तव ।
शृणु चेदं वचो राम श्रुत्वा कर्तव्यमाचर ॥ ३९ ॥
यदि दास्यामि ते मार्गं सैन्यस्य व्रजतोऽऽज्ञया ।
अन्येऽप्याज्ञापयिष्यन्ति मामेवं धनुषो बलात् ॥ ४० ॥
अस्ति त्वत्र नलो नाम वानरः शिल्पिसंमतः ।
त्वष्टुर्देवस्य तनयो बलवान्विश्वकर्मणः ॥ ४१ ॥

जन्तुओं सहित नद और नदियों के स्वामी रत्नाकर सागर ने रामचन्द्र को स्वप्न में दर्शन देकर कहा—"हे कौशल्यानन्दन ! सुनिए ।" हे राजा युधिष्ठिर ! इस प्रकार रामचन्द्र को सचेत करके मधुर स्वर से समुद्र ने कहा—मेरी भी उत्पत्ति इक्ष्वाकु के वंश से हुई है, इसलिए आप मेरे जाति-भाई हैं। हे पुरुषश्रेष्ठ ! कहिए, मैं आपकी क्या सहायता करूं ! ॥३३।३४॥

तब रामचन्द्र ने कहा—हे नदियों के स्वामी ! मैं पुलस्त्य-कुल-कलङ्क दुष्ट राक्षस रावण को मारने के लिए सेना साथ लेकर लङ्कापुरी पर चढ़ाई करूंगा। इसलिए तुम मुझे मार्ग दो। इस तरह मांगने से जो तुम राह न दोगे तो मैं दिव्य अस्त्र-युक्त बाणों से तुमको सुखा डालूंगा ॥३५।३७॥

स यत्काष्ठं तृणं वापि शिलां वा क्षेप्स्यते मयि ।
सर्वं तद्धारयिष्यामि स ते सेतुर्भविष्यति ॥ ४२ ॥
इत्युक्त्वाऽन्तर्हिते तस्मिन्रामो नलमुवाच ह ।
कुरु सेतुं समुद्रे त्वं शक्तो ह्यसि मतो मम ॥ ४३ ॥
तेनोपायेन काकुत्स्थः सेतुबन्धमकारयत् ।
दशयोजनविस्तारमायतं शतयोजनम् ॥ ४४ ॥
नलसेतुरिति ख्यातो योऽद्यापि प्रथितो भुवि ।
रामस्याऽऽज्ञां पुरस्कृत्य निर्यातो गिरिसंनिभः॥ ४५ ॥
तत्रस्थं स तु धर्मात्मा समागच्छद्विभीषणः ।
भ्राता वै राक्षसेंद्रस्य चतुर्भिः सचिवैः सह ॥ ४६ ॥
प्रतिजग्राह रामस्तं स्वागतेन महामनाः ।
सुग्रीवस्य तु शंकाऽभूत्प्रणिधिः स्यादिति स्म ह ॥ ४७ ॥
राघवः सत्यचेष्टाभिः सम्यक्च चरितेंगितैः ।
यदा तत्त्वेन तुष्टोऽभूत्तत एनमपूजयत् ॥ ४८ ॥
सर्वराक्षसराज्ये चाऽप्यभ्यषिंचद्विभीषणम् ।
चक्रे च मन्त्रसचिवं सुहृदं लक्ष्मणस्य च ॥ ४९ ॥

नल नाम का वानर है । वह बड़ा कारीगर और बलवान् है । उससे मेरे ऊपर पुल बनवा लीजिए। नल वानर मेरे ऊपर घास-फूस-काठ-चट्टान आदि जो कुछ डालेगा वह सब मैं अपने जल के ऊपर रोककर आपके लिए पुल बना दूंगा ॥३८।४२॥

इतना कहकर समुद्र अन्तर्धान हो गया। तब रामचन्द्र ने नल से कहा—हे नल ! तुम पुल बना सकते हो, इसलिए समुद्र में सेतु बांधो । हे महाराज ! रामचन्द्र ने नल के द्वारा दस योजन चौड़ा और सौ योजन लम्बा एक सेतु बनवाया। वह पुल अब तक नलसेतु के नाम से विख्यात् है । रामचन्द्र की आज्ञा मानकर समुद्र उस पर्वत तुल्य सेतु को अब तक धारण किये हुए है ॥४३।४५॥

इसी समय रावण के भाई धर्मात्मा विभीषण, चार सचिवों सहित, रामचन्द्र की शरण में आये । रामचन्द्र ने सत्कार के साथ उनको आश्रय दिया। सुग्रीव को विभीषण पर सन्देह हुआ कि वे रावण के जासूस हैं । परन्तु रामचन्द्र ने विभीषण की सचाई और चेष्टाओं को जाचकर जान लिया कि सुग्रीव की शङ्का निर्मूल है । रामचन्द्र ने प्रसन्न होकर विभीषण का बड़ा सत्कार किया और उन्हें सब राक्षसों तथा लङ्का का राजा बना दिया । विभीषण को लक्ष्मण के सलाहकार और मित्र का पद भी दिया ॥४६।४९॥

विभीषणमते चैव सोऽत्यक्रामन्महार्णवम् ।
ससैन्यः सेतुना तेन मासेनैव नराधिप ॥ ५० ॥
ततो गत्वा समासाद्य लंकोद्यानान्यनेकशः ।
भेदयामास कपिभिर्महांति च बहूनि च ॥ ५१ ॥
ततस्तौ रावणामात्यौ मंत्रिणौ शुकसारणौ ।
चरौ वानररूपेण तौ जग्राह विभीषणः ॥ ५२ ॥
प्रतिपन्नौ यदा रूपं राक्षसं तौ निशाचरौ ।
दर्शयित्वा ततः सैन्यं रामः पश्चादवासृजत् ॥ ५३ ॥
निवेश्योपवने सैन्यं तत्पुरः प्राज्ञवानरम् ।
प्रेषयामास दौत्येन रावणस्य ततोऽङ्गदम् ॥ ५४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि सेतुबन्धने त्र्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२८३॥

फिर विभीषण की सम्मति से, उसी सेतु की राह, सेना सहित रामचन्द्र समुद्र के उस पार एक महीने में गये। रामचन्द्र की आज्ञा से वानर लोग लङ्का में घुसकर बड़े-बड़े सुन्दर बागों को तोड़ने-फोड़ने लगे। हे महाराज ! रावण के मन्त्री और जासूस शुक और सारण, वानर का वेष बनाये, रामचन्द्र की सेना में घुसे हुए थे। उन्हें पहचान-कर विभीषण ने पकड़ लिया अब वे दोनों राक्षस प्रमाणित हो गये तब रामचन्द्र ने अपनी सब सेना दिखाकर उन्हें छोड़ दिया। इस प्रकार लङ्कापुरी के उपवन में अपनी सब सेना को ठहरा करके रामचन्द्र ने अङ्गद को अपना दूत बनाकर रावण की सभा में भेजा ॥५०।५४॥

—०—

वनपर्व का दो सौ तिरासी अध्याय समाप्त हुआ ॥२८३॥

अथ चतुरशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२८४॥

मार्कंडेय उवाच—प्रभूतान्नोदके तस्मिन्बहुमूलफले वने ।
सेनां निवेश्य काकुत्स्थो विधिवत्पर्यरक्षत ॥ १ ॥
रावणः संविधिं चक्रे लंकायां शास्त्रनिर्मिताम् ।

दो सौ चौरासी अध्याय ॥२८४॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर ! अन्न-जल-फल मूल आदि से परिपूर्ण लङ्का के उपवन में सेना ठहराकर रामचन्द्र सावधानी के साथ उसकी रक्षा करने लगे। उधर रावण भी शास्त्र में बनाई गई विधि से युद्ध का समान जुटाने लगा। लङ्कापुरी एक तो यों ही दुर्गम थी, दूसरे रावण ने उसे और भी दुर्गम बना दिया। लङ्का की चहारदीवारी और फाटक मज़बूत किये गये। पुरी के चारों ओर मान

प्रकृत्यैव दुराधर्षा दृढप्राकारतोरणा ॥ २ ॥
अगाधतोयाः परिखा मीननक्रसमाकुलाः ।
बभूवुः सप्त दुर्धर्षाः खादिरैः शंकुभिश्चिताः ॥ ३ ॥
कपाटयंत्रदुर्धर्षा बभूवुः सहुडोपलाः ।
साशीविषघटातोयाः ससर्जरसपांसवः ॥ ४ ॥
मुसलालातनाराचतोमरासिपरश्वधैः ।
अन्विताश्च शतघ्नीभिः समधूच्छिष्टमुद्गराः ॥ ५ ॥
पुरद्वारेषु सर्वेषु गुल्माः स्थावरजंगमाः ।
बभूवुः पत्तिबहुलाः प्रभूतगजवाजिनः ॥ ६ ॥
अंगदस्त्वथ लंकाया द्वारदेशमुपागतः ।
विदितो राक्षसेंद्रस्य प्रविवेश गतव्यथः ॥ ७ ॥
मध्ये राक्षसकोटीनां बह्वीनां सुमहाबलः ।
शुशुभे मेघमालाभिरादित्य इव संवृतः ॥ ८ ॥
स समासाद्य पौलस्त्यममात्यैरभिसंवृतम् ।
रामसंदेशमामंत्र्य वाग्मी वक्तुं प्रचक्रमे ॥ ९ ॥
आह त्वां राघवो राजन्कोसलेन्द्रो महायशाः ।
प्राप्तकालमिदं वाक्यं तदादस्त्व कुरुष्व च ॥ १० ॥

गहरी खाइयां थीं । मछली-मगर आदि जल-जीवों से पूर्ण उन खाइयों में अथाह पानी भरा हुआ था। पहली खाई में सुदृढ़ खैर की लकड़ी के शंकु भरे हुए थे । दूसरी खाई में दुर्धर्ष कपाट यन्त्र लगे हुए थे । तीसरी खाई सींग और फेंककर मारे जानेवाले गोलों से और चौथी खाई साँपों और योद्धा लोगों से रक्षित थी । पांचवीं खाई सर्ज-रस और धूल के मारे अगम्य थी । छठी खाई मूसल, जलती हुई लकड़ियां, नाराच बाण, तोमर, खड्ग, परशु और शतघ्नी आदि शस्त्रों से पूर्ण थी । सातवीं खाई मधुरस और मुद्गर आदि के कारण अगम्य थी। पुरी के सब फाटकों पर स्थिर और चलनेवाले गुप्त मोर्चे लगा दिये गये; उनमें बहुत से हाथी-घोड़े और पैदल सिपाही मौजूद थे ॥१।६॥

रामचन्द्र की आज्ञा से दूत बनकर महाबली अङ्गद लङ्कापुरी के फाटक पर पहुंचे और बेधड़क होकर भीतर जा घुसे । कई करोड़ राक्षस वहां पर थे । उनके बीच में जाते हुए अङ्गद मेघों के बीच में सूर्य के समान जान पड़ने लगे । मन्त्रियों के साथ सभा में बैठे हुए रावण के पास पहुंचकर महाबली और बोलने में चतुर अङ्गद उससे इस प्रकार राम का संदेसा कहने लगे—हे दुर्बुद्धि रावण ! कोशलेश

अकृतात्मानमासाद्य राजानमनये रतम् ।
विनश्यंत्यनयाविष्टा देशाश्च नगराणि च ॥ ११ ॥
त्वयैकेनाऽपराद्धं मे सीतामाहरता बलात् ।
वधायाऽनपराद्धानामन्येषां तद्भविष्यति ॥ १२ ॥
ये त्वया बलदर्पाभ्यामाविष्टेन वनेचराः ।
ऋषयो हिंसिताः पूर्वं देवाश्चाऽप्यवमानिताः ॥ १३ ॥
राजर्षयश्च निहता रुदत्यश्च हताः स्त्रियः ।
तदिदं समनुप्राप्तं फलं तस्याऽनयस्य ते ॥ १४ ॥
हंतास्मि त्वां सहामात्यैर्युध्यस्व पुरुषो भव ।
पश्य मे धनुषो वीर्यं मानुषस्य निशाचर ॥ १५ ॥
मुच्यतां जानकी सीता न मे मोक्ष्यसि कर्हिचित् ।
अराक्षसमिमं लोकं कर्तास्मि निशितैः शरैः ॥ १६ ॥
इति तस्य ब्रुवाणस्य दूतस्य परुषं वचः ।
श्रुत्वा न ममृषे राजा रावणः क्रोधमूर्च्छितः ॥ १७ ॥
इंगितज्ञास्ततो भर्तुश्चत्वारो रजनीचराः ।
चतुर्ष्वंगेषु जगृहुः शार्दूलमिव पक्षिणः ॥ १८ ॥
तांस्तथाऽगेषु संसक्तानंगदो रजनीचरान् ।
आदायैव समुत्पत्य प्रासादतलमाविशत् ॥ १९ ॥

महायशस्वी राघव ने जो तुझसे समयोचित वचन कहे हैं उन्हें मान ले ॥७।१०॥

उन्होंने कहा है कि दुराचारी अन्यायी राजा की अनीति के कारण उसके राज्य के देश और नगर नष्ट हो जाते हैं। बलपूर्वक सीताहरण करके अकेले तूने मेरा अपराध किया है, किन्तु उसके कारण अन्य निर्दोष लोगों की भी हत्या होगी। तूने बल और घमण्ड के कारण वनवासी ऋषियों की हिंसा, देवताओं का अपमान और राजर्षियों की हत्या की है, तूने रोती हुई पराई स्त्रियों को मार डाला है। इस समय उसी करनी का फल तुझे भोगना पड़ेगा। तू युद्ध करके अब अपना पौरुष दिखा। मैं तुझे और तेरे अनुचर मन्त्रियों को अवश्य मारूँगा। मैं मनुष्य हूँ, अब तू मेरे धनुष के बल को देख। मैं तुझसे फिर कहता हूँ, तू सीता को छोड़ दे; नहीं तो जीता नहीं बचेगा। मैं पैने बाण मारकर पृथ्वी पर एक भी राक्षस न बचने दूँगा ॥११।१६॥

अङ्गद के मुँह से ऐसे कठोर वचन सुनकर रावण को क्रोध आ गया। उसने चार राक्षसों को इशारा किया। पक्षी जैसे सिंह पर आक्रमण करें वैसे ही

वेगेनोत्पततस्तस्य पेतुस्ते रजनीचराः ।
भुवि संभिन्नहृदयाः प्रहारवरपीडिताः ॥ २० ॥
संसक्तो हर्म्यशिखरात्तस्मात्पुनरवापतत् ।
लंघयित्वा पुरीं लंकां सुवेलस्य समीपतः ॥ २१ ॥
कोसलेंद्रमथाऽऽगम्य सर्वमावेद्य वानरः ।
विशश्राम स तेजस्वी राघवेणाऽऽभिनंदितः ॥ २२ ॥
ततः सर्वाभिसारेण हरीणां वातरंहसाम् ।
भेदयामास लंकायाः प्राकारं रघुनंदनः ॥ २३ ॥
विभीषणर्क्षाधिपती पुरस्कृत्याऽथ लक्ष्मणः ।
दक्षिणं नगरद्वारमवामृद्नद्दुरासदम् ॥ २४ ॥
करभारुणपांडूनां हरीणां युद्धशालिनाम् ।
कोटीशतसहस्रेण लंकामभ्यपतत्तदा ॥ २५ ॥
प्रलंबबाहूरुकरजंघांतरविलंबिनाम् ।
ऋक्षाणां धूम्रवर्णानां तिस्रः कोट्यो व्यवस्थिताः॥ २६ ॥
उत्पतद्भिः पतद्भिश्च निपतद्भिश्च वानरैः ।
नाऽदृश्यत तदा सूर्यो रजसा नाशितप्रभः ॥ २७ ॥
शालिप्रसूनसदृशैः शिरीषकुसुमप्रभैः ।

उन राक्षसों ने झपटकर अङ्गद के हाथ-पाव पकड़ लिये। अपने शरीर में लिपटे हुए उन चारों राक्षसों को लेकर अङ्गद उछले और महल की चोटी पर चले गये। वेग से उनके उछलने पर वे राक्षस पृथ्वी पर गिर पड़े। धमक की चोट से छाती फट जाने पर वे मर गये। उस महल पर से कूदते हुए लङ्कापुरी को लाघकर युवराज अङ्गद सुवेल पर्वत पर रामचन्द्र के पास पहुचे ॥१७।२१॥

उन्होंने रामचन्द्र से वहा का सब हाल कहा। सुनकर रामचन्द्र ने उनकी प्रशंसा की। तेजस्वी अङ्गद, प्रभु के पास बैठकर विश्राम करने लगे। वायु-वेग से चलनेवाले वानरों ने रामचन्द्र की आज्ञा पाकर लङ्का की चहारदीवारी को खोदकर गिरा दिया। विभीषण और जाम्बवान् को साथ लेकर लक्ष्मण ने लङ्का के दुर्गम दक्षिण द्वार पर आक्रमण किया। लक्ष्मण के साथ लाल रङ्ग के युद्ध-प्रिय करोड़ों वानर लङ्का के भीतर घुस गये। घुटनों तक जिनके हाथ लटक रहे थे ऐसे चौड़ी छाती और लम्बी टागोंवाले, धुंए के रङ्ग के, तीन करोड़ रीछ कतार बाधकर लक्ष्मण के साथ चले ॥२२।२६॥

वानरों के बार बार उछलने-कूदने से इतनी धूल उड़ी कि सूर्यमण्डल का प्रकाश ढक गया। पके

तरुणादित्यसदृशैः शणगौरैश्च वानरैः ॥ २८ ॥
प्राकारं ददृशुस्ते तु समंतात्कपिलीकृतम् ।
राक्षसा विस्मिता राजन्सस्त्रीवृद्धाः समंततः ॥ २९ ॥
बिभिदुस्ते मणिस्तंभान्कर्णाट्टशिखराणि च ।
भग्नोन्मथितशृंगाणि यंत्राणि च विचिक्षिपुः ॥ ३० ॥
परिगृह्य शतघ्नीश्च सचक्राः सगुडोपलाः ।
चिक्षिपुर्भुजवेगेन लंकामध्ये महास्वनाः ॥ ३१ ॥
प्राकारस्थाश्च ये केचिन्निशाचरगणास्तथा ।
प्रदुद्रुवुस्ते शतशः कपिभिः समभिद्रुताः ॥ ३२ ॥
ततस्तु राजवचनाद्राक्षसाः कामरूपिणः ।
निर्ययुर्विकृताकाराः सहस्रशतसंघशः ॥ ३३ ॥
शस्त्रवर्षाणि वर्षंतो द्रावयित्वा वनौकसः ।
प्राकारं शोभयंतस्ते परं विक्रममास्थिताः ॥ ३४ ॥
स माषराशिसदृशैर्बभूव क्षणदाचरैः ।
कृतो निर्वानरो भूयः प्राकारो भीमदर्शनैः ॥ ३५ ॥
पेतुः शूलविभिन्नांगा बहवो वानरर्षभाः ।
स्तंभतोरणभग्नाश्च पेतुस्तत्र निशाचराः ॥ ३६ ॥

धान, मौलसिरी के फूल, सूर्य और मन के ऐसे रङ्ग के वानरों से व्याप्त होने के कारण लङ्का की दीवार विचित्र रङ्ग की जान पड़ने लगी। राक्षस जाति के बूढ़ों, बालकों और स्त्रियों को बड़ा आश्चर्य हुआ। वहां के मणिरचित खम्भों और मकानों की चोटियों को वानर तोड़ने-फोड़ने लगे। वहां जो यन्त्र लगे थे उन्हें तोड़ फोड़कर वानरों ने इधर-उधर फेंक दिया। वही वानर वहां रक्खी हुई शतघ्नी, चक्र, लाठियां और गोले उठा-उठाकर लङ्का के भीतर फेंकने और हल्ला करने लगे। दीवार पर रक्षा करने के लिए जो सैकड़ों राक्षस मौजूद थे उन्हें वानरों ने खदेड़कर भगा दिया ॥२७।३२॥

इसके पश्चात् अपने राजा रावण की आज्ञा पाकर कामरूपी, विकृत आकारवाले, सैकड़ों-हजारों राक्षसों के झुण्ड लङ्का से निकले। उन्होंने दीवार पर आकर शस्त्र-अस्त्रों की वर्षा करके वानरों को भगा दिया। काले-कलूटे भयानक राक्षसों ने उस दीवार को वानरों से खाली कर लिया। राक्षसों के त्रिशूल लगने से बहुत से श्रेष्ठ वानर घायल होकर गिर पड़े। बहुतों को राक्षसों ने उखाड़े हुए खम्भों तथा वृक्षों की मार से भगा दिया और मारकर गिरा दिया ॥३३।३६॥

केशाकेश्यभवद्युद्धं रक्षसां वानरैः सह ।
नखैर्दंतैश्च वीराणां खादतां वै परस्परम् ॥ ३७ ॥
निघ्नंतो ह्युभयतस्तत्र वानरराक्षसाः ।
हता निपातिता भूमौ न मुंचंति परस्परम् ॥ ३८ ॥
रामस्तु शरजालानि ववर्ष जलदो यथा ।
तानि लंकां समासाद्य जघ्नुस्तान्रजनीचरान् ॥ ३९ ॥
सौमित्रिरपि नाराचैर्दृढधन्वा जितक्लमः ।
आदिश्याऽऽदिश्य दुर्गस्थान्पातयामास राक्षसान्॥ ४० ॥
ततः प्रत्यवहारोऽभूत्सैन्यानां राघवाज्ञया ।
कृते विमर्दे लंकायां लब्धलक्ष्यो जयोत्तरः ॥ ४१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि लंकाप्रवेशे चतुरशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२८४॥

वानर और राक्षस परस्पर एक दूसरे के बाल पकड़कर, नकोट मारकर, दाँतों से काटकर विकट युद्ध करने लगे। परस्पर तर्जन-गर्जन करके वानर और राक्षस ऐसा प्रचण्ड युद्ध कर रहे थे कि जब तक मरकर गिर न पड़ता था तब तक एक दूसरे को नहीं छोड़ता था। उधर रामचन्द्र जी, बादल जैसे जल बरसाते हैं वैसे, बाणों की वर्षा करके उन राक्षसों को मारने लगे। दृढ़ धनुष हाथ में लिये लक्ष्मण भी उत्साह के साथ नाराच बाणों से दुर्ग-रक्षक राक्षसों को मारकर गिराने लगे। उस दिन इस प्रकार लङ्कापुरी में उत्पात मचा करके विजयी वानरों ने राम की आज्ञा से रात्रि के समय युद्ध बन्द कर दिया ॥३७।४१॥

—०—

वनपर्व का दो सौ चौरासी अध्याय समाप्त हुआ ॥२८४॥

अथ पंचाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२८५॥

मार्कंडेय उवाच—ततो निविशमानांस्तान्सैनिकान्रावणानुगाः ।
अभिजग्मुर्गणाऽनेके पिशाचक्षुद्ररक्षसाम् ॥ १ ॥
पर्वणः पतनो जंभः खरः क्रोधवशो हरिः ।
प्ररुजश्चाऽरुजश्चैव प्रघसश्चैवमादयः ॥ २ ॥

दो सौ पचासी अध्याय ॥२८५॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर! इधर वानर-सेना ने विश्राम किया, उधर रावण की आज्ञा से पर्वण, पतन, जम्भ, खर, क्रोधवश, हरि, प्ररुज, आरुज, प्रघस आदि अनेक पिशाचों और क्षुद्र राक्षसों के समूह अदृश्य होकर प्रहार करने के लिए रामचन्द्र जी की सेना में आये। विभीषण ने उन्हें

ततोऽभिपततां तेषामदृश्यानां दुरात्मनाम् ।
अंतर्धानवधं तज्ज्ञश्चकार स विभीषणः ॥ ३ ॥
ते दृश्यमाना हरिभिर्बलिभिर्दूरपातिभिः ।
निहताः सर्वशो राजन्महीं जग्मुर्गतासवः ॥ ४ ॥
अमृष्यमाणः सबलो रावणो निर्ययावथ ।
राक्षसानां बलैर्घोरैः पिशाचानां च संवृतः ॥ ५ ॥
युद्धशास्त्रविधानज्ञ उशना इव चाऽपरः ।
व्यूह्य चौशनसं व्यूहं हरीनभ्यवहारयत् ॥ ६ ॥
राघवस्तु विनिर्यांतं व्यूढानीकं दशाननम् ।
बार्हस्पत्यं विधिं कृत्वा प्रत्यव्यूहन्निशाचरम् ॥ ७ ॥
समेत्य युयुधे तत्र ततो रामेण रावणः ।
युयुधे लक्ष्मणश्चापि तथैवेन्द्राजिता सह ॥ ८ ॥
विरूपाक्षेण सुग्रीवस्तारेण च निखर्वटः ।
तुंडेन च नलस्तत्र पटुशः पनसेन च ॥ ९ ॥
विपह्यं यं हि यो मेने स स तेन समेयिवान् ।
युयुद्धे युद्धवेलायां स्वबाहुबलमाश्रितः ॥ १० ॥
स संप्रहारो ववृधे भीरूणां भयवर्धनः ।
लोमसंहर्षणो घोरः पुरा देवासुरे यथा ॥ ११ ॥

देखकर, अपनी माया के बल से, उनकी अन्तर्धान-शक्ति नष्ट कर दी ॥१।३॥

तब उन्हें सामने देखकर, दूर तक आने की शक्ति रखनेवाले, वानर उछल-उछलकर मारने लगे और वे भी मर-मरकर आकाश से पृथ्वी पर गिरने लगे। वानरों के द्वारा राक्षसों की हत्या न देख सकने के कारण क्रोधित रावण, सेना साथ लेकर, युद्ध करने के लिए लङ्का के बाहर निकला। दूसरे शुक्राचार्य के समान युद्धशास्त्र के पण्डित रावण ने, शुक्राचार्य के मत से, व्यूहरचना करके राक्षसों और पिशाचों के साथ वानरों की सेना पर आक्रमण किया। तब रामचन्द्र भी, बृहस्पति के मत के अनुसार, व्यूह-रचना करके रावण से युद्ध करने के लिये चले ॥४।७॥

उस समय रावण के साथ रामचन्द्र का, इन्द्रजित् के साथ लक्ष्मण का, विरूपाक्ष के साथ सुग्रीव का, निखर्वट के साथ तार का, तुण्ड के साथ नल का और पटुश के साथ पनस का घोर युद्ध होने लगा। इस तरह जिसने जिसे अपने समान योद्धा पाया वह उसके साथ युद्ध करके अपने बाहु-बल का परिचय देने लगा। पहले देवासुर-संग्राम में जैसा

रावणो राममानर्च्छच्छक्तिशूलासिवृष्टिभिः ।
निशितैरायसैस्तीक्ष्णै रावणं चापि राघवः ॥ १२ ॥
तथैवेंद्रजितं यत्तं लक्ष्मणो मर्मभेदिभिः ।
इंद्रजिच्चापि सौमित्रिं विभेद बहुभिः शरैः ॥ १३ ॥
विभीषणः प्रहस्तञ्च प्रहस्तश्च विभीषणम् ।
खगपत्रैः शरैस्तीक्ष्णैरभ्यवर्षद्गतव्यथः ॥ १४ ॥
तेषां बलवतामासीन्महास्त्राणां समागमः ।
विव्यथुः सकला येन त्रयो लोकाश्चराचराः ॥ १५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि रामरावणादिद्वन्द्वयुद्धे पञ्चाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

कायरों को डरानेवाली लोम-हर्षण मार-काट हुई थी, वैसी ही वानरों और राक्षसों के बीच होने लगी॥८।११।

रावण शक्ति, शूल, खड्ग आदि से रामचन्द्र पर प्रहार करने लगा और वे भी तीक्ष्ण बाणों से रावण को घायल करने लगे। उसी तरह लक्ष्मण भी मर्म-भेदी पैने बाणों से इन्द्रजित् को और इन्द्रजित् अनेक प्रकार के तीक्ष्ण बाणों से लक्ष्मण को मारने लगा। विभीषण और प्रहस्त दोनों परस्पर पक्षियों के पङ्खों से शोभित बाणों की वर्षा करने लगे। इस प्रकार वे पराक्रमी वीर ऐसा घोर युद्ध करने लगे कि उससे तीनों लोकों के निवासी पीड़ित हो उठे ॥१२।१५॥

वनपर्व का दो सौ पचासी अध्याय समाप्त हुआ ॥२८५॥

अथ षडशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२८६॥

मार्कंडेय उवाच—ततः प्रहस्तः सहसा समभ्येत्य विभीषणम् ।
गदया ताडयामास विनद्य रणकर्कशः ॥ १ ॥
स तयाऽभिहतो धीमान्गदया भीमवेगया ।
नाऽकंपत महाबाहुर्हिमवानिव सुस्थिरः ॥ २ ॥
ततः प्रगृह्य विपुलां शतघंटां विभीषणः ।
अनुमंत्र्य महाशक्तिं चिक्षेपाऽस्य शिरः प्रति ॥ ३ ॥

दो सौ छियासी अध्याय ॥२८६॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजेन्द्र! प्रहस्त राक्षस ने ज़ोर से गरजकर, एकाएक विभीषण के पास जाकर, उन पर गदा चलाई। बड़े वेग से आई हुई वह गदा लगने से विभीषण तनिक भी विचलित नहीं हुए; हिमालय की तरह अटल भाव से खड़े रहे। फिर उन्होंने भी दिव्य मन्त्रों से अभिमन्त्रित करके बड़ी भारी, सौ घण्टों से भूषित, शक्ति प्रहस्त के सिर पर मारी। वह शक्ति वज्र की तरह वेग से

पतंत्या स तया वेगाद्राक्षसोऽशनिवेगया ।
हृतोत्तमांगो ददृशे वातरुग्ण इव द्रुमः ॥ ४ ॥
तं दृष्ट्वा निहतं संख्ये प्रहस्तं क्षणदाचरम् ।
अभिदुद्राव धूम्राक्षो वेगेनं महता कपीन् ॥ ५ ॥
तस्य मेघोपमं सैन्यमापतद्भीमदर्शनम् ।
दृष्ट्वैव सहसा दीर्णा रणे वानरपुंगवाः ॥ ६ ॥
ततस्तान्सहसा दीर्णान्दृष्ट्वा वानरपुंगवान् ।
निर्ययौ कपिशार्दूलो हनूमान्मारुतात्मजः ॥ ७ ॥
तं दृष्ट्वाऽवस्थितं संख्ये हरयः पवनात्मजम् ।
महत्या त्वरया राजन्संन्यवर्तन्त सर्वशः ॥ ८ ॥
ततः शब्दो महानासीत्तुमुलो लोमहर्षणः ।
रामरावणसैन्यानामन्योन्यमभिधावताम् ॥ ९ ॥
तस्मिन्प्रवृत्ते संग्रामे घोरे रुधिरकर्दमे ।
धूम्राक्षः कपिसैन्यं तद् द्रावयामास पत्रिभिः ॥ १० ॥
तं स रक्षोमहामात्रमापतंतं सपत्नजित् ।
प्रतिजग्राह हनुमांस्तरसा पवनात्मजः ॥ ११ ॥
तयोर्युद्धमभूद्घोरं हरिराक्षसवीरयोः ।
जिगीषतोर्युधाऽन्योन्यमिन्द्रप्रह्लादयोरिव ॥ १२ ॥

प्रहस्त को लगी। उसमे प्रहस्त का सिर कट गया और वह आंधी से टूटे हुए बड़े पेड़ की तरह पृथ्वी पर गिर पड़ा ॥१।४॥

प्रहस्त के मारे जाने पर धूम्राक्ष राक्षस बड़े वेग से वानर-सेना की ओर दौड़ा। धूम्राक्ष की मेघ-सदृश भयानक सेना को आते देख, भय के मारे, युद्ध छोड़कर वानर एकदम भाग खड़े हुए। महावीर हनुमान् वानरों को भागते देखकर युद्धभूमि में आ गये। उन्हें देखते ही सब वानर लौट आये। अब राम और रावण की सेना के वीर योद्धा एक दूसरे पर आक्रमण करके भयङ्कर युद्ध करने लगे ॥५।९॥

उस समय वीरों के रक्त से युद्धभूमि में कीच सी मच गई। धूम्राक्ष राक्षस धनुष चढ़ाकर तीक्ष्ण बाणों से वानर-सेना का नाश करने लगा। तब पवनपुत्र हनुमान् ने उस पर आक्रमण किया। पहले किसी समय इन्द्र और प्रह्लाद का जैसा युद्ध हुआ था वैसा ही युद्ध वे, जय प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाले, वीर भी करने लगे। धूम्राक्ष गदा, परिघ आदि शस्त्रों से हनुमान् पर प्रहार करता था और हनुमान् समूचे पेड़ उखाड़कर उनसे राक्षस पर वार करते थे। इस

गदाभिः परिघैश्चैव राक्षसो जघ्निवान्कपिम् ।
कपिश्च जघ्निवान्रक्षः सस्कंधविटपैर्द्रुमैः ॥ १३ ॥
ततस्तमतिकोपेन साश्वं सरथसारथिम् ।
धूम्राक्षमवधीत्क्रुद्धो हनूमान्मारुतात्मजः ॥ १४ ॥
ततस्तं निहतं दृष्ट्वा धूम्राक्षं राक्षसोत्तमम् ।
हरयो जातविस्रंभा जघ्नुरन्ये च सैनिकान् ॥ १५ ॥
ते वध्यमाना हरिभिर्बलिभिर्जितकाशिभिः ।
राक्षसा भग्नसंकल्पा लंकामभ्यपतन्भयात् ॥ १६ ॥
तेऽभिपत्य पुरं भग्ना हतशेषा निशाचराः ।
सर्वं राज्ञे यथावृत्तं रावणाय न्यवेदयन् ॥ १७ ॥
श्रुत्वा तु रावणस्तेभ्यः प्रहस्तं निहतं युधि ।
धूम्राक्षं च महेष्वासं ससैन्यं वानरर्षभैः ॥ १८ ॥
सुदीर्घमिव निःश्वस्य समुत्पत्य वरासनात् ।
उवाच कुंभकर्णस्य कर्मकालोऽयमागतः ॥ १९ ॥
इत्येवमुक्त्वा विविधैर्वादित्रैः सुमहास्वनैः ।
शयानमतिनिद्रालुं कुंभकर्णमबोधयत् ॥ २० ॥

प्रकार युद्ध करते करते हनुमान् को क्रोध आ गया। इन्होंने घोड़े, रथ और सारथी सहित धूम्राक्ष को शीघ्र ही मार डाला ॥१०।१४॥

धूम्राक्ष के मारे जाने पर वानरों के हौसले बढ़ गये; वे बेखटके बढ़-बढ़कर राक्षसों की सेना का नाश करने लगे। मरने से जो राक्षस बचे वे बलवान् वानरों के प्रहार से घायल और उत्साहहीन होकर भाग खड़े हुए। उन्होंने लङ्का में जाकर रावण से सब हाल कहा। महावीर वानरों के द्वारा प्रहस्त और धूम्राक्ष के मारे जाने का और उनके साथ की सब राक्षस-सेना के नष्ट होने का हाल सुनकर रावण बहुत चिन्तित हुआ। वह लम्बी साँसें लेता हुआ श्रेष्ठ सिंहासन से उठ खड़ा हुआ और कहने लगा—यह समय कुम्भकर्ण के युद्ध करने का है ॥१५।१९॥

हे राजा युधिष्ठिर! कुम्भकर्ण सदा सोया करता था। रावण ने उसके कानों के पास बड़े-बड़े बाजे बजवाकर उसे जगवाया। महाबली कुम्भकर्ण जागकर जब आसन पर सुख से बैठ गया तब रामचन्द्र से डरे हुए रावण ने कहा—हे कुम्भकर्ण! तुम धन्य हो! तुम्हारी नींद ऐसी विकट है! इस समय हम लोगों के सिर पर बड़ी भारी आपत्ति है, पर तुम्हें उसकी कुछ सूचना ही नहीं। मनुष्य राम समुद्र में पुल बाँधकर वानरों की सेना के साथ लङ्का पर चढ़ आया है। वह हम लोगों का अनादर करके बड़े-बड़े वीर

प्रबोध्य महता चैनं यत्नेनाऽऽगतसाध्वसः ।
स्वस्थमासीनमव्यग्रं विनिद्रं राक्षसाधिपः ॥ २१ ॥
ततोऽब्रवीद्दशग्रीवः कुंभकर्णं महाबलम् ।
धन्योऽसि यस्य ते निद्रा कुंभकर्णेयमीदृशी ॥ २२ ॥
य इदं दारुणाकारं न जानीषे महाभयम् ।
एष तीर्त्वाऽर्णवं रामः सेतुना हरिभिः सह ॥ २३ ॥
अवमन्येह नः सर्वान्करोति कदनं महत् ।
मया त्वपहृता भार्या सीता नामाऽस्य जानकी ॥ २४ ॥
तां नेतुं स इहाऽऽयातो बध्वा सेतुं महार्णवे ।
तेन चैव प्रहस्तादिर्महान्नः स्वजनो हतः ॥ २५ ॥
तस्य नाऽन्यो निहंताऽस्ति त्वामृते शत्रुकर्शन ।
स दंशितोऽभिनिर्याय त्वमद्य बलिनां वर ॥ २६ ॥
रामादीन्समरे सर्वाञ्जहि शत्रूनरिंदम ।
दूषणावरजौ चैव वज्रवेगप्रमाथिनौ ॥ २७ ॥
तौ त्वां बलेन महता सहितावनुयास्यतः ।
इत्युक्त्वा राक्षसपतिः कुंभकर्णं तरस्विनम् ।
संदिदेशेतिकर्तव्ये वज्रवेगप्रमाथिनौ ॥ २८ ॥
तथेत्युक्त्वा तु तौ वीरौ रावणं दूषणानुजौ ।
कुंभकर्णं पुरस्कृत्य तूर्णं निर्ययतुः पुरात् ॥ २९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि कुंभकर्णनिर्गमने षडशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

राक्षसों का नाश कर रहा है ॥२०।२३॥

मैं उसकी स्त्री सीता को वन से हर लाया था। राम समुद्र में सेतु बांधकर उसी का उद्धार करने यहां आया है। उसने प्रहस्त आदि हमारे अनेक स्वजनों को मार डाला है। हे शत्रुदमन ! तुम्हारे सिवा और कोई उसे नहीं मार सकता। तुम बड़े बली हो। इस समय कवच पहनकर युद्ध के लिए जाओ और राम आदि सब शत्रुओं को मारो। दूषण के छोटे भाई वज्रवेग और प्रमाथी नाम के राक्षस, बहुत से महाबली वीर सैनिकों सहित, तुम्हारे साथ जायेंगे। राक्षस-पति रावण ने कुम्भकर्ण से यों कहकर वज्रवेग और प्रमाथी को भी उनका कर्तव्य बताकर उसके साथ करदिया। रावणकी आज्ञा मानकर दोनों वीर राक्षस कुम्भकर्ण के साथ, वानरों से युद्ध करने के लिए लङ्का के बाहर निकले ॥२४।२९॥

—o—

वनपर्व का दो सौ छियासी अध्याय समाप्त हुआ ॥२८६॥

अथ सप्ताशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२८७॥

मार्कंडेय उवाच—ततो निर्याय स्वपुरात्कुंभकर्णः सहानुगः ।
अपश्यत्कपिसैन्यं तज्जितकाश्यग्रतः स्थितम् ॥ १ ॥
स वीक्ष्यमाणस्तत्सैन्यं रामदर्शनकांक्षया ।
अपश्यच्चापि सौमित्रिं धनुष्पाणिं व्यवस्थितम् ॥ २ ॥
तमभ्येत्याऽऽशु हरयः परिवव्रुः समन्ततः ।
अभ्यघ्नंश्च महाकायैर्बहुभिर्जगतीरुहैः ॥ ३ ॥
करजैस्तुदंश्चाऽन्ये विहाय भयमुत्तमम् ।
बहुधा युध्यमानास्ते युद्धमार्गैः प्लवंगमाः ॥ ४ ॥
नानाप्रहरणैर्भीमै राक्षसेंद्रमताडयन् ।
स ताड्यमानः प्रहसन्भक्षयामास वानरान् ॥ ५ ॥
बलं चंडबलाख्यं च वज्रबाहुं च वानरम् ।
तद् दृष्ट्वा व्यथनं कर्म कुंभकर्णस्य रक्षसः ॥ ६ ॥
उदक्रोशन्परित्रस्तास्तारप्रभृतयस्तदा ।
तानुच्चैः क्रोशतः सैन्याञ्श्रुत्वा स हरियूथपान् ॥ ७ ॥
अभिदुद्राव सुग्रीवः कुंभकर्णमपेतभीः ।
ततो निपत्य वेगेन कुंभकर्णं महामनाः ॥ ८ ॥
शालेन जघ्निवान्मूर्ध्नि बलेन कपिकुंजरः ।

दो सौ सत्तासी अध्याय ॥२८७॥

मार्कण्डेय मुनि कहते है—हे राजेन्द्र ! अब कुम्भकर्ण सेना और अनुचरों के साथ लङ्कापुरी से निकला। उसने अपने सामने खड़ी हुई, विजयी वानरों की, सेना को देखा। रामचन्द्र को देखने की इच्छा से कुम्भकर्ण उस सेना को देखने लगा। उसे अपने आगे धनुष चढ़ाये हुए लक्ष्मण देख पड़े। वानरों ने आकर चारों ओर से कुम्भकर्ण को घेर लिया। कुछ वानर बड़े-बड़े वृक्ष उखाड़कर उसको मारने लगे और कुछ वानर पास जाकर पैने नखों से उसे नोचने लगे। अनेक प्रकार से युद्ध करते हुए वानर शिला, वृक्ष आदि से उसे मारने लगे। तब हँसता हुआ कुम्भकर्ण उन प्रहारों से तनिक भी व्यथित न होकर वानरों को पकड़-पकड़कर खाने लगा ॥१।५॥

महाबली चण्डबल और वज्रबाहु वानर को भी वह खा गया। राक्षस कुम्भकर्ण के इस दुःख-दायी भयानक काम को देखकर, डरकर, तार आदि वानर ज़ोर ज़ोर से चिल्लाने लगे। अपने सैनिक मुख्य वानरों को डरकर चिल्लाते देख वानरराज

स महात्मा महावेगः कुंभकर्णस्य मूर्धनि ॥ ९ ॥
विभेद शालं सुग्रीवो न चैवाऽव्यथयत्कपिः ।
ततो विनद्य सहसा शालस्पर्शविबोधितः ॥ १० ॥
दोर्भ्यामादाय सुग्रीवं कुंभकर्णोऽहरद्बलात् ।
ह्रियमाणं तु सुग्रीवं कुंभकर्णेन रक्षसा ॥ ११ ॥
अवेक्ष्याऽभ्यद्रवद्वीरः सौमित्रिर्मित्रनन्दनः ।
सोऽभिपत्य महावेगं रुक्मपुंखं महाशरम् ॥ १२ ॥
प्राहिणोत्कुंभकर्णाय लक्ष्मणः परवीरहा ।
स तस्य देहावरणं भित्त्वा देहं च सायकः ॥ १३ ॥
जगाम दारयन्भूमिं रुधिरेण समुक्षितः ।
तथा स भिन्नहृदयः समुत्सृज्य कपीश्वरम् ॥ १४ ॥
कुंभकर्णो महेष्वासः प्रगृहीतशिलायुधः ।
अभिदुद्राव सौमित्रिमुद्यम्य महतीं शिलाम् ॥ १५ ॥
तस्याऽभिपततस्तूर्णं क्षुराभ्यामुच्छ्रितौ करौ ।
चिच्छेद निशिताग्राभ्यां स बभूव चतुर्भुजः ॥ १६ ॥
तानप्यस्य भुजान्सर्वान्प्रगृहीतशिलायुधान् ।
क्षुरैश्चिच्छेद लघ्वस्त्रं सौमित्रिः प्रतिदर्शयन् ॥ १७ ॥

सुग्रीव निर्भय भाव से कुम्भकर्ण की ओर दौड़े। उन्होंने दौड़कर कुम्भकर्ण के सिर पर बड़े ज़ोर से एक शाल का वृक्ष मारा। कुम्भकर्ण के सिर पर लगने से उस वृक्ष के टुकड़े-टुकड़े हो गये, पर उससे कुम्भकर्ण को तनिक भी व्यथा नहीं पहुँची। उस शाल-वृक्ष के लगने से कुम्भकर्ण को चेत आया॥९।१०॥

उसने बड़े ज़ोर से गरजकर दोनों हाथों से सुग्रीव को उठा लिया। इस प्रकार सुग्रीव को लेकर कुम्भकर्ण जब लङ्का की ओर चला तब अपने मित्रों को आनन्द देनेवाले लक्ष्मण उसकी ओर दौड़े। शत्रुदमन लक्ष्मण ने पास जाकर उसको एक सुवर्ण-पुङ्ख तीक्ष्ण बाण बड़े वेग से मारा। वह बाण कवच को काटता हुआ कुम्भकर्ण के शरीर को फाड़कर, रक्त में भीगकर, पृथ्वी में घुस गया। इस बाण से हृदय फट जाने पर कुम्भकर्ण ने सुग्रीव को छोड़ दिया॥११।१४॥

अब वह एक बड़ी शिला लेकर लक्ष्मण की ओर दौड़ा। लक्ष्मण ने क्षुर बाणों से कुम्भकर्ण के दोनों हाथ काट डाले। तब वह चतुर्भुज हो गया और उन हाथों में शिलायें लेकर लक्ष्मण की ओर दौड़ा। लक्ष्मण ने क्षुर बाणों से उसके चारों हाथ काट लिये। अब वीरश्रेष्ठ कुम्भकर्ण ने माया-बल

अथ सप्ताशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२८७॥

मार्कंडेय उवाच—ततो निर्याय स्वपुरात्कुंभकर्णः सहानुगः ।
अपश्यत्कपिसैन्यं तज्जितकाश्यग्रतः स्थितम् ॥ १ ॥
स वीक्ष्यमाणस्तत्सैन्यं रामदर्शनकांक्षया ।
अपश्यच्चापि सौमित्रिं धनुष्पाणिं व्यवस्थितम् ॥ २ ॥
तमभ्येत्याऽऽशु हरयः परिवव्रुः समन्ततः ।
अभ्यघ्नंश्च महाकायैर्बहुभिर्जगतीरुहैः ॥ ३ ॥
करजैरतुदंश्चाऽन्ये विहाय भयमुत्तमम् ।
बहुधा युध्यमानास्ते युद्धमार्गैः प्लवंगमाः ॥ ४ ॥
नानाप्रहरणैर्भीमं राक्षसेंद्रमताडयन् ।
स ताड्यमानः प्रहसन्भक्षयामास वानरान् ॥ ५ ॥
बलं चंडबलाख्यं च वज्रबाहुं च वानरम् ।
तद् दृष्ट्वा व्यथनं कर्म कुंभकर्णस्य रक्षसः ॥ ६ ॥
उदक्रोशन्परित्रस्तास्तारप्रभृतयस्तदा ।
तानुच्चैः क्रोशतः सैन्याञ्श्रुत्वा स हरियूथपान् ॥ ७ ॥
अभिदुद्राव सुग्रीवः कुंभकर्णमपेतभीः ।
ततो निपत्य वेगेन कुंभकर्णं महामनाः ॥ ८ ॥
शालेन जघ्निवान्मूर्ध्नि बलेन कपिकुंजरः ।

दो सौ सत्तासी अध्याय ॥२८७॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजेन्द्र ! अब कुम्भकर्ण सेना और अनुचरों के साथ लङ्कापुरी से निकला । उसने अपने सामने खड़ी हुई, विजयी वानरों की, सेना को देखा। रामचन्द्र को देखने की इच्छा से कुम्भकर्ण उस सेना को देखने लगा । उसे अपने आगे धनुष चढ़ाये हुए लक्ष्मण देख पड़े । वानरों ने आकर चारों ओर से कुम्भकर्ण को घेर लिया । कुछ वानर बड़े-बड़े वृक्ष उखाड़कर उसको मारने लगे और कुछ वानर पास जाकर पैने नखों से उसे नोचने लगे । अनेक प्रकार से युद्ध करते हुए वानर शिला, वृक्ष आदि से उसे मारने लगे । तब हँसता हुआ कुम्भकर्ण उन प्रहारों से तनिक भी व्यथित न होकर वानरों को पकड़-पकड़कर खाने लगा ॥१-५॥

महाबली चण्डबल और वज्रबाहु वानर को भी वह खा गया। राक्षस कुम्भकर्ण के इस दुःख-दायी भयानक काम को देखकर, डरकर, तार आदि वानर ज़ोर ज़ोर से चिल्लाने लगे । अपने सैनिक मुख्य वानरों को डरकर चिल्लाते देख वानरराज

स महात्मा महावेगः कुंभकर्णस्य मूर्धनि ॥ ९ ॥
बिभेद शालं सुग्रीवो न चैवाऽव्यथयत्कपिः ।
ततो विनद्य सहसा शालस्पर्शविबोधितः ॥ १० ॥
दोर्भ्यामादाय सुग्रीवं कुंभकर्णोऽहरद्बलात् ।
ह्रियमाणं तु सुग्रीवं कुंभकर्णेन रक्षसा ॥ ११ ॥
अवेक्ष्याऽभ्यद्रवद्वीरः सौमित्रिर्मित्रनन्दनः ।
सोऽभिपत्य महावेगं रुक्मपुंखं महाशरम् ॥ १२ ॥
प्राहिणोत्कुंभकर्णाय लक्ष्मणः परवीरहा ।
स तस्य देहावरणं भित्त्वा देहं च सायकः ॥ १३ ॥
जगाम दारयन्भूमिं रुधिरेण समुक्षितः ।
तथा स भिन्नहृदयः समुत्सृज्य कपीश्वरम् ॥ १४ ॥
कुंभकर्णो महेष्वासः प्रगृहीतशिलायुधः ।
अभिदुद्राव सौमित्रिमुद्यम्य महतीं शिलाम् ॥ १५ ॥
तस्याऽभिपततस्तूर्णं क्षुराभ्यामुच्छ्रितौ करौ ।
चिच्छेद निशिताग्राभ्यां स बभूव चतुर्भुजः ॥ १६ ॥
तानप्यस्य भुजान्सर्वान्प्रगृहीतशिलायुधान् ।
क्षुरैश्चिच्छेद लघ्वस्त्रं सौमित्रिः प्रतिदर्शयन् ॥ १७ ॥

सुग्रीव निर्भय भाव से कुम्भकर्ण की ओर दौड़े। उन्होंने दौड़कर कुम्भकर्ण के सिर पर बड़े ज़ोर से एक शाल का वृक्ष मारा। कुम्भकर्ण के सिर पर लगने से उस वृक्ष के टुकड़े-टुकड़े हो गये, पर उससे कुम्भकर्ण को तनिक भी व्यथा नहीं पहुँची। उस शाल-वृक्ष के लगने से कुम्भकर्ण को चेत आया॥९।१०॥

उसने बड़े ज़ोर से गरजकर दोनों हाथों से सुग्रीव को उठा लिया। इस प्रकार सुग्रीव को लेकर कुम्भकर्ण जब लङ्का की ओर चला तब अपने मित्रों को आनन्द देनेवाले लक्ष्मण उसकी ओर दौड़े। शत्रुदमन लक्ष्मण ने पास आकर उसको एक सुवर्ण-पुङ्ख तीक्ष्ण बाण बड़े वेग से मारा। वह बाण कवच को काटता हुआ कुम्भकर्ण के शरीर को फाड़कर, रक्त में भीगकर, पृथ्वी में घुस गया। उस बाण से हृदय फट जाने पर कुम्भकर्ण ने सुग्रीव को छोड़ दिया॥११।१४॥

अब वह एक बड़ी शिला लेकर लक्ष्मण की ओर दौड़ा। लक्ष्मण ने क्षुर बाणों से कुम्भकर्ण के दोनों हाथ काट डाले। तब वह चतुर्भुज हो गया और उन हाथों में शिलाएँ लेकर लक्ष्मण की ओर दौड़ा। लक्ष्मण ने क्षुर बाणों से उसके चारों हाथ काट गिराये। अब वीरश्रेष्ठ कुम्भकर्ण ने माया-बल

स बभूवाऽतिकायश्च बहुपादशिरोभुजः ।
तं ब्रह्मास्त्रेण सौमित्रिर्ददाराऽद्रिचयोपमम् ॥ १८ ॥
स पपात महावीर्यो दिव्यास्त्राभिहतो रणे ।
महाशनिविनिर्दग्धः पादपोऽङ्कुरवानिव ॥ १९ ॥
तं दृष्ट्वा वृत्रसंकाशं कुंभकर्णं तरस्विनम् ।
गतासुं पतितं भूमौ राक्षसाः प्राद्रवन्भयात् ॥ २० ॥
तथा तान्द्रवतो योधान्दृष्ट्वा तौ दूषणानुजौ ।
अवस्थाप्याऽथ सौमित्रिं संक्रुद्धावभ्यधावताम्॥ २१ ॥
तावाद्रवंतौ संक्रुद्धौ वज्रवेगप्रमाथिनौ ।
अभिजग्राह सौमित्रिर्विनद्योभौ पतत्रिभिः ॥ २२ ॥
ततः सुतुमुलं युद्धमभवल्लोमहर्षणम् ।
दूषणानुजयोः पार्थ लक्ष्मणस्य च धीमतः ॥ २३ ॥
महता शरवर्षेण राक्षसौ सोऽभ्यवर्षत ।
तौ चापि वीरौ संक्रुद्धावुभौ तौ समवर्षताम् ॥ २४ ॥
मुहूर्त्तमेवमभवद्वज्रवेगप्रमाथिनोः ।
सौमित्रेश्च महाबाहोः संप्रहारः सुदारुणः ॥ २५ ॥
अथाऽद्रिशृंगमादाय हनुमान्मारुतात्मजः ।
अभिद्रुत्याऽऽददे प्राणान्वज्रवेगस्य रक्षसः ॥ २६ ॥
नीलश्च महता ग्राव्णा दूषणावरजं हरिः ।
प्रमाथिनमभिद्रुत्य प्रममाथ महाबलः ॥ २७ ॥

से अपने शरीर को बहुत बढ़ा लिया। उसके अनेक सिर, हाथ और पांव हो गये। तब लक्ष्मण ने पर्वत-तुल्य कुम्भकर्ण के शरीर में ब्रह्मास्त्र मारा। दिव्य अस्त्र लगते ही, बिजली से जले हुए वृक्ष की तरह, कुम्भकर्ण पृथ्वी पर गिर पड़ा। वृत्रासुर के समान बली, वेगशाली, कुम्भकर्ण को मरकर पृथ्वी पर गिरते देख सब राक्षस भय के मारे भाग खडे हुए ॥१५।२०॥

• राक्षसों को भागते देखकर दूषण के भाई वज्र-वेग और प्रमाथी ने आगे बढ़कर उन्हें रोका। इसके पश्चात् वे दोनों राक्षस क्रुद्ध होकर लक्ष्मण की ओर दौड़े। लक्ष्मण भी उन्हें आते देख गरजकर उन पर तीक्ष्ण बाण बरसाने लगे। लक्ष्मण के साथ वे राक्षस लोमहर्षण युद्ध करने लगे। घड़ी भर तक उन राक्षसों के साथ लक्ष्मण का घोर युद्ध हो चुकने पर पवन-पुत्र हनुमान् एक बड़ा भारी पर्वत का शिखर लेकर उनकी ओर दौडे। हनुमान् ने वह शिला मारकर

ततः प्रावर्त्तत पुनः संग्रामः कटुकोदयः ।
रामरावणसैन्यानामन्योन्यमभिधावताम् ॥ २८ ॥
शतशो नैर्ऋतान्वन्या जघ्नुर्वन्यांश्च नैर्ऋताः ।
नैर्ऋतास्तत्र वध्यंते प्रायेण न तु वानराः ॥ २९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि कुंभकर्णादिवधे सप्ताशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

वज्रवेग को मार डाला। अब महाबली नील वानर ने बड़ी भारी शिला से प्रमाथी को मार गिराया। फिर रामचन्द्र और रावण की सेनाओं में परस्पर घोर युद्ध होने लगा। सैकड़ों वानरों को राक्षसों ने और राक्षसों को वानरों ने मारा किन्तु जितने राक्षस मारे गये उतने वानर नहीं ॥२१।२९॥

वनपर्व का दो सौ सतासी अध्याय समाप्त हुआ ॥२८७॥

अथ अष्टाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२८८॥

मार्कंडेय उवाच—ततः श्रुत्वा हतं संख्ये कुंभकर्णं सहानुगम् ।
प्रहस्तं च महेष्वासं धूम्राक्षं चाऽतितेजसम् ॥ १ ॥
पुत्रमिंद्रजितं वीरं रावणः प्रत्यभाषत ।
जहि राममभित्रघ्न सुग्रीवं च सलक्ष्मणम् ॥ २ ॥
त्वया हि मम सत्पुत्र यशो दीप्तमुपार्जितम् ।
जित्वा वज्रधरं संख्ये सहस्राक्षं शचीपतिम् ॥ ३ ॥
अंतर्हितः प्रकाशो वा दिव्यैर्दत्तवरैः शरैः ।
जहि शत्रूनमित्रघ्न मम शस्त्रभृतां वर ॥ ४ ॥
रामलक्ष्मणसुग्रीवाः शरस्पर्शं न तेऽनघ ।
समर्थाःप्रतिसोढुं च कुतस्तदनुयायिनः ॥ ५ ॥

दो सौ अट्ठासी अध्याय ॥२८८॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं कि हे महाराज! राक्षसराज रावण ने जब सुना कि प्रहस्त और धूम्राक्ष की तरह कुम्भकर्ण भी वज्रवेग और प्रमाथी के साथ मारा गया, तब वह उदास होकर अपने पुत्र महावीर इन्द्रजित् (मेघनाद) से कहने लगा—हे पुत्र! तुम युद्धभूमि में जाकर राम और लक्ष्मण को मारो। पहले तुम युद्ध में इन्द्र को जीतकर पृथ्वी पर मेरा और अपना उज्ज्वल यश बढ़ा चुके हो। तुम मेरे सुपुत्र हो। हे शत्रुदमन! इस समय तुम छिपकर या सामने-सामने युद्ध करके अपने दिव्य बाणों से राम, लक्ष्मण और सुग्रीव आदि शत्रुओं का नाश करो ॥१।४॥

अगता या प्रहस्तेन कुंभकर्णेन चाऽनघ ।
खरस्याऽपचितिः संख्ये तां गच्छ त्वं महाभुज ॥ ६ ॥
त्वमद्य निशितैर्बाणैर्हत्वा शत्रून्ससैनिकान् ।
प्रतिनंदय मां पुत्र पुरा जित्वेव वासवम् ॥ ७ ॥
इत्युक्तः स तथेत्युक्त्वा रथमास्थाय दंशितः ।
प्रययाविंद्रजिद्राजंस्तूर्णमायोधनं प्रति ॥ ८ ॥
ततो विश्राव्य विस्पष्टं नाम राक्षसपुंगवः ।
आह्वयामास समरे लक्ष्मणं शुभलक्षणम् ॥ ९ ॥
तं लक्ष्मणोऽभ्यधावच्च प्रगृह्य सशरं धनुः ।
त्रासयंस्तलघोषेण सिंहः क्षुद्रमृगान्यथा ॥ १० ॥
तयोः समभवद्युद्धं सुमहज्जयगृद्धिनोः ।
दिव्यास्त्रविदुषोस्तीव्रमन्योन्यस्पर्धिनोस्तदा ॥ ११ ॥
रावणिस्तु यदा नैवं विशेषयति सायकैः ।
ततो गुरुतरं यत्नमातिष्ठद्बलिनां वरः ॥ १२ ॥
तत एनं महावेगैरर्दयामास तोमरैः ।
तानागतान्स चिच्छेद सौमित्रिर्निशितैः शरैः ॥ १३ ॥
ते निकृत्ताः शरैस्तीक्ष्णैर्न्यपतन्धरणीतले ।

राम, लक्ष्मण और सुग्रीव कभी तुम्हारे बाणों की चोट को नहीं सह सकते। उनके साथियों और वानरों की तो कुछ बात ही नहीं। प्रहस्त और कुम्भकर्ण आदि वीर राक्षस खर के वध का बदला नहीं ले सके। हे महाबाहु! अब तुम जाकर उस काम को पूरा करो। हे पुत्र! पहले इन्द्र को जीतकर तुमने जैसे मुझे प्रसन्न किया था, वैसे ही इस समय अपने तीक्ष्ण बाणों से शत्रुओं को और उनकी सेना को मारकर मुझे प्रसन्न करो। रावण के यों कहने पर इन्द्रजित् ने युद्ध में जाना स्वीकार कर लिया। कवच पहनकर, रथ पर बैठकर, इन्द्रजित् फुर्ती से युद्ध-भूमि को चला। उसने युद्ध के मैदान में, स्पष्ट रूप से अपना नाम सुनाकर, शुभ-लक्षण-युक्त लक्ष्मण को युद्ध करने के लिए ललकारा। लक्ष्मण भी धनुष-बाण लेकर उसकी ओर चले। उनके ताल ठोकने के शब्द को सुनकर सब राक्षस उसी तरह डर गये जैसे सिंह के शब्द को सुनकर क्षुद्र मृग डर जाते हैं।५।१०।

हे राजा युधिष्ठिर! इसके पश्चात् जय की इच्छा और परस्पर लाग-डाट रखनेवाले, दिव्य अस्त्रों के ज्ञाता, दोनों वीर परस्पर घोर युद्ध करने लगे। बाण युद्ध से जब इन्द्रजित् लक्ष्मण को परास्त नहीं कर सका तब वह दूसरे प्रकार के युद्ध से उन्हें हराने

तमंगदो वालिसुतः श्रीमानुद्यम्य पादपम् ॥ १४ ॥
अभिद्रुत्य महावेगस्ताडयामास मूर्धनि ।
तस्येंद्रजिदसंभ्रांतः प्रासेनोरसि वीर्यवान् ॥ १५ ॥
प्रहर्तुमैच्छत्तं चाऽस्य प्रासं चिच्छेद लक्ष्मणः ।
तमभ्याशगतं वीरमंगदं रावणात्मजः ॥ १६ ॥
गदयाऽताडयत्सव्ये पार्श्वे वानरपुंगवम् ।
तमचिंत्य प्रहारं स बलवान्वालिनः सुतः ॥ १७ ॥
ससर्जेन्द्रजितः क्रोधाच्छालस्कंधं तथाऽगदः ।
सोऽगदेन रुषोत्सृष्टो वधायेंद्रजितस्तरुः ॥ १८ ॥
जघानेंद्रजितः पार्थ रथं साश्वं ससारथिम् ।
ततो हताश्वात्प्रस्कंद्य रथात्स हतसारथिः ॥ १९ ॥
तत्रैवांऽतर्दधे राजन्मायया रावणात्मजः ।
अंतर्हितं विदित्वा तं बहुमायं च राक्षसम् ॥ २० ॥
रामस्तं देशमागम्य तत्सैन्यं पर्यरक्षत ।
स राममुद्दिश्य शरैस्ततो दत्तवरैस्तदा ॥ २१ ॥
विव्याध सर्वगात्रेषु लक्ष्मणं च महाबलम् ।
तमदृश्यं शरैः शूरौ माययांतर्हितं तदा ॥ २२ ॥

की चेष्टा करने लगा। वह बड़े वेग से तोमर नाम के शस्त्रों की वर्षा करने लगा। लक्ष्मण ने अपनी ओर आनेवाले तीक्ष्ण तोमरों को पैने बाणों से राह में ही काट गिराया। इसी बीच में अङ्गद एक बड़ा भारी वृक्ष लेकर इन्द्रजित् की ओर दौड़े। उन्होंने बड़े जोर से वह वृक्ष उसके सिर पर दे मारा॥१३।१५॥

उस प्रहार से इन्द्रजित् तनिक भी नहीं व्याकुल हुआ। उसने प्रास नाम का शस्त्र फेंककर अङ्गद के हृदय में मारा। लक्ष्मण ने उस प्रास को अपने बाणों से बीच में ही काट डाला। अब इन्द्रजित् ने अपने पास आये हुए अङ्गद के बायें कन्धे पर एक भारी गदा मारी; किन्तु उस चोट को अङ्गद ने कुछ भी नहीं समझा। फिर उन्होंने कुपित होकर एक बड़ा भारी शाल का वृक्ष उखाड़ लिया और वह इन्द्रजित् के ऊपर फेंका। इन्द्रजित् को मारने के लिए अङ्गद के चलाये उस वृक्ष से घोड़े और सारथी सहित उसका रथ नष्ट हो गया। तब इन्द्रजित् माया-बल का आश्रय लेकर अन्तर्द्धान हो गया। महामायावी राक्षस को गुप्त होने देखकर रामचन्द्र वहां आ गये और इन्द्रजित् के माया-युद्ध से अपनी सेना की रक्षा करने लगे। इन्द्रजित् गुप्त होकर तीक्ष्ण दिव्य बाणों से राम और लक्ष्मण के अङ्गों में प्रहार करने लगा॥१६।२१॥

योधयामासतुरुभौ रात्रिंं रामलक्ष्मणौ ।
स रुषा सर्वगात्रेषु तयोः पुरुषसिंहयोः ॥ २३ ॥
व्यसृजत्सायकान्भूयः शतशोऽथ सहस्रशः ।
तमदृश्यं विचिन्वंतः सृजंतमनिशं शरान् ॥ २४ ॥
हरयो विविशुर्व्योम प्रगृह्य महतीः शिलाः ।
तांश्च तौ चाप्यदृश्यः स शरैर्विव्याध राक्षसः॥ २५ ॥
स भृशं ताडयामास रावणिर्मायया वृतः ।
तौ शरैराचितौ वीरौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
पेततुर्गगनाद्भूमिं सूर्याचंद्रमसाविव ॥ २६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि इन्द्रजिद्युद्धे अष्टाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः।२८८।

शूर-वीर राम और लक्ष्मण, माया-बल से अदृश्य होकर युद्ध करनेवाले, इन्द्रजित् से युद्ध और उसके ऊपर दिव्य अस्त्रों का प्रयोग करने लगे। क्रुद्ध इन्द्रजित् ने सैंकड़ों-हज़ारों बाण मारकर राम और लक्ष्मण को घायल कर दिया। अदृश्य होकर बाण मारनेवाले इन्द्रजित् को ढूढ़ते हुए वीर वानर बड़ी-बड़ी शिलाएँ लेकर आकाश में पहुँच गये। मायावी इन्द्रजित् माया-बल से अदृश्य होकर राम, लक्ष्मण और उनके साथी वीर वानरों पर तीक्ष्ण बाणों की वर्षा करने लगा। बाण-वर्षा से अत्यन्त घायल राम और लक्ष्मण अचेत हो गये और आकाश से, सूर्य-चन्द्रमा के समान, पृथ्वी पर गिर पड़े ॥२३।२६॥

वनपर्व का दो सौ अट्ठासी अध्याय समाप्त हुआ ॥२८८॥

अथ ऊननवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२८९॥

मार्कण्डेय उवाच—तावुभौ पतितौ दृष्ट्वा भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
बबंध रावणिर्भूयः शरैर्दत्तवरैस्तदा ॥ १ ॥
तौ वीरौ शरबंधेन बद्धाविंद्रजिता रणे ।
रेजतुः पुरुषव्याघ्रौ शकुंताविव पंजरे ॥ २ ॥
तौ दृष्ट्वा पतितौ भूमौ शतशः सायकैश्चितौ ।
सुग्रीवः कपिभिः सार्धं परिवार्य ततः स्थितः ॥ ३ ॥

दो सौ नवासी अध्याय ॥२८९॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर ! राम और लक्ष्मण को पृथ्वी पर बेहोश होकर गिरते देख इन्द्रजित् ने वरदान में प्राप्त दिव्य बाणों से उनके अस्त्रों को बाँध दिया। इन्द्रजित् ने जब बाण-जाल में बाँध दिया तब वे दोनों भाई पिंजरे में पक्षी के समान जान पड़ने लगे। बाण-बन्धन से बंधे

सुषेणमैंदद्विविदैः कुमुदेनांऽगदेन च ।
हनुमन्नीलतारैश्च नलेन च कपीश्वरः ॥ ४ ॥
ततस्तं देशमागम्य कृतकर्मा विभीषणः ।
बोधयामास तौ वीरौ प्रज्ञास्त्रेण प्रबोधितौ ॥ ५ ॥
विशल्यौ चापि सुग्रीवः क्षणेनैतौ चकार ह ।
विशल्यया महौषध्या दिव्यमंत्रप्रयुक्तया ॥ ६ ॥
तौ लब्धसंज्ञौ नृवरौ विशल्यावुदतिष्ठताम् ।
गततंद्रीक्लमौ चापि क्षणेनैतौ महारथौ ॥ ७ ॥
ततो विभीषणः पार्थ राममिक्ष्वाकुनंदनम् ।
उवाच विज्वरं दृष्ट्वा कृतांजलिरिदं वचः ॥ ८ ॥
इदमंभो गृहीत्वा तु राजराजस्य शासनात् ।
गुह्यकोऽभ्यागतः श्वेतात्त्वत्सकाशमरिंदम ॥ ९ ॥
इदमंभः कुबेरस्ते महाराज प्रयच्छति ।
अंतर्हितानां भूतानां दर्शनार्थं परंतपः ॥ १० ॥
अनेन मृष्टनयनो भूतान्यंतर्हितान्युत ।
भवान्द्रक्ष्यति यस्मै च प्रदास्यति नरः स तु ॥ ११ ॥
तथेति रामस्तद्वारि प्रतिगृह्याऽभिसंस्कृतम् ।
चकार नेत्रयोः शौचं लक्ष्मणश्च महामनाः ॥ १२ ॥

हुए राम-लक्ष्मण को—रक्षा करने के लिए-वानर सेना के साथ सुषेण, मैन्द, द्विविद, कुमुद, अङ्गद, हनुमान्, नील, तार, नल और सुग्रीव ने घेर लिया। इतने में सब मायाओं और अस्त्रों के प्रतिकार को जाननेवाले विभीषण ने वहां पहुंचकर प्रज्ञास्त्र के प्रयोग से राम-लक्ष्मण की बेहोशी दूर कर दी। तब सुग्रीव ने दिव्य मन्त्र पढ़कर विशल्यकरणी ओषधि लगाकर दम भर में राम-लक्ष्मण के घाव अच्छे कर दिये। इस प्रकार पल भर में पुरुष-श्रेष्ठ महारथी राम और लक्ष्मण सचेत, आरोग्य और प्रसन्न होकर उठ खड़े हुए ॥१।७॥

राम और लक्ष्मण को नीरोग देखकर विभीषण ने हाथ जोड़कर उनसे कहा—हे शत्रुदमन! राजराज कुबेर की आज्ञा के अनुसार श्वेत पर्वत से यह दिव्य जल लेकर एक यक्ष आपके पास आया है। यक्षाधिप कुबेर के जल में यह शक्ति है कि इसे आंखों में लगा लेने से माया-बल के द्वारा छिपे हुए प्राणी देख पड़ते हैं। इसी लिए उन्होंने यह जल आपके पास भेजा है। आप जिसे यह जल देंगे वह भी इससे आंखें धोकर अदृश्य जीवों को देख सकेगा ॥८।११॥

सुग्रीवजांबवंतौ च हनुमानंगदस्तथा ।
मैंदद्विविदनीलाश्च प्रायः प्लवगसत्तमाः ॥ १३ ॥
तथा समभवच्चापि यदुवाच विभीषणः ।
क्षणेनाऽतींद्रियाण्येषां चक्षूंष्यासन्युधिष्ठिर ॥ १४ ॥
इंद्रजित्कृतकर्मा च पित्रे कर्म तदात्मनः ।
निवेद्य पुनरागच्छत्त्वरयाऽऽजिशिरः प्रति ॥ १५ ॥
तमापतंतं संक्रुद्धं पुनरेव युयुत्सया ।
अभिदुद्राव सौमित्रिर्विभीषणमते स्थितः ॥ १६ ॥
अकृताह्निकमेवैनं जिघांसुर्जितकाशिनम् ।
शरैर्जघान संक्रुद्धः कृतसंज्ञोऽथ लक्ष्मणः ॥ १७ ॥
तयोः समभवद्युद्धं तदाऽन्योन्यं जिगीषतोः ।
अतीव चित्रमाश्चर्यं शक्रप्रह्लादयोरिव ॥ १८ ॥
अविध्यदिंद्रजित्तीक्ष्णैः सौमित्रिं मर्मभेदिभिः ।
सौमित्रिश्चाऽनलस्पर्शैरविध्यद्रावणिं शरैः ॥ १९ ॥
सौमित्रिशरसंस्पर्शाद्रावणिः क्रोधमूर्छितः ।
असृजल्लक्ष्मणायाऽष्टौ शरानाशीविषोपमान् ॥ २० ॥
तस्याऽसून्पावकस्पर्शैः सौमित्रिः पत्रिभिस्त्रिभिः।

हे राजा युधिष्ठिर ! विभीषण की सम्मति से राम ने उस जल से अपनी आंखें धो डालीं। इसके पश्चात् वीर लक्ष्मण और सुग्रीव, जाम्बवान् , हनुमान् अङ्गद, मैन्द, द्विविद, नील आदि श्रेष्ठ वानरों ने भी उस जल से अपनी आंखें धोईं। [उन सबको तुरन्त ही दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गई।] ॥१२।१४॥

उधर इन्द्राजित् युद्ध में सफलता प्राप्त करने के पश्चात्, उसकी सूचना देने, पिता के पास गया था। वहा से लौटकर वह फिर युद्धभूमि में आया। लक्ष्मण ने देखा कि इन्द्रजित् कुपित होकर फिर युद्ध करने आया है। तब वे विभीषण की सम्मति से इन्द्राजित् की ओर चले। वह कुछ अपना नित्य-कर्म करना चाहता था परन्तु विभीषण का इशारा पाकर लक्ष्मण ने उसे वह कृत्य नहीं करने दिया। कुपित लक्ष्मण बीच में ही विजयी इन्द्राजित् पर वाण बरसाने लगे। परस्पर जय पाने की इच्छा रखनेवाले दोनों वीर, इन्द्र और प्रह्लाद की तरह, आश्चर्यजनक दारुण युद्ध करने लगे। इन्द्राजित् मर्म-भेदी तीक्ष्ण वाण मार-कर लक्ष्मण को घायल करने लगा, और लक्ष्मण भी उस पर अग्निमय वाण चलाने लगे। लक्ष्मण के वाणों की चोट खाकर इन्द्राजित् क्रोध से विह्वल हो उठा। उसने लक्ष्मण को विषैले साप के समान आठ

यथा निरहरद्वीरस्तन्मे निगदतः शृणु ॥ २१ ॥
एकेनाऽस्य धनुष्मंतं बाहुं देहादपातयत् ।
द्वितीयेन सनाराचं भुजं भूमौ न्यपातयत् ॥ २२ ॥
तृतीयेन तु बाणेन पृथुधारेण भास्वता ।
जहार सुनसं चापि शिरो भ्राजिष्णुकुंडलम् ॥ २३ ॥
विनिकृत्तभुजस्कंधं कबंधं भीमदर्शनम् ।
तं हत्वा सूतमप्यस्त्रैर्जघान बलिनां वरः ॥ २४ ॥
लंकां प्रवेशयामासुस्तं रथं वाजिनस्तदा ।
ददर्श रावणस्तं च रथं पुत्रविनाकृतम् ॥ २५ ॥
स पुत्रं निहतं दृष्ट्वा त्रासात्संभ्रांतमानसः ।
रावणः शोकमोहार्तो वैदेहीं हंतुमुद्यतः ॥ २६ ॥
अशोकवनिकास्थां तां रामदर्शनलालसाम् ।
खड्गमादाय दुष्टात्मा जवेनाऽभिपपात ह ॥ २७ ॥
तं दृष्ट्वा तस्य दुर्बुद्धेरविंध्यः पापनिश्चयम् ।
शमयामास संक्रुद्धं श्रूयतां येन हेतुना ॥ २८ ॥
महाराज्ये स्थितो दीप्ते न स्त्रियं हंतुमर्हसि ।
हतैवैषा यदा स्त्री च बंधनस्था च ते वशे ॥ २९ ॥

बाण मारे। राक्षस के उन बाणों को लक्ष्मण ने अपने बाणों से व्यर्थ कर दिया और फिर अग्निमय तीन बाणों से जिस तरह उस दुष्ट को मारा, सो भी सुनो ॥१५।२१॥

उन्होंने दो बाणों से इन्द्रजित् के—धनुष और नाराच बाण से शोभित—दोनों हाथों को काट डाला; फिर तीसरे बाण से सुन्दर नासिका और कुण्डलों से शोभित उसका सिर भी काटकर पृथ्वी पर गिरा दिया। सिर और भुजाओं के कटने पर भयानक आकारवाला उसका कबन्ध रथ पर गिर पड़ा। इन्द्रजित् को मारकर लक्ष्मण ने उसके सारथी को भी मार डाला। इन्द्रजित् के घोड़े खाली रथ को लेकर लङ्का में चले गये। बिना पुत्र के सूने रथ को देखकर रावण शोक से विह्वल हो गया। उसे कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान न रहा ॥२२।२५॥

पुत्रशोक से मोहित रावण उस समय सीता को मार डालने के लिए तैयार हो गया। दुष्ट रावण खड्ग लेकर बड़े वेग से अशोक वाटिका की ओर दौड़ा, जहां पर राम के दर्शन की लालसा लगाये हुए सीता बैठी थीं। दुर्बुद्धि दशानन के पाप-विचार का हाल जानकर अविन्ध्य राक्षस ने उसके पास आकर, समझाते हुए कहा—हे महाराज! आप इस

न चैषा देहभेदेन हता स्यादिति मे मतिः ।
जहि भर्तारमेवाऽस्य हते तस्मिन्हता भवेत् ॥ ३० ॥
न हि ते विक्रमे तुल्यः साक्षादपिः शतक्रतुः ।
असकृद्धि त्वया सेंद्रास्त्रासितास्त्रिदशा युधि ॥ ३१ ॥
एवं बहुविधैर्वाक्यैरविंध्यो रावणं तदा ।
क्रुद्धं संशमयामास जगृहे च स तद्वचः ॥ ३२ ॥
निर्याणे स मतिं कृत्वा निधायाऽसिं क्षपाचरः ।
आज्ञापयामास तदा रथो मे कल्प्यतामिति ॥ ३३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि इन्द्रजिद्वधे ऊननवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः।२८९।

बड़े भारी समृद्ध राज्य के स्वामी हैं। स्त्री-हत्या करना आपके योग्य काम नहीं है। सीता आपकी अधीनता में कैद है। मेरी समझ में यह तो बिना मोरे ही मरी हुई के बराबर है, शस्त्र से इसे मारने की आवश्यकता नहीं। आप इसके पति को ही मारिए, उसे मारना ही इसे मारना है। देवराज इन्द्र भी पराक्रम में आपके समान नहीं हैं। आप अनेक बार इन्द्र आदि देवताओं को युद्ध-भूमि में हरा चुके हैं, और वे डरकर भाग चुके हैं ॥२६।३१॥

हे महाराज! अविन्ध्य ने इस तरह के अनेक युक्तिसंगत वचन कहकर रावण को शान्त कर दिया। वह उस वृद्ध सचिव का कहा मानकर, तलवार बांधकर, युद्ध के लिए जाने को तैयार हुआ। उसने उसी समय सारथी को रथ तैयार करके लाने की आज्ञा दी ॥३२।३३॥

—०—

वनपर्व का दो सौ नवासी अध्याय समाप्त हुआ ॥२८९॥

अथ नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२९०॥

मार्कण्डेय उवाच—ततः क्रुद्धो दशग्रीवः प्रिये पुत्रे निपातिते ।
निर्ययौ रथमास्थाय हेमरत्नविभूषितम् ॥ १ ॥
स वृतो राक्षसैर्घोरैर्विविधायुधपाणिभिः ।
अभिदुद्राव रामं स योधयन्हरियूथपान् ॥ २ ॥

दो सौ नब्बे अध्याय ॥२९०॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजेन्द्र! इन्द्रजित् के मरने से अत्यन्त क्रोधित रावण रत्न-शोभित रथ पर बैठकर युद्ध करने के लिए मैदान में आया। विविध शस्त्र लिये हुए भयङ्कर राक्षसों के झुण्ड उसके साथ-साथ चले। बड़े-बड़े वानरों को गिराता और मारता हुआ रावण रामचन्द्र की ओर दौड़ा। इधर से मैन्द, नल, नील, अङ्गद, हनुमान्, जाम्बवान् आदि वीर योद्धा अपनी सेना साथ लेकर रावण

तमाद्रवंतं संक्रुद्धं मैंदनीलनलांगदाः ।
हनूमाञ्जांबवांश्चैव ससैन्याः पर्यवारयन् ॥ ३ ॥
ते दशग्रीवसैन्यं तदृक्षवानरपुंगवाः ।
द्रुमैर्विध्वंसयांचक्रुर्दशग्रीवस्य पश्यतः ॥ ४ ॥
ततः स सैन्यमालोक्य वध्यमानमरातिभिः ।
मायावी चाऽसृजन्मायां रावणो राक्षसाधिपः ॥ ५ ॥
तस्य देहविनिष्क्रांताः शतशोऽथ सहस्रशः ।
राक्षसाः प्रत्यदृश्यंत शरशक्त्यृष्टिपाणयः ॥ ६ ॥
तान्रामो जघ्निवान्सर्वान्दिव्येनाऽस्त्रेण राक्षसान्।
अथ भूयोऽपि मायां स व्यदधाद्राक्षसाधिपः॥ ७ ॥
कृत्वा रामस्य रूपाणि लक्ष्मणस्य च भारत ।
अभिदुद्राव रामं च लक्ष्मणं च दशाननः ॥ ८ ॥
ततस्ते राममर्च्छंतो लक्ष्मणं च क्षपाचराः ।
अभिपेतुस्तदा रामं प्रगृहीतशरासनाः ॥ ९ ॥
तां दृष्ट्वा राक्षसेंद्रस्य मायामिक्ष्वाकुनंदनः ।
उवाच रामं सौमित्रिरसंभ्रांतो बृहद्वचः ॥ १० ॥
जहीमान्राक्षसान्पापानात्मनः प्रतिरूपकान् ।
जघान रामस्तांश्चाऽन्यानात्मनः प्रतिरूपकान् ॥ ११ ॥

को रोकने के लिए आगे बढ़े । उसके सामने ही ये लोग वृक्ष-शिला आदि के प्रहार से राक्षस-सेना का नाश करने लगे ॥१।४॥

मायावी रावण ने अपनी सेना का नाश होते देखकर राक्षसी माया प्रकट की। बाण, शक्ति, ऋष्टि आदि अस्त्र-शस्त्र हाथ में लिये सैकड़ों-हजारों राक्षस उसके शरीर से निकलते हुए देख पड़ने लगे। रामचन्द्र ने दिव्य अस्त्र से उन राक्षसों को नष्ट कर दिया। तब राक्षसराज रावण दूसरे प्रकार की माया प्रकट करने लगा। वह रामचन्द्र के अनेक रूप रखकर लक्ष्मण की ओर और लक्ष्मण के अनेक रूप रखकर रामचन्द्र की ओर दौड़ा। राम-लक्ष्मण का रूप रखते हुए रावण की माया से उत्पन्न राक्षस लोग धनुष चढ़ाकर बाण बरसाते हुए रामचन्द्र और लक्ष्मण की ओर चले ॥५।९॥

यह माया देखकर रामचन्द्र तनिक भी नहीं विचलित हुए और लक्ष्मण से कहने लगे—हे भाई! हम लोगों का रूप रखकर अपनी ओर आनेवाले इन राक्षसों को मारो। इसके पश्चात् राम-लक्ष्मण ने अपना रूप रखनेवाले उन राक्षसों को नष्ट कर दिया।

ततो हर्यश्वयुक्तेन रथेनाऽऽदित्यवर्चसा ।
उपतस्थे रणे रामं मातलिः शक्रसारथिः ॥ १२ ॥

मातलिरुवाच—अयं हर्यश्वयुग्जैत्रो मघोनः स्यंदनोत्तमः ।
अनेन शक्रः काकुत्स्थ समरे दैत्यदानवान् ॥ १३ ॥
शतशः पुरुषव्याघ्र रथोदारेण जघ्निवान् ।
तदनेन नरव्याघ्र मया यत्तेन संयुगे ॥ १४ ॥
स्यंदनेन जहि क्षिप्रं रावणं मा चिरं कृथाः ।
इत्युक्तो राघवस्तथ्यं वचोऽशंकत मातलेः ॥ १५ ॥
मायैषा राक्षसस्येति तमुवाच विभीषणः ।
नेयं माया नरव्याघ्र रावणस्य दुरात्मनः ॥ १६ ॥
तदातिष्ठ रथं शीघ्रमिममैंद्रं महाद्युते ।
ततः प्रहृष्टः काकुत्स्थस्तथेत्युक्त्वा विभीषणम् ॥ १७ ॥
रथेनाऽभिपपाताऽथ दशग्रीवं रुषाऽन्वितः ।
हाहाकृतानि भूतानि रावणे समभिद्रुते ॥ १८ ॥
सिंहनादाः सपटहा दिवि दिव्यास्तथाऽनदन् ।
दशकन्धरराजसून्वोस्तथा युद्धमभून्महत् ॥ १९ ॥
अलब्धोपममन्यत्र तयोरेव तथाऽभवत् ।
स रामाय महाघोरं विससर्ज निशाचरः ॥ २० ॥

इसी बीच में इन्द्र का सारथी मातलि, हरे घोड़ों से शोभित और सूर्य के समान प्रकाशमान, रथ लेकर राम के पास आया और कहने लगा—हे राघव ! यह हरे घोड़ों से युक्त, विजयदायक इन्द्र का रथ है । महेन्द्र ने इस रथ पर बैठकर सैकड़ों-हजारों दुर्द्धर्ष दानवों को मारा है । मैं आपके सारथी का काम करूँगा । आप इस रथ पर बैठकर शीघ्र रावण को मारिए । इन वचनों पर राम को विश्वास नहीं हुआ ; वे उसे भी राक्षस की माया समझकर शङ्कित हुए ॥१०।१५॥

तब विभीषण ने कहा—हे पुरुषश्रेष्ठ ! यह दुष्ट रावण की माया नहीं है । आप बेखटके इन्द्र के भेजे हुए इस रथ पर बैठिए । तब रामचन्द्र प्रसन्नता से विभीषण की बात मानकर उस रथ पर बैठे और कुपित होकर रावण को मारने के लिए उसकी ओर चले । रामचन्द्र को रावण पर आक्रमण करते देखकर उसके अनुगामी भूत-पिशाच-राक्षस हाहाकार करने लगे । स्वर्ग में देवता प्रसन्न होकर सिंहनाद करते हुए नगाड़े बजाने लगे । उस समय रामचन्द्र और रावण का ऐसा घोर युद्ध हुआ, जिसकी उपमा

शूलमिंद्राशनिप्रख्यं ब्रह्मदंडमिवोद्यतम् ।
तच्छूलं सत्वरं रामश्चिच्छेद निशितैः शरैः ॥ २१ ॥
तद् दृष्ट्वा दुष्करं कर्म रावणं भयमाविशत् ।
ततः क्रुद्धः ससर्जाऽऽशु दशग्रीवः शिताञ्छरान् ॥ २२ ॥
सहस्रायुतशो रामे शस्त्राणि विविधानि च ।
ततो भुशुण्डीः शूलानि मुसलानि परश्वधान् ॥ २३ ॥
शक्तीश्च विविधाकाराः शतघ्नीश्च शिताञ्क्षुरान् ।
तां मायां विकृतां दृष्ट्वा दशग्रीवस्य रक्षसः ॥ २४ ॥
भयात्प्रदुद्रुवुः सर्वे वानराः सर्वतोदिशम् ।
ततः सुपत्रं सुमुखं हेमपुंखं शरोत्तमम् ॥ २५ ॥
तूणादादाय काकुत्स्थो ब्रह्मास्त्रेण युयोज ह ।
तं बाणवर्यं रामेण ब्रह्मास्त्रेणाऽनुमंत्रितम् ॥ २६ ॥
जहृषुर्देवगन्धर्वा दृष्ट्वा शक्रपुरोगमाः ।
अल्पावशेषमायुश्च ततोऽमन्यंत रक्षसः ॥ २७ ॥
ब्रह्मास्त्रोदीरणाच्छत्रोर्देवदानवकिंनराः ।
ततः ससर्ज तं रामः शरमप्रतिमौजसम् ॥ २८ ॥
रावणांतकरं घोरं ब्रह्मदण्डमिवोद्यतम् ।
मुक्तमात्रेण रामेण दूराकृष्टेन भारत ॥ २९ ॥
स तेन राक्षसश्रेष्ठः सरथः साश्वसारथिः ।

और किसी युद्ध में नहीं दी जा सकती ॥१६।२०॥

रावण ने इन्द्र के वज्र ऐसा भयङ्कर तीक्ष्ण शूल ले रामचन्द्र के ऊपर फेंका। रामचन्द्र ने तीक्ष्ण बाणों से उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले। उनका यह दुष्कर कर्म देखकर रावण बहुत डरा। अब कुपित होकर वह रामचन्द्र के ऊपर हजारों तीक्ष्ण बाण, भुशुण्डी, शूल, मूसल, फरसा, तरह-तरह की शक्तियां और शतघ्नियां बरसाने लगा। राक्षसराज रावण की अनेक प्रकार की घोर मायाओं को देखकर सब वानर बहुत डरे और चारों ओर भागने लगे ॥२१।२४॥

तब रामचन्द्र ने सुन्दर पङ्खवाले, सुमुख, सुवर्ण-पुङ्ख-युक्त एक उत्तम बाण को तरकस से निकालकर ब्रह्मास्त्र से अभिमन्त्रित किया। उनको ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करते देख इन्द्र आदि देवता और किन्नर, सिद्ध, गन्धर्वगण अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने समझ लिया कि दुष्ट रावण की आयु अब बहुत थोड़ी रह गई है। रामचन्द्र ने परम तेजस्वी, अति भयङ्कर, ब्रह्मास्त्र-युक्त, ब्रह्मदण्ड-तुल्य वह बाण रावण को

प्रजज्वाल महाज्वालेनाऽग्निनाऽभिपरिप्लुतः ॥ ३० ॥
ततः प्रहृष्टास्त्रिदशाः सहगन्धर्वचारणाः ।
निहतं रावणं दृष्ट्वा रामेणाऽक्लिष्टकर्मणा ॥ ३१ ॥
तत्यजुस्तं महाभागं पंचभूतानि रावणम् ।
भ्रंशितः सर्वलोकेषु स हि ब्रह्मास्त्रतेजसा ॥ ३२ ॥
शरीरधातवो ह्यस्य मांसं रुधिरमेव च ।
नेशुर्ब्रह्मास्त्रनिर्दग्धा न च भस्माऽप्यदृश्यत ॥ ३३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि रावणवधे नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२९०॥

मारने के लिए छोड़ा ॥२५।२९॥

प्रज्वलित प्रचण्ड अग्निरूप उस बाण ने जाकर रथ, घोड़े, सारथी आदि के साथ रावण को भस्म कर दिया। इस प्रकार रावण का नाश हुआ देख कर देवता, गन्धर्व, चारण आदि को बड़ी प्रसन्नता हुई। पृथ्वी आदि पञ्चभूतों ने रावण को त्याग दिया, अर्थात् वह मर गया। ब्रह्मास्त्र के तेज से उसके शरीर का मांस, रक्त और सब धातुएँ ऐसी भस्म हुईं कि उनकी राख तक न देख पड़ी ॥३०।३३॥

—०—

वनपर्व का दो सौ नब्बे अध्याय समाप्त हुआ ॥२९०॥

अथ एकनवत्यधिकद्विशततमोऽध्याय ॥२९१॥

मार्कण्डेय उवाच—स हत्वा रावणं क्षुद्रं राक्षसेन्द्रं सुरद्विपम् ।
बभूव हृष्टः ससुहृद्रामः सौमित्रिणा सह ॥ १ ॥
ततो हते दशग्रीवे देवाः सर्षिपुरोगमाः ।
आशीर्भिर्जययुक्ताभिरानर्चुस्तं महाभुजम् ॥ २ ॥
रामं कमलपत्राक्षं तुष्टुवुः सर्वदेवताः ।
गंधर्वाः पुष्पवर्षैश्च वाग्भिश्च त्रिदशालयाः ॥ ३ ॥
पूजयित्वा यथा रामं प्रतिजग्मुर्यथागतम् ।
तन्महोत्सवसंकाशमासीदाकाशमच्युत ॥ ४ ॥

दो सौ इक्यानबे अध्याय ॥२९१॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर! रामचन्द्र इस प्रकार देव द्रोही राक्षसराज रावण को मारकर लक्ष्मण और अन्य इष्ट-मित्रों के साथ बहुत प्रसन्न हुए। रावण के मरने पर देवता और ऋषि महाबाहु रामचन्द्र की जयजयकार करते हुए वहा आये और आशीर्वाद देकर उनकी प्रशंसा करने लगे। सब देवता रामचन्द्र की स्तुति करने लगे। गन्धर्व लोग उनके ऊपर फूल बरसाने लगे। देवता,

ततो हत्वा दशग्रीवं लंकां रामो महायशाः ।
विभीषणाय प्रददौ प्रभुः परपुरंजयः ॥ ५ ॥
ततः सीतां पुरस्कृत्य विभीषणपुरस्कृताम् ।
अविंध्यो नाम सुप्रज्ञो वृद्धामात्यो विनिर्ययौ ॥ ६ ॥
उवाच च महात्मानं काकुत्स्थं दैन्यमास्थितः ।
प्रतीच्छ देवीं सद्वृत्तां महात्मञ्जानकीमिति ॥ ७ ॥
एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्मादवतीर्य रथोत्तमात् ।
वाष्पेणाऽपिहितां सीतां ददर्शेक्ष्वाकुनंदनः ॥ ८ ॥
तां दृष्ट्वा चारुसर्वांगीं यानस्थां शोककर्शिताम् ।
मलोपचितसर्वांगीं जटिलां कृष्णवाससम् ॥ ९ ॥
उवाच रामो वैदेहीं परामर्शविशंकितः ।
गच्छ वैदेहि मुक्ता त्वं यत्कार्यं तन्मया कृतम् ॥ १० ॥
मामासाद्य पतिं भद्रे न त्वं राक्षसवेश्मनि ।
जरां व्रजेथा इति मे निहतोऽसौ निशाचरः ॥ ११ ॥
कथं ह्यस्मद्विधो जातु जानन्धर्मविनिश्चयम् ।
परहस्तगतां नारीं मुहूर्त्तमपि धारयेत् ॥ १२ ॥

ऋषि और गन्धर्व युद्धभूमि में रामचन्द्र की पूजा और स्तुति करके अपने-अपने स्थान को चले गये। उस समय आकाश में बड़ा उत्सव सा हो गया ॥१-४॥

शत्रुदमन राम ने रावण को मारने के पश्चात् लङ्का का राज्य धर्मात्मा विभीषण को दे दिया। तब रावण का वृद्ध सचिव, महाबुद्धिमान्, अविन्ध्य राक्षस विभीषण के साथ रामचन्द्र के पास आया। उसके साथ जानकी भी थीं। अविन्ध्य ने बहुत ही नम्रता के साथ कहा—महात्मा रघुनन्दन! इन सच्चरित्र-वाली पवित्र सीताजी को ग्रहण कीजिए। इक्ष्वाकुवंशी रामचन्द्र अविन्ध्य की बात सुनकर रथ से उतर पड़े। उन्होंने सर्वाङ्गसुन्दरी सीता को देखा। वे आँखों में आँसू भरे, पतिवियोग से कातर, मलिन वस्त्र पहने, सवारी पर बैठी थीं। उनका शरीर दुर्बल और मलिन हो रहा था और सिर पर केशों के उलझ जाने से जटाएँ बँध गई थीं। तब सीता के चरित्र पर सन्देह करके, लोकापवाद से डरकर, रामचन्द्र ने कहा—हे वैदेही! तुम्हें राक्षस के हाथ से छुड़ाकर मैं अपने कर्तव्य का पालन कर चुका। अब तुम्हारा जहाँ जी चाहे वहाँ जाओ ॥५-१०॥

हे भद्रे! मुझ ऐसे पति को पाकर राक्षस के घर में तुम कष्ट न पाओ, कैद में ही रहकर बुड्ढी न हो जाओ, इस विचार से मैंने रावण को मारा है। धर्म के मर्म को अच्छी तरह जाननेवाला मुझ सा

सुवृत्तामसुवृत्तां वाऽप्यहं त्वामद्य मैथिलि ।
नोत्सहे परिभोगाय श्वावलीढं हविर्यथा ॥ १३ ॥
ततः सा सहसा बाला तच्छ्रुत्वा दारुणं वचः ।
पपात देवी व्यथिता निकृत्ता कदली यथा ॥ १४ ॥
योऽप्यस्या हर्षसंभूतो मुखरागस्तदाऽभवत् ।
क्षणेन स पुनर्नष्टो निःश्वास इव दर्पणे ॥ १५ ॥
ततस्ते हरयः सर्वे तच्छ्रुत्वा रामभाषितम् ।
गतासुकल्पा निश्चेष्टा बभूवुः सहलक्ष्मणाः ॥ १६ ॥
ततो देवो विशुद्धात्मा विमानेन चतुर्मुखः ।
पद्मयोनिर्जगत्स्रष्टा दर्शयामास राघवम् ॥ १७ ॥
शक्रश्चाऽग्निश्च वायुश्च यमो वरुण एव च ।
यक्षाधिपश्च भगवांस्तथा सप्तर्षयोऽमलाः ॥ १८ ॥
राजा दशरथश्चैव दिव्यभास्वरमूर्तिमान् ।
विमानेन महार्हेण हंसयुक्तेन भास्वता ॥ १९ ॥
ततोऽन्तरिक्षं तत्सर्वं देवगंधर्वसंकुलम् ।
शुशुभे तारकाचित्रं शरदीव नभस्तलम् ॥ २० ॥
तत उत्थाय वैदेही तेषां मध्ये यशस्विनी ।
उवाच वाक्यं कल्याणी रामं पृथुलवक्षसम् ॥ २१ ॥

मनुष्य पराये घर में रही हुई पत्नी को पल भर भी कैसे अपने पास रख सकता है ? हे जानकी! तुम्हारा चरित्र चाहे शुद्ध हो चाहे न हो, परन्तु कुत्ते के जूठे किये हुए हव्य की तरह, मैं तुमको स्वीकार नहीं कर सकता। रामचन्द्र के ये दारुण वचन सुनकर पतिव्रता और पति को ही देवता माननेवाली जानकी बहुत ही दुखी हुई और कटे हुए केले के पेड़ की तरह पृथ्वी पर गिर पड़ीं। पति के दर्शन की लालसा से पहले उनका मुख-कमल खिल गया था; किन्तु अब वह, मुँह की भाफ से मैले हो गये शीशे की तरह, मलीन हो गया। वानरों सहित लक्ष्मण, रामचन्द्र के ऐसे निठुर वचन सुनकर, मुर्दे की तरह सन्नाटे में आ गये ॥११।१६॥

हे राजा युधिष्ठिर! उससमय विशुद्धस्वरूप चतुर्मुख कमलयोनि ब्रह्मा, इन्द्र, अग्नि, वायु, यमराज, वरुण, यक्षराज कुबेर, सप्तऋषि और महाराज दशरथ आदि सब स्वर्गवासी महापुरुष हंसयुक्त बहुमूल्य विमानों पर चढ़कर रामचन्द्र के पास आये। उससमय अन्तरिक्ष में एकत्रित देवताओं और गन्धर्वों के तेज से आकाश-मण्डल तारागणों से शोभित सा जान पड़ने लगा ।१७।२०

राजपुत्र न ते दोषं करोमि विदिता हि ते ।
गतिः स्त्रीणां नराणां च शृणु चेदं वचो मम ॥ २२ ॥
अंतश्चरति भूतानां मातरिश्वा सदागतिः ।
स मे विमुंचतु प्राणान्यदि पापं चराम्यहम् ॥ २३ ॥
अग्निरापस्तथाऽऽकाशं पृथिवी वायुरेव च ।
विमुंचतु मम प्राणान्यदि पापं चराम्यहम् ॥ २४ ॥
यथाऽहं त्वदृते वीर नाऽन्यं स्वप्नेऽप्यचिंतयम् ।
तथा मे देव निर्दिष्टस्त्वमेव हि पतिर्भव ॥ २५ ॥
ततोऽन्तरिक्षे वागासीत्सुभगा लोकसाक्षिणी ।
पुण्या संहर्षणी तेषां वानराणां महात्मनाम् ॥ २६ ॥
वायुरुवाच—भो भो राघव सत्यं वै वायुरस्मि सदागतिः ।
अपापा मैथिली राजन्संगच्छ सह भार्यया ॥ २७ ॥
अग्निरुवाच—अहमंतःशरीरस्थो भूतानां रघुनंदन ।
सुसूक्ष्ममपि काकुत्स्थ मैथिली नाऽपराध्यति ॥ २८ ॥
वरुण उवाच—रसा वै मत्प्रसूता हि भूतदेहेषु राघव ।
अहं वै त्वां प्रब्रवीमि मैथिली प्रतिगृह्यताम् ॥ २९ ॥

तब यशस्विनी वैदेही ने उठाकर उन सब के सामने रामचन्द्र से कहा—हे राजकुमार ! आपने जो यह कहा उसके लिए मैं आपको दोष नहीं देती; क्योंकि मैं स्त्रियों और पुरुषों की गति अर्थात् स्वभाव को अच्छी तरह जानती हूँ । अब मैं जो कहती हूँ उसे सुनिए । सब मनुष्यों के हृदय में रहनेवाले सदागति वायुदेव अन्तर्यामी होने के कारण सबके हृदय का हाल जानते हैं । यदि मन में भी किसी प्रकार के पाप को आने दिया हो तो वे मेरे प्राणों को नष्ट कर दें । जो मैं किसी तरह दुराचारिणी होऊँ तो वायु, जल, अग्नि, पृथ्वी और आकाश, ये पंचतत्त्व मेरे शरीर को नष्ट कर दें । हे वीर ! आपके सिवा और किसी पुरुष को मैंने स्वप्न में भी स्मरण किया । हे देव ! आप ही मेरे स्वामी हैं । देवताओं के कहने से आप मुझे ग्रहण करें ॥२१।२५॥

सीता के यों कहचुकने पर, सब लोगोंके सामने, पवित्र आकाशवाणी हुई जिससे वानरों को आनन्द हुआ । पहले वायुने कहा—हे राघव ! मैं सदागति वायु हूँ । मैं तुमसे सत्य कहता हूँ कि सीता में रत्ती भर भी दोष नहीं है इसलिए तुम इन्हें ग्रहण करो। फिर अग्नि ने कहा—हे रघुनन्दन ! मैं सब प्राणियों के शरीर में रहनेवाला अग्नि तुम से सच कहता हूँ कि जानकी में कुछ भी पाप नहीं है । इसके पश्चात् वरुण ने कहा—हे राघव ! सब प्राणियों के

ब्रह्मोवाच—पुत्र नैतदिहाऽऽश्चर्यं त्वयि राजर्षिधर्मणि ।
साधो सद्वृत्त काकुत्स्थ शृणु चेदं वचो मम ॥ ३० ॥
शत्रुरेव त्वया वीर देवगंधर्वभोगिनाम् ।
यक्षाणां दानवानां च महर्षीणां च पातितः ॥ ३१ ॥
अवध्यः सर्वभूतानां मत्प्रसादात्पुराऽभवत् ।
कस्माच्चित्कारणात्पापः कंचित्कालमुपेक्षितः ॥ ३२ ॥
वधार्थमात्मनस्तेन हृता सीता दुरात्मना ।
नलकूबरशापेन रक्षा चाऽस्याः कृता मया ॥ ३३ ॥
यदि ह्यकामामासेवेत्स्त्रियमन्यामपि ध्रुवम् ।
शतधाऽस्य फलेन्मूर्धा इत्युक्तः सोऽभवत्पुरा ॥ ३४ ॥
नाऽत्र शंका त्वया कार्या प्रतीच्छेमां महाद्युते ।
कृतं त्वया महत्कार्यं देवानाममरप्रभ ॥ ३५ ॥
दशरथ उवाच—प्रीतोऽस्मि वत्स भद्रं ते पिता दशरथोऽस्मि ते ।
अनुजानामि राज्यं च प्रशाधि पुरुषोत्तम ॥ ३६ ॥
राम उवाच—अभिवादये त्वां राजेंद्र यदि त्वं जनको मम ।
गमिष्यामि पुरीं रम्यामयोध्यां शासनात्तव ॥ ३७ ॥

शरीर में जो रस का अंश है, वह मुझसे उत्पन्न है। मैं कहता हूँ कि तुम जानकी को ग्रहण करो। अब प्रजापति ब्रह्मा ने कहा—हे पुत्र! तुम राजर्षियों के धर्म का पालन करनेवाले और सच्चरित्र हो, इसलिए तुम्हारा यों सीता को स्वीकार न करना कुछ विचित्र नहीं है। किन्तु अब जो मैं कहता हूँ सो सुनो। २६।३०

हे वीर! तुमने रावण को मारकर देवता, गन्धर्व, यक्ष, नाग, दानव और महर्षि आदि का बड़ा उपकार किया है। मेरे वरदान से पापी रावण को कोई मार नहीं सकता था। किसी कारण से कुछ समय तक उसके किये अत्याचारों की उपेक्षा की दृष्टि से देखता रहा। इसके पश्चात् दुरात्मा रावण अपनी मृत्यु के लिए सीता को हर ले गया। मैं नलकूबर के शाप की सहायता से सदा सीता की रक्षा करता रहा हूँ। पहले कुबेर के पुत्र नलकूबर ने रावण को शाप दिया था कि वह किसी कामनाहीन स्त्री पर यदि बलात्कार करेगा तो उसके सिर के सौ टुकड़े हो जायँगे। इसलिए हे महातेजस्वी राघव तुम सीता के बारे में सन्देह न करो; उन्हें ग्रहण कर लो। हे देव-तुल्य! तुमने देवताओं का बड़ा भारी काम किया है। ३१।३५

हे राजा युधिष्ठिर! इसके पश्चात् महाराज दशरथ ने कहा—हे पुत्र! मैं तुम्हारा पिता दशरथ हूँ। तुम्हारा भला हो। मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूं।

मार्कण्डेय उवाच—तमुवाच पिता भूयः प्रहृष्टो भरतर्षभ ।
गच्छाऽयोध्यां प्रशाधीति रामं रक्तांतलोचनम् ॥ ३८ ॥
संपूर्णानीह वर्षाणि चतुर्दश महाद्युते ।
ततो देवान्नमस्कृत्य सुहृद्भिरभिनंदितः ॥ ३९ ॥
महेंद्र इव पौलोम्या भार्यया स समेयिवान् ।
ततो वरं ददौ तस्मै ह्यविंध्याय परंतपः ॥ ४० ॥
त्रिजटां चाऽर्थमानाभ्यां योजमास राक्षसीम् ।
तमुवाच ततो ब्रह्मा देवैः शक्रपुरोगमैः ॥ ४१ ॥
कौसल्यामातरिष्टांस्ते वरानद्य ददानि कान् ।
वव्रे रामः स्थितिं धर्मे शत्रुभिश्चाऽपराजयम् ॥ ४२ ॥
राक्षसैर्निहतानां च वानराणां समुद्भवम् ।
ततस्ते ब्रह्मणा प्रोक्ते तथेति वचने तदा ॥ ४३ ॥
समुत्तस्थुर्महाराज वानरा लब्धचेतसः ।
सीता चापि महाभागा वरं हनुमते ददौ ॥ ४४ ॥
रामकीर्त्या समं पुत्र जीवितं ते भविष्यति ।
दिव्यास्त्वामुपभोगाश्च मत्प्रसादकृताः सदा ॥ ४५ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! मैं तुमको आज्ञा देता हूँ, तुम जानकी को लेकर अयोध्यापुरी में जाओ, और वहां सुख से राज्य करो। दशरथ के ये वचन सुनकर रामचन्द्र ने कहा—हे महाराज ! यदि आप मेरे पिता हैं तो मैं आप को प्रणाम करता हूं। मैं आप की आज्ञा से अयोध्यापुरी में जाकर राज्य करूंगा। मार्कण्डेय मुनि कहते हैं कि हे धर्मराज ! रामचन्द्र के वचन सुनकर, अत्यन्त प्रसन्न होकर दशरथ ने फिर कहा—हे महातेजस्वी राघव ! अब चौदह वर्ष व्यतीत हो गये हैं। तुम शीघ्र अयोध्या में जाकर राज्य करो। इसके पश्चात् रामचन्द्र ने सब देवताओं को प्रणाम किया। लक्ष्मण, सुग्रीव आदि इष्ट मित्रों ने रामचन्द्र का अभिनन्दन किया। इसके पश्चात् रामचन्द्र सीता को ग्रहण कर के इन्द्राणी सहित इन्द्र के समान शोभित हुए। फिर उन्होंने अविन्ध्य को यथेष्ट वर देकर त्रिजटा राक्षसी को धन और सम्मान से सन्तुष्ट किया ॥३६।४०॥

अब इन्द्र आदि देवताओं सहित कमलयोनि ब्रह्मा ने कहा—हे कौशल्यानन्दन ! तुम्हारी क्या इच्छा है ? तुम हमसे क्या वरदान चाहते हो ? रामचन्द्र ने कहा—हे ब्रह्मन् ! धर्म में मेरी अचल बुद्धि हो। शत्रु मुझे कभी पराजित न कर सकें। राक्षसों ने जिन वानरों को मारा है वे फिर जी उठें। ब्रह्मा ने तथास्तु कहकर ये तीनों वर दिये। अब क्या था, सब मरे

उपस्थास्यंति हनुमन्निति स्म हरिलोचन ।
ततस्ते प्रेक्षमाणानां तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ॥ ४६ ॥
अंतर्धानं युयुर्देवाः सर्वे शक्रपुरोगमाः ।
दृष्ट्वा रामं तु जानक्या संगतं शक्रसारथिः ॥ ४७ ॥
उवाच परमप्रीतः सुहृन्मध्य इदं वचः ।
देवगंधर्वयक्षाणां मानुषासुरभोगिनाम् ॥ ४८ ॥
अपनीतं त्वया दुःखमिदं सत्यपराक्रम ।
सदेवासुरगंधर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः ॥ ४९ ॥
कथयिष्यंति लोकास्त्वां यावद्भूमिर्धरिष्यति ।
इत्येवमुक्त्वाऽनुज्ञाप्य रामं शस्त्रभृतां वरम् ॥ ५० ॥
संपूज्याऽपाक्रमत्तेन रथेनाऽऽदित्यवर्चसा ।
ततः सीतां पुरस्कृत्य रामः सौमित्रिणा सह ॥ ५१ ॥
सुग्रीवप्रमुखैश्चैव सहितः सर्ववानरैः ।
विधाय रक्षां लंकायां विभीषणपुरस्कृतः ॥ ५२ ॥
संततार पुनस्तेन सेतुना मकरालयम् ।
पुष्पकेण विमानेन खेचरेण विराजता ॥ ५३ ॥
कामगेन यथामुख्यैरमात्यैः संवृतो वशी ।

हुए वानर जीकर उठ बैठे। इसके पश्चात् जानकी जी ने भाग्यशाली हनुमान् को यह वर दिया कि हे पुत्र! जब तक रामचन्द्र की कीर्ति पृथ्वी पर रहेगी तब तक तुम जियोगे। मेरे प्रसाद से तुम को सदा दिव्य भोग प्राप्त होंगे ॥४१।४६॥

हे राजा युधिष्ठिर! इसके पश्चात् इन्द्र आदि सब देवता रामचन्द्र के सामने ही अन्र्द्धान हो गये। तब जानकी के साथ अपने इष्ट-मित्रों के बीच विराजमान रामचन्द्र को देखकर बड़ी प्रसन्नता से इन्द्र के सारथी मातलि ने कहा—हे सत्यपराक्रमी! आपने रावण को मारकर देवता, गन्धर्व, यक्ष, मनुष्य और असुरों का बड़ा भारी दुःख दूर कर दिया। इसलिए जब तक पृथ्वीपर प्राणी रहेंगे तब तक आपकी कीर्ति गाई जायगी। हे राजन्! रामचन्द्र से यों कहकर, उनकी पूजा करके, उनसे आज्ञा लेकर मातलि सारथी उसी सूर्य सदृश रथ पर बैठकर देवलोक को चला गया ॥४७।५०॥

अब सीता सहित जितेन्द्रिय रामचन्द्र लङ्का की रक्षा का प्रबन्ध करके लक्ष्मण, सुग्रीव, विभीषण और अन्य असंख्य वानरों के साथ कामगामी रमणीय पुष्पक विमान पर सवार हुए। अङ्गद, हनुमान् आदि प्रधान सचिव भी उनके साथ विमानपर बैठे। आकाश-

ततस्तीरे समुद्रस्य यत्र शिश्ये स पार्थिवः ॥ ५४ ॥
तत्रैवोवास धर्मात्मा सहितः सर्ववानरैः ।
अथैनान्राघवः काले समानीयाऽभ्यपूज्य च ॥ ५५ ॥
विसर्जयामास तदा रत्नैः संतोष्य सर्वशः ।
गतेषु वानरेंद्रेषु गोपुच्छर्क्षेषु तेषु च ॥ ५६ ॥
सुग्रीवसहितो रामः किष्किंधां पुनरागमत् ।
विभीषणेनाऽनुगतः सुग्रीवसहितस्तदा ॥ ५७ ॥
पुष्पकेण विमानेन वैदेह्या दर्शयन्वनम् ।
किष्किंधां तु समासाद्य रामः प्रहरतां वरः ॥ ५८ ॥
अंगदं कृतकर्माणं यौवराज्येऽभ्यषेचयत् ।
ततस्तैरेव सहितो रामः सौमित्रिणा सह ॥ ५९ ॥
यथागतेन मार्गेण प्रययौ स्वपुरं प्रति ।
अयोध्यां स समासाद्य पुरीं राष्ट्रपतिस्ततः ॥ ६० ॥
भरताय हनूमंतं दूतं प्रास्थापयत्तदा ।
लक्षयित्वेंगितं सर्वं प्रियं तस्मै निवेद्य वै ॥ ६१ ॥
वायुपुत्रे पुनः प्राप्ते नंदिग्राममुपागमत् ।
स तत्र मलदिग्धांगं भरतं चीरवाससम् ॥ ६२ ॥
अग्रतः पादुके कृत्वा ददर्शाऽऽसीनमासने ।
संगतो भरतेनाऽथ शत्रुघ्नेन च वीर्यवान् ॥ ६३ ॥

मार्ग के द्वारा उसी सेतु के ऊपर से रामचन्द्र समुद्र के इस पार आये। जहां समुद्र-तट पर पहले रामचन्द्र ने सागर को प्रसन्न करने के लिए शयन किया था वहीं पर वे लौटते समय भी ठहरे। उन्होंने वहीं पर दूर दूर से आये हुए वानरों को रत्न-धन आदि से सन्तुष्ट करके बिदा किया।५१।५५

वानर, लंगूर, रीछ आदि सबके चले जाने पर रामचन्द्र सुग्रीव के साथ किष्किन्धा पुरी में पहुंचे। वहां अङ्गद को युवराज का पद देकर फिर सुग्रीव, विभीषण आदि के साथ उसी राह से अयोध्या की ओर चले, जिस राह से पहले आये थे। हे महाराज! रामचन्द्र जब अयोध्या के समीप पहुंच गये तब उन्होंने हनुमान् को दूत बनाकर भरत के पास भेजा।५६।६०।

हनुमान् ने नन्दिग्राम में देखा, [राम-वियोग के शोक से पीड़ित] भरत मुनियों के से वस्त्र पहने बैठे हैं। उनके आगे सिंहासन पर रामचन्द्र की खड़ाऊँ रक्खी हैं। भरत के शरीर में धूल भरी हुई है, वे किसी प्रकार के भोग की सामग्री व्यवहार नहीं

राघवः सहसौमित्रिर्मुमुदे भरतर्षभ ।
ततो भरतशत्रुघ्नौ समेतौ गुरुणा तदा ॥ ६४ ॥
वैदेह्या दर्शनेनोभौ प्रहर्षं समवापतुः ।
तस्मै तद्भरतो राज्यमागतायाऽतिसत्कृतम् ।
न्यासं निर्यातयामास युक्तः परमया मुदा ॥ ६५ ॥
ततस्तं वैष्णवे शूरं नक्षत्रेऽभिमतेऽहनि ।
वसिष्ठो वामदेवश्च सहितावभ्यषिंचताम् ॥ ६६ ॥
सोऽभिषिक्तः कपिश्रेष्ठं सुग्रीवं ससुहृज्जनम् ।
विभीषणं च पौलस्त्यमन्वजानाद्गृहान्प्रति ॥ ६७ ॥
अभ्यर्च्य विविधैर्भोगैः प्रीतियुक्तौ मुदा युतौ ।
समाधायेतिकर्तव्यं दुःखेन विससर्ज ह ॥ ६८ ॥
पुष्पकं च विमानं तत्पूजयित्वा स राघवः ।
प्रादाद्वैश्रवणायैव प्रीत्या स रघुनंदनः ॥ ६९ ॥
ततो देवर्षिसहितः सरितं गोमतीमनु ।
दशाश्वमेधानाजह्रे जारूथ्यान्सनिरर्गलान् ॥ ७० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि रामाभिषेके एकनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः २९१

करते । इन लक्षणों से भरत को पहचानकर उन्हें राम लक्ष्मण-सीता के आने का शुभ और प्रिय समाचार पवनसुत ने सुनाया । अब राम लक्ष्मण आकर भरत और शत्रुघ्न से मिले। राम-लक्ष्मण के साथ सीता को देखकर भरत-शत्रुघ्न को बड़ी प्रसन्नता हुई । फिर भरत ने बड़ी प्रसन्नता के साथ अयोध्या का राज्य रामचन्द्र को सौंप दिया ॥६१।६५॥

कुलपुरोहित वशिष्ठ और वामदेव ने श्रावण और अभिजित् नक्षत्र के संयोग में शूरवीर रामचन्द्र को सिंहासन पर बिठाकर राज्याभिषेक किया । अभिषेक के पश्चात् रामचन्द्र ने सुग्रीव, विभीषण और अन्य इष्ट-मित्रों को रत्न आदि देकर यथोचित सम्मान के उपरान्त बड़े कष्ट से विदा किया । फिर राघव ने प्रीतिपूर्वक पुष्पक विमान की पूजा करके वह कुबेर को ही दे दिया । कुछ समय के पश्चात् रामचन्द्रने गोमती नदी के तट पर देवताओं और ऋषियों को बुलाकर विधिपूर्वक सौ अश्वमेघ यज्ञ किये और उन में जितनी चाहिए उस से तिगुनी दक्षिणा ब्राह्मणों को दी ॥६६।७०॥

—०—

वनपर्व का दो सौ इक्यानवे अध्याय समाप्त हुआ ॥२९१॥

अथ द्विनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२९२॥

एवमेतन्महाबाहो रामेणाऽमिततेजसा ।
प्राप्तं व्यसनमत्युग्रं वनवासकृतं पुरा ॥ १ ॥
मा शुचः पुरुषव्याघ्र क्षत्रियोऽसि परंतप ।
बाहुवीर्याश्रिते मार्गे वर्तसे दीप्तनिर्णये ॥ २ ॥
न हि ते वृजिनं किंचिद्वर्तते परमण्वपि ।
अस्मिन्मार्गे निषीदेयुः सेन्द्राऽपि ससुरासुराः ॥ ३ ॥
संहत्य निहतो वृत्रो मरुद्भिर्वज्रपाणिना ।
नमुचिश्चैव दुर्धर्षो दीर्घजिह्वा च राक्षसी ॥ ४ ॥
सहायवति सर्वार्थाः संतिष्ठंतीह सर्वशः ।
किन्तु तस्याऽजितं संख्ये यस्य भ्राता धनंजयः ॥ ५ ॥
अयं च बलिनां श्रेष्ठो भीमो भीमपराक्रमः ।
युवानौ च महेष्वासौ वीरौ माद्रवतीसुतौ ॥ ६ ॥
एभिः सहायैः कस्मात्त्वं विषीदसि परंतप ।
य इमे वज्रिणः सेनां जयेयुः समरुद्गणाम् ॥ ७ ॥
त्वमप्येभिर्महेष्वासैः सहायैर्देवरूपिभिः ।
विजेष्यसि रणे सर्वानमित्रान्भरतर्पभ ॥ ८ ॥
इतश्च त्वमिमां पश्य सैंधवेन दुरात्मना ।

दो सौ बानवे अध्याय ॥२९२॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे महाबाहु धर्मराज! पूर्व समय में परमतेजस्वी रामचन्द्र ने भी इसी प्रकार वन में रहकर अत्यन्त कठोर दुःख सहे हैं। इस कारण हे पुरुषसिंह! तुम शोक न करो। हे शत्रु-दमन! तुम क्षत्रिय हो और इसीसे प्रत्यक्ष फलदायक बाहुबल के आश्रय की राह में चल रहे हो। तुम में या तुम्हारे आचरण में रत्ती भर भी पातक नहीं देख पड़ता। हे राजन्! जिस मार्ग पर तुम चल रहे हो उसी मार्ग को देवताओं सहित इन्द्र और श्रेष्ठ दानव भी ग्रहण करते हैं। इन्द्र सहित सब देवताओं ने मिल कर वृत्रासुर, दुर्द्धर्ष नमुचि और दीर्घजिह्वा राक्षसी को मारा है। जो पुरुष सहायवान् है उसके सब कार्य अच्छी तरह सिद्ध होते हैं ॥१।५॥

महावीर अर्जुन, भीमपराक्रमी भीमसेन और नवयुवक योद्धा नकुल-सहदेव जिसके भाई हैं वह युद्ध में किसे नहीं जीत सकता? इन सहायकों के रहते तुम क्यों दुःखी हो रहे हो? ये तुम्हारे भाई देव-सेना सहित इन्द्र को भी संग्राम में जीत सकते

वलिना वीर्यमत्तेन हृतामेभिर्महात्मभिः ॥ ९ ॥
आनीतां द्रौपदीं कृष्णां कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ।
जयद्रथं च राजानं विजितं वशमागतम् ॥ १० ॥
असहायेन रामेण वैदेही पुनराहृता ।
हत्वा संख्ये दशग्रीवं राक्षसं भीमविक्रमम् ॥ ११ ॥
यस्य शाखामृगा मित्राण्यृक्षाः कालमुखास्तथा ।
जात्यंतरगता राजन्नेतद् बुद्ध्याऽनुचिंतय ॥ १२ ॥
तस्मात्त्वं कुरुश्रेष्ठ मा शुचो भरतर्षभ ।
त्वद्विधा हि महात्मानो न शोचंति परंतप ॥ १३ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवमाश्वासितो राजा मार्कंडेयेन धीमता ।
त्यक्त्वा दुःखमदीनात्मा पुनरप्येनमब्रवीत् ॥ १४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि युधिष्ठिराश्वासने द्विनवत्यधिकद्विशततमोऽध्याय समाप्त च रामोपाख्यानपर्व ।

हैं । तुम इन देवरूपी महाबली भाइयों की सहायता से शीघ्र ही सब शत्रुओं को जीत लोगे । देखो, सिन्धुराज जयद्रथ इसी वन में बलपूर्वक द्रौपदी को ले भागा था । किन्तु इन महाबली पुरुषों ने सहज ही उसे जीतकर द्रौपदी को छुड़ा लिया ॥९।१०॥

विचार कर देखो, रामचन्द्र का कोई सहायक न था, केवल वानर और रीछ उनके मित्र थे, तब भी वे युद्ध में रावण को मारकर सीता को उसके यहा से छुड़ा लाये । इससे हे कुरुश्रेष्ठ ! तुम शोक न करो । तुम्हारे ऐसे महात्मा धीर पुरुष शोक से व्याकुल नहीं होते । वैशम्पायन कहते है—हे राजा जनमेजय ! बुद्धिमान् मार्कण्डेय के इस प्रकार समझाने पर युधिष्ठिर ने चिन्ता और शोक छोड़कर उनसे इस प्रकार कहा ॥११।१४॥

वनपर्व का दो सौ बानबे अध्याय समाप्त हुआ ॥२९२॥

अथ पतिव्रतामाहात्म्यपर्व ।

अथ त्रिनवत्यधिकद्विशततमोऽध्याय ॥२९३॥

युधिष्ठिर उवाच—नाऽऽत्मानमनुशोचामि नेमान्भ्रातॄन्महामुने ।
हरणं चापि राज्यस्य यथेमां द्रुपदात्मजाम् ॥ १ ॥

दो सौ तिरानबे अध्याय ॥२९३॥

महाराज युधिष्ठिर ने मार्कण्डेय मुनि से कहा—हे मुनिवर ! मुझे अपने और भाइयों के कष्ट उठाने का या हाथ से राज्य निकल जाने का उतना शोक नहीं है, जितना द्रौपदी के लिए शोक है । जुए के

द्यूते दुरात्मभिः क्लिष्टाः कृष्णया तारिता वयम् ।
जयद्रथेन च पुनर्वनाच्चापि हृता बलात् ॥ २ ॥
अस्ति सीमंतिनी काचिद् दृष्टपूर्वाऽपि वा श्रुता ।
पतिव्रता महाभागा यथेयं द्रुपदात्मजा ॥ ३ ॥

मार्कण्डेय उवाच—शृणु राजन्कुलस्त्रीणां महाभाग्यं युधिष्ठिर ।
सर्वमेतद्यथा प्राप्तं सावित्र्या राजकन्यया ॥ ४ ॥
आसीन्मद्रेषु धर्मात्मा राजा परमधार्मिकः ।
ब्रह्मण्यश्च महात्मा च सत्यसंधो जितेंद्रियः ॥ ५ ॥
यज्वा दानपतिर्दक्षः पौरजानपदप्रियः ।
पार्थिवोऽश्वपतिर्नाम सर्वभूतहिते रतः ॥ ६ ॥
क्षमावाननपत्यश्च सत्यवाग्विजितेंद्रियः ।
अतिक्रांतेन वयसा संतापमुपजग्मिवान् ॥ ७ ॥
अपत्योत्पादनार्थं च तीव्रं नियममास्थितः ।
काले परिमिताहारो ब्रह्मचारी जितेंद्रियः ॥ ८ ॥
हुत्वा शतसहस्रं स सावित्र्या राजसत्तम ।
षष्ठे षष्ठे तदा काले बभूव मितभोजनः ॥ ९ ॥
एतेन नियमेनाऽऽसीद्वर्षाण्यष्टादशैव तु ।
पूर्णे त्वष्टादशे वर्षे सावित्री तुष्टिमभ्यगात् ॥ १० ॥

समय दुष्ट कौरवों के द्वारा सताये जाने पर हमें द्रौपदी ने ही उस विपत्ति से उबारा था, उन्हीं को दुष्ट जयद्रथ ने वन से हर ले जाकर घोर कष्ट दिया ! हे ऋषिवर ! आपने इस भाग्यवती द्रौपदी के समान पतिव्रता स्त्री कहीं देखी या सुनी है ? ॥१।३॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—हे महाराज ! कुलस्त्रियों को जितना सौभाग्य प्राप्त हो सकता है उतना सौभाग्य राजकन्या पतिव्रता सावित्री ने प्राप्त किया था । उनके उस सौभाग्य की कथा मैं कहता हूँ, सुनो। मद्र देश में परम धर्मात्मा, ब्रह्मनिष्ठ, सत्यव्रत, जितेन्द्रिय, यज्ञ करनेवाले, दानवीर, पुरवासी और प्रजा को प्रिय तथा सब प्राणियों के हितचिन्तक एक राजा थे। उनका नाम अश्वपति था । उनके कोई सन्तान न थी । बाल-बच्चे उत्पन्न होने की अवस्था निकल जाने पर उन्होंने. पुत्र या कन्या की प्राप्ति के लिए, सावित्री देवी की आराधना की। वे ब्रह्मचर्य से रहकर, इन्द्रिय-दमन आदि कठोर नियमों का पालन करते हुए सावित्री देवी की प्रसन्नता के लिए अग्नि में नित्य एक लाख आहुतियाँ छोड़ते थे, और दिन के छठे भाग में थोड़ा सा भोजन कर लेते थे। उन्होंने इसी नियम से अठारह

रूपिणी तु तदा राजन्दर्शयामास तं नृपम् ।
अग्निहोत्रात्समुत्थाय हर्षेण महताऽन्विता ।
उवाच चैनं वरदा वचनं पार्थिवं तदा ॥ ११ ॥
सावित्र्युवाच—ब्रह्मचर्येण शुद्धेन दमेन नियमेन च ।
सर्वात्मना च भक्त्या च तुष्टास्मि तव पार्थिव ॥ १२ ॥
वरं वृणीष्वाऽश्वपते मद्रराज यदीप्सितम् ।
न प्रमादश्च धर्मेषु कर्तव्यस्ते कथंचन ॥ १३ ॥
अश्वपतिरुवाच—अपत्यार्थः समारंभः कृतो धर्मेप्सया मया ।
पुत्रा मे बहवो देवि भवेयुः कुलभावनाः ॥ १४ ॥
तुष्टासि यदि मे देवि वरमेतं वृणोम्यहम् ।
संतानं परमो धर्म इत्याहुर्मां द्विजातयः ॥ १५ ॥
सावित्र्युवाच—पूर्वमेव मया राजन्नभिप्रायमिमं तव ।
ज्ञात्वा पुत्रार्थमुक्तो वै भगवांस्ते पितामहः ॥ १६ ॥
प्रसादाच्चैव तस्मात्ते स्वयंभुविहिताद्भुवि ।
कन्या तेजस्विनी सौम्य क्षिप्रमेव भविष्यति ॥ १७ ॥
उत्तरं च न ते किंचिद्व्याहर्तव्यं कथंचन ।
पितामहनिसर्गेण तुष्टा ह्येतद्ब्रवीमि ते ॥ १८ ॥
मार्कण्डेय उवाच—स तथेति प्रतिज्ञाय सावित्र्या वचनं नृपः ।

वर्ष तक देवाराधना की । अठारह वर्ष पूरे होने पर सावित्री देवी उन पर प्रसन्न हुईं और अग्निहोत्र से प्रकट होकर राजा से कहने लगीं—॥४।११॥

हे राजन् ! तुम्हारे ब्रह्मचर्य, पवित्रता, दम नियम और अटल भक्ति से मैं तुम पर अत्यन्त प्रसन्न हूँ । तुम सदा धर्म-कर्म करते रहो और इस समय तुम्हारी जो इच्छा हो वह मुझसे माँगो ॥१२।१३॥

अश्वपति ने कहा—हे देवी ! मैंने धर्म-रक्षा के लिए सन्तान की इच्छा से आपकी आराधना की है । इसलिए जो आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मेरी प्रार्थना यही है कि मेरे वंश को बढ़ानेवाले बहुत से पुत्र हों। आप मुझे यही वर दीजिए । ब्राह्मणों के उपदेश से मैं पुत्र को ही परम धर्म मानता हूँ ॥१४।१५॥

तब सावित्री देवी ने कहा—हे राजेन्द्र ! तुम्हारा यह अभिप्राय जानकर मैं पहले ही इस विषय में भगवान् ब्रह्मा से कह चुकी हूँ । उनके प्रसाद से तुम्हारे शीघ्र ही एक तेजस्विनी कन्या उत्पन्न होगी । अब इस बारे में (पुत्र के लिए) तुम कुछ न कहना । मैं प्रसन्न होकर ब्रह्मा की आज्ञा के अनुसार ही तुमसे यह बात कहती हूँ ॥१६।१८॥

प्रसादयामास पुनः क्षिप्रमेतद्भविष्यति ॥ १९ ॥
अंतर्हितायां सावित्र्यां जगाम स्वपुरं नृपः ।
स्वराज्ये चाऽवसद्वीरः प्रजा धर्मेण लालयन् ॥ २० ॥
कस्मिंश्चित्तु गते काले स राजा नियतव्रतः ।
ज्येष्ठायां धर्मचारिण्यां महिष्यां गर्भमादधे ॥ २१ ॥
राजपुत्र्यास्तु गर्भः स मानव्या भरतर्षभ ।
व्यवर्धत तदा शुक्ले तारापतिरिवांबरे ॥ २२ ॥
प्राप्ते काले तु सुषुवे कन्यां राजीवलोचनाम् ।
क्रियाश्च तस्या मुदितश्चक्रे च नृपसत्तमः ॥ २३ ॥
सावित्र्या प्रीतया दत्ता सावित्र्या हुतया ह्यपि ।
सावित्रीत्येव नामाऽस्याश्चक्रुर्विप्रास्तथा पिता ॥ २४ ॥
सा विग्रहवतीव श्रीर्व्यवर्धत नृपात्मजा ।
कालेन चापि सा कन्या यौवनस्था बभूव ह ॥ २५ ॥
तां सुमध्यां पृथुश्रोणीं प्रतिमां कांचनीमिव ।
प्राप्तेयं देवकन्येति दृष्ट्वा संमेनिरे जनाः ॥ २६ ॥
तां तु पद्मपलाशाक्षीं ज्वलन्तीमिव तेजसा ।
न कश्चिद्वरयामास तेजसा प्रतिवारितः ॥ २७ ॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—महाराज अश्वपति सावित्री के वचन को मानकर फिर उन्हें पूजा आदि से प्रसन्न करने लगे। सावित्री के अन्तर्द्धान हो जाने पर राजा अपने रनिवास में गये। इसके पश्चात् वे पहले की तरह धर्म से प्रजा-पालन करते हुए अपने राज्य में रहने लगे। कुछ समय व्यतीत होने पर सदाचारी सुशील राजा अश्वपति की बड़ी रानी धर्मवती मालवी के गर्भ रह गया। हे भरतश्रेष्ठ! रानी मालवी का वह गर्भ शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान दिन-दिन बढ़ने लगा। यथासमय रानी के गर्भ से एक कमलनयनी कन्या उत्पन्न हुई। राजा अश्वपति ने अत्यन्त प्रसन्न होकर उस कन्या के जात-कर्म आदि संस्कार किये ॥१९।२३॥

सावित्री मन्त्र (गायत्री) पढ़कर अग्नि में आहुति देने से प्रसन्न होकर सावित्री ने वह कन्या दी थी, इसी कारण अश्वपति की इच्छा से ब्राह्मणों ने उस कन्या का नाम सावित्री ही रक्खा। वह राजकन्या साक्षात् लक्ष्मी के समान सुन्दरी थी। कुछ दिनों में सावित्री जवान हुई। पतली कमर और विशाल नितम्बोंवाली सावित्री को लोग देवकन्या समझते थे। उस कमलनयनी कन्या का तेज ऐसा था कि किसी को उससे विवाह करने का साहस न होता था ॥२४।२७॥

अथोपोष्य शिरःस्नाता देवतामभिगम्य सा ।
हुत्वाग्निं विधिवद्विप्रान्वाचयामास पर्वणि ॥ २८ ॥
ततः सुमनसः शेषाः प्रतिगृह्य महात्मनः ।
पितुः समीपमगमद्देवी श्रीरिव रूपिणी ॥ २९ ॥
साऽभिवाद्य पितुः पादौ शेषाः पूर्वं निवेद्य च ।
कृतांजलिर्वरारोहा नृपतेः पार्श्वमास्थिता ॥ ३० ॥
यौवनस्थां तु तां दृष्ट्वा स्वां सुतां देवरूपिणीम् ।
अयाच्यमानां च वरैर्नृपतिर्दुःखितोऽभवत् ॥ ३१ ॥
राजोवाच—पुत्रि प्रदानकालस्ते न च कश्चिद्वृणोति माम् ।
स्वयमन्विच्छ भर्तारं गुणैः सदृशमात्मनः ॥ ३२ ॥
प्रार्थितः पुरुषो यश्च स निवेद्यस्त्वया मम ।
विमृश्याऽहं प्रदास्यामि वरय त्वं यथेप्सितम् ॥ ३३ ॥
श्रुतं हि धर्मशास्त्रेषु पठ्यमानं द्विजातिभिः ।
तथा त्वमपि कल्याणि गदतो मे वचः शृणु ॥ ३४ ॥
अप्रदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चाऽनुपयन्पतिः ।
मृते भर्तरि पुत्रश्च वाच्यो मातुररक्षिता ॥ ३५ ॥
इदं मे वचनं श्रुत्वा भर्तुरन्वेषणे त्वर ।

एक समय किसी पर्व के दिन साक्षात् लक्ष्मी के समान सुन्दरी राजकुमारी सावित्री उपवास, स्नान, हवन, देवताओं और ब्राह्मणों की पूजा करने के उपरान्त पवित्र मन से इष्टदेवता के प्रसाद की माला लेकर अपने पिता के पास गई। पिता के चरणों में प्रणाम करने के पश्चात् उनको वह प्रसाद की माला देकर, हाथ जोड़ कर, सावित्री उनके पास खड़ी हो गई। अपनी देवरूपिणि कन्या को जवान देखकर और यह सोचकर कि कोई राजकुमार इससे विवाह करने की हिम्मत नहीं करता, राजा बहुत दुःखित हुए ॥२८।३१॥

तब उन्होंने सावित्री से कहा—हे बेटी! तुम्हारे विवाह का समय आ गया है, किन्तु किसी ने अभी तक तुम्हारे लिए मुझ से प्रार्थना नहीं की। इसलिए तुम स्वयं अपने योग्य पति ढूँढ लो। जिसे तुम पसंद करो, उसके बारे में आकर मुझसे कहो। मैं विचार करके उसीके साथ तुम्हारा विवाह कर दूंगा। ब्राह्मणों के मुँह से धर्मशास्त्रों में मैंने जो सुना है सो मैं कहता हूँ सुनो। जो पिता कन्या का विवाह नहीं करता, जो पुरुष ऋतुकाल में गमन नहीं करता, और जो मनुष्य विधवा माता की रक्षा और पालन नहीं करता, वे तीनों संसार में निन्दनीय होते हैं। इसलिए तुम

देवतानां यथा वाच्यो न भवेयं तथा कुरु ॥ ३६ ॥

मार्कण्डेय उवाच—एवमुक्त्वा दुहितरं तथा वृद्धांश्च मंत्रिणः ।
व्यादिदेशाऽनुयात्रं च गम्यतां चेत्यचोदयत् ॥ ३७ ॥
साऽभिवाद्य पितुः पादौ व्रीडितेव तपस्विनी ।
पितुर्वचनमाज्ञाय निर्जगामाऽविचारितम् ॥ ३८ ॥
सा हैमं रथमास्थाय स्थविरैः सचिवैर्वृता ।
तपोवनानि रम्याणि राजर्षीणां जगाम ह ॥ ३९ ॥
मान्यानां तत्र वृद्धानां कृत्वा पादाभिवादनम् ।
वनानि क्रमशस्तात सर्वाण्येवाऽभ्यगच्छत ॥ ४० ॥
एवं तीर्थेषु सर्वेषु धनोत्सर्गं नृपात्मजा ।
कुर्वती द्विजमुख्यानां तं तं देशं जगाम ह ॥ ४१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने त्रिनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

मेरी आज्ञा से शीघ्र अपने योग्य वर ढूँढो । तुम वही करो, जिसमें मुझे देवताओं के समीप निन्दनीय न होना पड़े ॥३२।३६॥

मार्कण्डे मुनि कहते हैं—कन्या को यह आज्ञा देकर अश्वपति ने वृद्ध मन्त्रियों को उसके साथ जाने की आज्ञा दी । सावित्री ने लजाकर अपने पिता के चरणों में प्रणाम किया । फिर मन्त्रियों के साथ सुवर्णमय रथ पर बैठकर वे वर की खोज में चलीं । सावित्री अनेक राजर्षियों के तपोवनों में गई और वहां जो माननीय वृद्ध पुरुष देख पड़े उनके चरणों में उन्होंने प्रणाम किया । इस प्रकार सब तपोवनों और तीर्थों में घूमती हुई और धन आदि देकर ब्राह्मणों को सन्तुष्ट करती हुई सावित्री अनेक स्थानों में विचरने लगीं ॥३७।४१॥

वनपर्व का दो सौ तिरानवे अध्याय समाप्त हुआ ॥२९३।

अथ चतुर्नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२९४॥

मार्कण्डेय उवाच—अथ मद्राधिपो राजा नारदेन समागतः ।
उपविष्टः सभामध्ये कथायोगेन भारत ॥ १ ॥
ततोऽभिगम्य तीर्थानि सर्वाण्येवाऽऽश्रमांस्तथा।
आजगाम पितुर्वेश्म सावित्री सह मंत्रिभिः ॥ २ ॥

दो सौ चौरानबे अध्याय ।२९४॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—एक समय मद्र देश के राजा अश्वपति सभा में बैठे हुए नारद मुनि से बातचीत कर रहे थे कि इसी समय मन्त्रियों के साथ सब तीर्थों और आश्रमों में घूमकर सावित्री

नारदेन सहाऽऽसीनं सा दृष्ट्वा पितरं शुभा ।
उभयोरेव शिरसा चक्रे पादाभिवादनम् ॥ ३ ॥

नारद उवाच—क गताऽभूत्सुतेयं ते कुतश्चैवाऽऽगता नृप ।
किमर्थं युवतीं भर्त्रे न चैनां संप्रयच्छसि ॥ ४ ॥

अश्वपति उवाच—कार्येण खल्वनेनैव प्रेषिताऽद्यैव चाऽऽगता ।
एतस्याः शृणु देवर्षे भर्तारं योऽनया वृतः ॥ ५ ॥

मार्कण्डेय उवाच—सा ब्रूहि विस्तरेणेति पित्रा संचोदिता शुभा ।
तदैव तस्य वचनं प्रतिगृह्येदमब्रवीत् ॥ ६ ॥

सावित्र्युवाच—आसीच्छाल्वेषु धर्मात्मा क्षत्रियः पृथिवीपतिः ।
द्युमत्सेन इति ख्यातः पश्चाच्चांऽधो बभूव ह ॥ ७ ॥
विनष्टचक्षुषस्तस्य बालपुत्रस्य धीमतः ।
सामीप्येन हृतं राज्यं छिद्रेऽस्मिन्पूर्ववैरिणा ॥ ८ ॥
स बालवत्सया सार्धं भार्यया प्रस्थितो वनम् ।
महारण्यं गतश्चापि तपस्तेपे महाव्रतः ॥ ९ ॥
तस्य पुत्रः पुरे जातः संवृद्धश्च तपोवने ।
सत्यवाननुरूपो मे भर्तेति मनसा वृतः ॥ १० ॥

आ गई । पिता को और नारद को बैठे देख कर उन्होंने दोनों के चरणों में प्रणाम किया । अब नारद ने अश्वपति से कहा—हे राजन् ! तुम्हारी यह कन्या कहां गई थी ? यह कहां से आ रही है ? हे महाराज ! तुम्हारी कन्या जवान हो चुकी है; तुम योग्य पात्र के साथ इसका विवाह क्यों नहीं कर देते ? ॥१।४॥

अश्वपति ने कहा—हे ऋषिवर ! मैंने इसे अपने योग्य वर खोजने के लिए भेजा था। इस समय इसी के मुँह से सुनिए कि इसने किसे अपना पति स्वीकार किया है ॥५॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं कि पिता के वचन सुनकर और उनकी आज्ञा पाकर सावित्री ने कहा—हे पिता जी ! शाल्व देश में एक द्युमत्सेन नाम के राजा थे । वे बड़े ही धर्मात्मा क्षत्रिय दैवकोप के कारण पीछे से उनकी आंखें जाती रहीं । उस समय उनके थोड़ी अवस्था का एक पुत्र था अवसर ढूँढ़ने वाले शत्रुओं ने उन्हें अन्धा और उनके पुत्र को बालक देखकर उनका राज्य छीन लिया । वे महाराज द्युमत्सेन राज्य से भ्रष्ट होकर अपने बालक पुत्र और रानी के साथ वन में आकर तप कर रहे हैं । उनके उस पुत्र का नाम सत्यवान् है । हे महाराज ! सत्यवान् नगर में उत्पन्न होकर तपोवन में पले हैं । अपने योग्य समझकर मैंने उन्हें मन ही मन अपना पति मान लिया है ॥६।१०॥

नारद उवाच—अहो बत महत्पापं सावित्र्या नृपते कृतम् ।
अजानंत्या यदनया गुणवान्सत्यवान्वृतः ॥ ११ ॥
सत्यं वदत्यस्य पिता सत्यं माता प्रभाषते ।
तथाऽस्य ब्राह्मणाश्चक्रुर्नामैतत्सत्यवानिति ॥ १२ ॥
बालस्याऽश्वाः प्रियाश्चाऽस्य करोत्यश्वांश्च मृण्मयान् ।
चित्रेऽपि विलिखत्यश्वांश्चित्राश्व इति चोच्यते ॥ १३ ॥
राजोवाच—अपीदानीं स तेजस्वी बुद्धिमान्वा नृपात्मजः ।
क्षमावानपि वा शूरः सत्यवान्पितृवत्सलः ॥ १४ ॥
नारद उवाच—विवस्वानिव तेजस्वी बृहस्पतिसमो मतौ ।
महेंद्र इव वीरश्च वसुधेव क्षमान्वितः ॥ १५ ॥
अश्वपतिरुवाच—अपि राजात्मजो दाता ब्रह्मण्यश्चापि सत्यवान् ।
रूपवानप्युदारो वाऽप्यथवा प्रियदर्शनः ॥ १६ ॥
नारद उवाच—सांकृते रंतिदेवस्य स्वशक्त्या दानतः समः ।
ब्रह्मण्यः सत्यवादी च शिबिरौशीनरो यथा ॥ १७ ॥
ययातिरिव चोदारः सोमवत्प्रियदर्शनः ।
रूपेणाऽन्यतमोऽश्विभ्यां द्युमत्सेनसुतो बली ॥ १८ ॥

तब नारद ने कहा—हे राजन् ! सावित्री ने बिना जाने ही गुणी सत्यवान् को अपना पति मान लिया, यह बहुत ही नासमझी हुई । द्युमत्सेन और उनकी स्त्री दोनों सदा सत्य वचन कहते हैं, इसी से ब्राह्मणों ने उनके बेटे का नाम सत्यवान् रक्खा है। उनको लोग चित्राश्व भी कहते हैं । इसका कारण यह है कि उन्हें घोड़ों का बड़ा शौक है और वे लड़कपन में मिट्टी के घोड़े बनाकर, चित्र में घोड़े की शकल खींचकर, खेलते थे ॥११।१३॥

यह सुनकर अश्वपति ने पूछा—हे नारदजी ! वह राजकुमार इस समय तेज, बुद्धि, क्षमा, शूरता, पिता और माता की भक्ति आदि गुणों से युक्त तो है न ? नारद ने कहा—हे महाराज ! सत्यवान् सूर्य के समान तेजस्वी हैं, बृहस्पति के समान बुद्धिमान् हैं, महेन्द्र के समान शूर और पृथ्वी के समान क्षमावान् हैं । अश्वपति ने फिर पूछा—हे मुनिवर ! राजकुमार सत्यवान् दाता, ब्राह्मण-भक्त, उदार, सुरूप और प्रियदर्शन हैं न ? ॥१४।१६॥

नारद ने कहा—राजा संकृति के पुत्र सत्यवान् रन्तिदेव के समान दाता, उशीनर के पुत्र राजा शिबि के समान ब्राह्मण-भक्त और सत्यवादी, राजा ययाति के समान उदार और अश्विनीकुमारों के समान सुन्दर हैं । तपस्या और चरित्र में जो श्रेष्ठ हैं उन सज्जनों का कहना है कि महावली और पराक्रमी सत्यवान्

स दांतः स मृदुः शूरः स सत्यः संयतेंद्रियः ।
स मैत्रः सोऽनसूयश्च स ह्रीमान्द्युतिमांश्च सः ॥ १९ ॥
नित्यशश्चाऽऽर्जवं तस्मिन्स्थितिस्तस्यैव च ध्रुवा ।
संक्षेपतस्तपोवृद्धैः शीलवृद्धैश्च कथ्यते ॥ २० ॥

अश्वपतिरुवाच—गुणैरुपेतं सर्वैस्तं भगवन्प्रब्रवीषि मे ।
दोषानप्यस्य मे ब्रूहि यदि संतीह केचन ॥ २१ ॥

नारद उवाच—एक एवाऽस्य दोषो हि गुणानाक्रम्य तिष्ठति ।
स च दोषः प्रयत्नेन न शक्यमतिवर्तितुम् ॥ २२ ॥
एको दोषोऽस्ति नान्योऽस्य सोऽद्यप्रभृति सत्यवान् ।
संवत्सरेण क्षीणायुर्देहन्यासं करिष्यति ॥ २३ ॥

राजोवाच—एहि सावित्रि गच्छस्व अन्यं वरय शोभने ।
तस्य दोषो महानेको गुणानाक्रम्य च स्थितः ॥ २४ ॥
यथा मे भगवानाह नारदो देवसत्कृतः ।
संवत्सरेण सोऽल्पायुर्देहन्यासं करिष्यति ॥ २५ ॥

सावित्र्युवाच—सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते ।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सकृत्सकृत् ॥ २६ ॥

संयमी, दयालु, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, बन्धुओं को प्रिय, ईर्ष्याहीन, लज्जाशील, धीर, सरल प्रकृति, तेजस्वी और धर्म की मर्यादा को जानते और मानते हैं। हे राजन्! ये सब गुण उनमें सदा स्थिर रूप से रहते हैं ॥१७।२०॥

अश्वपति ने कहा—हे भगवन्! आपने मुझ से सत्यवान् के सब गुण कह दिये, अब यदि उनमें कुछ दोष हों तो वे भी कहिए ॥२१॥

नारद ने कहा—हे राजन्! सत्यवान् में केवल एक दोष है, जिसने उनके सब गुणों को व्यर्थ कर दिया है। वह दोष किसी यत्न से दूर नहीं किया जा सकता। वह दोष यही है कि सब गुणों से युक्त सत्यवान् अल्पायु हैं। आज से एक वर्ष के पश्चात् उनकी मृत्यु हो जायगी ॥२२।२३॥

तब राजा ने सावित्री से कहा—हे बेटी! तुम अपने लिए दूसरा वर खोज लो। सत्यवान् में एक बड़ा भारी दोष नारद जी बताते हैं, जिससे उनके सब गुण निष्फल हो गये। वे अल्पायु हैं, एक वर्ष में उनका देहान्त हो जायगा ॥२४।२५॥

सावित्री ने कहा—हे पिता जी! एक ही बार काठ पत्थर आदि वस्तुओं का हिस्सा उन से अलग होता है, एक ही बार कन्या का दान होता है और एक ही बार किसी वस्तु को देने के लिए "मैंने दिया" यह संकल्प किया जाता है। हे पिताजी इसलिये

दीर्घायुरथवाऽल्पायुः सगुणो निर्गुणोऽपि वा ।
सकृद्वृतो मया भर्ता न द्वितीयं वृणोम्यहम् ॥ २७ ॥
मनसा निश्चयं कृत्वा ततो वाचाऽभिधीयते ।
क्रियते कर्मणा पश्चात्प्रमाणं मे मनस्ततः ॥ २८ ॥

नारद उवाच—स्थिरा बुद्धिर्नरश्रेष्ठ सावित्र्या दुहितुस्तव ।
नैषा वारयितुं शक्या धर्मादस्मात्कथंचन ॥ २९ ॥
नाऽन्यस्मिन्पुरुषे संति ये सत्यवति वै गुणाः ।
प्रदानमेव तस्मान्मे रोचते दुहितुस्तव ॥ ३० ॥

राजोवाच—अविचाल्यमेतदुक्तं तथ्यं च भवता वचः ।
करिष्याम्येतदेवं च गुरुर्हि भगवान्मम ॥ ३१ ॥

नारद उवाच—अविघ्नमस्तु सावित्र्याः प्रदाने दुहितुस्तव ।
साधयिष्याम्यहं तावत्सर्वेषां भद्रमस्तु वः ॥ ३२ ॥

मार्कण्डेय उवाच—एवमुक्त्वा समुत्पत्य नारदस्त्रिदिवं गतः ।
राजाऽपि दुहितुः सर्वं वैवाहिकमकारयत् ॥ ३३ ॥

इति श्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने चतुर्नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

सत्यवान् की आयु चाहे बहुत हो और चाहे थोड़ी, वे गुणवान् हों और चाहे गुणहीन, उन्हें एक बार मैं अपना पति मान चुकी । अब दूसरे पुरुष को पति-रूप से मैं नहीं ग्रहण कर सकती । देखिए, पहले मन में निश्चय करने के पश्चात् वाणी से कहा जाता है, पीछे कार्य के द्वारा किया जाता है । इसलिए इस विषय में मेरा मन ही प्रमाण है ॥२६।२८॥

नारद ने अश्वपति से कहा—हे महाराज ! तुम्हारी कन्या सावित्री का निश्चय अटल है । तुम इसे इस धर्म-मार्ग के निश्चय से नहीं डिगा सकते । हे राजन् ! सत्यवान् में जितने गुण हैं वे अन्य पुरुष में एकत्र नहीं मिल सकते । इसलिए मैं भी कहता हूँ कि तुम सत्यवान् के साथ अपनी कन्या का विवाह कर दो ॥२९।३०॥

राजा ने कहा—हे ऋषिवर ! आप ठीक कह रहे हैं कि सावित्री को उसके प्रण से टालना असम्भव है । आप मेरे गुरु हैं, इसलिए आपकी आज्ञा के अनुसार मैं सावित्री का विवाह सत्यवान् के साथ कर दूँगा । नारद ने कहा—हे राजन् ! तुम सत्यवान् के साथ सावित्री का विवाह कर दो । मैं तुम्हारा सब काम बना दूँगा । तुम्हारा और तुम्हारी कन्या आदि सब का मङ्गल होगा ॥३१।३२॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर ! नारद जी यों कहकर आकाश-मार्ग से देवलोक को चले गये । इधर राजा अश्वपति भी कन्या के विवाह की तैयारी करने लगे ॥३३॥

वनपर्व का दो सौ चौरानवे अध्याय समाप्त हुआ ॥२९४॥

अथ पचनवत्यधिकद्विशततमोऽध्याय ॥२९५॥

मार्कण्डेय उवाच--अथ कन्याप्रदाने स तमेवाऽर्थं विचिंतयन् ।
समानिन्ये च तत्सर्वं भांडं वैवाहिकं नृपः ॥ १ ॥
ततो वृद्धान्द्विजान्सर्वानृत्विजः सपुरोहितान् ।
समाहूय दिने पुण्ये प्रययौ सह कन्यया ॥ २ ॥
मेध्यारण्यं स गत्वा च द्युमत्सेनाश्रमं नृपः ।
पद्भ्यामेव द्विजैः सार्धं राजर्षि तमुपागमत् ॥ ३ ॥
तत्राऽपश्यन्महाभागं शालवृक्षमुपाश्रितम् ।
कौश्यां बृस्यां समासीनं चक्षुर्हीनं नृपं तदा ॥ ४ ॥
स राजा तस्य राजर्षेः कृत्वा पूजां यथार्हतः ।
वाचा सुनियतो भूत्वा चकाराऽऽत्मनिवेदनम् ॥ ५ ॥
तस्याऽर्घ्यमासनं चैव गां चाऽऽवेद्य स धर्मवित् ।
किमागमनमित्येवं राजा राजानमब्रवीत् ॥ ६ ॥
तस्य सर्वमभिप्रायमितिकर्तव्यतां च ताम् ।
सत्यवंतं समुद्दिश्य सर्वमेव न्यवेदयत् ॥ ७ ॥
अश्वपतिरुवाच--सावित्री नाम राजर्षे कन्येयं मम शोभना ।
तां स्वधर्मेण धर्मज्ञ स्नुषार्थे त्वं गृहाण मे ॥ ८ ॥
द्युमत्सेन उवाच-च्युताः स्म राज्याद्वनवासमाश्रितामश्चराम धर्मं नियतास्तपस्विनः ।

दो सौ पञ्चानवे अध्याय ॥२९५॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजन् ! इसके पश्चात् राजा अश्वपति कन्यादान का इरादा करके विवाह का सामान जुटाने और सब तैयारियां करने लगे। वृद्ध ब्राह्मण, ऋत्विक्, सभासद और पुरोहित आदि सब को बुलाकर उनके साथ शुभ दिन में कन्या को लेकर राजा अश्वपति पैदल चलकर द्युमत्सेन के पवित्र आश्रम में पहुचे। वहा आकर उन्होंने देखा, अन्धे राजा द्युमत्सेन एक शाल वृक्ष के तले कुशासन बिछाये हुए बैठे हैं ॥१।४॥

राजर्षि अश्वपति ने उनकी विधिपूर्वक पूजा की और उन्हें अपना परिचय दिया। राजर्षि द्युमत्सेन ने बड़े आदर के साथ महाराज अश्वपति को अर्घ्य, पाद्य, आसन, गाय आदि देकर कुशल प्रश्न के उपरान्त पूछा—हे राजन् ! आप यहा किसलिए पधारे हैं ? तब राजा अश्वपति ने सत्यवान् के साथ सावित्री के सम्बन्ध का हाल बताकर कहा---राजर्षि श्रेष्ठ ! हे धर्मज्ञ। आप मेरी इस कल्याणरूपिणी कन्या को धर्मपूर्वक अपनी बहू बनाइए ॥५।८॥

कथं त्वनर्हा वनवासमाश्रमे निवत्स्यते क्लेशमिमं सुता तव ॥ ९ ॥

अश्वपतिरुवाच—सुखं च दुःखं च भवाभवात्मकं यदा विजानाति सुताऽहमेव च ।
न मद्विधे युज्यति वाक्यमीदृशं विनिश्चयेनाऽभिगतोऽस्मि ते नृप ॥ १० ॥

आशां नाऽर्हसि मे हंतुं सौहृदात्प्रणतस्य च ।
अभितश्चाऽऽगतं प्रेम्णा प्रत्याख्यातुं न माऽर्हसि ॥ ११ ॥
अनुरूपो हि युक्तश्च त्वं ममाऽहं तवाऽपि च ।
स्नुषां प्रतीच्छ मे कन्यां भार्यां सत्यवतस्ततः ॥ १२ ॥

द्युमत्सेन उवाच—पूर्वमेवाऽभिलषितः संबंधो मे त्वया सह ।
भ्रष्टराज्यस्त्वहमिति तत एतद्विचारितम् ॥ १३ ॥
अभिप्रायस्त्वयं यो मे पूर्वमेवाऽभिकांक्षितः ।
स निर्वर्ततु मेऽद्यैव कांक्षितो ह्यसि मेऽतिथिः ॥ १४ ॥
ततः सर्वान्समानाय्य द्विजानाश्रमवासिनः ।
यथाविधि समुद्वाहं कारयामासतुर्नृपौ ॥ १५ ॥
दत्त्वा सोऽश्वपतिः कन्यां यथार्हं सपरिच्छदम् ।
ययौ स्वमेव भवनं युक्तः परमया मुदा ॥ १६ ॥
सत्यवानपि तां भार्यां लब्ध्वा सर्वगुणान्विताम् ।

तब द्युमत्सेन ने कहा—हे राजन्! हम लोग राज्य से भ्रष्ट होकर वन में रहते और तप करते हैं। सदा सुख से पली हुई आपकी यह कन्या वनवास के क्लेशों को कैसे सह सकेगी ॥९॥

अश्वपति ने कहा—हे राजर्षि! मैं और मेरी कन्या, दोनों इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि सभी मनुष्य कभी सुख और कभी दुःख भोगते रहते हैं। मुझ ऐसे पुरुष से आप ऐसी बात न कहिए। मैं इन बातों को अच्छी तरह सोच-समझकर प्रेम और मित्रता के भाव से यहां आपके पास आया हूँ। आप इस प्रकार विमुख करके मेरी आशा पर पानी न फेरिए। हे राजन्! हम दोनों परस्पर अनुरूप और योग्य हैं। आप यह सम्बन्ध स्वीकार करके मेरी कन्या को सत्यवान् के लिए ग्रहण कीजिए॥१०।१२॥

द्युमत्सेन ने कहा—हे राजन्! आपसे सम्बन्ध जोड़ने के लिए मेरी पहले से ही बड़ी इच्छा थी। किन्तु अपने राज्य भ्रष्ट होने के कारण मैं आगा-पीछा कर रहा था। आप मेरी पहले की उस इच्छा को अभी पूर्ण कीजिये। आप मेरे प्रिय अतिथि हैं। अब दोनों राजर्षियों ने सब आश्रम-निवासी ब्राह्मणों को बुलाकर विधिपूर्वक सावित्री और सत्यवान् का विवाह करादिया। बहुत से दहेज और अलङ्कार आदि के साथ विधिपूर्वक कन्या-दान करके महाराज अश्वपति बहुत प्रसन्न हुए और फिर अपनी राजधानी को चल दिये ॥१३।१६॥

मुमुदे सा च तं लब्ध्वा भर्तारं मनसेप्सितम् ॥ १७ ॥
गते पितरि सर्वाणि संन्यस्याऽऽभरणानि सा ।
जगृहे वल्कलान्येव वस्त्रं काषायमेव च ॥ १८ ॥
परिचारैर्गुणैश्चैव प्रश्रयेण दमेन च ।
सर्वकामक्रियाभिश्च सर्वेषां तुष्टिमादधे ॥ १९ ॥
श्वश्रूं शरीरसत्कारैः सर्वैराच्छादनादिभिः ।
श्वशुरं देवसत्कारैर्वाचः संयमनेन च ॥ २० ॥
तथैव प्रियवादेन नैपुणेन शमेन च ।
रहश्चैवोपचारेण भर्तारं पर्यतोषयत् ॥ २१ ॥
एवं तत्राऽऽश्रमे तेषां तदा निवसतां सताम् ।
कालस्तपस्यतां कश्चिदपाक्रामत भारत ॥ २२ ॥
सावित्र्या ग्लायमानायास्तिष्ठंत्यास्तु दिवानिशम्।
नारदेन यदुक्तं तद्वाक्यं मनसि वर्तते ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने पंचनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

सत्यवान् सब गुणों से युक्त पत्नी पाकर प्रसन्न हुए और सावित्री अपने अनुरूप पति पाकर सन्तुष्ट हुई। पिता के चले जाने पर सावित्री ने राजसी पोशाक और कीमती जड़ाऊ गहने उतारकर रख दिये, वे वल्कल तथा गेरुए वस्त्र पहनकर मुनि पत्नियों की तरह रहने लगीं। सेवा, शील और सत्य आदि गुण, इन्द्रिय-दमन और सबके प्रिय कार्य करने के स्वभाव से सावित्री सबको सन्तुष्ट रखती थीं। वे हाथ पाव दबाकर और नहला धुलाकर सास को और देवाराधना तथा वाणी के सयम से ससुर को प्रसन्न रखती थीं। वे अपने पति को भी प्रिय वचन बोलकर सब कामों को चतुरता के साथ पूरा करके, शान्ति के साथ रहकर और एकान्त में सब तरह की सेवा करके प्रसन्न रखती थीं। विवाह के पश्चात् इस प्रकार उस आश्रम में रहते और तपस्या करते उन लोगों ने कुछ समय व्यतीत किया। किन्तु सावित्री को दिन रात्रि किसी समय वह नारद की कही हुई बात नहीं भूलती थी। सत्यवान् के अल्पायु होने की चिन्ता से उन्हें कल नहीं पड़ती थी ॥१७।२३॥

—०—

वनपर्व का दो सौ पचानबे अध्याय समाप्त हुआ ॥२९५॥

अथ षण्णवत्यधिकद्विशततमोऽध्याय ॥२९६॥

मार्कण्डेय उवाच—ततः काले बहुतिथे व्यतिक्रांते कदाचन ।
प्राप्तः स कालो मर्तव्यं यत्र सत्यव्रता नृप ॥ १ ॥

गणयंत्याश्च सावित्र्या दिवसे दिवसे गते ।
यद्वाक्यं नारदेनोक्तं वर्तते हृदि नित्यशः ॥ २ ॥
चतुर्थेऽहनि मर्तव्यमिति संचित्य भाविनी ।
व्रतं त्रिरात्रमुद्दिश्य दिवारात्रं स्थिताऽभवत् ॥ ३ ॥
तं श्रुत्वा नियमं तस्या भृशं दुःखान्वितो नृपः।

द्युमत्सेन उवाच—उत्थाय वाक्यं सावित्रीमब्रवीत्परिसांत्वयन् ॥ ४ ॥
अतितीव्रोऽयमारंभस्त्वयाऽऽरब्धो नृपात्मजे ।
तिसृणां वसतीनां हि स्थानं परमदुश्चरम् ॥ ५ ॥

सावित्र्युवाच—न कार्यस्तात संताप. पारयिष्याम्यहं व्रतम् ।
व्यवसायकृतं हीदं व्यवसायश्च कारणम् ॥ ६ ॥

द्युमत्सेन उवाच—व्रतं भिन्धीति वक्तुं त्वां नाऽस्मि शक्तः कथंचन ।
पारयस्वेति वचनं युक्तमस्मद्विधो वदेत् ॥ ७ ॥

मार्कण्डेय उवाच—एवमुक्त्वा द्युमत्सेनो विरराम महामनाः ।
तिष्ठंती चैव सावित्री काष्ठभूतेव लक्ष्यते ॥ ८ ॥

दो सौ छियानवे अध्याय ॥२९६॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर ! इस प्रकार कई मास व्यतीत हो गये । अब [नारद का बताया हुआ] सत्यवान् के मरने का समय निकट आ गया ॥१॥

सावित्री को नारद के वचनों की स्मरण हर घड़ी बनी रहती थी और वे नित्य एक-एक दिन गिनती रहती थीं। जब पतिव्रता सावित्री को हिसाब लगाने से मालूम हुआ कि पति की मृत्यु में चार दिन शेष रह गये हैं तब उन्होंने तीन दिन का निराहार व्रत धारण कर लिया । सावित्री के उस कठोर व्रत का समाचार सुनकर, उनके ससुर राजा द्युमत्सेन अत्यन्त दुखी हुए । वे सावित्री के पास आकर समझाते हुए कहने लगे—॥२।४॥

हे राजकुमारी ! तुमने यह अत्यन्त कठिन और तीव्र व्रत ग्रहण किया है । तीन दिन तक बिना अन्न-जल के रहना बहुत कठिन कार्य है । सावित्री ने कहा—हे तात ! आप खेद न करें । मैं यह व्रत पूरा कर लूगी । मैंने इसका दृढ़ निश्चय कर लिया है । निश्चय और उद्योग से ही सब कार्य सिद्ध होते हैं । द्युमत्सेन ने कहा—यह तो मैं कह नहीं सकता कि तुम यह व्रत छोड़ दो । मुझ ऐसे [बड़े बूढ़े] को तो यही कहना चाहिए कि जिस तरह हो, तुम इस व्रत को पूरा कर लो ॥५।७॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—राजा द्युमत्सेन यह कहकर चुप हो रहे । निराहार व्रत धारण किये हुए सावित्री काठ की तरह चेष्टाहीन देख पड़ने लगी ।

श्वोभूते भर्तृमरणे सावित्र्या भरतर्षभ ।
दुःखान्वितायास्तिष्ठन्त्याः सा रात्रिर्व्यत्यवर्तत ॥ ९ ॥
अथ तद्दिवसं चेति हुत्वा दीप्तं हुताशनम् ।
युगमात्रोदिते सूर्ये कृत्वा पौर्वाह्णिकीः क्रियाः ॥ १० ॥
ततः सर्वान्द्विजान्वृद्धाञ्श्वश्रूं श्वशुरमेव च ।
अभिवाद्याऽनुपूर्व्येण प्रांजलिर्नियता स्थिता ॥ ११ ॥
अवैधव्याशिषस्ते तु सावित्र्यर्थं हिताः शुभाः ।
ऊचुस्तपस्विनः सर्वे तपोवननिवासिनः ॥ १२ ॥
एवमस्त्विति सावित्री ध्यानयोगपरायणा ।
मनसा ता गिरः सर्वाः प्रत्यगृह्णात्तपस्विनाम् ॥ १३ ॥
तं कालं तं मुहूर्तं च प्रतीक्षंती नृपात्मजा ।
यथोक्तं नारदवचश्चिंतयंती सुदुःखिता ॥ १४ ॥
ततस्तु श्वश्रूश्वशुरावूचतुस्तां नृपात्मजाम् ।
एकांतमास्थितां वाक्यं प्रीत्या भरतसत्तम ॥ १५ ॥
श्वशुरावूचतु—व्रतं यथोपदिष्टं तु तथा तत्पारितं त्वया ।
आहारकालः संप्राप्तः क्रियतां यदनंतरम् ॥ १६ ॥
सावित्र्युवाच—अस्तं गते मयाऽऽदित्ये भोक्तव्यं कृतकामया ।

जिस रात्रि के व्यतीत होने पर दूसरे दिन सत्यवान् की मृत्यु होनेवाली थी, वह रात्रि सावित्री ने बैठे बैठे बड़े कष्ट से व्यतीत की। रात्रि व्यतीत होने पर सवेरा हुआ और सूर्यदेव आकाश में तीन-चार हाथ ऊपर उठ आये। अब सावित्री ने यह सोचकर कि आज ही स्वामी की मृत्यु का दिन है, प्रज्वलित अग्नि में हवन आदि—दिन के पूर्व-भाग के—कृत्य किये। इस प्रकार व्रत समाप्त करने के पश्चात् सावित्री सास, ससुर और वृद्ध ब्राह्मणों को प्रणाम करके हाथ जोड़कर उनके सामने खड़ी हुई। तपोवन में रहने वाले ब्राह्मणों ने सावित्री को आशीर्वाद देकर कहा—हे पुत्री! तुम्हारा सौभाग्य अचल हो ॥८।१३॥

मन में ध्यान करती हुई सावित्री ने हृदय से "यही हो" कहकर उनके दिये हुए शुभ और हितकारी आशीर्वादों को ग्रहण किया। अत्यन्त दुःखित और चिन्तित सावित्री उसी भयानक समय और घड़ी की राह देखने लगीं, जिसमें सत्यवान् की मृत्यु होने वाली थी। हे भरतश्रेष्ठ! तब एकांत में बैठी हुई सावित्री से प्रसन्नता के साथ सास और ससुर ने कहा—हे बेटी! शास्त्र के उपदेश के अनुसार तुम व्रत पूरा कर चुकीं, अब भोजन का समय आ गया है, इसलिए भोजन कर लो ॥१३।१६॥

एष मे हृदि संकल्पः समयश्च कृतो मया ॥ १७ ॥

मार्कण्डेय उवाच—एवं संभाषमाणायाः सावित्र्या भोजनं प्रति ।
स्कंधे परशुमादाय सत्यवान्प्रस्थितो वनम् ॥ १८ ॥
सावित्री त्वाह भर्तारं नैकस्त्वं गंतुमर्हसि ।
सह त्वया गमिष्यामि नहि त्वां हातुमुत्सहे ॥ १९ ॥

सत्यवानुवाच—वनं न गतपूर्वं ते दुःखः पंथाश्च भाविनि ।
व्रतोपवासक्षामा च कथं पद्भ्यां गमिष्यसि ॥ २० ॥

सावित्र्युवाच—उपवासान्न मे ग्लानिर्नाऽस्ति चापि परिश्रमः ।
गमने च कृतोत्साहां प्रतिषेद्धुं न माऽर्हसि ॥ २१ ॥

सत्यवानुवाच—यदि ते गमनोत्साहः करिष्यामि तव प्रियम् ।
मम त्वामंत्रय गुरून्न मां दोषः स्पृशेदयम् ॥ २२ ॥

मार्कण्डेय उवाच—साऽभिवाद्याऽब्रवीच्छ्वश्रूं श्वशुरं च महाव्रता ।
अयं गच्छति मे भर्ता फलाहारो महावनम् ॥ २३ ॥
इच्छेयमभ्यनुज्ञाता आर्यया श्वशुरेण ह ।
अनेन सह निर्गंतुं न मेऽद्य विरहः क्षमः ॥ २४ ॥
गुर्वग्निहोत्रार्थकृते प्रस्थितश्च सुतस्तव ।
न निवार्यो निवार्यः स्यादन्यथा प्रस्थितो वनम् ॥ २५ ॥

सावित्री ने कहा—सूर्य के अस्त होने पर कृतकृत्य होकर मैं भोजन करूँगी। मेरे हृदय में यही संकल्प है और मैं यही प्रतिज्ञा कर चुकी हूँ ॥१७॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—सावित्री अपने सास-ससुर से भोजन करने के बारे में इस तरह कह ही रही थी कि सत्यवान् कन्धे पर कुल्हाड़ी रखकर लकड़ी काट लाने को वन की ओर चले। तब सावित्री ने प्राणप्रिय पति से कहा—हे नाथ! आज आप अकेले वन को न जाइए। मैं भी आपके साथ चलूँगी। आज आपको अकेले छोड़ने के लिए मेरा जी नहीं चाहता ॥१८।१९॥

सत्यवान् ने कहा—हे प्रिये! तुम वन में कभी गई नहीं हो। वहां की राह में बड़े कष्ट मिलते हैं। इसके सिवा तीन दिन तक निराहार रहने से तुम बहुत दुर्बल हो गई हो। इस कारण किस तरह पैदल चल सकोगी? ॥२०॥

सावित्री ने कहा—व्रत के कारण मैं शिथिल नहीं हुई हूं। वन जाने में मुझे कुछ भी थकन न होगी। आपके साथ चलने के लिए मुझे बड़ा उत्साह है; इसलिए आप मुझे रोकिए मत ॥२१॥

सत्यवान् ने कहा—यदि वन को चलने की तुम्हें बड़ी ही इच्छा है तो अवश्य मैं तुम्हारी इच्छा

संवत्सरः किंचिदूनो न निष्क्रांताऽहमाश्रमात् ।
वनं कुसुमितं द्रष्टुं परं कौतूहलं हि मे ॥ २६ ॥

द्युमत्सेन उवाच—यतःप्रभृति सावित्री पित्रा दत्ता स्नुषा मम ।
नानयाऽभ्यर्थनायुक्तमुक्तपूर्वं स्मराम्यहम् ॥ २७ ॥
तदेषा लभतां कामं यथाऽभिलषितं वधूः ।
अप्रमादश्च कर्तव्यः पुत्रि सत्यव्रतः पथि ॥ २८ ॥

मार्कण्डेय उवाच—उभाभ्यामभ्यनुज्ञाता सा जगाम यशस्विनी ।
सह भर्त्रा हसंतीव हृदयेन विदूयता ॥ २९ ॥
सा वनानि विचित्राणि रमणीयानि सर्वशः ।
मयूरगणजुष्टानि ददर्श विपुलेक्षणा ॥ ३० ॥
नदीः पुण्यवहाश्चैव पुष्पितांश्च नगोत्तमान् ।
सत्यवानाह पश्येति सावित्रीं मधुरं वचः ॥ ३१ ॥
निरीक्षमाणा भर्तारं सर्वावस्थमनिंदिता ।
मृतमेव हि भर्तारं काले मुनिवचः स्मरन् ॥ ३२ ॥
अनुव्रजंती भर्तारं जगाम मृदुगामिनी ।
द्विधेव हृदय कृत्वा तं च कालमवेक्षती ॥ ३३ ॥

इति श्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वणेपतिव्रतामाहात्म्यपर्वणिसावित्र्युपाख्यानेषण्गवत्याधिकद्विशततमोऽध्याय

पूर्ण करूगा । किन्तु चलने से पहले तुम मेरे माता-पिता से आज्ञा ले लो, नहीं तो मुझे दोषी होना पड़ेगा ॥२२॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं कि तब व्रतधारिणी सावित्री ने सास और ससुर के चरणों में प्रणाम करके कहा—मेरे स्वामी फल मूल लाकर इस समय वन को जा रहे हैं । आप लोगों की आज्ञा हो तो मैं भी उनके साथ वन को जाऊँ । आज मैं पति को छोड़ नहीं सकती । आपके पुत्र, गुरुजन और अग्निहोत्र के लिए, लकड़ी आदि सामग्री लेने वन को जा रहे हैं, इसलिए उन्हें रोकना भी उचित नहीं है । यदि वे और किसी काम से जाते तो रोका भी जा सकता था । इसके सिवा मैं भी लगभग एक वर्ष से इस आश्रम से बाहर नहीं निकली हूँ । इसलिए फूले फले वन की सैर करने का मुझे भी बड़ा कौतूहल हो रहा है २३।२६॥

द्युमत्सेन ने कहा—सावित्री का जब से विवाह हुआ है और ये मेरी बहू हुई हैं तब से इन्होंने मुझसे कोई प्रार्थना नहीं की । इसलिए मैं इन्हें, इनकी इच्छा के अनुसार, पति के साथ वन जाने की आज्ञा देता हूँ । हे बेटी ! राह में सावधानी से सत्यवान् की देखभाल करना ॥२७।२८॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर !

सास और ससुर से आज्ञा पाकर यशस्विनी सावित्री पति के साथ हँसती हुई वन को चलीं। परन्तु नारद के वचनों की स्मरण से उनका हृदय धड़क ही रहा था। चारों ओर मोर आदि पक्षियों से शोभित रमणीय और विचित्र वन, पवित्र जलवाली नदी और फूले हुए वृक्षों से शोभित पर्वत आदि की शोभा देखती हुई सावित्री चली जा रही थीं और सत्यवान् मधुर वचनों से उन्हें सन्तुष्ट करते हुए सब स्थानों की सैर कराते जा रहे थे। पति को अच्छी अवस्था में देखकर भी सावित्री को, मुनि के वचनों की स्मरण के कारण, उनकी मृत्यु पर विश्वास था। सावित्री का हृदय मानों फटा जा रहा था। वे उसी समय की राह देखती हुई अपने पति के पीछे चली जा रही थीं ॥२९।२३॥

वनपर्व का दो सौ छियानवे अध्याय समाप्त हुआ ॥२९६॥

अथ सप्तनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२९७॥

मार्कण्डेय उवाच—अथ भार्यासहायः स फलान्यादाय वीर्यवान् ।
कठिनं पूरयामास ततः काष्ठान्यपाटयत् ॥ १ ॥
तस्य पाटयतः काष्ठं स्वेदो वै समजायत ।
व्यायामेन च तेनाऽस्य जज्ञे शिरसि वेदना ॥ २ ॥
सोऽभिगम्य प्रियां भार्यामुवाच श्रमपीडितः ।
सत्यवानुवाच—व्यायामेन ममाऽनेन जाता शिरसि वेदना ॥ ३ ॥
अंगानि चैव सावित्री हृदयं दूयतीव च ।
अस्वस्थमिव चाऽऽत्मानं लक्षये मितभाषिणि ॥ ४ ॥
शूलैरिव शिरो विद्धमिदं संलक्षयाम्यहम् ।
तत्स्वप्तुमिच्छे कल्याणि न स्थातुं शक्तिरस्ति मे ॥ ५ ॥
सा समासाद्य सावित्रि भर्तारमुपगम्य च ।

दो सौ सत्तानवे अध्याय ।२९७॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर ! स्त्री के साथ वन में पहुँचकर महाबली सत्यवान् ने पहले तो बर्तन भर फल तोड़कर एकत्र किये, फिर वे लकड़ियां काटने लगे। लकड़ियां काटने में परिश्रम करने से उनको पसीना आ गया। परिश्रम करने के कारण सत्यवान् के सिर में पीड़ा भी उत्पन्न हो गई। परिश्रम से शिथिल सत्यवान् अपनी प्यारी पत्नी के पास आकर कहने लगे—हे प्रिये ! लकड़ी काटने के परिश्रम से मेरे सिर में बड़ी पीड़ा हो रही है। हे सावित्री ! मेरे सब अङ्ग ढीले हुए जा रहे हैं; हृदय में धड़कन उत्पन्न हो गई है। मैं अपने को अस्वस्थ और बीमार सा देख रहा हूं। जान पड़ता है, कि मेरे सिर में कोई शूल झोंक रहा है। हे सुन्दरी ! मैं लेटना चाहता हूं; मुझ में खड़े रहने की शक्ति भी नहीं है ॥१।५॥

पतिव्रता सावित्री ने पास जाकर अपनी गोद में पति का सिर रख लिया। बड़ी पर वे धरती पर बैठ गईं।

उत्संगेऽस्य शिरः कृत्वा निषसाद महीतले ॥ ६ ॥
ततः सा नारदवचो विमृशंती तपस्विनी ।
तं मुहूर्तं क्षणं वेलां दिवसं च युयोज ह ॥ ७ ॥
मुहूर्तादेव चाऽपश्यत्पुरुषं रक्तवाससम् ।
बद्धमौलिं वपुष्मंतमादित्यसमतेजसम् ॥ ८ ॥
श्यामावदातं रक्ताक्षं पाशहस्तं भयावहम् ।
स्थितं सत्यवतः पार्श्वे निरीक्षंतं तमेव च ॥ ९ ॥
तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय भर्तुर्न्यस्य शनैः शिरः ।
कृतांजलिरुवाचाऽऽर्ता हृदयेन प्रवेपती ॥ १० ॥
सावित्र्युवाच—दैवतं त्वाऽभिजानामि वपुरेतद्ध्यमानुषम् ।
कामया ब्रूहि देवेश कस्त्वं किं च चिकीर्षसि ॥ ११ ॥
यम उवाच—पतिव्रताऽसि सावित्रि तथैव च तपोन्विता ।
अतस्त्वामभिभाषामि विद्धि मां त्वं शुभे यमम् ॥ १२ ॥
अयं ते सत्यवान्भर्ता क्षीणायुः पार्थिवात्मजः ।
नेष्यामि तमहं बध्वा विद्ध्येतन्मे चिकीर्षितम् ॥ १३ ॥
सावित्र्युवाच—श्रूयते भगवन्दूतास्तवाऽऽगच्छंति मानवान् ।
नेतुं किल भवान्कस्मादागतोऽसि स्वयं प्रभो ॥ १४ ॥

वे उस समय नारदजी की बात स्मरण करके उनकी बताई हुई घड़ी, समय और दिन का हिसाब लगाने लगीं। कुछ देर के पश्चात् सावित्री ने देखा कि उनके सामने, सत्यवान् के पास, एक विकट पुरुष खड़ा हुआ है और बारम्बार सत्यवान् की ओर ताक रहा है। वह पुरुष लाल वस्त्र पहने, सिर पर किरीट बांधे, हाथ में पाश लिये और लाल-लाल आंखें निकाले हुए था। उसका तेज सूर्य के समान और रङ्ग चमकदार काला था। उस पुरुष को देखकर सावित्री का कलेजा धड़कने लगा। वे गोद से पति के सिर को धीरे से हटाकर एकाएक उठ खड़ी हुईं और हाथ जोड़कर आर्तवाणी से कहने लगीं ॥६।१०॥

आपका यह अलौकिक शरीर देखकर मैं जानती हूँ कि आप कोई देवता हैं, मनुष्य नहीं हैं। आपकी जी चाहे तो कृपा करके बताइए कि आप कौन हैं और क्या करना चाहते हैं ॥११॥

यमराज ने कहा—हे सावित्री! तुम पतिव्रता और तपस्विनी हो, इसी से मैं तुम से बातचीत करता हूं। हे शुभरूपिणी! मैं यम हूँ। तुम्हारे पति राजकुमार सत्यवान् की आयु क्षीण हो गई है। अब इन्हें मैं पाशों से बांधकर ले जाऊंगा। यही करने के लिए मैं आया हूं। सावित्री ने कहा—हे भगवन्!

मार्कण्डेय उवाच—इत्युक्तः पितृराजस्तां भगवान्स्वचिकीर्षितम् ।
यथावत्सर्वमाख्यातुं तत्प्रियार्थं प्रचक्रमे ॥ १५ ॥
अयं च धर्मसंयुक्तो रूपवान्गुणसागरः ।
नाऽर्हो मत्पुरुषैर्नेतुमतोऽस्मि स्वयमागतः ॥ १६ ॥
ततः सत्यवतः कायात्पाशबद्धं वशंगतम् ।
अंगुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात् ॥ १७ ॥
ततः समुद्धृतप्राणं गतश्वासं हतप्रभम् ।
निर्विचेष्टं शरीरं तद्बभूवाऽप्रियदर्शनम् ॥ १८ ॥
यमस्तु तं ततो बध्वा प्रयातो दक्षिणामुखः ।
सावित्री चैव दुःखार्ता यममेवाऽन्वगच्छत ।
नियमव्रतसंसिद्धा महाभागा पतिव्रता ॥ १९ ॥
यम उवाच—निवर्त गच्छ सावित्रि कुरुष्वाऽस्यौर्ध्वदेहिकम् ।
कृतं भर्तुस्त्वयाऽऽनृण्यं यावद्गम्यं गतं त्वया ॥ २० ॥
सावित्र्युवाच—यत्र मे नीयते भर्ता स्वयं वा यत्र गच्छति ।
मया च तत्र गंतव्यमेष धर्मः सनातनः ॥ २१ ॥
तपसा गुरुभक्त्या च भर्तुः स्नेहाद्व्रतेन च ।

तव चैव प्रसादेन न मे प्रतिहता गतिः ॥ २२ ॥
प्राहुः साप्तपदं मैत्रं बुधास्तत्त्वार्थदर्शिनः ।
मित्रतां च पुरस्कृत्य किंचिद्वक्ष्यामि तच्छृणु ॥ २३ ॥
नानात्मवंतस्तु वने चरंति धर्मं च वासं च परिश्रमं च ।
विज्ञानतो धर्ममुदाहरंति तस्मात्संतो धर्ममाहुः प्रधानम् ॥२४॥
एकस्य धर्मेण सतां मतेन सर्वे स्म तं मार्गमनुप्रपन्नाः ।
मा वै द्वितीयं मा तृतीयं च वांछे तस्मात्संतो धर्ममाहुः प्रधानम् ॥२५॥
यम उवाच–निवर्त तुष्टोऽस्मि तवाऽनया गिरा स्वराक्षरव्यंजनहेतुयुक्तया ।
वरं वृणीष्वेह विनाऽस्य जीवितं ददानि ते सर्वमनिंदिते वरम् ॥२६॥
सावित्र्युवाच–च्युतः स्वराज्याद्वनवासमाश्रितो विनष्टचक्षुः श्वशुरो ममाऽऽश्रमे ।
स लब्धचक्षुर्बलवान्भवेन्नृपस्तव प्रसादाज्ज्वलनार्कसंनिभः ॥२७॥
यम उवाच–ददानि तेऽहं तमनिंदिते वरं यथा त्वयोक्तं भविता न तत्तथा ।

स्वामी को ले जाय, या मेरे स्वामी स्वयं जहां जायं, वहां मुझे भी जाना चाहिए। यही सनातन धर्म है। हे भगवन्! तपस्या, बड़े-बूढ़ों की भक्ति, पति के स्नेह, पातिव्रत्य और आपकी कृपा से मैं सब जगह जा सकती हूँ। हे पितरों के राजा! तत्त्वज्ञानी पण्डित लोग कहते हैं कि केवल सात पग एक साथ चलने से सज्जनों में मित्रता हो जाती है। उसी मित्रता के नाते मैं आपसे कुछ कहती हूं, सुनिए ॥२१।२३॥

जो लोग जितेन्द्रिय नहीं हैं वे वन में रहकर यज्ञ आदि धर्म का अनुष्ठान, ब्रह्मचर्य का पालन अथवा सन्यासधर्म का आचरण नहीं करते। जितेन्द्रिय पुरुष ही वन में या बस्ती में रहकर इन कार्यों को करते हैं। तात्पर्य यह है कि धर्म का फल आत्मज्ञान ही है। इसलिए विद्वानों ने धर्म को ही प्रधान पुरुषार्थ कहा है हे भगवन्! सज्जनों के मत के अनुसार चारों आश्रमों में से एक आश्रम के धर्म का पालन करने से भी वह आत्मज्ञान मिल सकता है। हम दोनों प्राणी नैष्ठिक ब्रह्मचर्य या सन्यास की इच्छा नहीं रखते; क्योंकि ज्ञान का कारण जो धर्म है उस की प्राप्ति गृहस्थाश्रम में भी हो सकती है। इसलिए मेरे स्वामी को ले जाकर हमारे धर्म-पालन में बाधा न डालिए ॥२४।२५॥

यमराज ने कहा—हे सुन्दरी! तुम लौट जाओ। तुम्हारी ये बातें निर्दोष और युक्ति सङ्गत हैं। इन्हें सुनकर मैं बहुत ही प्रसन्न हुआ। तुम सत्यवान् के जीवन को छोड़कर और जो चाहे सो वर मांगो, मैं तुम्हें वही दूंगा ॥२६॥

सावित्री ने कहा—मेरे ससुर राज्य से भ्रष्ट होकर वन में रहते हैं, उनकी आंखें भी जाती रही हैं। मैं यह वर मांगती हूँ कि आपकी कृपा से उनकी आंखें पहले की सी हो जायं और उन्हें श्रेष्ठ बल के साथ ही अग्नि और सूर्य का सा तेज प्राप्त हो ॥२७॥

तवाऽध्वना ग्लानिमिवोपलक्षये निवर्त गच्छस्व न ते श्रमो भवेत् ॥२८॥
सावित्र्युवाच–श्रमः कुतो भर्तृसमीपतो हि मे यतो हि भर्ता मम सा गतिर्ध्रुवा ।
यतः पतिं नेष्यसि तत्र मे गतिः सुरेश भूयश्च वचो निबोध मे ॥२९॥
सतां सकृत्संगतमीप्सितं परं ततः परं मित्रमिति प्रचक्षते ।
न चाऽफलं सत्पुरुषेण संगतं ततः सतां संनिवसेत्समागमे ॥३०॥
यम उवाच–मनोनुकूलं बुधबुद्धिवर्धनं त्वया यदुक्तं वचनं हिताश्रयम् ।
विना पुनः सत्यवतोऽस्य जीवितं वरं द्वितीयं वरयस्व भामिनि ॥३१॥
सावित्र्युवाच–हृतं पुरा मे श्वशुरस्य धीमतः स्वमेव राज्यं लभतां स पार्थिवः ।
जह्यात्स्वधर्मान्न च मे गुरुर्यथा द्वितीयमेतद्वरयामि ते वरम् ॥३२॥
यम उवाच–स्वमेव राज्यं प्रतिपत्स्यतेऽचिरान्न च स्वधर्मात्परिहास्यते नृपः ।
कृतेन कामेन मया नृपात्मजे निवर्त गच्छस्व न ते श्रमो भवेत् ॥३३॥
सावित्र्युवाच–प्रजास्त्वयैता नियमेन संयता नियम्य चैता नयसे निकामया ।
ततो यमत्वं तव देव विश्रुतं निबोध चेमां गिरमीरितां मया ॥३४॥

यमराज ने कहा––हे सुन्दरी! तुम्हारी प्रार्थना के अनुसार वर मैं तुमको देता हूँ। तुम जैसा चाहती हो वैसा ही होगा। अब तुम लौट जाओ। मैं समझता हूँ, कि चलने से तुम बहुत थक गई हो। अब अपनी आत्मा को और कष्ट न दो ॥२८॥

सावित्री ने कहा––हे भगवन्! मैं अपने पति के पास हूं, मुझे थकन या कष्ट कहां? क्योंकि पति ही मेरी एकमात्र निश्चित गति है। हे देवराज! आप मेरे स्वामी को जहां ले जायगे वहीं मैं जाऊँगी। अब मैं आपसे और जो कुछ कहती हूं, वह सुन लीजिए। सज्जनों का सङ्ग एक बार होना भी मन से बढ़कर प्रार्थनीय वस्तु है। सज्जनों से एक बार मिलने से ही मित्रता हो जाती है। सज्जनों का सङ्ग कभी निष्फल नहीं जाता। इसलिए सदा सत्सङ्ग में रहना चाहिए। ॥२९।३०॥

यमराज ने कहा––हे राजकुमारी! तुम्हारी यह बात मन के अनुकूल, हित करनेवाली और पण्डितों की बुद्धि को बढ़ानेवाली है। मैं प्रसन्न होकर तुम से कहता हूं कि सत्यवान् के जीवन के सिवा जो जी चाहे वह वर मुझसे माग लो ॥३१॥

सावित्री ने कहा––मेरे बुद्धिमान् ससुर का राज्य शत्रुओं ने छीन लिया है, वह राज्य उन्हें फिर मिल जाय और उनकी बुद्धि कभी धर्म से न हटे। यह दूसरा वर मैं मांगती हूँ ॥३२॥

यमराज ने कहा––तुम्हारे ससुर द्युमत्सेन शीघ्र ही अपना खोया हुआ राज्य पावेंगे और वे कभी अपने धर्म से न डिगेंगे। हे राजकुमारी! तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो गई, अब तुम लौट जाओ, नहीं तो तुम्हें और अधिक कष्ट सहना पड़ेगा ॥३३॥

सावित्री ने कहा––हे भगवन्! संसार के सब

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा ।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः ॥ ३५ ॥
एवं प्रायश्च लोकोऽयं मनुष्याः शक्तिपेशलाः ।
संतस्त्वेवाऽप्यमित्रेषु दयां प्राप्तेषु कुर्वते ॥ ३६ ॥

यम उवाच–पिपासितस्येव भवेद्यथा पयस्तथा त्वया वाक्यमिदं समीरितम् ।
विना पुनः सत्यवतोऽस्य जीवितं वरं वृणीष्वेह शुभे यदिच्छसि ॥३७॥

सावित्र्युवाच–ममाऽनपत्यः पृथिवीपतिः पिता भवेत्पितुः पुत्रशतं तथौरसम् ।
कुलस्य संतानकरं च यद्भवेत्तृतीयमेतद्वरयामि ते वरम् ॥३८॥

यम उवाच–कुलस्य संतानकरं सुवर्चसं शतं सुतानां पितुरस्तु ते शुभे ।
कृतेन कामेन नराधिपात्मजे निवर्त दूरं हि पथस्त्वमागता ॥ ३९॥

सावित्र्युवाच–न दूरमेतन्मम भर्तृसन्निधौ मनो हि मे दूरतरं प्रधावति ।
अथ व्रजन्नेव गिरं समुद्यतां मयोच्यमानां शृणु भूय एव च ॥४०॥
विवस्वतस्त्वं तनयः प्रतापवांस्ततो हि वैवस्वत उच्यसे बुधैः ।

लोगों को आप ही नियम पर चलाते है और उनको उनके कर्मों का फल देते है। आप ही सबको दण्ड देनेवाले नियामक हैं, इसी से आपका नाम यम है। हे प्रेतराज ! अब फिर जो मैं कहती हूं उसे सुनिए। मन-वाणी-काया से किसी प्राणी के साथ द्रोह न करना (अर्थात् किसी को पीड़ा न पहुचाना), सब पर कृपा करना और दान देना ही सज्जनों का सनातन धर्म है। इसलिए आप मुझ पर दया कीजिए। इस लोक में प्राय अल्पायु लोग देख पड़ते हैं, क्योंकि मनुष्यों में शक्ति ही कितनी है ? सज्जन लोग शरण में आये हुए शत्रुओं से भी दया का व्यवहार करते हैं, हम जैसे दीनों की तो कोई बात ही नहीं ॥३४।३६॥

यमराज ने कहा—हे सावित्री ! प्यासे को जल मे जैसे तृप्ति होती है, वैसे ही तुम्हारे इन वचनों से मुझे सन्तोष हुआ है। हे शुभरूपिणी ! सत्यवान् के जीवन को छोड़कर जो तुम्हारी इच्छा हो वह वर फिर माग लो ॥३७॥

सावित्री ने कहा—मेरे पिता महाराज अश्वपति के कोई पुत्र नहीं है। मैं आपसे तीसरा वर यही मागती हू कि उनके वंश को बढ़ानेवाले श्रेष्ठ सौ पुत्र हों ॥३८॥

यमराज ने कहा—हे शुभरूपिणी ! तुम्हारे पिता के वंश को बढ़ानेवाले तेजस्वी सौ पुत्र होंगे। हे राज-कुमारी ! तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हो गया, अब लौट जाओ। तुम बहुत दूर तक चली आई हो ॥३९॥

सावित्री ने कहा—हे प्रभो ! मैं अपने स्वामी के साथ हूं, इसलिए यह मार्ग कुछ दूर नहीं है। मेरा मन इससे भी दूर तक दौड़ रहा है। आप चलते ही चलते मेरी बातें सुनिए। आप सूर्यनारायण के प्रतापी पुत्र हैं, इसी कारण पण्डित लोग आपको वैवस्वत

समेन धर्मेण चरंति ताः प्रजास्ततस्तवेहेश्वर धर्मराजता ॥४१॥
आत्मन्यपि न विश्वासस्तथा भवति सत्सु यः ।
तस्मात्सत्सु विशेषेण सर्वः प्रणयमिच्छति ॥४२॥
सौहृदात्सर्वभूतानां विश्वासो नाम जायते ।
तस्मात्सत्सु विशेषेण विश्वासं कुरुते जनः ॥४३॥
यम उवाच-उदाहृतं ते वचनं यदंगने शुभेन तादृक्त्वदृते श्रुतं मया ।
अनेन तुष्टोऽस्मि विनाऽस्य जीवितं वरं चतुर्थं वरयस्व गच्छ च ॥४४॥
सावित्र्युवाच-ममात्मजं सत्यवतस्तथौरसं भवेदुभाभ्यामिह यत्कुलोद्वहम् ।
शतं सुतानां बलवीर्यशालिनामिदं चतुर्थं वरयामि ते वरम् ॥४५॥
यम उवाच-शतं सुतानां बलवीर्यशालिनां भविष्यति प्रीतिकरं तवाऽबले ।
परिश्रमस्ते न भवेन्नृपात्मजे निवर्त दूरं हि पथस्त्वमागता ॥४६॥
सावित्र्युवाच-सतां सदा शाश्वतधर्मवृत्तिः संतो न सीदंति न च व्यथंति ।
सतां सद्भिर्नाऽफलः संगमोऽस्ति सद्भ्यो भयं नानुवर्तन्ति संतः ॥४७॥
संतो हि सत्येन नयंति सूर्यं संतो भूमिं तपसा धारयंति ।
संतो गतिर्भूतभव्यस्य राजन्सतां मध्ये नाऽवसीदंति संतः ॥४८॥

कहते हैं। आप धर्मराज इसलिए कहलाते हैं कि आप शत्रु-मित्र का खयाल न करके समान दृष्टि से सब प्रजा का शासन करते हैं और प्रजा भी आपकी आज्ञा के आधीन है। हे भगवन् ! लोगों को सज्जनों पर जैसा विश्वास होता है वैसा विश्वास अपने ऊपर भी नहीं होता। इसीलिए सब लोग सज्जनों से मित्रता करना चाहते हैं। मित्रता से ही सब मनुष्यों के हृदय में विश्वास होता है, इस कारण सब लोग विशेषरूप से सज्जनों पर विश्वास करते हैं। [तात्पर्य यह है कि जब मनुष्यों पर विश्वास करने से भी मनुष्यों के इष्ट की सिद्धि होती है, तब आप धर्मराज पर विश्वास करने से अवश्य मेरा मनोरथ पूरा होना चाहिए।] ॥३०।४३॥

यमराज ने कहा—हे सुन्दरी ! तुमने जैसे वचन कहे हैं, वैसे वचन तुम्हारे सिवा और किसी के मुँह से मैंने नहीं सुने। मैं प्रसन्न होकर तुमसे कहता हूं कि सत्यवान् के जीवन को छोड़कर और जो चाहो वह वर मुझसे माग लो ॥४४॥

सावित्री ने कहा—हे धर्मराज ! सत्यवान् के वीर्य से मेरे वंश को बढ़ानेवाले, वीर्यशाली, एक सौ श्रेष्ठ पुत्र उत्पन्न हों। मैं यही चौथा वर आपसे मागती हूं ॥४५॥

यमराज ने कहा—हे राजकुमारी ! महाबली और प्रसन्न करनेवाले तुम्हारे सौ पुत्र होंगे। अब तुम लौट जाओ, क्योंकि बहुत दूर तक चली आई हो॥४६॥

सावित्री ने कहा—सज्जनों का धर्मसार सदा प्रबल रहता है [अर्थात् मैं कुल स्त्री होने के कारण अपने पति से ही पुत्र उत्पन्न कर सकती हूं], वे कभी पहचाने नहीं हैं [अर्थात अब वर देकर आपको

आर्यजुष्टमिदं वृत्तमिति विज्ञाय शाश्वतम् ।
संतः परार्थं कुर्वाणा नाऽवेक्षंति परस्परम् ॥४९॥
न च प्रसादः सत्पुरुषेषु मोघो न चाऽप्यर्थो नश्यति नापि मानः ।
यस्मादेतन्नियतं सत्सु नित्यं तस्मात्संतो रक्षितारो भवंति ॥५०॥
यम उवाच यथा यथा भाषसि धर्मसंहितं मनोऽनुकूलं सुपदं महार्थवत् ।
तथा तथा मे त्वयि भक्तिरुत्तमा वरं वृणीष्वाऽप्रतिमं पतिव्रते ॥५१॥
माविञ्युवाच–न तेऽपवर्गः सुकृताद्विना कृतस्तथा यथाऽन्येषु वरेषु मानद ।
वरं वृणे जीवतु सत्यवानयं यथा मृता ह्येवमहं पतिं विना ॥५२॥
न कामये भर्तृविनाकृता सुखं न कामये भर्तृविनाकृता दिवम् ।
न कामये भर्तृविनाकृता श्रियं न भर्तृहीना व्यवसामि जीवितुम् ॥५३॥
वरातिसर्गः शतपुत्रता मम त्वयैव दत्तो ह्रियते च मे पतिः ।
वरं वृणे जीवतु सत्यवानयं तवैव सत्यं वचनं भविष्यति ॥५४॥

पछताना न चाहिए, किन्तु अपने वचनों का निर्वाह करना चाहिए]। सज्जनों का समागम निष्फल नहीं होता। और, सज्जनों से सज्जनों को भय भी नहीं होता। हे भगवन्! सज्जनों के सत्य से ही सूर्य तपते हैं। सज्जन लोग ही अपने तप (धर्म पालन) से पृथ्वी को धारण किये हुए हैं। भूत और भविष्य की गति भी सज्जन ही हैं। सज्जनों के बीच में सज्जनों को दुःख नहीं मिलता [तात्पर्य यह है कि आप भी अपने वचन को सत्य करके मेरे दुःख को दूर कीजिए]। आर्यपुरुषों के इस सनातन आचरण का खयाल करके सज्जन लोग परोपकार करते हैं और उसका बदला नहीं चाहते। सज्जनों की प्रसन्नता कभी निष्फल नहीं जाती। उनसे अर्थ सिद्धि होती है, मानहानि नहीं होती। दरिद्र पुरुष प्रसन्न होकर भी प्रयोजन को पूरा नहीं कर सकता। धनवान् लोग प्रसन्न होकर प्रयोजन को तो पूर्ण कर देते हैं, पर उनसे मान नहीं मिलता। दुष्ट लोग प्रसन्न ही नहीं होते। किन्तु सज्जन पुरुषों में ये तीनों बातें पाई जाती हैं, अर्थात् वे प्रसन्न होकर मान के साथ मनोरथ पूर्ण कर देते हैं। इसी से वे लोग सबके रक्षक हैं [तात्पर्य यह है कि आप प्रसन्न होकर सम्मान के साथ मेरा मनोरथ पूर्ण करके मेरी रक्षा कीजिए]४७।५०।

यमराज ने कहा—हे पतिव्रता सावित्री! तुम जैसे जैसे चित्त को प्रसन्न करनेवाली, धर्म-सङ्गत, अर्थ-युक्त मनोहर बातें कहती हो वैसे वैसे तुम पर मेरी भक्ति बढ़ती जाती है। अब तुम्हारी जो इच्छा हो वह वर मुझसे माग लो ॥५१॥

सावित्री ने कहा—पति के बिना, क्षेत्रज आदि पुत्रों के द्वारा, आपका पहले दिया हुआ सौ पुत्रों का वर सिद्ध नहीं हो सकता। जैसे मदयन्ती रानी ने वशिष्ठ ऋषि से पुत्र उत्पन्न किया था, वैसे ही [नियोग के द्वारा, अन्य पुरुष से] मैं पुत्र नहीं उत्पन्न कर सकती। इससे मैं यही वर मागती हू कि मेरे स्वामी सत्यवान् जी उठें। पति के बिना मैं भी मरे

मार्कण्डेय उवाच—तथेत्युक्त्वा तु तं पाशं मुक्त्वा वैवस्वतो यमः ।
धर्मराजः प्रहृष्टात्मा सावित्रीमिदमब्रवीत् ॥ ५५ ॥
एष भद्रे मया मुक्तो भर्ता ते कुलनंदिनि ।
अरोगस्तव नेयश्च सिद्धार्थः स भविष्यति ॥ ५६ ॥
चतुर्वर्षशतायुश्च त्वया सार्धमवाप्स्यति ।
इष्ट्वा यज्ञैश्च धर्मेण ख्यातिं लोके गमिष्यति ॥ ५७ ॥
त्वयि पुत्रशतं चैव सत्यवाञ्जनयिष्यति ।
ते चापि सर्वे राजानः क्षत्रियाः पुत्रपौत्रिणः ॥ ५८ ॥
ख्यातास्त्वन्नामधेयाश्च भविष्यंतीह शाश्वताः ।
पितुश्च ते पुत्रशतं भविता तव मातरि ॥ ५९ ॥
मालव्यां मालवा नाम शाश्वताः पुत्रपौत्रिणः ।
भ्रातरस्ते भविष्यंति क्षत्रियास्त्रिदशोपमाः ॥ ६० ॥
एवं तस्यै वरं दत्वा धर्मराजः प्रतापवान् ।
निवर्तयित्वा सावित्रीं स्वमेव भवनं ययौ ॥ ६१ ॥
सावित्र्यपि यमे याते भर्तारं प्रतिलभ्य च ।
जगाम तत्र यत्राऽस्या भर्तुः शावं कलेवरम् ॥ ६२ ॥

के समान हो रही हूं। मैं पति के बिना कोई सुख नहीं चाहती; पति के बिना स्वर्ग का राज्य भी नहीं चाहती; पति के बिना अपार लक्ष्मी और ऐश्वर्य भी नहीं चाहती—पति के बिना जीना तक नहीं चाहती। आपने ही मुझे सौ पुत्र होने का वर दिया है और आप ही मेरे पति को लिये जाते हैं! मैं यही वर मांगती हूं कि ये सत्यवान् जी उठें। इसी से आपका वचन सत्य होगा ॥५२।५४॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर! तब यमराज ने सन्तुष्ट होकर सत्यवान् के जीवात्मा को पाश के बन्धन से छोड़ दिया और सावित्री से कहा—हे सावित्री! मैंने तुम्हारे स्वामी को छोड़ दिया। ये नीरोग, कृतार्थ और तुम्हारे अनुकूल रहकर—चार सौ वर्ष तक जीकर—तुम्हारे साथ सुख भोगेंगे। ये यज्ञ और धर्म का पालन करके बहुत यशस्वी होंगे। इनके, तुम्हारे गर्भ से, सौ पुत्र उत्पन्न होंगे। वे सब तुम्हारे नाम के अनुसार सावित्र कहलावेंगे। वे सब राजा, पुत्र-पौत्र सम्पन्न और प्रसिद्ध होकर, बड़े सुख से रहेंगे। तुम्हारे पिता भी तुम्हारी माता मालवी के गर्भ से सौ पुत्र उत्पन्न करेंगे। वंश को बढ़ानेवाले, इन्द्र-तुल्य वे राजकुमार मालव नाम से प्रसिद्ध होंगे ॥५५।६०॥

महातपस्वी धर्मराज सावित्री से यों कहकर अपने स्थान को चले गये। सावित्री भी स्वामी का जीवन

सा भूमौ प्रेक्ष्य भर्तारमुपसृत्योपगृह्य च ।
उत्संगे शिर आरोप्य भूमावुपविवेश ह ॥ ६३ ॥
संज्ञां च स पुनर्लब्ध्वा सावित्रीमभ्यभाषत ।
प्रोष्यागत इव प्रेम्णा पुनः पुनरुदीक्ष्य वै ॥ ६४ ॥

सत्यवानुवाच—सुचिरं बत सुप्तोऽस्मि किमर्थं नाऽवबोधितः ।
क चाऽसौ पुरुषः श्यामो योऽसौ मां संचकर्ष ह ॥ ६५ ॥

सावित्र्युवाच—सुचिरं त्वं प्रसुप्तोऽसि ममांऽके पुरुषर्षभ ।
गतः स भगवान्देवः प्रजासंयमनो यमः ॥ ६६ ॥
विश्रांतोऽसि महाभाग विनिद्रश्च नृपात्मज ।
यदि शक्यं समुत्तिष्ठ विगाढां पश्य शर्वरीम् ॥ ६७ ॥

मार्कण्डेय उवाच—उपलभ्य ततः संज्ञां सुखसुप्त इवोत्थितः ।
दिशः सर्वा वनांतांश्च निरीक्ष्योवाच सत्यवान् ॥ ६८ ॥
फलाहारोऽस्मि निष्क्रांतस्त्वया सह सुमध्यमे ।
ततः पाटयतः काष्ठं शिरसो मे रुजाऽभवत् ॥ ६९ ॥
शिरोऽभितापसंतप्तः स्थातुं चिरमशक्नुवन् ।
तवोत्संगे प्रसुप्तोऽस्मि इति सर्वं स्मरे शुभे ॥ ७० ॥

पाकर वहां पर आईं, जहां सत्यवान् की देह पड़ी हुई थी। स्वामी को गले से लगाकर, उनका सिर अपनी गोद में रखकर, सावित्री वहीं पृथ्वी पर बैठ गईं। इतने में सत्यवान् सचेत हो उठे और परदेश से लौट कर आये हुए पुरुष की भांति अपनी प्रिया की ओर बारबार प्रेम-पूर्ण दृष्टि से देखने लगे ॥६३।६४॥

सत्यवान् ने सावित्री से कहा—हे प्रिये! आज मैं बहुत देर तक सोता रहा। तुमने मुझे जगाया क्यों नहीं? वह मुझे पकड़कर खींचनेवाला काले रंग का पुरुष कहां है? ॥६५॥

सावित्री ने कहा—हे प्रियतम! तुम बहुत देर से मेरी गोद में सिर रक्खे सो रहे हो। जिनके बारे में तुम पूछते हो, वे सब प्राणियों का संहार करनेवाले यमराज थे। हे महाभाग! इस समय तुम सोकर विश्राम कर चुके। हो सके तो उठो। देखो, घनी अँधेरी भयानक रात्रि आ गई है ॥६६।६७॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर! तब सत्यवान् सोकर उठे हुए पुरुष की तरह उठकर, चारों ओर देखकर, कहने लगे—हे प्रिये! मुझे सब स्मरण है कि फल भोजन करने के पश्चात् तुमको साथ लेकर मैं आश्रम से चला था। यहां लकड़ी काटते-काटते मेरे सिर में दर्द होने लगा। सिर की पीड़ा के मारे मुझसे खड़े नहीं रहा गया। तब मैं तुम्हारी गोद में सिर रखकर लेट गया। तुम्हारे अङ्क

त्वयोपगूढस्य च मे निद्रयाऽपहृतं मनः ।
ततोऽपश्यं तमो घोरं पुरुषं च महौजसम् ॥ ७१ ॥
तद्यदि त्वं विजानासि किं तद् ब्रूहि सुमध्यमे ।
स्वप्नो मे यदि वा दृष्टो यदि वा सत्यमेव तत् ॥ ७२ ॥
तमुवाचाऽथ सावित्री रजनी व्यवगाहते ।
श्वस्ते सर्वं यथावृत्तमाख्यास्यामि नृपात्मज ॥ ७३ ॥
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते पितरौ पश्य सुव्रत ।
विगाढा रजनी चेयं निवृत्तश्च दिवाकरः ॥ ७४ ॥
नक्तंचराश्चरंत्येते हृष्टाः क्रूराभिभाषिणः ।
श्रूयंते पर्णशब्दाश्च मृगाणां चरतां वने ॥ ७५ ॥
एता घोरं शिवा नादान्दिशं दक्षिणपश्चिमाम् ।
आस्थाय विरुवंत्युग्राः कंपयंत्यो मनो मम ॥ ७६ ॥

सत्यवानुवाच—वनं प्रतिभयाकारं घनेन तमसा वृतम् ।
न विज्ञास्यसि पंथानं गंतुं चैव न शक्ष्यसि ॥ ७७ ॥

सावित्र्युवाच—अस्मिन्नद्य वने दग्धे शुष्कवृक्षः स्थितो ज्वलन् ।
वायुना धम्यमानोऽत्र दृश्यतेऽग्निः कचित्कचित् ॥ ७८ ॥
ततोऽग्निमानयित्वेह ज्वालयिष्यामि सर्वतः ।
काष्ठानीमानि संतीह जहि संतापमात्मनः ॥ ७९ ॥

के स्पर्श से मुझे गहरी नींद आ गई । उसके पश्चात् मुझे एक काले रङ्ग का महाबली पुरुष देख पड़ा । मालूम नहीं, वह स्वप्न था या सत्य । हे प्रिये ! तुमको उसका कुछ हाल मालूम हो तो कहो ।६८।७२।

सावित्री ने कहा—हे नाथ ! इस समय रात्रि हो आई है; शीघ्र माता-पिता के पास चलना चाहिए । उठो, आश्रम को चलें । कल सबेरे मैं तुमसे सब हाल कहूँगी । वह देखो, सूर्य अस्त हो गये हैं और धीरे-धीरे घने अन्धेरे के साथ रात्रि आ रही है । रात्रि को घूमनेवाले भयङ्कर जीव प्रसन्न होकर कठोर शब्द करने लगे । इधर-उधर मृगों के दौड़ने से सूखे पत्तों की खड़कार सुन पड़ती है । दक्षिण-पश्चिम दिशा में सियार बुरी तरह बोलने लगे हैं । उसे सुनकर मेरा कलेजा काँप रहा है ॥७३।७६॥

सत्यवान् ने कहा—हे प्रिये ! इस भयङ्कर वन में अन्धेरा फैल गया है । इसलिए तुम न तो राह ही देख सकोगी और न चल ही सकोगी ॥७७॥

सावित्री ने कहा—हे नाथ ! वह देखो, इस वन में अग्नि लगने से सूखा पेड़ जल रहा है । वहाँ से अग्नि लाकर मैं इन लकड़ियों को जला दूँगी और

यदि नोत्सहसे गंतुं सरुजं त्वां हि लक्षये ।
न च ज्ञास्यसि पंथानं तमसा संवृते वने ॥ ८० ॥
श्वः प्रभाते वने दृश्ये यास्यावोऽनुमते तव ।
वसावेह क्षपामेकां रुचितं यदि तेऽनघ ॥ ८१ ॥
सत्यवानुवाच—शिरोरुजा निवृत्ता मे स्वस्थान्यंगानि लक्षये ।
मातापितृभ्यामिच्छामि संगमं त्वत्प्रसादजम् ॥ ८२ ॥
न कदाचिद्विकालं हि गतपूर्वो मयाऽऽश्रमः ।
अनागतायां संध्यायां माता मे प्ररुणद्धि माम् ॥ ८३ ॥
दिवाऽपि मयि निष्क्रांते संतप्येते गुरू मम ।
विचिनोति हि मां तातः सहैवाऽऽश्रमवासिभिः ॥ ८४ ॥
मात्रा पित्रा च सुभृशं दुःखिताभ्यामहं पुरा ।
उपालब्धश्च बहुशश्चिरेणाऽऽगच्छसीति हि ॥ ८५ ॥
का त्ववस्था तयोरद्य मदर्थमिति चिंतये ।
तयोरदृश्ये मयि च महद्दुःखं भविष्यति ॥ ८६ ॥
पुरा मामूचतुश्चैव रात्रावस्रायमाणकौ ।
भृशं सुदुःखितौ वृद्धौ बहुशः प्रीतिसंयुतौ ॥ ८७ ॥

इन्हीं के उजाले में चली चलूंगी । तुम कुछ चिन्ता न करो । किन्तु जो तुम चलना नहीं चाहते, क्योंकि तुम्हारे शरीर की पीड़ा अभी शान्त हुई नहीं जान पड़ती, और जो अंधेरे के मारे वन की राह तुम न जान सको, तो आज यहीं ठहर जाओ । रात्रि व्यतीत होने पर प्रात काल हम लोग अपने आश्रम को चलेंगे। ॥७८।८१॥

सत्यवान् ने कहा—मेरे सिर में अब पीड़ा नहीं है और शरीर भी सुस्त नहीं है । इस समय तुम्हारी सहायता से माता पिता के पास जाने के लिए मेरा बहुत जी चाह रहा है । मैं आज तक कभी देर करके अपने आश्रम को नहीं गया, ठीक समय पर ही वन से लौट जाता था सन्ध्या से पहले ही माता मुझे आश्रम से बाहर नहीं जाने देती थीं । दिन को भी जो मैं आश्रम से बाहर जाता हूँ तो माता पिता बहुत चिन्तित रहते हैं, आश्रमवासी ऋषियों के साथ पिता मुझे ढूंढने लगते हैं । एक दिन मुझे इसी तरह देर हो गई थी, तब दु खित होकर माता और पिता ने मुझे बहुत बका था, कहा था कि तुम बहुत देर को आते हो । मैं इसी चिन्ता से व्याकुल हो रहा हूं कि आज मुझे न देखकर उनकी क्या दशा हुई होगी । आज मुझे न देखकर अवश्य वे अत्यन्त ही दु ख पा रहे होंगे ॥८२।८६॥

मुझ पर स्नेह रखनेवाले वृद्ध माता पिता ने एक

त्वया हीनो न जीवाव मुहूर्तमपि पुत्रक ।
यावद्धरिष्यसे पुत्र तावन्नौ जीवितं ध्रुवम् ॥ ८८ ॥
वृद्धयोरंधयोर्दृष्टिस्त्वयि वंशः प्रतिष्ठितः ।
त्वयि पिंडश्च कीर्तिश्च संतानं चाऽऽवयोरिति ॥ ८९ ॥
माता वृद्धा पिता वृद्धस्तयोर्यष्टिरहं किल ।
तौ रात्रौ मामपश्यंतौ कामवस्थां गमिष्यतः ॥ ९० ॥
निद्रायाश्चाऽभ्यसूयामि यस्या हेतोः पिता मम ।
माता च संशयं प्राप्ता मत्कृतेऽनपकारिणी ॥ ९१ ॥
अहं च संशयं प्राप्तः कृच्छ्रामापदमास्थितः ।
मातापितृभ्यां हि विना नाऽहं जीवितुमुत्सहे ॥ ९२ ॥
व्यक्तमाकुलया बुद्ध्या प्रज्ञाचक्षुः पिता मम ।
एकैकमस्यां वेलायां पृच्छत्याश्रमवासिनम् ॥ ९३ ॥
नाऽऽत्मानमनुशोचामि यथाऽहं पितरं शुभे ।
भर्तारं चाऽप्यनुगतां मातरं परिदुर्बलाम् ॥ ९४ ॥
मत्कृतेन हि तावद्य संतापं परमेष्यतः ।
जीवंतावनुजीवामि भर्तव्यौ तौ मयेति ह ॥ ९५ ॥
मार्कण्डेय उवाच—तयोः प्रियं मे कर्तव्यमिति जानामि चाऽप्यहम् ।
एवमुक्त्वा स धर्मात्मा गुरुभक्तो गुरुप्रियः ॥ ९६ ॥

दिन रात्रि को, अत्यन्त दुःख के साथ आंखों में आंसू भरकर, मुझसे कहा था—हे पुत्र! तुम्हारे बिना हम घड़ीभर भी जीते नहीं रह सकते। वनमें फल-मूल लाकर तुम्हीं हमको खिलाते-पिलाते हो। हम दोनों बूढ़ों की दृष्टि तुम्हीं हो। हमारा वंश तुम्हीं से चलेगा। हमको पिण्ड तुम्हीं दोगे। हमारी कीर्त्ति तुम्हीं हो।" मेरी माता बूढ़ी है, पिता भी बूढ़े हैं। उन अन्धों की लकड़ी मैं ही हूं। रात्रि को मुझे न देखने से उनकी क्या दशा हुई होगी! मैं अपनी नींद को क्या कहूं, जिसके कारण मेरी माता और मेरे पिता का जीवन संशय में पड़ गया ॥८७।९१॥

सो जाने से ही मैं इस आपत्ति में पड़ गया हूं। माता और पिता के बिना मैं भी जीना नहीं चाहता। यह निश्चय है कि मेरे अन्धे पिता व्याकुल होकर इस समय एक-एक आश्रमवासी ऋषि से मेरे बारे में पूछ रहे होंगे। हे शुभे! मुझे अपने लिए इतना सोच नहीं है, जितना अपने माता-पिता के लिए है। हाय, मेरे कारण वे इस समय बड़े दुःखी हो रहे होंगे। यह निश्चय है कि वे जीते रहेंगे तो मैं भी जियूंगा और जो वे मर जायेंगे तो मैं भी प्राण दे दूंगा। मेरे जीवन का उद्देश्य उनका प्रिय करना ही है ॥९२।९५॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं कि माता पिता के भक्त और उनके प्यारे सत्यवान् दुःख के मारे हाथ उठाकर यों कहते हुए जोर से रोने लगे। पति को शोक

उच्छ्रित्य बाहू दुःखार्त्तः सुस्वरं प्ररुरोद ह ।
ततोऽब्रवीत्तथा दृष्ट्वा भर्तारं शोककर्शितम् ॥ ९७ ॥
प्रमृज्याऽश्रूणि नेत्राभ्यां सावित्री धर्मचारिणी ।
यदि मेऽस्ति तपस्तप्तं यदि दत्तं हुतं यदि ॥ ९८ ॥
श्वश्रूश्वशुरभर्तॄणां मम पुण्याऽस्तु शर्वरी ।
न स्मराम्युक्तपूर्वं वै स्वैरेष्वप्यनृतां गिरम् ॥ ९९ ॥
तेन सत्येन तावद्य ध्रियेतां श्वशुरौ मम ।
सत्यवानुवाच—कामये दर्शनं पित्रोर्याहि सावित्रि मा चिरम् ॥ १०० ॥
पुरा मातुः पितुर्वाऽपि यदि पश्यामि विप्रियम् ।
न जीविष्ये वरारोहे सत्येनाऽऽत्मानमालभे ॥ १०१ ॥
यदि धर्मे च ते बुद्धिर्मां चेज्जीवंतमिच्छसि ।
मम प्रियं वा कर्तव्यं गच्छावाऽऽश्रममंतिकात् ॥ १०२ ॥
मार्कण्डेय उवाच—सावित्री तत उत्थाय केशान्संयम्य भाविनी ।
पतिमुत्थापयामास बाहुभ्यां परिगृह्य वै ॥ १०३ ॥
उत्थाय सत्यवांश्चापि प्रमृज्यांऽगानि पाणिना ।
सर्वा दिशः समालोक्य कठिने दृष्टिमादधे ॥ १०४ ॥
तमुवाचाऽथ सावित्री श्वः फलानि हरिष्यसि ।

से विह्वल देखकर अपने हाथों से उनके आँसू पोंछकर धर्मचारिणी सावित्री कहने लगी—यदि मैंने तप, दान, हवन आदि पुण्यकर्म किये हैं, तो आज की रात्रि मेरे ससुर, सास और पति के लिए सुखदायक हो। मुझे अच्छी तरह स्मरण है कि मैं कभी हँसी में भी झूठ नहीं बोली। उस सत्य के बल से मेरी सास और ससुर आज की रात्रि अच्छी तरह रहें। ॥९८।१००॥

सत्यवान् ने कहा—हे सावित्री! माता और पिता को देखने के लिए मैं बहुत उत्कण्ठित हो रहा हूँ, इसलिए अब यहाँ से चलो, देरी न करो। मैं अपनी सौगन्द खाकर सत्य कहता हूँ, यदि मेरे माता-पिता को कुछ हो गया तो मैं जान दे दूँगा। हे प्रिये! जो तुम धर्म को मानती हो, मेरा जीवन और मेरा प्रिय करना चाहती हो तो शीघ्र मुझे आश्रम को ले चलो ॥१०१।१०२॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर! तब सावित्री ने उठकर अपने केशों को सँभाला और फिर दोनों हाथों से पति को उठाया। फिर इधर-उधर देखकर फलों से भरे बर्तन पर नजर डाली। चलने के लिए तैयार होकर सावित्री ने कहा—हे प्रियतम! फलों को यहीं पड़ा रहने दो, कल ले जाना। राह में

योगक्षेमार्थमेतं ते नेष्यामि परशुं त्वहम् ॥१०५॥
कृत्वा कठिनभारं सा वृक्षशाखावलंबिनम् ।
गृहीत्वा परशुं भर्तुः सकाशे पुनरागमत् ॥१०६॥
वामे स्कंधे तु वामोरूर्भर्तुर्बाहुं निवेश्य च ।
दक्षिणेन परिष्वज्य जगाम गजगामिनी ॥१०७॥
सत्यवानुवाच—अभ्यासगमनाद्भीरु पंथानो विदिता मम ।
वृक्षांतरालोकितया ज्योत्स्नया चापि लक्षये ॥१०८॥
आगतौ स्वः पथा येन फलान्यवचितानि च ।
यथागतं शुभे गच्छ पंथानं मा विचारय ॥१०९॥
पलाशखंडे चैतस्मिन्पंथा व्यावर्तते द्विधा ।
तस्योत्तरेण यः पंथास्तेन गच्छ त्वरस्व च ॥११०॥
स्वस्थोऽस्मि बलवानस्मि दिदृक्षुः पितरावुभौ ।
ब्रुवन्नेव त्वरायुक्तः संप्रायादाश्रमं प्रति ॥१११॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने सप्तनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

आपकी रक्षा के लिए यह कुल्हाड़ी मैं लिये चलती हूँ। अब सावित्री ने फल-पात्र को वृक्ष की डाली में रख दिया और वह कुल्हाड़ी ले ली। इसके पश्चात् अपने बायें कन्धे पर पति का हाथ रखकर, अपना दाहिना हाथ उनकी कमर में डालकर, वे धीरे-धीरे आश्रम की ओर चलीं ॥१०२।१०७॥

सत्यवान् ने कहा—हे प्रिये! बार-बार आने-जाने के कारण इन राहों को मैं अच्छी तरह पहचानता हूँ। वृक्षों के बीच से चांदनी भी आ रही है। उससे भी राह देखने में सहायता मिलेगी। जिस राह से हम लोग प्रातःकाल आये थे और हमने फल चुने थे, उसी राह से चलो; कुछ सोच-विचार न करो। इन ढाक के पेड़ों के पास से दो राहें हो गई हैं। उत्तर ओर की राह से चलो। अब मेरी सुस्ती जाती रही, मैं सबल हो गया हूँ। माता-पिता को देखने के लिए मैं अत्यन्त उत्कण्ठित हो रहा हूँ—इसलिए शीघ्र चलो। हे राजा युधिष्ठिर! सत्यवान् यों कहते हुए सावित्री के साथ जल्दी-जल्दी अपने आश्रम की ओर बढ़े ॥१०८।१११॥

—०—

वनपर्व का दो सौ सत्तानवे अध्याय समाप्त हुआ ॥२९७॥

अथ अष्टनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२९८॥

मार्कण्डेय उवाच—एतस्मिन्नेव काले तु द्युमत्सेनो महाबलः ।
लब्धचक्षुः प्रसन्नायां दृष्ट्या सर्वं ददर्श ह ॥ १ ॥

स सर्वानाश्रमान्गत्वा शैव्यया सह भार्यया ।
पुत्रहेतोः परामार्तिं जगाम भरतर्षभ ॥ २ ॥
तावाश्रमान्नदीश्चैव वनानि च सरांसि च ।
तस्यां निशि विचिन्वंतौ दंपती परिजग्मतुः ॥ ३ ॥
श्रुत्वा शब्दं तु यं कंचिदुन्मुखौ सुतशंकया ।
सावित्रीसहितोऽभ्येति सत्यवानित्यभापताम् ॥ ४ ॥
भिन्नैश्च परुषैः पादैः सव्रणैः शोणितोक्षितैः ।
कुशकंटकविद्धांगावुन्मत्ताविव धावतः ॥ ५ ॥
ततोऽभिसृत्य तैर्विप्रैः सर्वैराश्रमवासिभिः ।
परिवार्य समाश्वास्य तावानीतौ स्वमाश्रमम् ॥ ६ ॥
तत्र भार्यासहायः स वृतो वृद्धैस्तपोधनैः ।
आश्वासितोऽपि चित्रार्थैः पूर्वराज्ञां कथाश्रयैः ॥ ७ ॥
ततस्तौ पुनराश्वस्तौ वृद्धौ पुत्रदिदृक्षया ।
बाल्यवृत्तानि पुत्रस्य स्मरंतौ भृशदुःखितौ ॥ ८ ॥
पुनरुक्त्वा च करुणां वाचं तौ शोककर्शितौ ।
हा पुत्र हा साध्वि वधूः क्वाऽसि क्वाऽसीत्यरोदताम् ।

दो सौ अट्ठानबे अध्याय । २९८॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर ! इधर महापराक्रमी राजर्षि द्युमत्सेन का अन्धापन जाता रहा । आंखें पाकर वे सब कुछ देखने लगे । वे अपनी स्त्री शैव्या के साथ सब आश्रमों में जाकर पुत्र को खोजने लगे । सत्यवान् का पता न पाकर वे बहुत ही दुःखित हुए । दोनों पति-पत्नी रात्रि को आश्रम, नदी, वन, सरोवर आदि में जाकर पुत्र को ढूढ़ने लगे । जो कोई शब्द सुन पड़ता था तो वे पुत्र के खयाल से उधर देखने लगते और कहते थे कि सावित्री के साथ सत्यवान् आ रहे हैं । वे इधर-उधर पागलों की तरह दौड़े-दौड़े फिरते थे । उनके पाव फट गये, घाव हो गये और खून बहने लगा; कुश और कांटे लगने से वे घायल हो गये ॥१-५॥

आश्रमवासी ब्राह्मण लोग पास आकर उन्हें समझाने लगे और उन्हें उनके आश्रम में ले गये । वृद्ध तपस्वी लोग उनके चारों ओर बैठकर पहले के राजाओं की कथाएँ सुनाकर उन्हें दिलासा देने लगे । राजा द्युमत्सेन और उनकी रानी, दोनों, को मुनियों के समझाने से ढाढ़स बन्धा । पर पुत्र को देखने की लालसा और उत्कण्ठा कम नहीं हुई । पुत्र के बाल-चरित्र और सावित्री के विवाह का वृत्तान्त स्मरण करके दोनों पति-पत्नी बहुत व्याकुल और दुःखित

ब्राह्मणः सत्यवाक्तेपामुवाचेदं तयोर्वचः ॥ ९ ॥

सुवर्चा उवाच—यथाऽस्य भार्या सावित्री तपसा च दमेन च ।
आचारेण च संयुक्ता तथा जीवति सत्यवान् ॥ १० ॥

गौतम उवाच—वेदाः सांगा मयाऽधीतास्तपो मे संचितं महत् ।
कौमारब्रह्मचर्यं च गुरवोऽग्निश्च तोषिताः ॥ ११ ॥
समाहितेन चीर्णानि सर्वाण्येव व्रतानि मे ।
वायुभक्षोपवासश्च कृतो मे विधिवत्सदा ॥ १२ ॥
अनेन तपसा वेद्मि सर्वं परचिकीर्षितम् ।
सत्यमेतन्निबोधध्वं ध्रियते सत्यवानिति ॥ १३ ॥

शिष्य उवाच—उपाध्यायस्य मे वक्त्राद्यथा वाक्यं विनिःसृतम् ।
नैव जातु भवेन्मिथ्या तथा जीवति सत्यवान् ॥ १४ ॥

ऋषय ऊचुः—यथाऽस्य भार्या सावित्री सर्वैरेव सुलक्षणैः ।
अवैधव्यकरैर्युक्ता तथा जीवति सत्यवान् ॥ १५ ॥

भारद्वाज उवाच—यथाऽस्य भार्या सावित्री तपसा च दमेन च ।
आचारेण च संयुक्ता तथा जीवति सत्यवान् ॥ १६ ॥

दाल्भ्य उवाच—यथा दृष्टिः प्रवृत्ता ते सावित्र्याश्च यथा व्रतम् ।

हुए। वे "हाय पुत्र सत्यवान्! हाय पतिव्रता सावित्री! तुम दोनों कहां चले गये!" कहकर अनेक प्रकार से विलाप करके रोने लगे ॥६-९॥

तब सुवर्चा नाम के ब्राह्मण ने कहा—सत्यवान् की स्त्री तपस्विनी, जितेन्द्रिय और सदाचारिणी है, इसलिए सत्यवान् अवश्य जीवित है ॥१०॥

गौतम ऋषि ने कहा—मैंने वेद और वेदाङ्ग पढ़े हैं, बहुत दिनों तक तपस्या की है, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करके गुरु और अग्नि की आराधना की है, एकाग्र भाव से सब व्रतों का अनुष्ठान और केवल वायु-भक्षण करके उपवास किये हैं। इस तपस्या के बल से मैं दूसरों के हृदय का हाल जान लेता हूं। मैं सत्य कहता हूं, सत्यवान् जीवित है ॥११-१३॥

गौतम के शिष्य ने कहा—मेरे गुरु ने जो कहा है, वह असत्य नहीं हो सकता। मुझे विश्वास है कि सत्यवान् अवश्य जीते जागते हैं ॥१४॥

सब ऋषियों ने कहा—सावित्री में विधवा होने का कोई लक्षण नहीं है। इससे हमें विश्वास है कि सत्यवान् अवश्य जीते हैं ॥१५॥

भरद्वाज ऋषि ने कहा—सावित्री में तप, दम और सदाचार आदि गुण देख पड़ते हैं। इस कारण मुझे निश्चय है कि सत्यवान् जीते हैं ॥१६॥

दाल्भ्य ऋषि ने कहा—तुम्हें आंखें मिल गई हैं और सावित्री भी व्रत समाप्त करके भोजन किये

गताऽऽहारमकृत्वा च तथा जीवति सत्यवान् ॥ १७ ॥

आपस्तंब उवाच--यथा वदंति शांतायां दिशि वै मृगपक्षिणः ।
पार्थिवी च प्रवृत्तिस्ते तथा जीवति सत्यवान् ॥ १८ ॥

धौम्य उवाच--सर्वैर्गुणैरुपेतस्ते यथा पुत्रो जनप्रियः ।
दीर्घायुर्लक्षणोपेतस्तथा जीवति सत्यवान् ॥ १९ ॥

मार्कण्डेय उवाच--एवमाश्वासितस्तैस्तु सत्यवाग्भिस्तपस्विभिः ।
तांस्तान्विगणयन्सर्वांस्ततः स्थिर इवाऽभवत् ॥ २० ॥
ततो मुहूर्तात्सावित्री भर्त्रा सत्यवता सह ।
आजगामाऽऽश्रमं रात्रौ प्रहृष्टा प्रविवेश ह ॥ २१ ॥

ब्राह्मणा ऊचु --पुत्रेण संगतं त्वां तु चक्षुष्मंतं निरीक्ष्य च ।
सर्वे वयं वै पृच्छामो वृद्धिं वै पृथिवीपते ॥ २२ ॥
समागमेन पुत्रस्य सावित्र्या दर्शनेन च ।
चक्षुपश्चाऽऽत्मनो लाभात्त्रिभिर्दिष्ट्या विवर्धसे ॥ २३ ॥
सर्वैरस्माभिरुक्तं यत्तथा तन्नाऽत्र संशयः ।
भूयो भूयः समृद्धिस्ते क्षिप्रमेव भविष्यति ॥ २४ ॥
ततोऽग्निं तत्र संज्वाल्य द्विजास्ते सर्व एव हि ।
उपासांचक्रिरे पार्थ द्युमत्सेनं महीपतिम् ॥ २५ ॥

बिना ही पति के साथ गई हैं। इससे सत्य जानो, सत्यवान् जीते हैं ॥१७॥

आपस्तम्ब ऋषि ने कहा—सब दिशाएं शांत हैं और उनमें शुभसूचक मृग और पक्षी बोल रहे हैं। तुम्हारी बुद्धि भी राजधर्म के पालन से विमुख नहीं है। इस कारण मुझे निश्चय है कि सत्यवान् जीते हैं ॥१८॥

धौम्य ऋषि ने कहा—आपके पुत्र सत्यवान् सब गुणों से सम्पन्न, सबके प्यारे और दीर्घायु होने के लक्षणों से युक्त हैं। इसलिए वे अवश्य जीते हैं ॥१९॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—सत्यवादी तपस्वियों के या दिलासा देने पर राजा द्युमत्सेन अपने पुत्र के तप आदि गुणों का खयाल करके कुछ शान्त हुए। इसी बीच में अपने पति सत्यवान् के साथ सावित्री प्रसन्नतापूर्वक आश्रम में आ गई ॥२०।२१॥

तब सब ब्राह्मणों ने कहा—हे राजा द्युमत्सेन! पुत्र और आंखें पाकर आप कृतार्थ हुए। हम आपकी बढ़ती चाहते हैं। आखें मिलीं, सावित्री को पाया और पुत्र को देखा, इनतीन लाभों से आपका अभ्युदय हुआ, यह बड़े सौभाग्य की बात है। हमने जो कुछ कहा था वह सत्य निकला। शीघ्र ही बारम्बार अनेक प्रकार से आपके सुख सौभाग्य की वृद्धि होगी ॥२२।२४॥

हे राजा युधिष्ठिर! फिर अग्नि जलाकर वे ब्राह्मण

शैव्या च सत्यवांश्चैव सावित्री चैकतः स्थिताः ।
सर्वैस्तैरभ्यनुज्ञाता विशोकाः समुपाविशन् ॥ २६ ॥
ततो राज्ञा सहाऽऽसीनाः सर्वे ते वनवासिनः ।
जातकौतूहलाः पार्थ पप्रच्छुर्नृपतेः सुतम् ॥ २७ ॥

ऋषय ऊचु —प्रागेव नाऽऽगतं कस्मात्सभार्येण त्वया विभो ।
विरात्रे चाऽऽगतं कस्मात्कोऽनुबंधस्तवाऽभवत् ॥ २८ ॥
संतापितः पिता माता वने चैव नृपात्मज ।
कस्मादिति न जानीमस्तत्सर्वं वक्तुमर्हसि ॥ २९ ॥

सत्यवानुवाच—पित्राऽहमभ्यनुज्ञातः सावित्रीसहितो गतः ।
अथ मेऽभूच्छिरोदुःखं वने काष्ठानि भिंदतः ॥ ३० ॥
सुप्तश्चाऽहं वेदनया चिरमित्युपलक्षये ।
तावत्कालं न च मया सुप्तपूर्वं कदाचन ॥ ३१ ॥
सर्वेषामेव भवतां संतापो मा भवेदिति ।
अतो विरात्रागमनं नाऽन्यदस्तीह कारणम् ॥ ३२ ॥

गौतम उवाच—अकस्माच्चक्षुषः प्राप्तिर्द्युमत्सेनस्य ते पितुः ।
नाऽस्य त्वं कारणं वेत्सि सावित्री वक्तुमर्हति ॥ ३३ ॥
श्रोतुमिच्छामि सावित्रि त्वं हि वेत्थ परावरम् ।
त्वां हि जानामि सावित्रि सावित्रीमिव तेजसा ॥ ३४ ॥

राजा द्युमत्सेन के पास बैठ गये । शैव्या, सावित्री और सत्यवान् एक ओर खड़े थे, वे भी ब्राह्मणों की आज्ञा पाकर प्रसन्नतापूर्वक वहां बैठ गये । तब राजा के साथ बैठे हुए सब वनवासी ब्राह्मण कौतूहल के वश होकर सत्यवान् से पूछने लगे—हे राजकुमार! तुम अपनी भार्या के साथ रात्रि होने से पहले ही आश्रम में क्यों नहीं आ गये? इतनी रात्रि को क्यों आये? आने में क्या कुछ रुकावट हो गई थी? तुमने देर लगाकर अपने पिता-माता को और हम लोगों को क्यों पीड़ा पहुँचाई? इसका कारण हम लोगों को मालूम नहीं है । सब हाल कहकर हमारे संशय को दूर करो ॥२५।२९॥

सत्यवान् ने कहा—मैं पिता की आज्ञा लेकर सावित्री के साथ वन को गया । वहां लकड़ी काटते-काटते मेरे सिर में बड़े जोर से पीड़ा उत्पन्न हुई । उस पीड़ा से बेचैन होकर मैं लेट गया, इतना ही मुझे स्मरण है । उसके पश्चात् मुझे नींद आ गई । मैं इतनी देर तक और कभी नहीं सोया । इतनी रात्रि को वहां से उठकर इसलिए चला आया हूं कि आप लोग मेरे लिए चिन्तित न हों ॥३०।३२॥

त्वमत्र हेतुं जानीषे तस्मात्सत्यं निरुच्यताम् ।
रहस्यं यदि ते नास्ति किंचिदत्र वदस्व नः ॥ ३५ ॥
सावित्र्युवाच--एवमेतद्यथा वेत्थ संकल्पो नाऽन्यथा हि वः ।
नहि किंचिद्रहस्यं मे श्रूयतां तथ्यमेव यत् ॥ ३६ ॥
मृत्युर्मे पत्युराख्यातो नारदेन महात्मना ।
स चाऽद्य दिवसः प्राप्तस्ततो नैनं जहाम्यहम् ॥ ३७ ॥
सुप्तं चैनं यमः साक्षादुपागच्छत्सकिंकरः ।
स एनमनयद्बद्ध्वा दिशं पितृनिषेविताम् ॥ ३८ ॥
अस्तौषं तमहं देवं सत्येन वचसा विभुम् ।
पंच वै तेन मे दत्ता वराः शृणुत तान्मम ॥ ३९ ॥
चक्षुषी च स्वराज्यं च द्वौ वरौ श्वशुरस्य मे ।
लब्धं पितुः पुत्रशतं पुत्राणां चाऽऽत्मनः शतम् ॥ ४० ॥
चतुर्वर्षशतायुर्मे भर्ता लब्धश्च सत्यवान् ।
भर्तुर्हि जीवितार्थं तु मया चीर्णं त्विदं व्रतम् ॥ ४१ ॥
एतत्सर्वं मयाऽऽख्यातं कारणं विस्तरेण वः ।
यथा वृत्तं सुखोदर्कमिदं दुःखं महन्मम ॥ ४२ ॥

गौतम ने कहा—हे पुत्र ! तुम्हारे पिता अन्धे थे, उन्हें अकस्मात् आँखें मिलने का कारण क्या है, सो तुम नहीं जानते । शायद सावित्री बता सकती हैं । हे सावित्री ! तुम सब बातें जानती हो । मैं तुम्हें सावित्री के समान तेजस्विनी समझता हूँ । तुम इस अचानक होनेवाली अद्भुत घटना का कारण अवश्य जानती हो । इसलिए जो छिपाने की बात न हो तो हमारे आगे ठीक-ठीक सब हाल कहो ॥३३।३५॥

सावित्री ने कहा—हे भगवन् ! आपने जो कहा वह वैसा ही है । आप लोगों का विचार और अनुमान मिथ्या नहीं हो सकता । इसमें कुछ छिपाने की बात नहीं है । मैं इस घटना का सब हाल कहती हूँ, सुनिए । महात्मा नारद ने कहा था कि मेरे स्वामी अल्पायु हैं । आज वही, स्वामी की, मृत्यु का दिन था । इसलिए मैंने इनका साथ नहीं छोड़ा । ये वन में सिर की पीड़ा से व्याकुल होकर जब लेट रहे तब अपने अनुचरों सहित यमराज आये और इनके जीवात्मा को पाशों मे बांधकर दक्षिण दिशा को ले चले ।३६।३८।

मैं भी उनके पीछे पीछे चली और अनेक प्रकार के विनय-वचन कहकर उनकी स्तुति करने लगी । तब उन्होंने प्रसन्न होकर ससुर को आँखें मिलना, राज्य मिलना, मेरे पिता के सौ पुत्र होना, मेरे सौ पुत्र होना और मेरे स्वामी सत्यवान् की चार सौ वर्ष की आयु होना, ये पांच वरदान मुझे दिये । मैंने

ऋषय ऊचुः—निमज्जमानं व्यसनैरभिद्रुतं कुलं नरेंद्रस्य तमोमये ह्रदे।
त्वया सुशीलव्रतपुण्यया कुलं समुद्धृतं साध्वि पुनः कुलीनया ॥ ४३ ॥
मार्कण्डेय उवाच—तथा प्रशस्य ह्यभिपूज्य चैव वरस्त्रियं तामृषयः समागताः।
नरेंद्रमामंत्र्य सपुत्रमंजसा शिवेन जग्मुर्मुदिताः स्वमालयम् ॥ ४४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने अष्टनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

स्वामी के जीवन की रक्षा के लिए ही तीन दिन का [निर्जल] व्रत किया था। अन्त को सुखदायक अपने कष्ट का हाल मैंने आप लोगों को सुना दिया।३९।४२। ऋषियों ने कहा—हे पतिव्रता! तुम श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न, सुशीला और सत्य-व्रत करनेवाली हो। राजा द्युमत्सेन का वंश विपत्ति के बोझ से दबकर अन्धकारमय नरककुण्ड में डूबा जा रहा था; तुमने इसका उद्धार करके बड़ा भारी कार्य किया ॥४३॥ मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—इस प्रकार पतिव्रता सावित्री की बहुत प्रशंसा करके, द्युमत्सेन और सत्यवान् से विदा होकर, आये हुए सब ऋषि अपने-अपने आश्रम को चले गये ॥४४॥

वनपर्व का दो सौ अट्ठानवे अध्याय समाप्त हुआ ॥२९८॥

अथ नवनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।२९९॥

मार्कण्डेय उवाच—तस्यां रात्र्यां व्यतीतायामुदिते सूर्यमंडले ।
कृतपौर्वाह्णिकाः सर्वे समेयुस्ते तपोधनाः ॥ १ ॥
तदेव सर्वं सावित्र्या महाभाग्यं महर्षयः ।
द्युमत्सेनाय नाऽतृप्यन्कथयंतः पुनः पुनः ॥ २ ॥
ततः प्रकृतयः सर्वाः शाल्वेभ्योऽभ्यागता नृप ।
आचख्युर्निहतं चैव स्वेनाऽमात्येन तं द्विपम् ॥ ३ ॥
तं मंत्रिणा हतं श्रुत्वा ससहायं सबांधवम् ।
न्यवेदयन्यथावृत्तं विद्रुतं च द्विपद्बलम् ॥ ४ ॥

दो सौ निन्नानवे अध्याय ॥२९९॥

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर! दूसरे दिन प्रातःकाल सूर्योदय होने पर सन्ध्या आदि सबेरे के कृत्य समाप्त करके सब तपस्वी फिर द्युमत्सेन के आश्रम में आये। द्युमत्सेन से बारम्बार सावित्री के इस महाभाग्य को बखान करके भी उन महर्षियों का जी नहीं भरा। हे राजा युधिष्ठिर! इसके पश्चात् शाल्वदेश की सब प्रजा आकर द्युमत्सेन से कहने लगी—हे महाराज! आपके राज्य को छीननेवाला शत्रु अपने ही मन्त्री के हाथ से मारा गया। उसकी सब सेना भी तितर-बितर हो गई है और सहायक बन्धु भी मार डाले गये हैं। आपकी प्रजा ने एकमत होकर यह निश्चय किया है कि हमारे राजा

ऐकमत्यं च सर्वस्य जनस्याऽथ नृपं प्रति ।
सचक्षुर्वाऽप्यचक्षुर्वा स नो राजा भवत्विति ॥ ५ ॥
अनेन निश्चयेनेह वयं प्रस्थापिता नृप ।
प्राप्तानीमानि यानानि चतुरंगं च ते बलम् ॥ ६ ॥
प्रयाहि राजन्भद्रं ते घुष्टस्ते नगरे जयः ।
अध्यास्व चिररात्राय पितृपैतामहं पदम् ॥ ७ ॥
चक्षुष्मंतं च तं दृष्ट्वा राजानं वपुषाऽन्वितम् ।
मूर्ध्ना निपतिताः सर्वे विस्मयोत्फुल्ललोचनाः ॥ ८ ॥
ततोऽभिवाद्य तान्वृद्धान्द्विजानाश्रमवासिनः ।
तैश्चाऽभिपूजितः सर्वैः प्रययौ नगरं प्रति ॥ ९ ॥
शैब्या च सह सावित्र्या स्वास्तीर्णेन सुवर्चसा ।
नरयुक्तेन यानेन प्रययौ सेनया वृता ॥ १० ॥
ततोऽभिषिषिचुः प्रीत्या द्युमत्सेनं पुरोहिताः ।
पुत्रं चाऽस्य महात्मानं यौवराज्येऽभ्यषेचयन् ॥ ११ ॥
ततः कालेन महता सावित्र्याः कीर्तिवर्धनम् ।
तद्वै पुत्रशतं जज्ञे शूराणामनिवर्तिनाम् ॥ १२ ॥
भ्रातृणां सोदराणां च तथैवाऽस्या भवच्छतम् ।
मद्राधिपस्याऽश्वपतेर्मालव्यां सुमहद्बलम् ॥ १३ ॥

द्युमत्सेन ही, अन्धे हों या आंखोंवाले, चाहे जैसे हों, हमारे शासक हों। हे राजेन्द्र ! यही निश्चय करके सबने हमें आपकी सेवा में भेजा है । आपकी यह चतुरङ्गिणी सेना और सवारियां उपस्थित है । हम लोग आपको लेने आये हैं । आपका भला हो । आप चलकर अपने बाप-दादे की राजगद्दी पर बैठिए । नगर में आपके विजय की घोषणा की जा चुकी है ॥१।७॥

हे राजा युधिष्ठिर ! राजा द्युमत्सेन को जवानों की तरह सबल और दृष्टियुक्त देखकर उन लोगों को बड़ा अचरज हुआ। सबने उनके चरणों में प्रणाम किया । अब राजा द्युमत्सेन ने सब आश्रमवासी वृद्धों को प्रणाम किया और उन लोगों ने भी राजा का सत्कार किया । इस प्रकार तपस्वियों से बिदा होकर राजा द्युमत्सेन नगर को चले । शैव्या भी सावित्री के साथ ऐसी पालकी पर बैठकर चलीं जिसमें कोमल बहुमूल्य बिछौने बिछे हुए थे । नगर में पहुँचने पर पुरोहितों ने प्रीतिपूर्वक द्युमत्सेन को राजगद्दी पर बिठाकर युवराज पदपर सत्यवान् का अभिषेक किया।८।११।

बहुत दिनों के पश्चात् धर्मराज के वरदान के अनुसार सावित्री के सौ पुत्र उत्पन्न हुए । वे सब

एवमात्मा पिता माता श्वश्रूः श्वशुर एव च ।
भर्तुः कुलं च सावित्र्या सर्वं कृच्छ्रात्समुद्धृतम् ॥ १४ ॥
तथैवैषा हि कल्याणी द्रौपदी शीलसंमता ।
तारयिष्यति वः सर्वान्सावित्रीव कुलांगना ॥ १५ ॥
वैशम्पायन उवाच--एवं स पांडवस्तेन अनुनीतो महात्मना ।
विशोको विज्वरो राजन्काम्यके न्यवसत्तदा ॥ १६ ॥
यश्चेदं शृणुयाद्भक्त्या सावित्र्याख्यानमुत्तमम् ।
स सुखी सर्वसिद्धार्थो न दुःखं प्राप्नुयान्नरः ॥ १७ ॥

इति श्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने नवनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः
समाप्तं चेदं पतिव्रतामाहात्म्यपर्व ।

कीर्त्ति को बढ़ानेवाले, शूर और रण से विमुख न होनेवाले थे। मद्र देश के राजा अश्वपति के भी मालवी रानी से महाबली सौ पुत्र उत्पन्न हुए। सावित्री के भाइयों में भी सब गुण थे। हे राजेन्द्र! सावित्री ने इस प्रकार माता-पिता, सास-ससुर और पति के साथ अपने को भी विपत्ति से बचाया। हे राजा युधिष्ठिर! सावित्री की ही तरह यह पतिव्रता, कुलकामिनी, कल्याणरूपिणी, द्रौपदी भी तुम सब भाइयों को विपत्ति और कष्ट से उबार लेंगी ॥१२।१५॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजा जनमेजय! इस तरह महात्मा मार्कण्डेय के समझाने से युधिष्ठिर का शोक और सन्ताप जाता रहा। वे द्रौपदी और भाइयों के साथ सुखपूर्वक काम्यक वन में रहने लगे। जो मनुष्य इस सावित्री के पवित्र उपाख्यान को श्रद्धाभक्ति के साथ सुनता है उसकी सब इच्छाएँ पूर्ण होती हैं और वह कभी दुःख नहीं पाता ॥१६।१७॥

वनपर्व का दो सौ निन्नानबे अध्याय समाप्त हुआ ॥२९९॥

अथ कुंडलाहरणपर्व ।
अथ त्रिशततमोऽध्यायः

जनमेजय उवाच—यत्तत्तदा महद्ब्रह्मँल्लोमशो वाक्यमब्रवीत् ।
इंद्रस्य वचनादेत्य पांडुपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ १ ॥
यच्चापि ते भयं तीव्रं न च कीर्तयसे क्वचित् ।
तच्चाऽप्यपहरिष्यामि धनंजय इतो गते ॥ २ ॥

तीन सौ अध्याय ॥३००॥

राजा जनमेजय ने कहा—हे वैशम्पायन जी! मैं पहले सुन चुका हूँ कि महर्षि लोमश ने, इन्द्र के कहने से, युधिष्ठिर के पास आकर कहा था कि "हे धर्मराज! तुम्हारे हृदय में जो भय सदा बना रहता

किं नु तज्जपतां श्रेष्ठ कर्णं प्रति महद्भयम् ।
आसीन्न च स धर्मात्मा कथयामास कस्य चित् ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच—अयं ते राजशार्दूल कथयामि कथामिमाम् ।
पृच्छतो भरतश्रेष्ठ शुश्रूषस्व गिरं मम ॥ ४ ॥
द्वादशे समतिक्रांते वर्षे प्राप्ते त्रयोदशे ।
पांडूनां हितकृच्छक्रः कर्णं भिक्षितुमुद्यतः ॥ ५ ॥
अभिप्रायमथो ज्ञात्वा महेंद्रस्य विभावसुः ।
कुंडलार्थे महाराज सूर्यः कर्णमुपागतः ॥ ६ ॥
महार्हे शयने वीरं स्पर्द्ध्यास्तरणसंवृते ।
शयानमतिविश्वस्तं ब्रह्मण्यं सत्यवादिनम् ॥ ७ ॥
स्वप्नांते निशि राजेंद्र दर्शयामास रश्मिवान् ।
कृपया परयाऽऽविष्टः पुत्रस्नेहाच्च भारत ॥ ८ ॥
ब्राह्मणो वेदविद्भूत्वा सूर्यो योगर्द्धिरूपवान् ।
हितार्थमब्रवीत्कर्णं सांत्वपूर्वमिदं वचः ॥ ९ ॥
कर्ण मद्वचनं तात शृणु सत्यभृतां वर ।
ब्रुवतोऽद्य महाबाहो सौहृदात्परमं हितम् ॥ १० ॥
उपायास्यति शक्रस्त्वां पांडवानां हितेप्सया ।
ब्राह्मणच्छद्मना कर्ण कुंडलोपजिहीर्षया ॥ ११ ॥

है और जिसके बारे में तुम किसी से कभी कुछ नहीं कहते उसे मैं (इन्द्र), अर्जुन के स्वर्ग से चले जाने पर, दूर कर दूँगा।" मैं जानना चाहता हूँ कि महात्मा युधिष्ठिर को कर्ण से वह कौन सा बड़ा भय था। और, धर्मात्मा युधिष्ठिर ने उस भय का हाल कभी किसी से कहा क्यों नहीं? ॥१।३॥

वैशम्पायन ने कहा—हे महाराज! मैं आपके प्रश्न के अनुसार सब वृत्तान्त कहता हूँ—सुनिए। वन में रहकर पाण्डवों ने बारह वर्ष व्यतीत कर दिये। जब तेरहवां वर्ष लगा तब पाण्डवों का हित करने के लिए इन्द्रदेव कर्ण से कवचकुण्डल मांगने को उनके पास गये। हे महाराज! ब्रह्मभक्त, सत्यनिष्ठ, महात्मा कर्ण रात्रि को बहुमूल्य पलँग पर, कोमल बिछौने के ऊपर, सो रहे थे ॥४।७॥

पुत्र-स्नेह और कृपा के कारण सूर्यदेव, योग-बल से वेद-पाठी ब्राह्मण का रूप रखकर, स्वप्न में कर्ण को देख पड़े। उन्होंने कर्ण की भलाई के लिए समझाकर कहा—हे सत्यवादी पुत्र! मैं स्नेह के कारण तुम्हारे हित की जो बात कहता हूँ सो सुनो। पाण्डवों का हित चाहनेवाले इन्द्र, ब्राह्मण का वेप रखकर,

विदितं तेन शीलं ते सर्वस्य जगतस्तथा ।
यथा त्वं भिक्षितः सद्भिर्ददास्येव न याचसे ॥ १२ ॥
त्वं हि तात ददास्येव ब्राह्मणेभ्यः प्रयाचितम् ।
वित्तं यच्चाऽन्यदप्याहुर्न प्रत्याख्यासि कस्यचित् ॥ १३ ॥
त्वां तु चैवंविधं ज्ञात्वा स्वयं वै पाकशासनः ।
आगंता कुंडलार्थाय कवचं चैव भिक्षितुम् ॥ १४ ॥
तस्मै प्रयाचमानाय न देये कुंडले त्वया ।
अनुनेयः परं शक्त्या श्रेय एतद्धि ते परम् ॥ १५ ॥
कुंडलार्थे ब्रुवस्तात कारणैर्बहुभिस्त्वया ।
अन्यैर्बहुविधैर्वित्तैः सन्निवार्यः पुनः पुनः ॥ १६ ॥
रत्नैः स्त्रीभिस्तथा गोभिर्धनैर्बहुविधैरपि ।
निदर्शनैश्च बहुभिः कुंडलेप्सुः पुरंदरः ॥ १७ ॥
यदि दास्यसि कर्ण त्वं सहजे कुंडले शुभे ।
आयुषः प्रक्षयं गत्वा मृत्योर्वशमुपैष्यसि ॥ १८ ॥
कवचेन समायुक्तः कुंडलाभ्यां च मानद ।
अवध्यस्त्वं रणेऽरीणामिति विद्धि वचो मम ॥ १९ ॥
अमृतादुत्थितं ह्येतदुभयं रत्नसंभवम् ।
तस्माद्रक्ष्यं त्वया कर्ण जीवितं चेत्प्रियं तव ॥ २० ॥

तुमसे कुण्डल मांगने आवेंगे ॥८।११॥

इन्द्र को और सारे जगत् को तुम्हारा यह स्वभाव मालूम है कि तुम सज्जनों को उनकी मांगी हुई वस्तु दे देते हो और स्वयं किसी से कुछ नहीं मांगते। हे पुत्र! तुम विशेषकर ब्राह्मणों को विमुख नहीं करते; वे धन या और जो कुछ मांगते हैं सो तुम उनको दे देते हो। इन्द्र तुम्हारा यह हाल जानकर तुमसे कवच और कुण्डल मांगने आवेंगे। मांगने पर तुम उन्हें कवच या कुण्डल न देकर यथाशक्ति अनुनय-विनय के द्वारा और कुछ मांगने के लिए प्रसन्न करना। इसी में तुम्हारी भलाई है ॥१२।१५॥

कुण्डल पाने के लिए वे अनेक कारण दिखाकर बहुत सी बातें बनावेंगे। तुम रत्न, स्त्रियां, गायें और अन्य अनेक प्रकार की सम्पत्ति देकर उन्हें टालने की चेष्टा करना। जो तुम वे कुण्डल दे दोगे, जिन्हें पहने हुए ही तुम उत्पन्न हुए हो, तो तुम्हारी आयु घट जायगी। तब तुम्हारा मरना भी सहज हो जायगा। हे मान देनेवाले कर्ण! उन कुण्डलों और कवच के प्रभाव से युद्ध-भूमि में शत्रु तुम्हें मार नहीं सकते। तुम्हारे रत्नमय कवच और कुण्डलों की उत्पत्ति अमृत

कर्ण उवाच—को मामेवं भवान्प्राह दर्शयन्सौहृदं परम् ।
कामया भगवन्ब्रूहि को भवान्द्विजवेषधृक् ॥ २१ ॥
ब्राह्मण उवाच—अहं तात सहस्रांशुः सौहृदात्त्वां निदर्शये ।
कुरुष्वैतद्वचो मे त्वमेतच्छ्रेयः परं हि ते ॥ २२ ॥
कर्ण उवाच—श्रेय एव ममाऽत्यंतं यस्य मे गोपतिः प्रभुः ।
प्रवक्ताऽद्य हितान्वेषी शृणु चेदं वचो मम ॥ २३ ॥
प्रसादये त्वां वरदं प्रणयाच्च ब्रवीम्यहम् ।
न निवार्यो व्रतादस्मादहं यद्यस्मि ते प्रियः ॥ २४ ॥
व्रतं वै मम लोकोऽयं वेत्ति कृत्स्नं विभावसो ।
यथाऽहं द्विजमुख्येभ्यो दद्यां प्राणानपि ध्रुवम् ॥ २५ ॥
यद्यागच्छति मां शक्रो ब्राह्मणच्छद्मनाऽऽवृतः ।
हितार्थं पांडुपुत्राणां खेचरोत्तम भिक्षितुम् ॥ २६ ॥
दास्यामि विबुधश्रेष्ठ कुंडले वर्म चोत्तमम् ।
न मे कीर्तिः प्रणश्येत त्रिषु लोकेषु विश्रुता ॥ २७ ॥
मद्विधस्याऽयशस्यं हि न युक्तं प्राणरक्षणम् ।
युक्तं हि यशसा युक्तं मरणं लोकसंमतम् ॥ २८ ॥

से हुई है । इसलिए हे कर्ण ! जो तुम जीना चाहते हो तो तुम्हें इन्द्र से कवच और कुण्डलों की रक्षा करनी चाहिए ॥१६।२०॥

कर्ण ने पूछा—हे भगवन् ! आप कौन हैं, जो ब्राह्मण के वेष से स्नेह प्रकट करते हुए मुझे मेरी भलाई का उपदेश करने आये हैं ? ॥२१॥

ब्राह्मण वेषधारी सूर्य ने कहा—हे पुत्र ! मैं सूर्य हूँ । स्नेह के कारण तुम्हारे पास आया हूँ । मेरे कहे के अनुसार कार्य करो, इसी में तुम्हारी भलाई है ॥२२॥

कर्ण ने कहा—जब पिता सूर्यदेव मेरे हित के लिए आकर शुभ उपदेश कर रहे हैं तब अवश्य ही मेरा भला होगा। किन्तु हे वरदानी प्रभाकर ! मैं भक्ति के साथ प्रसन्न करके आपसे प्रार्थना करता हूँ कि जो आपको मैं प्यारा हूँ तो आप मुझे दान देने से न रोकिए । हे भगवन् ! सारा संसार मेरे इस व्रत को अच्छी तरह जानता है कि मैं ब्राह्मणों को, मांगने पर, अपने प्राण तक दे सकता हूँ ॥२३।२५॥

हे आकाशगामियों में श्रेष्ठ ! यदि इन्द्र पाण्डवों का हित करने की चाह से ब्राह्मण का रूप रखकर मुझसे मांगने आवेंगे तो मैं उन्हें कवच और कुण्डल अवश्य दे दूँगा । त्रिलोक में फैली हुई अपनी कीर्ति को मैं कभी नष्ट न होने दूँगा । मुझ ऐसे पुरुष के लिए अपमान की जिन्दगी से मर जाना ही श्रेष्ठ है।

सोऽहमिंद्राय दास्यामि कुंडले सह वर्मणा ।
यदि मां वलवृत्रघ्नो भिक्षार्थमुपयास्यति ॥ २९ ॥
हितार्थं पांडुपुत्राणां कुंडले मे प्रयाचितुम् ।
तन्मे कीर्तिकरं लोके तस्याऽकीर्तिर्भविष्यति ॥ ३० ॥
वृणोमि कीर्तिं लोके हि जीवितेनाऽपि भानुमन् ।
कीर्तिमानश्नुते स्वर्गं हीनकीर्तिस्तु नश्यति ॥ ३१ ॥
कीर्तिर्हि पुरुषं लोके संजीवयति मातृवत् ।
अकीर्तिर्जीवितं हंति जीवतोऽपि शरीरिणः ॥ ३२ ॥
अयं पुराणः श्लोको हि स्वयं गीतो विभावसो ।
धात्रा लोकेश्वर यथा कीर्तिरायुर्नरस्य ह ॥ ३३ ॥
पुरुषस्य परे लोके कीर्तिरेव परायणम् ।
इह लोके विशुद्धा च कीर्तिरायुर्विवर्धनी ॥ ३४ ॥
सोऽहं शरीरजे दत्वा कीर्तिं प्राप्स्यामि शाश्वतीम्।
दत्वा च विधिवद्दानं ब्राह्मणेभ्यो यथाविधि ॥ ३५ ॥
हुत्वा शरीरं संग्रामे कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ।
विजित्य च परानाजौ यशः प्राप्स्यामि केवलम् ॥ ३६ ॥
भीतानामभयं दत्वा संग्रामे जीवितार्थिनाम् ।
वृद्धान्बालान्द्विजातींश्च मोक्षयित्वा महाभयात्॥ ३७ ॥
प्राप्स्यामि परमं लोके यशः स्वर्ग्यमनुत्तमम् ।

[मैं अपनी जान देकर कीर्ति मोल ले सकता हूं ।] मांगने को आये हुए विप्ररूप-धारी इन्द्र को मैं कवच-कुण्डल दे दूंगा । इससे मेरा नाम होगा और इन्द्र अपमानित होंगे ॥२९।३०॥

कीर्तिशाली पुरुष स्वर्ग को जाता है और कीर्ति से हीन पुरुष शीघ्र ही नष्ट हो जाता है । कीर्ति, माता की तरह, पुरुष की रक्षा करती है । अकीर्ति जीवित पुरुष को भी मुर्दे से बढ़कर बना देती है। सब लोकों के ईश्वर विधाता का यह प्राचीन वचन है कि कीर्ति ही मनुष्य का जीवन और आयु है । कीर्ति से इस लोक में मनुष्य की आयु बढ़ती है और परलोक में उसे सद्‌गति प्राप्त होती है । इसलिए मैं शरीर के साथ उत्पन्न कवच और कुण्डल देकर अवश्य अक्षय कीर्ति प्राप्त करूँगा ॥३१।३४॥

ब्राह्मणों को विधिपूर्वक यथेष्ट दान करना, युद्ध में दुष्कर कर्म करते हुए युद्ध करके मरना, शत्रुओं को जीतना और इस प्रकार अक्षय कीर्ति प्राप्त करना ही मेरे जीवन का उद्देश्य है । आप निश्चय जानिए

जीवितेनाऽपि मे रक्ष्या कीर्तिस्तद्विद्धि मे व्रतम् ॥ ३८ ॥
सोऽहं दत्वा मघवते भिक्षामेतामनुत्तमाम् ।
ब्राह्मणच्छद्मिने देव लोके गंता परां गतिं ॥ ३९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि कुंडलाहरणपर्वणि सूर्यकर्णसंवादे त्रिशततमोऽध्यायः ॥३००॥

कि प्राण देकर भी कीर्त्ति की रक्षा करना मेरे जीवन का व्रत है। इसलिए मैं ब्राह्मण-वेषधारी इन्द्र को यश बढ़ानेवाली भिक्षा देकर अन्त को देवलोक में जाऊंगा और श्रेष्ठ गति पाऊंगा ॥३५।३९॥

वनपर्व का तीन सौ अध्याय समाप्त हुआ ॥३००॥

अथ एकाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥३०१॥

सूर्य उवाच—माऽहितं कर्ण कार्षीस्त्वमात्मनः सुहृदां तथा।
पुत्राणामथ भार्याणामथो मातुरथो पितुः ॥ १ ॥
शरीरस्याऽविरोधेन प्राणिनां प्राणभृद्वर ।
इष्यते यशसः प्राप्तिः कीर्तिश्च त्रिदिवे स्थिरा ॥ २ ॥
यस्त्वं प्राणविरोधेन कीर्तिमिच्छसि शाश्वतीम् ।
सा ते प्राणान्समादाय गमिष्यति न संशयः ॥ ३ ॥
जीवतां कुरुते कार्यं पिता माता सुतास्तथा ।
ये चाऽन्ये बांधवाः केचिल्लोकेऽस्मिन्पुरुषर्षभ ॥ ४ ॥
राजानश्च नरव्याघ्र पौरुषेण निबोध तत् ।
कीर्तिश्च जीवतः साध्वी पुरुषस्य महाद्युते ॥ ५ ॥
मृतस्य कीर्त्या किं कार्यं भस्मीभूतस्य देहिनः ।
मृतः कीर्तिं न जानीते जीवन्कीर्तिं समश्नुते ॥ ६ ॥

तीन सौ एक अध्याय ॥३०१॥

सूर्य ने कहा—हे कर्ण! तुम अपना और इष्ट-मित्र, पुत्र, स्त्री, पिता, माता आदि का अहित मत करो। हे पुत्र! शरीरधारी लोग शरीर को बनाये रखकर यहां अक्षय यश और स्वर्ग में अनन्त कीर्त्ति प्राप्त करना चाहते हैं। तुम प्राणों को तुच्छ समझकर अक्षय कीर्त्ति चाहते हो तो वह कीर्त्ति तुम्हारे प्राण ले जायगी। पिता, माता, पुत्र और अन्य सब भाई-बन्धु जीवित रहने पर ही बेटे-बेटियों को दुलारकर—हृदय से लगाकर—सुख पाते हैं ॥१।४॥

राजा लोग भी जीवित रहने पर ही पौरुष से सब कार्य कर सकते हैं। जो मर गया उसे कीर्त्ति से क्या लाभ होगा? जो मरकर भस्म हो गया वह

मृतस्य कीर्तिर्मर्त्यस्य यथा माला गतायुषः ।
अहं तु त्वां ब्रवीम्येतद्भक्तोऽसीति हितेप्सया ॥ ७ ॥
भक्तिमंतो हि मे रक्ष्या इत्येतेनाऽपि हेतुना ।
भक्तोऽयं परया भक्त्या मामित्येव महाभुज ॥ ८ ॥
ममापि भक्तिरुत्पन्ना स त्वं कुरु वचो मम ।
अस्ति चाऽत्र परं किंचिदध्यात्मं देवनिर्मितम् ।
अतश्च त्वां ब्रवीम्येतत्क्रियतामविशंकया ॥ ९ ॥
देवगुह्यं त्वया ज्ञातुं न शक्यं पुरुषर्षभ ।
तस्मान्नाऽऽख्यामि ते गुह्यं काले वेत्स्यति तद्भवान्॥ १० ॥
पुनरुक्तं च वक्ष्यामि त्वं राधेय निबोध तत् ।
मा स्मैते कुंडले दद्या भिक्षिते वज्रपाणिना ॥ ११ ॥
शोभसे कुंडलाभ्यां च रुचिराभ्यां महाद्युते ।
विशाखयोर्मध्यगतः शशीव विमले दिवि ॥ १२ ॥
कीर्तिश्च जीवतः साध्वी पुरुषस्येति विद्धि तत् ।
प्रत्याख्येयस्त्वया तात कुंडलार्थे सुरेश्वरः ॥ १३ ॥
शक्या बहुविधैर्वाक्यैः कुंडलेप्सा त्वयाऽनघ ।
विहंतुं देवराजस्य हेतुयुक्तैः पुनः पुनः ॥ १४ ॥

कीर्ति लेकर क्या करेगा? जो मर गया वह अपनी कीर्ति को सुनने नहीं आता। जीवित पुरुष ही कीर्ति का सुख भोगता है। मरे हुए पुरुष की कीर्ति मुर्दे के गले में माला डालने की तरह व्यर्थ है। तुम मेरे भक्त हो, और अपने भक्तों की रक्षा करना मैं अपना कर्त्तव्य समझकर तुम्हारे हित के लिए यह बात कहता हूं। हे महाबाहु! अपना भक्त समझकर तुम पर मुझे भी स्नेह हो आया है। इसलिए तुम मेरा कहा मानो। इस सम्बन्ध में एक देव कृत रहस्य है, इसी से मैं जो तुम से कहता हूं वही करो। उस रहस्य को देवता भी नहीं जानते। इस कारण मैं इस समय तुम पर उस रहस्य को प्रकट नहीं करता। जब समय आवेगा तब तुम उस रहस्य को जानोगे ॥५।१०॥

सुनो, मैं फिर तुमसे कहता हूँ कि इन्द्र आकर मांगे तो तुम उनको कवच और कुण्डल मत देना। आकाश में विशाखा नक्षत्र के दो तारों के बीच चन्द्रमा के समान, उन कुण्डलों से तुम्हारे मुख की शोभा होती है। तुम्हें मालूम होना चाहिए कि जीवित पुरुष की ही कीर्ति प्रशंसनीय है। इसलिए कुण्डल-कवच मांगने को जब इन्द्र तुम्हारे पास आवें तब तुम उन्हें टाल देना। हे पुत्र! अनेक कारण दिखाकर, तरह-तरह की बातें बनाकर तुम इन्द्र की कुण्डल-

हेतुमदुपपन्नार्थैर्माधुर्यकृतभूषणैः ।
पुरंदरस्य कर्ण त्वं बुद्धिमेतामपानुद ॥ १५ ॥
त्वं हि नित्यं नरव्याघ्र स्पर्धसे सव्यसाचिना ।
सव्यसाची त्वया चेह युधि शूरः समेष्यति ॥ १६ ॥
न तु त्वामर्जुनः शक्तः कुंडलाभ्यां समान्वितम् ।
विजेतुं युधि यद्यस्य स्वयमिंद्रः सखा भवेत् ॥ १७ ॥
तस्मान्न देये शक्राय त्वयैते कुंडले शुभे ।
संग्रामे यदि निर्जेतुं कर्ण कामयसेऽर्जुनम् ॥ १८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि कुंडलाहरणपर्वणि सूर्यकर्णसंवादे एकाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥३०१॥

लेने की इच्छा को दूर कर सकते हो। हे कर्ण! उपपत्ति, अर्थ-सङ्गति और माधुर्य से अलंकृत वचन कहकर इन्द्र की इस बुद्धि को उनके हृदय से हटा देना ॥११।१५॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! तुम सदा ही अर्जुन से युद्ध करने की इच्छा रखते हो। शूर अर्जुन के साथ तुम को युद्ध करना पड़ेगा। यदि कुण्डल तुम्हारे पास बने रहेंगे तो इन्द्र स्वयं बाण बनकर क्यों न अर्जुन की सहायता करें, किन्तु वे न तो तुम्हें जीत सकेंगे और न मार ही सकेंगे। इस कारण यदि तुम युद्ध में अर्जुन को जीतना चाहते हो तो हे कर्ण! इन्द्र को ये शुभदायक कुण्डल कभी न देना ॥१६।१८॥

वनपर्व का तीन सौ अध्याय समाप्त हुआ ॥३०१॥

अथ द्व्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥३०२॥

कर्ण उवाच—भगवंतमहं भक्तो यथा मां वेत्थ गोपते ।
तथा परमतिग्मांशो नाऽस्त्यदेयं कथंचन ॥ १ ॥
न मे दारा न मे पुत्रा न चाऽन्यद्दैवतं दिवि ।
तथेष्टा वै सदा भक्त्या यथा त्वं गोपते मम ॥ २ ॥
इष्टानां च महात्मानो भक्तानां च न संशयः ।
कुर्वंति भक्तिमिष्टां च जानीषे त्वं च भास्कर ॥ ३ ॥

तीन सौ दो अध्याय ॥३०२॥

कर्ण ने कहा—हे दिवाकर! इसमें सन्देह नहीं कि मैं आपका अनन्य भक्त हूँ। आपका यह समझना बहुत ठीक है। कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसे मैं आपको न अर्पण कर सकता होऊँ। आत्मा, स्त्री, पुत्र और मित्र भी मुझे उतने प्रिय नहीं हैं जितने आप हैं। मैं आपका परम भक्त हूँ। हे भास्कर! आप जानते हैं कि महात्मा पुरुष भी अपने प्यारे भक्तों पर अपार कृपा रखते हैं। आप जानते हैं कि मेरा

इष्टो भक्तश्च मे कर्णो न चाऽन्यद्दैवतं दिवि ।
जानीत इति वै कृत्वा भगवानाह मद्धितम् ॥ ४ ॥
भूयश्च शिरसा याचे प्रसाद्य च पुनः पुनः ।
इति ब्रवीमि तिग्मांशो त्वं तु मे क्षंतुमर्हसि ॥ ५ ॥
बिभेमि न तथा मृत्योर्यथा बिभ्येऽनृतादहम् ।
विशेषेण द्विजातीनां सर्वेषां सर्वदा सताम् ॥ ६ ॥
प्रदाने जीवितस्याऽपि न मेऽत्रास्ति विचारणा ।
यच्च मामात्थ देव त्वं पांडवं फाल्गुनं प्रति ॥ ७ ॥
व्येतु संतापजं दुःखं तव भास्कर मानसम् ।
अर्जुनं प्रति मां चैव विजेष्यामि रणेऽर्जुनम् ॥ ८ ॥
तथापि विदितं देव ममाप्यस्त्रबलं महत् ।
जामदग्न्यादुपात्तं यत्तथा द्रोणान्महात्मनः ॥ ९ ॥
इदं त्वमनुजानीहि सुरश्रेष्ठ व्रतं मम ।
भिक्षते वज्रिणे दद्यामपि जीवितमात्मनः ॥ १० ॥
सूर्य उवाच—यदि तात ददास्येते वज्रिणे कुंडले शुभे ।
त्वमप्येनमथो ब्रूया विजयार्थं महाबलम् ॥ ११ ॥
नियमेन प्रदद्यां ते कुंडले वै शतक्रतो ।
अवध्यो ह्यसि भूतानां कुंडलाभ्यां समन्वितः ॥ १२ ॥

प्रिय भक्त कर्ण स्वर्ग के किसी और देवता की उपासना नहीं करता। यही समझकर आप मुझे मेरे हित का उपदेश कर रहे हैं। हे तीक्ष्ण किरणोंवाले देव ! मैं फिर आपके चरणों में प्रणाम करके बारम्बार आप को मनाता हूं। आपकी आज्ञा के विरुद्ध मैं जो कुछ कहता हूं उसे क्षमा कीजिए ॥१।५॥

हे भगवन् ! मैं असत्य से जितना डरता हूं उतना मृत्यु से नहीं डरता। विशेषकर सज्जन ब्राह्मणों को, उनके मांगने पर, प्राण देने में भी मुझे कुछ सोच-विचार नहीं हो सकता। आपने अर्जुन से मेरे लिए भय की जो बात कही है, उसके लिए आप खेद न कीजिए। सहस्रबाहु अर्जुन के तुल्य प्रतापी और पराक्रमी अर्जुन को मैं युद्ध में अवश्य पछाड़ूंगा। आप भी मेरे दिव्य अस्त्र-बल को जानते हैं। मैंने महात्मा द्रोणाचार्य और अजेय परशुराम जी से अस्त्र-कला सीखी है। हे भगवन् ! आप मेरे इस व्रत (प्रार्थी को विमुख न करने) का अनुमोदन कीजिए। इन्द्र यदि मांगने आवेंगे तो मैं उन्हें अपने प्राण तक भी दे दूंगा ॥६।१०॥

सूर्य ने कहा—हे पुत्र ! इन कुण्डलों के प्रभाव

अर्जुनेन विनाशं हि तव दानवसूदनः ।
प्रार्थयानो रणे वत्स कुंडले ते जिहीर्षति ॥ १३ ॥
स त्वमप्येनमाराध्य सूनृताभिः पुनः पुनः ।
अभ्यर्थयेथा देवेशममोघार्थं पुरंदरम् ॥ १४ ॥
अमोघां देहि मे शक्तिमामित्रविनिबर्हिणीम् ।
दास्यामि ते सहस्राक्ष कुंडले वर्म चोत्तमम् ॥ १५ ॥
इत्येव नियमेन त्वं दद्याः शक्राय कुंडले ।
तया त्वं कर्ण संग्रामे हनिष्यासि रणे रिपून् ॥ १६ ॥
नाऽहत्वा हि महाबाहो शत्रूनेति करं पुनः ।
सा शक्तिर्देवराजस्य शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १७ ॥
वैशम्पायन उवाच--एवमुक्त्वा सहस्रांशुः सहसाऽतरधीयत ।
ततः सूर्याय जप्यांते कर्णः स्वप्नं न्यवेदयत् ॥ १८ ॥
यथा दृष्टं यथा तत्त्वं यथोक्तमुभयोर्निशि ।
तत्सर्वमानुपूर्व्येण शशंसाऽस्मै वृषस्तदा ॥ १९ ॥
तच्छ्रुत्वा भगवान्देवो भानुः स्वर्भानुसूदनः ।
उवाच तं तथेत्येव कर्णं सूर्यः स्मयन्निव ॥ २० ॥
ततस्तत्त्वमिति ज्ञात्वा राधेयः परवीरहा ।
शक्तिमेवाऽभिकांक्षन्वै वासवं प्रत्यपालयत् ॥ २१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि कुंडलाहरणपर्वणि सूर्यकर्णसंवादे त्र्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥३०३॥

से कोई प्राणी तुमको मार नहीं सकता । इन्द्र इसलिए तुम्हारे कुण्डल ले जाना चाहते हैं, जिसमें अर्जुन तुमको मार सकें । यदि तुम इन्द्र को ये शुभदायक कुण्डल देना ही चाहते हो तो तुम भी, अर्जुन को मारने के लिए, इन्द्र से अमोघ शक्ति मांग लेना । तुम प्रिय वचनों से प्रसन्न करके इन्द्र से कहना कि हे देवेश ! मैं आपको दिव्य कवच और कुण्डल देता हूं, किन्तु उसके बदले में आप भी मुझे कभी निष्फल न जानेवाली शत्रुघातिनी शक्ति दीजिए । हे कर्ण ! इस प्रतिज्ञा पर तुम इन्द्र को अपने कुण्डल देना । उस शक्ति की सहायता से तुम युद्ध में अपने शत्रुओं का नाश कर सकोगे । वह शक्ति इन्द्र के हाथ से छूटकर शत्रुओं को बिना मारे नहीं लौटती । उसमें यह विशेषतः है कि वह सैकड़ों-हजारों शत्रुओं को मारकर फिर इन्द्र के हाथ में लौट आती है ॥११।१७॥

वैशम्पायन कहते है—हे राजा जनमेजय !

इतना कहकर सूर्य एकाएक अन्तर्द्धान हो गये। प्रातःकाल होने पर कर्ण सोकर उठे। जब के उपरांत उन्होंने सूर्य से स्वप्न का सब हाल कहा। रात्रि को जो स्वप्न देखा था और जो बातचीत हुई थी सब, कर्ण ने कह सुनाई। सूर्यनारायण ने सुनकर कुछ मुसकराकर कहा—हे कर्ण! तुमने रात्रि को जो स्वप्न देखा है वह सत्य है। शत्रुदमन कर्ण उस स्वप्न को सत्य जानकर इन्द्र के आने की और उनसे शक्ति पाने की राह देखने लगे। ॥१८।२१॥

—०—

वनपर्व का तीन सौ दो अध्याय समाप्त हुआ ॥३०२॥

अथ त्र्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥३०३॥

जनमेजय उवाच—किं तद्गुह्यं न चाऽख्यातं कर्णायेहोष्णरश्मिना ।
कीदृशे कुंडले ते च कवचं चैव कीदृशम् ॥ १ ॥
कुतश्च कवचं तस्य कुंडले चैव सत्तम ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तन्मे ब्रूहि तपोधन ॥ २ ॥
वैशम्पायन उवाच—अयं राजन्ब्रवीम्येतत्तस्य गुह्यं विभावसोः ।
यादृशे कुंडले ते च कवचं चैव यादृशम् ॥ ३ ॥
कुंतिभोजं पुरा राजन्ब्राह्मणः पर्युपस्थितः ।
तिग्मतेजा महाप्रांशुः श्मश्रुदंडजटाधरः ॥ ४ ॥
दर्शनीयोऽनवद्यांगस्तेजसा प्रज्वलन्निव ।
मधुपिंगो मधुरवाक् तपःस्वाध्यायभूषणः ॥ ५ ॥
स राजानं कुंतिभोजमब्रवीत्सुमहातपाः ।
भिक्षामिच्छामि वै भोक्तुं तव गेहे विमत्सर ॥ ६ ॥
न मे व्यलीकं कर्तव्यं त्वया वा तव चाऽनुगैः ।
एवं वत्स्यामि ते गेहे यदि ते रोचतेऽनघ ॥ ७ ॥

तीन सौ तीन अध्याय ॥३०३॥

राजा जनमेजय ने कहा—हे भगवन्! सूर्य ने कर्ण पर जो प्रकट नहीं किया वह रहस्य क्या था? वे कुण्डल और कवच कैसे थे? उनकी उत्पत्ति कैसे हुई थी और वे कर्ण को किस तरह मिले थे? हे तपोधन! मैं यह वृत्तान्त विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूं। कृपा करके कहिए ॥१।२॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजेन्द्र! वह गुप्त रहस्य और कवच-कुण्डल का हाल कहता हूं, सुनो। पहले एक समय परम तेजस्वी, लम्बे-चौड़े डीलवाले, जटा आदि बढ़ाये, दर्शनीय, निर्दोष अङ्गोंवाले, अग्नि के समान, पिङ्गलवर्ण, मधुर वचन बोलनेवाले, तपस्वी, स्वाध्याय-निरत एक ब्राह्मण महाराज कुन्तिभोज के

यथाकामं च गच्छेयमागच्छेयं तथैव च ।
शय्यासने च मे राजन्नाऽपराध्येत कश्चन ॥ ८ ॥
तमब्रवीत्कुंतिभोजः प्रीतियुक्तमिदं वचः ।
एवमस्तु परं चेति पुनश्चैनमथाऽब्रवीत् ॥ ९ ॥
मम कन्या महाप्राज्ञ पृथा नाम यशस्विनी ।
शीलवृत्तान्विता साध्वी नियता चैव भाविनी ॥ १० ॥
उपस्थास्यति सा त्वां वै पूजयाऽनवमन्य च ।
तस्याश्च शीलवृत्तेन तुष्टिं समुपयास्यसि ॥ ११ ॥
एवमुक्त्वा तु तं विप्रमभिपूज्य यथाविधि ।
उवाच कन्यामभ्येत्य पृथां पृथुललोचनाम् ॥ १२ ॥
अयं वत्से महाभागो ब्राह्मणो वस्तुमिच्छति ।
मम गेहे मया चाऽस्य तथेत्येवं प्रतिश्रुतम् ॥ १३ ॥
त्वयि वत्से पराश्वस्य ब्राह्मणस्याऽभिराधनम् ।
तन्मे वाक्यममिथ्या त्वं कर्तुमर्हसि कर्हिचित् ॥ १४ ॥

पास गये । उन महातपस्वी ब्राह्मण ने राजा से कहा—हे शान्तिप्रिय महाराज ! मैं तुम्हारे यहां रहकर भिक्षा-भोजन करना चाहता हूं । हे निष्पाप ! यदि तुम्हें स्वीकार हो तो मैं इन नियमों के अनुसार तुम्हारे यहां रहूंगा;—तुम या तुम्हारे मनुष्य मेरी इच्छा में कुछ रोक-टोक आदि न कर सकेंगे । मैं अपनी इच्छा के अनुसार आ-जा सकूंगा । मेरी शय्या और आसन पर कोई बैठ नहीं सकेगा, या मेरे सोने या बैठने के समय कोई कुछ मेरी इच्छा के विरुद्ध नहीं कर सकेगा। इन नियमों से मैं आपके यहां रहना चाहता हूँ । ३।८॥

राजा कुन्तिभोज ने बहुत प्रसन्न होकर ब्राह्मण-श्रेष्ठ दुर्वासा से कहा—हे द्विजवर ! जैसा आप चाहते हैं वैसा ही होगा । हे महाप्राज्ञ ! मेरे पृथा नाम की एक यशस्विनी कन्या है । वह अच्छे स्वभाववाली साध्वी कन्या सदा आदर के साथ आपकी सेवा-टहल करेगी । उसके स्वभाव और चरित्र से आप अवश्य प्रसन्न होंगे ॥९।११॥

हे राजा जनमेजय ! दुर्वासा से यों कहकर और विधिपूर्वक पूजा के उपरान्त उन्हें टिकाकर राजा अपनी कन्या पृथा (कुन्ती) के पास गये और कहने लगे—हे बेटी ! एक महात्मा ब्राह्मण मेरे घर में कुछ दिन रहना चाहते हैं; मैं उन्हें रखना स्वीकार कर चुका हूँ । उनकी सेवा का काम मैं तुम्हें सौंपता हूँ । उनसे मैं यह कह भी चुका हूँ । अब मेरा वचन मिथ्या न हो । वे तपस्वी, वेदपाठी, महा-तेजस्वी, ऐश्वर्यशाली ब्राह्मण जब जो कुछ मांगें सो तुम श्रद्धा के साथ देना । ब्राह्मण ही परम तेज है,

अयं तपस्वी भगवान्स्वाध्यायनियतो द्विजः ।
यद्यद्‍ब्रूयान्महातेजास्तत्तद्देयममत्सरात् ॥ १५ ॥
ब्राह्मणो हि परं तेजो ब्राह्मणो हि परं तपः ।
ब्राह्मणानां नमस्कारैः सूर्यो दिवि विराजते ॥ १६ ॥
अमानयन्हि मानार्हान्वातापिश्च महासुरः ।
निहतो ब्रह्मदंडेन तालजंघस्तथैव च ॥ १७ ॥
सोऽयं वत्से महाभार आहितस्त्वयि सांप्रतम् ।
त्वं सदा नियता कुर्या ब्राह्मणस्याऽभिराधनम् ॥ १८ ॥
जानामि प्रणिधानं ते बाल्यात्प्रभृति नंदिनि ।
ब्राह्मणेष्विह सर्वेषु गुरुबंधुषु चैव ह ॥ १९ ॥
तथा प्रेष्येषु सर्वेषु मित्रसंबंधिमातृषु ।
मयि चैव यथावत्त्वं सर्वमावृत्य वर्तसे ॥ २० ॥
न ह्यतुष्टो जनोऽस्तीह पुरे चांऽतःपुरे च ते ।
सम्यग्वृत्त्याऽनवद्यांगि तव भृत्यजनेष्वपि ॥ २१ ॥
संदेष्टव्यां तु मन्ये त्वां द्विजातिं कोपनं प्रति ।
पृथे बालेति कृत्वा वै सुता चासि ममेति च ॥ २२ ॥
वृष्णीनां च कुले जाता कुले चैव विवर्धिता ।
दत्ता प्रीतिमता मह्यं पित्रा बाला पुरा स्वयम् ॥ २३ ॥
वसुदेवस्य भगिनी सुतानां प्रवरा मम ।

ब्राह्मण ही परम तप है और ब्राह्मणों को प्रणाम करने से ही आकाश में सूर्यदेव विराजमान है ॥१२।१६॥

दण्डक वन में रहनेवाला वातापि असुर और तालजंघ दानव दोनों, ब्राह्मणों का अनादर करने के कारण, ब्रह्मदण्ड से नष्ट हो गये। हे बेटी ! मैं आज तुमको ब्राह्मण की सेवा का काम सौंपता हूँ। तुम सदा नियम के साथ उनकी सेवा और आराधना किया करना। हे पुत्री ! मैं तुम्हें जानता हू, तुम बचपन से ही एकाग्रता के साथ ब्राह्मण, बड़े बूढ़े, भाई-बन्धु, मित्र, सम्बन्धी, सेवक, माता आदि के साथ और मुझसे यथोचित व्यवहार करती हो। हे प्यारी बेटी ! नगर और रनिवास के सब लोग तुम पर प्रसन्न हैं। नौकर-चाकर भी तुमसे अप्रसन्न नहीं हैं ॥१७।२१॥

तुम बालिका और मेरी कन्या हो, इस कारण मैं क्रोधी ब्राह्मण की सेवा का कार्य तुम्हें सौंपना ठीक समझता हूँ। तुम वृष्णिवंश में उत्पन्न शूरसेन की प्यारी कन्या और वसुदेव की बहन हो। उन्होंने

अग्न्यमग्रे प्रतिज्ञाय तेनाऽसि दुहिता मम ॥ २४ ॥
तादृशे हि कुले जाता कुले चैव विवर्धिता ।
सुखात्सुखमनुप्राप्ता ह्रदाद्ध्रदमिवाऽऽगता ॥ २५ ॥
दौष्कुलेया विशेषेण कथंचित्प्रग्रहं गताः ।
बालभावाद्विकुर्वंति प्रायशः प्रमदाः शुभे ॥ २६ ॥
पृथे राजकुले जन्म रूपं चापि तवाऽद्भुतम् ।
तेन तेनाऽसि संपन्ना समुपेता च भाविनी ॥ २७ ॥
सा त्वं दर्पं परित्यज्य दंभं मानं च भाविनी ।
आराध्य वरदं विप्रं श्रेयसा योक्ष्यसे पृथे ॥ २८ ॥
एवं प्राप्स्यसि कल्याणि कल्याणमनघे ध्रुवम् ।
कोपिते च द्विजश्रेष्ठे कृत्स्नं दह्येत मे कुलम् ॥ २९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि कुडलाहरणपर्वणि पृथोपदेशे त्र्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥३०३॥

मुझसे प्रतिज्ञा कर रक्खी थी कि पहली सन्तान मुझे देंगे। इसी कारण अब तुम मेरी बेटी हो। मैं तुम्हें अपनी सब कन्याओं में श्रेष्ठ समझता हू ॥२२।२४॥

ऐसे श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न होकर तुम मेरे कुल में पली हो। तुम एक सरोवर से दूसरे सरोवर में लाई गई कमलिनी की तरह सुख से सुख में आई हो। स्त्रिया विशेषकर नीच घरानों की स्त्रिया, प्राय लड़कपन के कारण काम को बिगाड़ देती हैं। किन्तु तुमसे मुझे ऐसी आशङ्का नहीं है। तुम राजकुलमें उत्पन्न हुई हो, तुम्हारा रूप अद्भुत है और तुममें स्त्रियों के योग्य सब श्रेष्ठ गुण भी हैं। तुम दम्भ, दर्प और अभिमान छोड़कर वरदानी ब्राह्मण की सेवा करोगी तो अवश्य तुम्हारा भला होगा। परन्तु जो किसी तरह की असावधानी से ब्राह्मण को कुपित कर दोगी तो मेरा कुल, उनके क्रोध की अग्नि से भस्म हो जायगा ॥२५।२९॥

वनपर्व का तीन सौ तीन अध्याय समाप्त हुआ ॥३०३॥

अथ चतुरधिकत्रिशततमोऽध्याय ॥३०४॥

कुन्त्युवाच—ब्राह्मणं यंत्रिता राजन्नुपस्थास्यामि पूजया ।
यथाप्रतिज्ञं राजेंद्र न च मिथ्या ब्रवीम्यहम् ॥ १ ॥

तीन सौ चार अध्याय ॥३०४॥

कुन्ती ने कहा-हे पिताजी ! मैं आपकी प्रतिज्ञा के अनुसार उन ब्राह्मण की नियमपूर्वक ठीक ठीक सेवा पूजा करूगी। हे राजेन्द्र ! मेरा कहना कदापि असत्य न होगा। ब्राह्मणों की पूजा और सेवा करना ही

एष चैव स्वभावो मे पूजयेयं द्विजानिति ।
तव चैव प्रियं कार्यं श्रेयश्च परमं मम ॥ २ ॥
यद्येवैष्यति सायाह्ने यदि प्रातरथो निशि ।
यद्यर्धरात्रे भगवान्न मे कोपं करिष्यति ॥ ३ ॥
लाभो ममैष राजेंद्र यद्वै पूजयती द्विजान् ।
आदेशे तव तिष्ठंती हितं कुर्यां नरोत्तम ॥ ४ ॥
विस्रब्धो भव राजेंद्र न व्यलीकं द्विजोत्तमः ।
वसन्प्राप्स्यति ते गेहे सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ ५ ॥
यत्प्रियं च द्विजस्याऽस्य हितं चैव तवाऽनघ ।
यतिष्यामि तथा राजन्व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ ६ ॥
ब्राह्मणा हि महाभागाः पूजिताः पृथिवीपते ।
तारणाय समर्थाः स्युर्विपरीते वधाय च ॥ ७ ॥
साऽहमेतद्विजानंती तोषयिष्ये द्विजोत्तमम् ।
न मत्कृते व्यथां राजन्प्राप्स्यसि द्विजसत्तमात् ॥ ८ ॥
अपराधेऽपि राजेंद्र राज्ञामश्रेयसे द्विजाः ।
भवंति च्यवनो यद्वत्सुकन्यायाः कृते पुरा ॥ ९ ॥
नियमेन परेणाऽहमुपस्थास्ये द्विजोत्तमम् ।
यथा त्वया नरेंद्रेदं भाषितं ब्राह्मणं प्रति ॥ १० ॥

मेरा स्वभाव है और आपका प्रिय कार्य करने को ही मैं अपना परम कल्याण समझती हूं। वे तेजस्वी ब्राह्मण सायङ्काल, प्रातःकाल, रात्रि, आधीरात्रि, जिस समय आवेंगे और जो सेवा करने के लिए कहेंगे वह, उसी समय, मैं कर दूंगी। किसी तरह वे मुझे खिन्न नहीं सकेंगे और न उन्हें मुझ पर अप्रसन्न होने का अवसर ही मिलेगा। हे महाराज! आपकी आज्ञा से ब्राह्मण की सेवा-टहल करके मैं आपका हित करूंगी, इसे ही मैं अपने लिए बड़ा भारी लाभ समझती हूँ। आप विश्राम कीजिए। मैं सत्य कहती हूं कि मेरे यहां रहने पर ब्राह्मण को अपनी इच्छा के विरुद्ध अप्रिय कोई कार्य न देख पड़ेगा। हे निष्पाप! आप चिन्ता न करें, मैं वही करूंगी जिसमें ब्राह्मण का प्रिय और आपका हित होगा। हे राजेन्द्र! ब्राह्मणों की पूजा करने से वे तार सकते हैं—रक्षा करते हैं और उनका अपमान करने से मनुष्य का विनाश हो जाता है। यह मैं जानती हूं। मैं ब्राह्मण को सब तरह से सन्तुष्ट रक्खूंगी। मेरे कारण ब्राह्मण से आपका कुछ अनिष्ट न होगा। हे राजेन्द्र! पूर्व समय में शर्याति राजा की बेटी सुकन्या के अपराध से ऋषि च्यवन ऋषि

एवं ब्रुवंतीं बहुशः परिष्वज्य समर्थ्य च ।
इति चेति च कर्तव्यं राजा सर्वमथाऽऽदिशत् ॥ ११ ॥

राजोवाच—एवमेतत्त्वया भद्रे कर्तव्यमविशंकया ।
मद्धितार्थं तथाऽऽत्मार्थं कुलार्थं चाऽप्यनिंदिते ॥ १२ ॥
एवमुक्त्वा तु तां कन्यां कुंतिभोजो महायशाः ।
पृथां परिददौ तस्मै द्विजाय द्विजवत्सलः ॥ १३ ॥
इयं ब्रह्मन्मम सुता बाला सुखविवर्धिता ।
अपराध्येत यत्किंचिन्न कार्यं हृदि तत्त्वया ॥ १४ ॥
द्विजातयो महाभागा वृद्धबालतपस्विषु ।
भवंत्यक्रोधनाः प्रायो ह्यपराद्धेषु नित्यदा ॥ १५ ॥
सुमहत्यपराधेऽपि क्षांतिः कार्या द्विजातिभिः ।
यथाशक्ति यथोत्साहं पूजा ग्राह्या द्विजोत्तम ॥ १६ ॥
तथेति ब्राह्मणेनोक्ते स राजा प्रीतमानसः ।
हंसचंद्रांशुसंकाशं गृहमस्मै न्यवेदयत् ॥ १७ ॥
तत्राऽग्निशरणे क्लृप्तमासनं तस्य भानुमत् ।

ने शर्याति को सङ्कट में डाल दिया था। किसी प्रकार ब्राह्मण का अपकार या अपमान करने से राजाओं का कल्याण नहीं होता। आपने ब्राह्मण के जिन नियमों को स्वीकार कर लिया है उनका पालन करती हुई मैं उनकी सेवा करूँगी। यह सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कुन्ती को छाती से लगाकर उसकी बहुत प्रशंसा की ॥१।११॥

उसके पश्चात् जो कुछ जिस तरह करना चाहिए सो सब बताकर राजा ने कहा—हे शुभरूपिणी! तुम अपने, मेरे और कुल के हित के लिए इसी तरह सब कार्य करना। कोई शङ्का करने की आवश्यकता नहीं। ब्राह्मण भक्त महायशस्वी कुन्तिभोज यों कहकर कुन्ती को ब्राह्मण के हाथ में सौंपकर कहने लगे—हे ब्रह्मन्! मेरी यह कन्या अभी बालिका है, विशेषकर सुख में पली है। इस कारण यदि इससे कोई भूल हो जाय तो आप कृपा करके क्षमा कीजिएगा। वृद्ध, बालक और तपस्वियों से यदि कुछ बड़ा अपराध भी हो जाता है तो ब्राह्मण लोग उन पर क्रोध नहीं करते। कोई बहुत बड़ा अपराध होने पर भी ब्राह्मणों को क्षमा से काम लेना चाहिए। यथाशक्ति और उत्साह के अनुसार की हुई पूजा उन्हें स्वीकार कर लेना चाहिए ॥१२।१६॥

दुर्वासा ने कहा—ऐसा ही होगा। तब राजा ने प्रसन्न होकर उन्हें एक हंस के समान उजले रङ्ग के श्रेष्ठ भवन में टिका दिया। वहाँ जाकर कुन्ती ने अग्निहोत्रशाला के पास मुनिवर का दिव्य आसन

आहारादि च सर्वं तत्तथैव प्रत्यवेदयत् ॥ १८ ॥
निक्षिप्य राजपुत्री तु तन्द्रीं मानं तथैव च ।
आतस्थे परमं यत्नं ब्राह्मणस्याऽभिराधने ॥ १९ ॥
तत्र सा ब्राह्मणं गत्वा पृथा शौचपरा सती ।
विधिवत्परिचारार्हं देववत्पर्यतोषयत् ॥ २० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि कुंडलाहरणपर्वणि पृथाद्विजपरिचर्यायां चतुरधिकत्रिशततमोऽध्यायः

लगा दिया। उनके लिए भोजन आदि की सामग्री भी लाकर रख दी। इस प्रकार आलस्य और अभिमान से दूर रहकर वे, देवता के समान मानकर, सम्मान के साथ ऋषि की सेवा करने लगीं ॥१७।२०॥

वनपर्व का तीन सौ चार अध्याय समाप्त हुआ ॥३०४॥

अथ पंचाधिकत्रिशततमोऽध्याय ॥३०५॥

वैशम्पायन उवाच—सा तु कन्या महाराज ब्राह्मणं संशितव्रतम् ।
तोषयामास शुद्धेन मनसा संशितव्रता ॥ १ ॥
प्रातरेष्याम्यथेत्युक्त्वा कदाचिद्द्विजसत्तमः ।
तत आयाति राजेन्द्र सायं रात्रावथो पुनः ॥ २ ॥
तं च सर्वासु वेलासु भक्ष्यभोज्यप्रतिश्रयैः ।
पूजयामास सा कन्या वर्धमानैस्तु सर्वदा ॥ ३ ॥
अन्नादिसमुदाचारः शय्यासनकृतस्तथा ।
दिवसे दिवसे तस्य वर्धते न तु हीयते ॥ ४ ॥
निर्भर्त्सनाऽपवादैश्च तथैवाऽप्रियया गिरा ।
ब्राह्मणस्य पृथा राजन्न चकाराऽप्रियं तदा ॥ ५ ॥
व्यस्ते काले पुनश्चैति न चैति बहुशो द्विजः ।
सुदुर्लभमपि ह्यन्नं दीयतामिति सोऽब्रवीत् ॥ ६ ॥

तीन सौ पांच अध्याय ॥३०५॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! इसके पश्चात् नित्य सेवा करके कुन्ती दुर्वासा मुनि को सन्तुष्ट करने लगीं। वे कभी कह तो जाते प्रातःकाल आने के लिए किन्तु आते सन्ध्या को या बहुत रात्रि गये। परन्तु कुन्ती सब समय बहुत सी खाने-पीने की सामग्री देकर और सेवा करके उनकी पूजा करती थीं। उस सत्कार में किसी तरह की कमी न होकर दिन दिन वृद्धि ही होती जाती थी ॥१।४॥

कृतमेव च तत्सर्वं यथा तस्मै न्यवेदयत् ।
शिष्यवत्पुत्रवच्चैव स्वस्रवच्च सुसंयता ॥ ७ ॥
यथोपजोषं राजेंद्र द्विजातिप्रवरस्य सा ।
प्रीतिमुत्पादयामास कन्यारत्नमनिंदिता ॥ ८ ॥
तस्यास्तु शीलवृत्तेन तुतोष द्विजसत्तमः ।
अवधानेन भूयोऽस्याः परं यत्नमथाऽकरोत् ॥ ९ ॥
तां प्रभाते च सायं च पिता पप्रच्छ भारत ।
अपि तुष्यति ते पुत्रि ब्राह्मणः परिचर्यया ॥ १० ॥
तं सा परममित्येव प्रत्युवाच यशस्विनी ।
ततः प्रीतिमवापाऽग्र्यां कुंतीभोजो महामनाः ॥ ११ ॥
ततः संवत्सरे पूर्णे यदाऽसौ जपतां वरः ।
नाऽपश्यद् दुष्कृतं किंचित्पृथायाः सौहृदे रतः ॥ १२ ॥
ततः प्रीतमना भूत्वा स एनां ब्राह्मणोऽब्रवीत् ।
प्रीतोऽस्मि परमं भद्रे परिचारेण ते शुभे ॥ १३ ॥
वरान्वृणीष्व कल्याणि दुरापान्मानुषैरिह ।
यैस्त्वं सीमंतिनीः सर्वा यशसाऽभिभविष्यसि ॥ १४ ॥

यहां तक कि दुर्वासाजी यदि खाने-पीने की सामग्री में अकारण झूठे दोष दिखाकर तिरस्कार करते या अप्रिय वचन कहते थे तो भी कुन्ती कुछ बुरा न मानती थीं। दुर्वासा कभी सोने के समय आ जाते थे, और कभी नहीं आते थे, कभी कुसमय में खाने की ऐसी वस्तुएं माग बैठते थे जिनका मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। किन्तु कुन्ती उसी समय 'सब तैयार है' कहकर मांगी हुई वस्तुएं उपस्थित कर देती थीं। इस प्रकार श्रेष्ठ कन्या कुन्ती शिष्या, कन्या और बहन की तरह संयम के साथ, ऋषि की इच्छा के अनुसार सेवा करके उन्हें प्रसन्न रखती थीं ॥५।८॥

दुर्वासा भी कुन्ती के अच्छे स्वभाव और अच्छे व्यवहार से अत्यन्त सन्तुष्ट हुए और उनका कुछ भला करने का विचार करने लगे। कुन्ती के पिता कुन्तिभोज प्रातःकाल और सन्ध्या को आकर पूछते थे—हे बेटी! तुम्हारी सेवा से ऋषि प्रसन्न हैं न? यशस्विनी कुन्ती उत्तर देती थीं—बहुत प्रसन्न हैं। यह सुनकर महात्मा कुन्तिभोज बहुत सन्तुष्ट होते थे ॥९।११॥

हे राजा जनमेजय! इस प्रकार जब एक वर्ष व्यतीत हो गया तब तपस्वी दुर्वासा ने, कुन्ती की कुछ भी त्रुटि न पाकर, प्रसन्न होकर कहा—हे भद्रे! मैं तुम्हारी सेवा से बहुत प्रसन्न हूं। इसलिए तुम मुझसे ऐसे वर मांगो जो मनुष्यों के लिए दुर्लभ हों। वे

कुन्त्युवाच—कृतानि मम सर्वाणि यस्या मे वेदवित्तम ।
त्वं प्रसन्नः पिता चैव कृतं विप्र वरैर्मम ॥ १५ ॥
ब्राह्मण उवाच—यदि नेच्छसि भद्रे त्वं वरं मत्तः शुचिस्मिते ।
इमं मंत्रं गृहाण त्वमाह्वानाय दिवौकसाम् ॥ १६ ॥
यं यं देवं त्वमेतेन मंत्रेणाऽऽवाहयिष्यसि ।
तेन तेन वशे भद्रे स्थातव्यं ते भविष्यति ॥ १७ ॥
अकामो वा सकामो वा स समेष्यति ते वशे ।
विबुधो मंत्रसंशांतो भवेद्भृत्य इवाऽऽनतः ॥ १८ ॥
वैशम्पायन उवाच—न शशाक द्वितीयं सा प्रत्याख्यातुमनिंदिता ।
तं वै द्विजातिप्रवरं तदा शापभयान्नृप ॥ १९ ॥
ततस्तामनवद्यांगीं ग्राहयामास स द्विजः ।
मंत्रग्रामं तदा राजन्नथर्वशिरसि श्रुतम् ॥ २० ॥
तं प्रदाय तु राजेंद्र कुंतिभोजमुवाच ह ।
उषितोऽस्मि सुखं राजन्कन्यया परितोषितः ॥ २१ ॥
तव गेहेषु विहितः सदा सुप्रतिपूजितः ।
साधयिष्यामहे तावदित्युक्त्वांऽतरधीयत ॥ २२ ॥
स तु राजा द्विजं दृष्ट्वा तत्रैवांऽतर्हितं तदा ।
बभूव विस्मयाविष्टः पृथां च समपूजयत् ॥ २३ ॥

अच्छी तरह मेरी सेवा की है। इतना कहकर ऋषिजी चले गये। ब्राह्मण को अन्तर्द्धान होते देखकर राजा बहुत विस्मित हुए। राजा ने कुन्ती की बड़ी सराहना की ॥१९।२३॥

वनपर्व का तीन सौ पाच अध्याय समाप्त हुआ ॥३०५॥

अथ षडधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥३०६॥

वैशम्पायन उवाच—गते तस्मिन् द्विजश्रेष्ठे कस्मिंश्चित्कारणांतरे ।
चिंतयामास सा कन्या मंत्रग्रामबलाबलम् ॥ १ ॥
अयं वै कीदृशस्तेन मम दत्तो महात्मना ।
मंत्रग्रामो बलं तस्य ज्ञास्ये नाऽतिचिरादिति ॥ २ ॥
एवं संचिंतयंती सा ददर्शर्तुं यदृच्छया ।
व्रीडिता साऽभवद्बाला कन्याभावे रजस्वला ॥ ३ ॥
ततो हर्म्यतलस्था सा महार्हशयनोचिता ।
प्राच्यां दिशि समुद्यंतं ददर्शाऽऽदित्यमंडलम् ॥ ४ ॥
तत्र बद्धमनोदृष्टिरभवत्सा सुमध्यमा ।
न चाऽतप्यत रूपेण भानोः संध्यागतस्य सा ॥ ५ ॥
तस्या दृष्टिरभूद्दिव्या साऽपश्यद्दिव्यदर्शनम् ।
आमुक्तकवचं देवं कुंडलाभ्यां विभूषितम् ॥ ६ ॥
तस्याः कौतूहलं त्वासीन्मंत्रं प्रति नराधिप ।
आह्वानमकरोत्साऽथ तस्य देवस्य भाविनी ॥ ७ ॥

तीन सौ छः अध्याय ॥३०६॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! दुर्वासा जब किसी कार्य के लिए चले गये तब, एक समय, कुन्ती उन मन्त्रों के प्रभाव के बारे में सोचने लगी कि दुर्वासा मुझे जो मन्त्र दे गये हैं वे कैसे हैं। मैं उनके प्रभाव की परीक्षा शीघ्र ही करूंगी। सोचते-सोचते कुन्ती को एकाएक अपने शरीर में 'ऋतु' के चिह्न देख पड़े और वे कन्या की दशा में ही मासिक धर्म हो जाने से लज्जित हुईं। इसके पश्चात् एक दिन वे महल के भीतर बढ़िया पलँग पर बैठी हुई थीं, इसी समय उन्हें पूर्व दिशा में उदय हो रहे सूर्यनारायण देख पड़े। वे मन और दृष्टि, दोनों से आसक्त होकर सूर्य की ओर देखने लगीं। सूर्य का तेजस्वी रूप देखकर मानों उनका जी ही नहीं भरता था ॥१।५॥

उन्हें दिव्य दृष्टि मिल गई। उन्होंने आदित्य-मण्डल में, कुण्डल और कवच पहने हुए, दिव्य रूप-धारी दिनेश के दर्शन किये। दिव्य दृष्टि के कारण उन्हें सूर्य के तेज से तनिक भी कष्ट नहीं पहुँचा।

प्राणानुपस्पृश्य तदा ह्याजुहाव दिवाकरम् ।
आजगाम ततो राजंस्त्वरमाणो दिवाकरः ॥ ८ ॥
मधुपिंगो महाबाहुः कंबुग्रीवो हसन्निव ।
अंगदी बद्धमुकुटो दिशः प्रज्वालयन्निव ॥ ९ ॥
योगात्कृत्वा द्विधाऽऽत्मानमाजगाम तताप च ।
आबभाषे ततः कुंतीं साम्ना परमवल्गुना ॥ १० ॥
आगतोऽस्मि वशं भद्रे तव मंत्रबलात्कृतः ।
किं करोमि वशो राज्ञि ब्रूहि कर्ता तदस्मि ते ॥ ११ ॥
कुन्त्युवाच—गम्यतां भगवंस्तत्र यत एवाऽऽगतो ह्यसि ।
कौतूहलात्समाहूतः प्रसीद भगवन्निति ॥ १२ ॥
सूर्य उवाच—गमिष्येऽहं यथा मा त्वं ब्रवीषि तनुमध्यमे ।
न तु देवं समाहूय न्याय्यं प्रेषयितुं वृथा ॥ १३ ॥
तवाभिसंधिः सुभगे सूर्यात्पुत्रो भवेदिति ।
वीर्येणाऽप्रतिमो लोके कवची कुंडलीति च ॥ १४ ॥
सा त्वमात्मप्रदानं वै कुरुष्व गजगामिनि ।
उत्पत्स्यति हि पुत्रस्ते यथासंकल्पमंगने ॥ १५ ॥

वे मन ही मन रीझकर सूर्य के रूप को एकटक निहारने लगीं। हे राजेन्द्र ! तब उस मन्त्र की परीक्षा करने के लिए कुन्ती के मन में बड़ा कौतूहल उत्पन्न हुआ। उन्होंने आचमन करके, शुद्ध हो, मन्त्र पढ़कर सूर्य का आवाहन किया। तब सूर्य ने योगबल से अपनी दो मूर्तियां कर लीं। एक मूर्त्ति से वे संसार को उजेला और गर्मी पहुँचाते रहे और दूसरे शरीर से झटपट कुन्ती के पास आ गये। उनका रङ्ग शहद का सा था और उनकी गर्दन शंख ऐसी थी। महाबाहु प्रभाकर, अङ्गद और मुकुट आदि आभूषणों से शोभित रूप रखकर, कुन्ती के पास पहुँचकर मुसकाते हुए कहने लगे—हे सुन्दरी ! मन्त्र-बल के कारण मैं तुम्हारे वश में हूं। बताओ, मैं तुम्हारा कौन सा कार्य करूं ॥६।११॥

कुन्ती ने कहा—हे भगवन् ! आप जहां से आये हैं वहीं, कृपा करके, जाइए। मैंने निरे कौतूहल से आपको बुलाया था। अब मुझ पर प्रसन्न होकर मेरा कहा कीजिए ॥१२॥

सूर्य ने कहा—हे सुन्दरी ! तुम कहती हो तो मैं अवश्य चला जाऊँगा किन्तु देवता को व्यर्थ बुलाकर योंही लौटा देना उचित नहीं। तुमने मन में सोचा है कि मेरे, सूर्य से, सूर्य के समान कवच-कुण्डल धारण किये अद्वितीय पराक्रमी पुत्र उत्पन्न हो। इसलिए हे गजगामिनी ! तुम मुझे आत्म-समर्पण करो।

अथ गच्छाम्यहं भद्रे त्वया संगम्य सुस्मिते ।
यदि त्वं वचनं नाऽद्य करिष्यसि मम प्रियम् ॥ १६ ॥
शपिष्ये त्वामहं क्रुद्धो ब्राह्मणं पितरं च ते ।
त्वत्कृते तान्प्रधक्ष्यामि सर्वानपि न संशयः ॥ १७ ॥
पितरं चैव ते मूढं यो न वेत्ति तवाऽनयम् ।
तस्य च ब्राह्मणस्याऽद्य योऽसौ मंत्रमदात्तव ॥ १८ ॥
शीलवृत्तमविज्ञाय धास्यामि विनयं परम् ।
एते हि विबुधाः सर्वे पुरंदरमुखा दिवि ॥ १९ ॥
त्वया प्रलब्धं पश्यंति स्मयंत इव भाविनि ।
पश्य चैनान्सुरगणान्दिव्यं चक्षुरिदं हि ते ।
पूर्वमेव मया दत्तं दृष्टवत्यसि येन माम् ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच–ततोऽपश्यत्त्रिदशान्राजपुत्री सर्वानेव स्वेषु धिष्ण्येषु खस्थान् ।
प्रभावंतं भानुमंतं महांतं यथाऽऽदित्यं रोचमानांस्तथैव ॥२१॥
सा तान्दृष्ट्वा व्रीडमानेव बाला सूर्यं देवी वचनं प्राह भीता ।
गच्छ त्वं वै गोपते स्वं विमानं कन्याभावाद् दुःख एवाऽपचारः॥२२॥
पिता माता गुरवश्चैव येऽन्ये देहस्याऽस्य प्रभवंति प्रदाने ।
नाऽहं धर्मं लोपयिष्यामि लोके स्त्रीणां वृत्तं पूज्यते देहरक्षा ॥२३॥

तुम्हारी इच्छा के अनुसार श्रेष्ठ पुत्र उत्पन्न होगा। ॥१३।१५॥

मैं तुमसे सहवास करके, तुम्हारे कहने के अनुसार, अपने स्थान को चला जाऊँगा। किन्तु जो तुम मेरा कहना न मानोगी तो मैं कुपित होकर तुमको तुम्हारे पिता को और उस ब्राह्मण को शाप दे दूँगा। तुम्हारे मूढ़ पिता तुम्हारे इस अन्याय को नहीं जानते और उस ब्राह्मण ने भी तुम्हारे स्वभाव और चरित्र को बिना जाने तुम्हें मन्त्र दे दिया है, इससे तुम्हारे कारण मैं इन सबको भस्म कर दूँगा। हे राजकुमारी! तुम मेरी दी हुई दिव्य दृष्टि से देखो, आकाश में इन्द्र आदि देवता आश्चर्य के साथ तुम्हारे द्वारा ठगे गये मुझको देखकर मुसकरा रहे हैं ॥१६।२०॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! अब राजकुमारी कुन्ती ने आकाश की ओर देखा कि वहां सब देवता सूर्य के समान तेजस्वी रूप से विमानों पर बैठे हुए सूर्यनारायण की ओर देख रहे हैं। यह देखकर कुन्ती लज्जा और भय के मारे अधमरी सी हो गई। उन्होंने सूर्यदेव से कहा–हे भगवन्! आप अपने विमान पर जाइए। मैंने स्त्री-स्वभाव के कारण आपको कष्ट देने का अपराध किया है। देखिए, मेरे शरीर के देने का अधिकार मेरे माता-पिता आदि

मया मंत्रवलं ज्ञातुमाहूतस्त्वं विभावसो ।
बाल्याद्बालेति तत्कृत्वा क्षंतुमर्हसि मे विभो ॥२४॥

सूर्य उवाच—बालेति कृत्वाऽनुनयं तवाऽह ददानि नान्याऽनुनयं लभेत ।
आत्मप्रदानं कुरु कुंति कन्ये शांतिस्तवैव हि भवेच्च भीरु ॥२५॥
न चापि गंतुं युक्तं हि मया मिथ्याकृतेन वै ।
असमेत्य त्वया भीरु मंत्राहूतेन भाविनि ॥२६॥
गमिष्याम्यनवद्यांगि लोके समवहास्यताम् ।
सर्वेषां विबुधानां च वक्तव्यः स्यां तथा शुभे ॥२७॥
सा त्वं मया समागच्छ पुत्रं लप्स्यसि मादृशम् ।
विशिष्टा सर्वलोकेषु भविष्यसि न संशयः ॥२८॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि सूर्याह्वाने षडधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥३०६॥

बड़े बूढ़ों का ही है। इस कारण उसके विपरीत कार्य कर के मैं धर्म को कैसे नष्ट करूं? हे भगवन्! चरित्र की शुद्धता ही स्त्रियों के शरीर की रक्षा करती है और उसी से स्त्रियों का मान होता है। हे दिवाकर! मैं बालिका हूं। बिना सोचे समझे, मंत्र के प्रभाव की परीक्षा के लिए, मैंने आपका आवाहन किया है। इसलिए मेरा अपराध क्षमा कीजिए ॥२१।२४॥

सूर्य ने कहा—हे कुन्ती! तुम बालिका हो, इसी कारण मैं तुम्हारी खुशामद कर रहा हूं, तुमको समझा रहा हूं। और कोई स्त्री ऐसा अपराध करती तो उसकी खुशामद कभी न करता। इसलिए तुम मुझे आत्मदान करो। इसी उपाय से तुम्हारा भला हो सकता है और तुम्हें शांति मिल सकती है। हे भामिनी! तुमने मन्त्र पढ़कर मुझे बुलाया है, इसलिए यदि यों ही, मेरा प्रसाद स्वीकार किये बिना, मुझे लौटा दोगी तो संसार में मेरी हँसी होगी और देवता भी मेरी निन्दा करेंगे। इस समय तुम मुझसे समागम करके मेरे ही समान तेजस्वी प्रतापी पुत्र प्राप्त करो। उससे संसार में तुम्हें विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त होगी ॥२५।२८॥

—०—

वनपर्व का तीन सौ छ अध्याय समाप्त हुआ ॥३०६॥

अथ सप्ताधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥३०७॥

वैशम्पायन उवाच—सा तु कन्या बहुविधं ब्रुवंती मधुरं वचः ।
अनुनेतुं सहस्रांशुं न शशाक मनस्विनी ॥ १ ॥

तीन सौ सात अध्याय ॥३०७॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! मन स्विनी कन्या कुन्ती मधुर वचनों से बहुत विनय करके भी सूर्य को लौटा नहीं सकी। सूर्य को टालना असाध्य समझकर, शाप से भयभीत होकर, वे सोचने लगीं

न शशाक यदा बाला प्रत्याख्यातुं तमोनुदम् ।
भीता शापात्ततो राजन्दध्यौ दीर्घमथाऽतरम् ॥ २ ॥
अनागसः पितुः शापो ब्राह्मणस्य तथैव च ।
मन्निमित्तः कथं न स्यात्क्रुद्धादस्माद्विभावसोः ॥ ३ ॥
बालेनापि सता मोहाद् भृशं पापकृतान्यपि ।
नाभ्यासादयितव्यानि तेजांसि च तपांसि च ॥ ४ ॥
साऽहमद्य भृशं भीता गृहीत्वा च करे भृशम् ।
कथं त्वकार्यं कुर्यां वै प्रदानं ह्यात्मनः स्वयम् ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच—सा वै शापपरित्रस्ता बहु चिंतयती हृदा ।
मोहेनाऽभिपरीतांगी स्मयमाना पुनः पुनः ॥ ६ ॥
तं देवमब्रवीद्भीता बंधूनां राजसत्तम ।
व्रीडाविह्वलया वाचा शापत्रस्ता विशांपते ॥ ७ ॥

कुन्त्युवाच—पिता मे ध्रियते देव माता चाऽन्ये च बांधवाः ।
न तेषु ध्रियमाणेषु विधिलोपो भवेदयम् ॥ ८ ॥
त्वया तु संगमो देव यदि स्याद्विधिवर्जितः ।
मन्निमित्तं कुलस्याऽस्य लोके कीर्तिर्नशेत्ततः ॥ ९ ॥
अथवा धर्ममेतं त्वं मन्यसे तपतां वर ।
ऋते प्रदानाद्बंधुभ्यस्तव कामं करोम्यहम् ॥ १० ॥
आत्मप्रदानं दुर्धर्ष तव कृत्वा सती त्वहम् ।

कि मैं अब क्या करूं; किस तरह निर्दोष ब्राह्मण को और पिता को सूर्य के शाप से बचाऊँ? थोड़ी अवस्था-वाले सच्चरित्र बालकों को भी चाहिए कि चित्त की परवशता में मोहित होकर सूर्य ऐसे तेजस्वियों और दुर्वासा ऐसे तपस्वियों के बहुत पास न जायँ। मैं इस समय सूर्य के हाथ में पड़कर भय के मारे कैसे आत्मदान के लिए प्रसन्न होकर वह कार्य करूं जो न करना चाहिए! ॥१।५॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! शाप के भय से व्याकुल होकर बारम्बार सोचती हुई कुन्ती ने लज्जा से सिर झुकाकर सूर्य से कहा—हे भगवन्! मेरे माता-पिता आदि स्वजन बड़े-बूढ़े जीते हैं; उनके रहते यह लोकविरुद्ध कार्य मैं कैसे करूं! आपसे मिलने का यह विधि-वर्जित कार्य जो मैं कर डालूँगी तो संसार में मेरे कुल की बड़ी निन्दा होगी। अथवा हे सूर्यदेव! यदि आप इस कार्य को धर्म समझते हों तो मैं बन्धुओं के द्वारा अपना दान हुए बिना ही आपकी इच्छा पूरी कर सकती हूँ। हे

त्वयि धर्मो यशश्चैव कीर्तिरायुश्च देहिनाम् ॥ ११ ॥

सूर्य उवाच—न ते पिता न ते माता गुरवो वा शुचिस्मिते ।

प्रभवंति वरारोहे भद्रं ते शृणु मे वचः ॥ १२ ॥

सर्वान्कामयते यस्मात्कमेर्धातोश्च भाविनि ।

तस्मात्कन्येह सुश्रोणि स्वतंत्रा वरवर्णिनि ॥ १३ ॥

नाऽधर्मश्चरितः कश्चित्त्वया भवति भाविनि ।

अधर्मं कुत एवाऽहं वरेयं लोककाम्यया ॥ १४ ॥

अनावृताः स्त्रियः सर्वा नराश्च वरवर्णिनि ।

स्वभाव एष लोकानां विकारोऽन्य इति स्मृतः ॥ १५ ॥

सा मया सह संगम्य पुनः कन्या भविष्यसि ।

पुत्रश्च ते महाबाहुर्भविष्यति महायशाः ॥ १६ ॥

कुन्त्युवाच—यदि पुत्रो मम भवेत्त्वत्तः सर्वतमोनुद ।

कुंडली कवची शूरो महाबाहुर्महाबलः ॥ १७ ॥

सूर्य उवाच—भविष्यति महाबाहुः कुंडली दिव्यवर्मभृत् ।

उभयं चाऽमृतमयं तस्य भद्रे भविष्यति ॥ १८ ॥

कुन्त्युवाच—यद्येतदमृतादस्ति कुंडले वर्म चोत्तमम् ।

परम तेजस्वी ! देहधारियों के धर्म, यश, कीर्ति और आयु का आश्रय आप ही हैं। इसलिए यदि मैं आपको आत्मदान करके भी मैं सती बनी रहूँ तो आप की इच्छा पूर्ण करने के लिए तैयार हूँ ॥६।११॥

सूर्य ने कहा—हे सुन्दरी ! जो मैं कहता हूँ सो सुनो। तुम्हारे माता-पिता; गुरुजन आदि किसी को भी तुम्हारे दान का अधिकार नहीं है। कन्या शब्द का अर्थ यह है कि वह सब की कामना कर सकती है। इस कारण कन्या अपने दान के लिए स्वतन्त्र है ! अतएव मेरी इच्छा पूर्ण करने से तुम्हें अधर्म न होगा। मैं लोकरक्षक और सब का हित-कारी हूं; मैं अधर्म का आचरण कैसे कर सकता हूं ! स्वभाव से सभी स्त्री और पुरुष, अपनी अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने के लिए, स्वाधीन हैं। वैवाहिक नियम का बन्धन स्वभाव के विकार से उत्पन्न हुआ है। इसलिए तुम बेखटके मुझे स्वीकार करो। मेरे समागम से, तुम्हारे एक महायशस्वी महाबाहु पुत्र उत्पन्न होगा, और तुम कन्या ही बनी रहोगी ।१२।१६।

कुन्ती ने कहा—हे अन्धकार के शत्रु सूर्य ! यदि आपसे मुझे पुत्र मिले तो वह कुण्डल और कवच पहने हुए ही उत्पन्न हो। वह शूर, महाबाहु और महाबली हो ॥१७॥

सूर्य ने कहा—हे सुन्दरी ! तुम्हारा जो महा-बाहु पुत्र होगा वह गर्भ से ही स्वाभाविक अमृतमय

मम पुत्रस्य यं वै त्वं मत्त उत्पादयिष्यसि ॥ १९ ॥
अस्तु मे संगमो देव यथोक्तं भगवंस्त्वया ।
त्वद्वीर्यरूपसत्त्वौजा धर्मयुक्तो भवेत्स च ॥ २० ॥
सूर्य उवाच—अदित्या कुंडले राज्ञि दत्ते मे मत्तकाशिनि ।
तेऽस्य दास्यामि वै भीरु वर्म चैवेदमुत्तमम् ॥ २१ ॥
कुन्त्युवाच—परमं भगवन्नेवं संगमिष्ये त्वया सह ।
यदि पुत्रो भवेदेवं यथा वदसि गोपते ॥ २२ ॥
वैशम्पायन उवाच—तथेत्युक्त्वा तु तां कुंतीमाविवेश विहंगमः ।
स्वर्भानुशत्रुर्योगात्मा नाभ्यां पस्पर्श चैव ताम् ॥ २३ ॥
ततः सा विह्वलेवाऽऽसीत्कन्या सूर्यस्य तेजसा ।
पपात चाऽथ सा देवी शयने मूढचेतना ॥ २४ ॥
सूर्य उवाच—साधयिष्यामि सुश्रोणि पुत्रं वै जनयिष्यसि ।
सर्वशस्त्रभृतां श्रेष्ठं कन्या चैव भविष्यसि ॥ २५ ॥
वैशम्पायन उवाच—ततः सा व्रीडिता बाला तदा सूर्यमथाऽब्रवीत् ।
एवमस्त्विति राजेंद्र प्रस्थितं भूरिवर्चसम् ॥ २६ ॥
इति स्मोक्ता कुंतिराजात्मजा सा विवस्वंतं याचमाना सलज्जा ।
तस्मिन्पुण्ये शयनीये पपात मोहाविष्टा भज्यमाना लतेव ॥ २७ ॥

कवच और कुण्डल पहने उत्पन्न होगा ॥१८॥

कुन्ती ने कहा—हे देवदेव ! यदि वह पुत्र, जिसे आप मेरे गर्भ से उत्पन्न करेंगे, अमृतमय कवच-कुण्डल पहने उत्पन्न होगा तो आप अपनी इच्छा पूरी कर लीजिए। मैं यह भी चाहती हूं कि वह मेरा पुत्र धर्मात्मा हो तथा वीर्य, रूप, तेज, ओज, बल आदि में आपके ही समान हो ॥१९।२०॥

सूर्य ने कहा—हे राजकुमारी ! मेरी माता अदिति ने मुझे जो कुण्डल दिये हैं वे, और यह उत्तम कवच, मैं तुम्हारे पुत्र को दे दूंगा। कुन्ती ने कहा—हे भगवन् ! यदि ऐसी बात है, मेरे ऐसा पुत्र हो, तो आप मुझसे समागम कीजिए ॥२१।२२॥

वैशम्पायनने कहा—हे राजेंद्र ! तब 'बहुत अच्छा' कहकर आकाशचारी सूर्य ने योगरूप से कुन्ती के शरीर में प्रवेश किया और हाथ से उनकी नाभि को छू लिया। उसी समय कन्या कुन्ती सूर्य के तेज से विह्वल और अचेत सी होकर शय्या पर गिर पड़ीं ॥२३।२४॥

सूर्य ने कहा—हे सुन्दर नितम्बोंवाली ! मैं ऐसा करूंगा कि तुम्हारा पुत्र सब शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ होगा और तुम्हारा कन्या-धर्म भी बचा रहेगा ॥२५॥

हे राजा जनमेजय ! कुन्ती ने लज्जित होकर सङ्गम का उपक्रम कर रहे महातेजस्वी सूर्य से कहा—

तिग्मांशुस्तां तेजसा मोहयित्वा योगेनाऽऽविश्याऽऽत्मसंस्थां चकार ।
न चैवैनां दूषयामास भानुः संज्ञां लेभे भूय एवाथ बाला ॥ २८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि कुडलाहरणपर्वणि सूर्यकुन्तीसमागमे सप्ताधिकत्रिशततमोऽध्यायः ३०७

जैसा आप चाहते हैं वैसा ही हो । इसके पश्चात् कुन्तिभोज की कन्या कुन्ती मोहित और लज्जित होकर, लता की तरह कांपती हुई, पवित्र शय्या पर गिर पड़ीं । सूर्य ने उनको अपने तेज से मोहित करके योग-बल से गर्भाधान किया । इसके पश्चात् सूर्य की कृपा से कुन्ती फिर कन्या हो गईं । इस प्रकार सूर्य ने कुन्ती को दूषित नहीं होने दिया । उनके चले जाने पर कुन्ती फिर सचेत हो उठीं ॥२६।२८॥

वनपर्व का तीन सौ सात अध्याय समाप्त हुआ ॥३०७॥

अथ अष्टाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥३०८॥

वैशम्पायन उवाच—ततो गर्भः समभवत्पृथायाः पृथिवीपते ।
शुक्ले दशोत्तरे पक्षे तारापतिरिवांऽबरे ॥ १ ॥
सा बांधवभयाद्बाला गर्भं तं विनिगूहती ।
धारयामास सुश्रोणी न चैनां बुबुधे जनः ॥ २ ॥
न हि तां वेद नार्यन्या काचिद्धात्रेयिकामृते ।
कन्यापुरगतां बालां निपुणां परिरक्षणे ॥ ३ ॥
ततः कालेन सा गर्भं सुषुवे वरवर्णिनी ।
कन्यैव तस्य देवस्य प्रसादादमरप्रभम् ॥ ४ ॥
तथैवाऽबद्धकवचं कनकोज्ज्वलकुंडलम् ।
हर्यक्षं वृषभस्कंधं यथाऽस्य पितरं तथा ॥ ५ ॥

तीन सौ आठ अध्याय ॥३०८॥

वैशम्पायन ने कहा—हे महाराज ! इस प्रकार राजकुमारी कुन्ती ने माघ शुक्ल प्रतिपदा के दिन, आकाश में चन्द्रमा के समान, अपने गर्भ में सूर्य का तेज धारण किया । घरवालों के भय से बालिका कुन्ती सदा इस गर्भ की अवस्था को छिपाये रहती थीं, किसी को उसका हाल नहीं मालूम हुआ । कन्या के रनिवास में रहनेवाली, रक्षा के काम में निपुण, दासी के सिवा और किसी स्त्री ने कुन्ती का यह रहस्य नहीं जाना ॥१।३॥

सूर्य की कृपा से कन्या की अवस्था बिगड़ने नहीं पाई और कुन्ती ने यथासमय एक बालक उत्पन्न किया । वह विचित्र बालक उज्ज्वल कवच और मणिमय कुण्डल पहने ही उत्पन्न हुआ । उसका तेज अपने पिता सूर्य के समान ही था, आँखें शेर की सी और कन्धे बैल के से भरे हुए थे । वह बालक ज्योंही उत्पन्न हुआ त्योंही दासी से सम्मति करके कुन्ती ने

जातमात्रं च तं गर्भं धात्र्या संमन्त्र्य भाविनी ।
मंजूषायां समाधाय स्वास्तीर्णायां समंततः ॥ ६ ॥
मधूच्छिष्टस्थितायां सा सुखायां रुदती तथा ।
श्लक्ष्णायां सुपिधानायामश्वनद्यामवासृजत् ॥ ७ ॥
जानती चाऽप्यकर्तव्यं कन्याया गर्भधारणम् ।
पुत्रस्नेहेन सा राजन्करुणं पर्यदेवयत् ॥ ८ ॥
समुत्सृजंती मंजूषामश्वनद्यां तदा जले ।
उवाच रुदती कुंती यानि वाक्यानि तच्छृणु ॥ ९ ॥
स्वस्ति ते चांऽतरिक्षेभ्यः पार्थिवेभ्यश्च पुत्रक ।
दिव्येभ्यश्चैव भूतेभ्यस्तथा तोयचराश्च ये ॥ १० ॥
शिवास्ते संतु पंथानो मा च ते परिपंथिनः ।
आगताश्च तथा पुत्र भवंत्वद्रोहचेतसः ॥ ११ ॥
पातु त्वां वरुणो राजा सलिले सलिलेश्वरः ।
अंतरिक्षेऽन्तरिक्षस्थः पवनः सर्वगस्तथा ॥ १२ ॥
पिता त्वां पातु सर्वत्र तपनस्तपतां वरः ।
येन दत्तोऽसि मे पुत्र दिव्येन विधिना किल ॥ १३ ॥

उसको एक सन्दूकची में, सुन्दर सुखदायक बिछौने बिछाकर, लिटा दिया । फिर उन्होंने चारों ओर से उस सन्दूकची में ऐसा लेप लगा दिया जिसमें उसके भीतर जल न आ सके । अब रोते-रोते कुन्ती ने उस सन्दूकची को अश्व नदी में बहा दिया । कुमारी के गर्भ धारण को अनुचित जानकर भी, पुत्रस्नेह के कारण, उस दिव्य बालक को बहाते समय कुन्ती करुण स्वर से रोने लगी ॥४।७॥

हे राजेन्द्र ! अश्व नदी में उस बालक को बहाते समय आगू बहाती हुई कुन्ती ने जो बातें कही थीं उन्हें मैं कहता हूँ, सुनो । कुन्ती ने कहा—हे बेटा ! आकाश, स्वर्ग, पृथ्वी, जल आदि में रहनेवाले सब जीव तुम्हारा भला करें । मार्ग में सब प्रकार से तुम्हारा कल्याण हो । आये हुए अनिष्टकारी जीव तुम्हारी कुछ हानि न कर सकें, उनके हृदय में तुम्हारे ऊपर द्रोह का भाव न रहे, वे तुम्हें किसी तरह की बाधा न पहुँचा सकें । जल में जलेश्वर वरुण तुम्हारी रक्षा करें । आकाश में आकाशचारी और सब जगह जाने-वाले वायुदेव तुम्हारी रक्षा करें ॥८।१२॥

जिन्होंने दिव्य विधि से तुम ऐसा पुत्र मुझे दिया है वे तुम्हारे पिता परम तेजस्वी सूर्य सब जगह तुम्हारी रक्षा करें । आदित्य, वसु, रुद्र, साध्य, विश्वेदेवा, मरुद्गण, इन्द्र, दिशायें, दिक्पाल और लोकपाल तुम्हारी रक्षा करें । सम और विषम, सभी स्थानों

आदित्या वसवो रुद्राः साध्या विश्वे च देवताः ।
मरुतश्च सहेन्द्रेण दिशश्च सदिगीश्वराः ॥ १४ ॥
रक्षंतु त्वां सुराः सर्वे समेषु विषमेषु च ।
वेत्स्यामि त्वां विदेशेऽपि कवचेनाऽभिसूचितम् ॥ १५ ॥
धन्यस्ते पुत्र जनको देवो भानुर्विभावसुः ।
यस्त्वां द्रक्ष्यति दिव्येन चक्षुषा वाहिनीगतम् ॥ १६ ॥
धन्या सा प्रमदा या त्वां पुत्रत्वे कल्पयिष्यति ।
यस्यास्त्वं तृषितः पुत्रस्तनं पास्यसि देवज ॥ १७ ॥
को नु स्वप्नस्तया दृष्टो या त्वामादित्यवर्चसम् ।
दिव्यवर्मसमायुक्तं दिव्यकुंडलभूषितम् ॥ १८ ॥
पद्मायतविशालाक्षं पद्मताम्रदलोज्ज्वलम् ।
सुललाटं सुकेशांतं पुत्रत्वे कल्पयिष्यति ॥ १९ ॥
धन्या द्रक्ष्यंति पुत्र त्वां भूमौ संसर्पमाणकम् ।
अव्यक्तकलवाक्यानि वदन्तं रेणुगुंठितम् ॥ २० ॥
धन्या द्रक्ष्यति पुत्र त्वां पुनर्यौवनगोचरम् ।
हिमवद्वनसंभूतं सिंहं केसरिणं यथा ॥ २१ ॥
एवं बहुविधं राजन्विलप्य करुणं पृथा ।
अवासृजत मंजूषामश्वनद्यां तदा जले ॥ २२ ॥

और अवस्थाओं में देवगण तुम्हारी रक्षा करें । इन सहजात कुण्डलों से और कवच से मैं तुमको विदेश में भी पहचान लूँगी । हे बेटा ! तुम्हारे जन्मदाता पिता प्रतापी सूर्य धन्य हैं, जो नदी के बीच तुमको दिव्य दृष्टि से देखेंगे ॥१-३।१६॥

हे देवकुमार ! जो तुमको अपना पुत्र बनावेगी और भूख-प्यासे होकर तुम जिसका दूध पियोगे वह स्त्री धन्य होगी । उस स्त्री ने आज न-जाने कौन श्रेष्ठ स्वप्न देखा होगा, जो तुम ऐसे सूर्य-तुल्य तेजस्वी, दिव्य कवचधारी, दिव्य कुण्डल-भूषित, कमल-नयन, गौर-वर्ण, कमल-दल-सदृश कान्ति-युक्त, सुन्दर मस्तक और केश-कलापवाले बालक को पाकर अपना पुत्र बनावेगी । हे पुत्र ! वे लोग धन्य हैं जो उस समय तुमको देखेंगे जब तुम धूल में लोटोगे, तोतली मीठी वाणी बोलोगे और घुटनों के बल इधर-उधर चलोगे । हिमालय में उत्पन्न सिंह के बच्चे के समान तेजस्वी तुमको, युवा अवस्था में, जो लोग देखेंगे वे धन्य हैं ॥१७।२१॥

हे राजेन्द्र ! इस तरह बहुत विलाप और सन्ताप करके कुन्ती ने वह मन्दूकची अश्व नदी में बहा दी ।

रुदती पुत्रशोकार्ता निशीथे कमलेक्षणा ।
धात्र्या सह पृथा राजन्पुत्रदर्शनलालसा ॥ २३ ॥
विसर्जयित्वा मंजूषां संबोधनभयात्पितुः ।
विवेश राजभवनं पुनः शोकातुरा ततः ॥ २४ ॥
मंजूषा त्वश्वनद्याः सा ययौ चर्मण्वतीं नदीम् ।
चर्मण्वत्याश्च यमुनां ततो गंगां जगाम ह ॥ २५ ॥
गंगायाः सूतविषयं चंपामनुययौ पुरीम् ।
स मंजूषागतो गर्भस्तरंगैरुह्यमानकः ॥ २६ ॥
अमृतादुत्थितं दिव्यं तनुवर्म सकुंडलम् ।
धारयामास तं गर्भं दैवं च विधिनिर्मितम् ॥ २७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि कुंडलाहरणपर्वणि कर्णपरित्यागे अष्टाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥३०८॥

पुत्रदर्शन की उत्कण्ठा से विह्वल, पुत्र के वियोग से पीड़ित, कमल-नयनी कुन्ती पिता के भय से रात्रि को वह सन्दूकची बहाकर रोती हुई, दासी के साथ, फिर उसी तरह गुप्त रूप से राजभवन में लौट आई ॥२३।२४॥

इधर वह सन्दूकची बहती हुई अश्व नदी से चर्मण्वती में, चर्मण्वती से यमुना में और यमुना से गङ्गा में पहुंची। सन्दूकची के भीतर बन्द वह बालक गङ्गा की लहरों में बहता हुआ चम्पापुरी के पास सूत-राज्य में पहुंचा। अमृत से प्रकट वह अमृतमय दिव्य कवच और कुण्डल उस बालक की रक्षा करता रहा। वास्तव में यह है कि उस बालक के जीवन की रक्षा दैव ही कर रहा था ॥२५।२७॥

वनपर्व का तीन सौ आठ अध्याय समाप्त हुआ ॥३०८॥

अथ नवाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥३०९॥

वैशम्पायन उवाच—एतस्मिन्नेव काले तु धृतराष्ट्रस्य वै सखा ।
सूतोऽधिरथ इत्येव सदारो जाह्नवीं ययौ ॥ १ ॥
तस्य भार्याऽभवद्राजन्रूपेणाऽसदृशी भुवि ।
राधा नाम महाभागा न सा पुत्रमविंदत ॥ २ ॥

तीन सौ नव अध्याय ॥३०९॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! इसी समय धृतराष्ट्र के सखा, अधिरथ नाम के सूत (जिनका वहां राज्य था) अपनी स्त्री राधा के साथ गङ्गा के किनारे पहुंचे। उनकी स्त्री राधा पृथ्वी पर अद्वितीय रूपवती समझी जाती थी। उसके कोई बालक न था। वह पुत्र के लिए बहुत कुछ यत्न कर चुकी थी, पर फल कुछ नहीं हुआ। राधा ने गङ्गा-किनारे जाकर देखा कि एक सन्दूकची आप से ही गङ्गा

अपत्यार्थे परं यत्नमकरोच्च विशेषतः ।
सा ददर्शाऽथ मंजूषामुह्यमानां यदृच्छया ॥ ३ ॥
दत्तरक्षाप्रतिसरामन्वालंभनशोभनाम् ।
उर्मीतरंगैर्जाह्नव्याः समानीतामुपह्वरम् ॥ ४ ॥
सा तु कौतूहलात्प्राप्तां ग्राहयामास भाविनी ।
ततो निवेदयामास सूतस्याऽधिरथस्य वै ॥ ५ ॥
स तामुद्धृत्य मंजूषामुत्सार्य जलमंतिकात् ।
यंत्रैरुद्घाटयामास सोऽपश्यत्तत्र बालकम् ॥ ६ ॥
तरुणादित्यसंकाशं हेमवर्मधरं तथा ।
मृष्टकुंडलयुक्तेन वदनेन विराजता ॥ ७ ॥
स सूतो भार्यया सार्धं विस्मयोत्फुल्ललोचनः ।
अंकमारोप्य तं बालं भार्यां वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥
इदमत्यद्भुतं भीरु यतो जातोऽस्मि भाविनि ।
दृष्टवान्देवगर्भोऽयं मन्येऽस्माकमुपागतः ॥ ९ ॥
अनपत्यस्य पुत्रोऽयं देवैर्दत्तो ध्रुवं मम ।
इत्युक्त्वा तं ददौ पुत्रं राधायै स महीपते ॥ १० ॥
प्रतिजग्राह तं राधा विधिवद्दिव्यरूपिणम् ।

की लहरों में बह रही है; उसके ऊपर दूब-अक्षत आदि माङ्गलिक पदार्थ रक्खे हैं और कुंकुम का थापा हाथ का (चिह्न) दिया हुआ है। वह सन्दूकची लहरों के सहारे किनारे पर आ लगी। कौतूहल के मारे राधा ने सन्दूकची पकड़ ली। फिर सूत अधिरथ के पास उसकी सूचना भेजी ॥१।५॥

अधिरथ ने आकर वह सन्दूकची जल से बाहर निकाली। यन्त्र की सहायता से खोले जाने पर अधिरथ ने उसके भीतर एक दिव्य बालक देखा। उस बालक का तेज दोपहर के सूर्य के समान और चेहरा बहुत ही मनोहर था। वह सुवर्ण का कवच और दिव्य उज्ज्वल कुण्डल पहने हुए था। आश्चर्य और प्रसन्नता से अधिरथ के नेत्र-कमल खिल उठे। वे उस बालक को गोद में लेकर अपनी स्त्री से कहने लगे—हे सुन्दरी! अपने जन्मभर में यह एक अत्यन्त अद्भुत पदार्थ मैंने देखा है। मैं समझता हूं कि यह कोई देवकुमार हमारे पास आया है। मेरे कोई पुत्र न था, इसी से कृपा करके देवताओं ने यह बालक मुझे दिया है। हे महाराज! अधिरथ ने वह बालक अपनी स्त्री राधा की गोद में दे दिया ॥६।१०॥

राधा उस कमल कोमल, देवपुत्र, दिव्य रूप-वाले बालक को गोद में लेकर बड़े यत्न से उसका

ब्राह्मण उवाच—हिरण्यकंठ्यः प्रमदा यच्चाऽन्यत्प्रीतिवर्धनम् ।
नाऽहं दत्तमिहेच्छामि तदर्थिभ्यः प्रदीयताम् ॥ ३ ॥
यदेतत्सहजं वर्म कुंडले च तवाऽनघ ।
एतदुत्कृत्य मे देहि यदि सत्यव्रतो भवान् ॥ ४ ॥
एतदिच्छाम्यहं क्षिप्रं त्वया दत्तं परंतप ।
एष मे सर्वलाभानां लाभः परमको मतः ॥ ५ ॥
कर्ण उवाच—अवनिं प्रमदा गाश्च निवापं बहुवार्षिकम् ।
तत्ते विप्र प्रदास्यामि न तु वर्म सकुंडलम् ॥ ६ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवं बहुविधैर्वाक्यैर्याच्यमानः स तु द्विजः ।
कर्णेन भरतश्रेष्ठ नाऽन्यं वरमयाचत ॥ ७ ॥
सांत्वितश्च यथाशक्ति पूजितश्च यथाविधि ।
न चाऽन्यं स द्विजश्रेष्ठः कामयामास वै वरम् ॥ ८ ॥
यदा नाऽन्यं प्रवृणुते वरं वै द्विजसत्तमः ।
तदैनमब्रवीद्भूयो राधेयः प्रहसन्निव ॥ ९ ॥
सहजं वर्म मे विप्र कुंडले चाऽमृतोद्भवे ।
तेनाऽवध्योऽस्मि लोकेषु ततो नैतज्जहाम्यहम् ॥ १० ॥
विशालं पृथिवीराज्यं क्षेमं निहतकंटकम् ।
प्रतिगृह्णीष्व मत्तस्त्वं साधु ब्राह्मणपुंगव ॥ ११ ॥

ब्राह्मण ने कहा—मैं सुवर्ण के गहनों से लदी हुई सुन्दरी या और कोई प्रीति बढ़ानेवाला पदार्थ तुमसे नहीं मांगता । ये वस्तुएँ और किसी को देना। हे धर्मात्मा ! तुम यदि अपने को सत्यव्रती मानते हो तो अपने शरीर के साथ ही उत्पन्न ये कुण्डल और कवच काटकर मुझे दे दो । हे शत्रुदमन ! तुम्हारी दी हुई यही भिक्षा मैं लेना चाहता हूँ। यही मेरे लिए सबसे बढ़कर लाभ होगा ॥३-५॥

कर्ण ने कहा—हे विप्र ! घर बनाने के लिए पृथ्वी, स्त्री, गायें, जीवन भर की जीविका के लिए खेत आदि जो कुछ आप चाहें, मैं देने को तैयार हूँ; किन्तु कवच और कुण्डल मत मांगिए ॥६॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! इस तरह कर्ण ने बहुत प्रार्थना की किन्तु ब्राह्मण ने और कुछ लेना स्वीकार नहीं किया । जब वे ब्राह्मण और कुछ मांगने के लिए प्रसन्न नहीं हुए तब कर्ण ने उनसे हँसकर कहा—हे ब्राह्मणदेव ! देखिए, यह कवच और ये कुण्डल अमृतमय हैं और इन्हें पहने

कुंडलाभ्यां विमुक्तोऽहं वर्मणा सहजेन च ।
गमनीयो भविष्यामि शत्रूणां द्विजसत्तम ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच—यदन्यं न वरं वव्रे भगवान्पाकशासनः ।
ततः प्रहस्य कर्णस्तं पुनरित्यब्रवीद्वचः ॥ १३ ॥
विदितो देवदेवेश प्रागेवाऽसि मम प्रभो ।
न तु न्याय्यं मया दातुं तव शक्यं वृथा वरम् ॥ १४ ॥
त्वं हि देवेश्वरः साक्षात्त्वया देयो वरो मम ।
अन्येषां चैव भूतानामीश्वरो ह्यसि भूतकृत् ॥ १५ ॥
यदि दास्यामि ते देव कुंडले कवचं तथा ।
वध्यतामुपयास्यामि त्वं च शक्राऽवहास्यताम् ॥ १६ ॥
तस्माद्विनिमयं कृत्वा कुंडले वर्म चोत्तमम् ।
हरस्व शक्र कामं मे न दद्यामहमन्यथा ॥ १७ ॥

शक्र उवाच—विदितोऽहं रवेः पूर्वमायानेव तवांतिकम् ।
तेन ते सर्वमाख्यातमेवमेतन्न संशयः ॥ १८ ॥
काममस्तु तथा तात तव कर्ण यथेच्छसि ।
वर्जयित्वा तु मे वज्रं प्रवृणीष्व यथेच्छसि ॥ १९ ॥

ही मैं उत्पन्न हुआ हूँ । इनके प्रभाव से त्रिभुवन का कोई वीर मुझे मार नहीं सकता । इसी कारण मैं इन दोनों वस्तुओं को नहीं देना चाहता । हे द्विजश्रेष्ठ ! मैं आपको पृथ्वीभर का निष्कण्टक राज्य देता हूँ, उसे ले लीजिए। मैं यदि शरीर के साथ उत्पन्न ये कुण्डल और कवच दे दूँगा तो शत्रु मुझे मार डालेंगे॥७।१२॥

वैशम्पायन कहते हैं कि जब किसी तरह भगवान् इन्द्र और कुछ लेने को प्रसन्न नहीं हुए तब कर्ण ने फिर हँसकर कहा—हे देवराज ! मैंने पहले ही आपको पहचान लिया था । मैं आपको आपकी मांगी हुई वस्तुएं दूंगा, पर साथ ही आपसे भी कुछ लूंगा । आप देवताओं के राजा और अन्य सब प्राणियों के ईश्वर हैं; इसलिए आप भी मुझे कुछ दीजिए। जो मैं यों ही कुण्डल और कवच दे दूँगा तो मुझे शत्रु मार डालेंगे और इससे आपकी भी हँसी होगी। इसलिए बदले में कुछ देकर आप मेरे कुण्डल और कवच ले जाइए । दूसरी तरह से मैं ये वस्तुएँ आप को न दूँगा ॥१३।१७॥

इन्द्र ने कहा—मेरे आने से पहले ही सूर्य मेरा अभिप्राय जान गये थे । उन्हीं ने आकर तुमसे सब हाल कह दिया होगा । अच्छा, तुम जो कहते हो वह मुझे स्वीकार है । मेरे वज्र के सिवा और जो कुछ तुम चाहो वह मांग लो ॥१८।१९॥

वैशम्पायन कहते हैं कि तब कर्ण ने अपना मनो-

वैशम्पायन उवाच—ततः कर्णः प्रहृष्टस्तु उपसंगम्य वासवम् ।
अमोघां शक्तिमभ्येत्य वव्रे संपूर्णमानसः ॥ २० ॥

कर्ण उवाच—वर्मणा कुंडलाभ्यां च शक्तिं मे देहि वासव ।
अमोघां शत्रुसंघानां घातिनीं पृतनामुखे ॥ २१ ॥
ततः संचिंत्य मनसा मुहूर्तमिव वासवः ।
शक्त्यर्थं पृथिवीपाल कर्णं वाक्यमथाऽब्रवीत् ॥ २२ ॥
कुंडले मे प्रयच्छस्व वर्म चैव शरीरजम् ।
गृहाण कर्ण शक्तिं त्वमनेन समयेन च ॥ २३ ॥
अमोघा हंति शतशः शत्रून्मम करच्युता ।
पुनश्च पाणिमभ्येति मम दैत्यान्विनिघ्नतः ॥ २४ ॥
सेयं तव करप्राप्ता हत्वैकं रिपुमूर्जितम् ।
गर्जंतं प्रतपंतं च मामेवैष्यति सूतज ॥ २५ ॥

कर्ण उवाच—एकमेवाऽहमिच्छामि रिपुं हंतुं महाहवे ।
गर्जंतं प्रतपंतं च यतो मम भयं भवेत् ॥ २६ ॥

इन्द्र उवाच—एकं हनिष्यसि रिपुं गर्जंतं बलिनं रणे ।
त्वं तु यं प्रार्थयस्येकं रक्ष्यते स महात्मना ॥ २७ ॥
यमाहुर्वेदविद्वांसो वराहमपराजितम् ।
नारायणमचिंत्यं च तेन कृष्णेन रक्ष्यते ॥ २८ ॥

रथ पूरा होते देखकर, प्रसन्न होकर, इन्द्र से वही अमोघ शक्ति मांगी ॥२०॥

कर्ण ने कहा—हे इन्द्र ! मेरे कुण्डलों और कवच के बदले में आप अपनी वह शक्ति दीजिए जो सैंकड़ों शत्रुओं का युद्ध में नाश कर सकती है और कभी निष्फल नहीं जाती । हे राजेन्द्र ! तब इन्द्र ने दमभर सोचकर कर्ण से कहा—हे कर्ण ! तुम अपने कुण्डल और कवच देकर मुझसे शक्ति ले लो । वह शक्ति मैं एक प्रतिज्ञा पर दूंगा । वह अमोघ शक्ति मेरे हाथ से छूटकर सैंकड़ों शत्रुओं को मारती है और फिर मेरे हाथ में आ जाती है, किन्तु तुम्हारे हाथ से छूटी हुई वह शक्ति तर्जन-गर्जन करके तुम्हें मारने के लिए आ रहे प्रतापी एक ही शत्रु को मारेगी और फिर मेरे पास चली आवेगी—तुम्हारे पास न रहेगी ॥२१।२५॥

कर्ण ने कहा—युद्ध में गरजकर मुझपर आक्रमण करनेवाले एक ही शत्रु को मैं मारना चाहता हूं । जिससे मुझे अपने प्राणों का भय होगा उसी शत्रु पर मैं वह शक्ति चलाऊंगा ॥२६॥

इन्द्र ने कहा—तुम युद्ध में एक बली शत्रु को

कर्ण उवाच—एवमप्यस्तु भगवन्नेकवीरवधे मम ।
अमोघां देहि मे शक्तिं यथा हन्यां प्रतापिनम् ॥ २९ ॥
उत्कृत्य तु प्रदास्यामि कुंडले कवचं च ते ।
निकृत्तेषु तु गात्रेषु न मे बीभत्सता भवेत् ॥ ३० ॥
इन्द्र उवाच—न ते बीभत्सता कर्ण भविष्यति कथंचन ।
व्रणश्चैव न गात्रेषु यस्त्वं नाऽनृतमिच्छसि ॥ ३१ ॥
यादृशस्ते पितुर्वर्णस्तेजश्च वदतां वर ।
तादृशेनैव वर्णेन त्वं कर्ण भविता पुनः ॥ ३२ ॥
विद्यमानेषु शस्त्रेषु यद्यमोघामसंशये ।
प्रमत्तो मोक्ष्यसे चापि त्वय्येवैषा पतिष्यति ॥ ३३ ॥
कर्ण उवाच—संशयं परमं प्राप्य विमोक्ष्ये वासवीमिमाम् ।
यथा मामात्थ शक्र त्वं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ३४ ॥
वैशम्पायन उवाच—ततः शक्तिं प्रज्वलितां प्रतिगृह्य विशांपते ।
शस्त्रं गृहीत्वा निशितं सर्वगात्राण्यकृंतत ॥ ३५ ॥

अवश्य मारोगे; किन्तु जिसे तुम मारना चाहते हो उसकी रक्षा स्वयं नारायण कृष्ण कर रहे हैं। वही नारायण, जिन्हें वेदज्ञ लोग अचिन्त्य, अपराजित यज्ञवराह कहते हैं ॥२७।२८॥

कर्ण ने कहा—भगवान् कृष्ण अर्जुन की रक्षा किया करें। आप मुझे एक वीर शत्रु को मारने के लिए वह अमोघ शक्ति दीजिए। हे इन्द्र! मैं कवच और कुण्डल अपने शरीर से काटकर अभी आपको देता हूँ। किन्तु मुझे यह वर दीजिए कि शरीर में कवच और कुण्डल काटने के कारण मैं कुरूप न हो जाऊं। ॥२९।३०॥

इन्द्र ने कहा—तुम सत्य का पालन कर रहे हो उसी के प्रभाव से न तो तुम्हारा रूप भयानक ही होगा और न शरीर में घाव ही होगा। हे कर्ण! तुम्हारे पिता सूर्य का जैसा रङ्ग और तेज है वैसा ही रङ्ग और तेज फिर तुम्हें प्राप्त होगा। एक बात और कहे देता हूं। यदि तुम और शस्त्रों के रहते, प्राण-सङ्कट उपस्थित हुए बिना, असावधान होकर यह शक्ति चलाओगे तो इससे तुम्हारी मृत्यु हो जायगी। ॥३१।३३॥

कर्ण ने कहा—हे इन्द्र! मैं सत्य कहता हूं, आपकी आज्ञा के अनुसार प्राण-संकट उपस्थित होने पर ही मैं इस अमोघ शक्ति का प्रयोग करूंगा ॥३४॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! इसके पश्चात् इन्द्र से वह अग्नि के समान प्रज्वलित अमोघ शक्ति लेकर कर्ण पैनी तलवार से, अपने अङ्ग से, वह कवच काटकर अलग करने लगे। कर्ण को प्रसन्नता के साथ अपने अङ्ग से कवच काटते देखकर देवता,

ततो देवा मानवा दानवाश्च निकृंततं कर्णमात्मानमेवम् ।
दृष्ट्वा सर्वे सिंहनादान्प्रणेदुर्न ह्यस्यासीन्मुखजो वै विकारः ॥ ३६ ॥
ततो दिव्या दुंदुभयः प्रणेदुः पपातोच्चैः पुष्पवर्षं च दिव्यम् ।
दृष्ट्वा कर्णं शस्त्रसंकृत्तगात्रं मुहुश्चापि स्मयमानं नृवीरम् ॥ ३७ ॥
ततश्छित्त्वा कवचं दिव्यमंगात्तथैवाऽऽर्द्रं प्रददौ वासवाय ।
तथोत्कृत्य प्रददौ कुंडले ते कर्णास्तस्मात्कर्मणा तेन कर्णः ॥ ३८ ॥
ततः शक्रः प्रहसन्वंचयित्वा कर्णं लोके यशसा योजयित्वा ।
कृतं कार्यं पांडवानां हि मेने ततः पश्चाद्दिवमेवोत्पपात ॥ ३९ ॥
श्रुत्वा कर्णं मुषितं धार्तराष्ट्रा दीनाः सर्वे भग्नदर्पा इवाऽऽसन् ।
तां चाऽवस्थां गमितं सूतपुत्रं श्रुत्वा पार्था जहृषुः काननस्थाः ॥ ४० ॥

जनमेजय उवाच कस्था वीराः पांडवास्ते बभूवुः कुतश्चैते श्रुतवंतः प्रियं तत् ।
किं वाऽकार्षुर्द्वादशेऽब्दे व्यतीते तन्मे सर्वं भगवान् व्याकरोतु ॥ ४१ ॥

वैशम्पायन उवाच—लब्ध्वा कृष्णां सैंधवं द्रावयित्वा विप्रैः सार्धं काम्यकादाश्रमात्ते ।
मार्कण्डेयाच्छ्रुतवन्तः पुराणं देवर्षीणां चरितं विस्तरेण ॥ ४२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि कुंडलाहरणपर्वणि कवचकुंडलदाने दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥३१०॥
समाप्तं चेदं कुंडलाहरणपर्व ।

दानव और मनुष्य आदि सब आनन्दसूचक सिंहनाद करने लगे। तलवार से अपना सब अङ्ग काटने पर महावीर कर्ण के चेहरे पर शिकन तक नहीं पड़ी। यह देखकर देवता लोग स्वर्ग में नगाड़े बजाते हुए उनपर फूलों की वर्षा करने लगे। अब कर्ण ने अपने शरीर पर से वह दिव्य कवच और कुण्डल काट-कर इन्द्र को दे दिये। रक्त से भीगा हुआ वह कवच और कुण्डल मिल जाने से इन्द्र का मनोरथ पूर्ण हो गया। इस प्रकार शरीर से काटकर कवच और कुण्डल देने के कारण ही उनका नाम 'कर्ण' पड़ गया।३५।३८।

इन्द्र ने इस प्रकार कर्ण को छलकर और संसार में उनका यश फैलाकर हसते हुए मन में कहा कि पाण्डवों का कार्य सिद्ध हो गया। अब वे अपने लोक को चले गये। इसके पश्चात् इन्द्र के द्वारा कर्ण के छले जाने का हाल सुनकर दुर्योधन आदि धृतराष्ट्र के पुत्र बहुत ही व्यथित और दर्पहीन हो गये। इधर कर्ण की इस दशा का वृत्तान्त सुनकर वनवासी पाण्डवों को अपार हर्ष हुआ ।।३९।४०।।

राजा जनमेजय ने कहा—हे भगवन् ! जिस समय यह घटना हुई उस समय महाबली पाण्डव किस जगह पर थे ? यह प्रिय समाचार उन्हें किसने सुनाया ? बारह वर्ष व्यतीत हो जाने पर फिर उन्होंने क्या किया ? यह सब वृत्तान्त आप मुझसे कहिए।४१।

वैशम्पायन ने कहा—हे राजेन्द्र ! पुरुषश्रेष्ठ पाण्डव सिन्धुराज जयद्रथ को खदेड़कर जब द्रौपदी का उद्धार कर चुके, और महर्षि मार्कण्डेय के मुह

से देवताओं-ऋषियों आदि के विचित्र चरित्र विस्तार के साथ सुन चुके, तब बारह वर्ष का वनवास पूरा हो चुकने पर वे रथ, अनुचर, सारथी, आश्रित ब्राह्मण, रसोइये आदि को साथ लेकर काम्यक वन से फिर द्वैत वन में चले गये ॥४२॥

—०—

वनपर्व का तीन सौ दस अध्याय समाप्त हुआ ॥३१०॥

अथाऽऽरणेयपर्व ।

अथ एकादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥३११॥

जनमेजय उवाच—एवं हृतायां भार्यायां प्राप्य क्लेशमनुत्तमम् ।
प्रतिपद्य ततः कृष्णां किमकुर्वत पांडवाः ॥ १ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवं हृतायां कृष्णायां प्राप्य क्लेशमनुत्तमम् ।
विहाय काम्यकं राजा सह भ्रातृभिरच्युतः ॥ २ ॥
पुनर्द्वैतवनं रम्यमाजगाम युधिष्ठिरः ।
स्वादुमूलफलं रम्यं विचित्रबहुपादपम् ॥ ३ ॥
अनुभुक्तफलाहाराः सर्व एव मिताशनाः ।
न्यवसन्पांडवास्तत्र कृष्णया सह भार्यया ॥ ४ ॥
वसन्द्वैतवने राजा कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
भीमसेनोऽर्जुनश्चैव माद्रीपुत्रौ च पांडवौ ॥ ५ ॥
ब्राह्मणार्थे पराक्रांता धर्मात्मानो यतव्रताः ।
क्लेशमार्च्छन्त विपुलं सुखोदर्कं परंतपाः ॥ ६ ॥
तास्मिन्प्रतिवसंतस्ते यत्प्रापुः कुरुसत्तमाः ।
वने क्लेशं सुखोदर्कं तत्प्रवक्ष्यामि ते शृणु ॥ ७ ॥

तीन सौ ग्यारह अध्याय ॥३११॥

राजा जनमेजय ने पूछा—द्रौपदी के हरण का क्लेश पाने के पश्चात् उन्हें जयद्रथ के हाथ से छुड़ा चुकने पर फिर पाण्डवों ने क्या किया? ॥१॥

वैशम्पायन ने कहा—हे महाराज! हरी गई द्रौपदी को बड़े कष्ट से पाकर महाराज युधिष्ठिर ने काम्यक वन को छोड़ दिया; वे स्वादिष्ट फल-मूलों से भरे-पुरे, विचित्र वृक्षों से मनोहर द्वैत वन में जाकर रहने लगे। वहां वे नियम व्रत-धारी होकर, नियमित रूप से केवल फल-मूल आदि खाकर, द्रौपदी के साथ रहने लगे ॥२।४॥

धार्मिकश्रेष्ठ महाराज युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव ने द्वैत वन में रहते समय एक ब्राह्मण का कार्य करने में पराक्रम प्रकट करके अत्यन्त क्लेश उठाया था। इसका परिणाम अच्छा हुआ था।

अरणीसहितं मंथं ब्राह्मणस्य तपस्विनः ।
मृगस्य घर्षमाणस्य विषाणे समसज्जत ॥ ८ ॥
तदादाय गतो राजंस्त्वरमाणो महामृगः ।
आश्रमांतरितः शीघ्रं प्लवमानो महाजवः ॥ ९ ॥
ह्रियमाणं तु तं दृष्ट्वा स विप्रः कुरुसत्तम ।
त्वरितोऽभ्यागमत्तत्र अग्निहोत्रपरीप्सया ॥ १० ॥
अजातशत्रुमासीनं भ्रातृभिः सहितं वने ।
आगम्य ब्राह्मणस्तूर्णं संततश्चेदमब्रवीत् ॥ ११ ॥
अरणीसहितं मंथं समासक्तं वनस्पतौ ।
मृगस्य घर्षमाणस्य विषाणे समसज्जत ॥ १२ ॥
तमादाय गतो राजंस्त्वरमाणो महामृगः ।
आश्रमात्त्वरितः शीघ्रं प्लवमानो महाजवः ॥ १३ ॥
तस्य गत्वा पदं राजन्नासाद्य च महामृगम् ।
अग्निहोत्रं न लुप्येत तदानयत पांडवाः ॥ १४ ॥
ब्राह्मणस्य वचः श्रुत्वा संततोऽथ युधिष्ठिरः ।
धनुरादाय कौंतेयः प्राद्रवद् भ्रातृभिः सह ॥ १५ ॥

अब मैं वही वृत्तान्त कहता हूं, सुनो ॥५।७॥

एक समय उस वन में रहनेवाले एक ब्राह्मण की अरणी सहित मथने की लकड़ी (अर्थात् वे दोनों लकड़ियां, जिन्हें रगड़कर अग्नि उत्पन्न की जाती थी) एक मृग के सींगों में फस गई । हे राजा जनमेजय! वह मृग उस लकड़ी को लिये हुए बड़े वेग से भागा! ब्राह्मण ने जब देखा कि इस तरह मृग उसकी अरणी और मथानी को लिये भागा जा रहा है, तब वह अग्निहोत्र में विघ्न पड़ने के भय से व्याकुल होकर शीघ्रता से महाराज युधिष्ठिर के पास पहुँचा । हे महाराज! अजातशत्रु युधिष्ठिर उस समय भाइयों के साथ वन में बैठे हुए थे । इसी समय शोक से व्याकुल उस ब्राह्मण ने उनके पास जाकर कहा—हे धर्मराज! मेरी अरणी और मथानी वृक्ष में लटकी हुई थी ॥८।११॥

एक मृग आकर उस पेड़ में सींग रगड़ने लगा। दैव-योग से अरणी और मथानी उसके सींगों में फँस गई । वह तेज भागनेवाला मृग मेरे आश्रम से उछलता-कूदता, छलागें मारता, बहुत दूर चला गया है । आप लोग उस मृग के पावों के चिह्न देखते हुए जाकर मेरी अरणी और मथानी ला दीजिए, जिसमें अग्नि के अभाव के कारण मेरे अग्निहोत्र में विघ्न न पड़े ।१२।१४।

यह सुनकर महाराज युधिष्ठिर दुखित हुए। उनको ब्राह्मण पर दया आ गई । तब उन्होंने धनुष उठाकर, भाइयों को साथ ले, उस मृग का पीछा

सन्नद्धा धन्विनः सर्वे प्राद्रवन्नरपुंगवाः ।
ब्राह्मणार्थे यतंतस्ते शीघ्रमन्वगमन्मृगम् ॥ १६ ॥
कर्णिनालीकनाराचानुत्सृजंतो महारथाः ।
नाऽविध्यन्पांडवास्तत्र पश्यंतो मृगमंतिकात् ॥ १७ ॥
तेषां प्रयतमानानां नाऽदृश्यत महामृगः ।
अपश्यंतो मृगं श्रांता दुःखं प्राप्ता मनस्विनः ॥ १८ ॥
शीतलच्छायमागम्य न्यग्रोधं गहने वने ।
क्षुत्पिपासापरीतांगाः पांडवाः समुपाविशन् ॥ १९ ॥
तेषां समुपविष्टानां नकुलो दुःखितस्तदा ।
अब्रवीद् भ्रातरं श्रेष्ठममर्षात्कुरुनंदनम् ॥ २० ॥
नाऽस्मिन्कुले जातु ममज्ज धर्मो न चाऽऽलस्यादर्थलोपो बभूव ।
अनुत्तराः सर्वभूतेषु भूयः संप्राप्ताः स्मः संशयं किन्नु राजन् ॥ २१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि पर्वण्यारणेयपर्वणि मृगान्वेषणे एकादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥३११॥

किया। थोड़ी दूर पर वह मृग देख पड़ा। वे उसके ऊपर कर्णिक, नालीक और नाराच आदि अनेक बाण चलाने लगे; किन्तु किसी तरह उस मृगको मार न सके। मृग के शिकार के लिए पाण्डवोंने बहुत यत्न किया, पर वह बचकर निकल गया और धीरे-धीरे अदृश्य हो गया। वीर पाण्डव लोग धीरे-धीरे, उसका पीछा करते-करते थकन, भूख और प्यास से व्याकुल हो गये। तब वे उस घने जङ्गल के बीच ठण्डी छांहवाले एक बड़े भारी बरगद के पेड़ के नीचे बैठ गये। अब नकुल अत्यन्त दुःख के मारे, अपनी दुर्दशा को न सह सकने के कारण, कुरुराज युधिष्ठिर से कहने लगे—हे राजेन्द्र! हमारे कुल में कभी आलस्य के कारण धर्म और अर्थ का नाश नहीं हुआ, [सदा धर्म के पालन और अर्थ की सिद्धि पर सब की दृष्टि रही है।] हमने कभी प्रार्थी को विमुख नहीं किया। फिर क्या कारण है कि हम लोग ऐसे प्राणनाशक क्लेश सह रहे हैं? ॥१५।२१॥

—०—

वनपर्व का तीन सौ ग्यारह अध्याय समाप्त हुआ ॥३११॥

अथ द्वादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥३१२॥

युधिष्ठिर उवाच—नाऽऽपदामस्ति मर्यादा न निमित्तं न कारणम् ।
धर्मस्तु विभजत्यर्थमुभयोः पुण्यपापयोः ॥ १ ॥

तीन सौ बारह अध्याय ॥३१२॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे भाई! आपत्तियों की न तो कोई सीमा है, न निमित्त-फल है और न कोई कारण है। केवल प्रारब्ध ही सुख और दुःख देता है ॥१॥

भीमसेन ने कहा—जब प्रातिकामी [या दुःशासन]

भीम उवाच—प्रातिकाम्यनयत्कृष्णां सभायां प्रेष्यवत्तदा ।
न मया निहतस्तत्र तेन प्राप्ताः स्म संशयम् ॥ २ ॥
अर्जुन उवाच—वाचस्तीक्ष्णास्थिभेदिन्यः सूतपुत्रेण भाषिताः ।
अतितीव्रा मया क्षांतास्तेन प्राप्ताः स्म संशयम् ॥ ३ ॥
सहदेव उवाच—शकुनिस्त्वां यदाऽजैषीदक्षद्यूतेन भारत ।
स मया न हतस्तत्र तेन प्राप्ताः स्म संशयम् ॥ ४ ॥
वैशम्पायन उवाच—ततो युधिष्ठिरो राजा नकुलं वाक्यमब्रवीत् ।
आरुह्य वृक्षं माद्रेय निरीक्षस्व दिशो दश ॥ ५ ॥
पानीयमंतिके पश्य वृक्षांश्चाऽप्युदकाश्रितान् ।
एते हि भ्रातरः श्रांतास्तव तात पिपासिताः ॥ ६ ॥
नकुलस्तु तथेत्युक्त्वा शीघ्रमारुह्य पादपम् ।
अब्रवीद् भ्रातरं ज्येष्ठमभिवीक्ष्य समंततः ॥ ७ ॥
पश्यामि बहुलान्राजन्वृक्षानुदकसंश्रयान् ।
सारसानां च निर्ह्रादमत्रोदकमसंशयम् ॥ ८ ॥
ततोऽब्रवीत्सत्यधृतिः कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
गच्छ सौम्य ततः शीघ्रं तूर्णेः पानीयमानय ॥ ९ ॥
नकुलस्तु तथेत्युक्त्वा भ्रातुर्ज्येष्ठस्य शासनात् ।
प्राद्रवद्यत्र पानीयं शीघ्रं चैवाऽन्वपद्यत ॥ १० ॥

द्रौपदी को सभा में दासी की तरह ले आया था तब मैंने उसे मार नहीं डाला, इसी से मैं ऐसे कष्ट सह रहा हूं ॥२॥

अर्जुन ने कहा—सूतपुत्र कर्ण के कठोर मर्म-भेदी वचन सुनकर भी मैं कुछ नहीं बोला, इसी से मुझे ऐसे कष्ट सहने पड़े ॥३॥

सहदेव ने कहा—हे भरतश्रेष्ठ ! जब दुष्ट शकुनि ने कपट के जुए में आपको हराया था, तब उसे न मार डालने का फल यह मैं भोग रहा हूं ॥४॥

अब राजा युधिष्ठिर ने कहा—हे नकुल ! तुम्हारे भाई बहुत थके और प्यासे हैं । इसलिए तुम इस पेड़ पर चढ़कर चारों ओर देखो, कहीं जल या जल के पास रहनेवाले पेड़ देख पड़ते हैं या नहीं ॥५।६॥

महावीर नकुल, बड़े भाई की आज्ञा से, पेड़पर चढ़कर चारों ओर देखकर कहने लगे—हे महाराज ! एक स्थान पर जल के पास रहनेवाले हरे-भरे पेड़ मुझे देख पड़ते है और सारस पक्षी बोल रहे हैं ' इसलिए वहा पर अवश्य कोई जलाशय होगा । तब सत्यव्रत राजा युधिष्ठिर ने कहा—तो फिर तुम्हीं शीघ्रता से वहा पर जाकर इन तरकसों में जल भर

स दृष्ट्वा विमलं तोयं सारसैः परिवारितम् ।
पातुकामस्ततो वाचमंतरिक्षात्स शुश्रुवे ॥ ११ ॥
यक्ष उवाच—मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वा तु माद्रेय ततः पिब हरस्व च ॥ १२ ॥
अनादृत्य तु तद्वाक्यं नकुलः सुपिपासितः ।
अपिबच्छीतलं तोयं पीत्वा च निपपात ह ॥ १३ ॥
चिरायमाणे नकुले कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
अब्रवीद्भ्रातरं वीरं सहदेवमरिंदमम् ॥ १४ ॥
भ्राता हि चिरयातो नः सहदेव तवाऽग्रजः ।
तथैवाऽऽनय सोदर्यं पानीयं च त्वमानय ॥ १५ ॥
सहदेवस्तथेत्युक्त्वा तां दिशं प्रत्यपद्यत ।
ददर्श च हतं भूमौ भ्रातरं नकुलं तदा ॥ १६ ॥
भ्रातृशोकाभिसंतप्तस्तृषया च प्रपीडितः ।
अभिदुद्राव पानीयं ततो वागभ्यभाषत ॥ १७ ॥
मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वा यथाकामं पिबस्व च हरस्व च ॥ १८ ॥

अनादृत्य तु तद्वाक्यं सहदेवः पिपासितः ।
अपिबच्छीतलं तोयं पीत्वा च निपपात ह ॥ १९ ॥
अथाऽब्रवीत्स विजयं कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
भ्रातरौ ते परिगतौ बीभत्सो शत्रुकर्शन ॥ २० ॥
तौ चैवाऽऽनय भद्रं ते पानीयं च त्वमानय ।
त्वं हि नस्तात सर्वेषां दुःखितानामपाश्रयः ॥ २१ ॥
एवमुक्तो गुडाकेशः प्रगृह्य सशरं धनुः ।
आमुक्तखड्गो मेधावी तत्सरः प्रत्यपद्यत ॥ २२ ॥
ततः पुरुषशार्दूलौ पानीयहरणे गतौ ।
तौ ददर्श हतौ तत्र भ्रातरौ श्वेतवाहनः ॥ २३ ॥
प्रसुप्ताविव तौ दृष्ट्वा नरसिंहः सुदुःखितः ।
धनुरुद्यम्य कौंतेयो व्यलोकयत तद्वनम् ॥ २४ ॥
नाऽपश्यत्तत्र किंचित्स भूतमस्मिन्महावने ।
सव्यसाची ततः श्रांतः पानीयं सोऽभ्यधावत ॥ २५ ॥
अभिधावंस्ततो वाक्यमंतरिक्षात्स शुश्रुवे ।
किमासीदसि पानीयं नैतच्छक्यं बलात्त्वया ॥ २६ ॥
कौंतेय यदि प्रश्नांस्तान्मयोक्तान्प्रतिपत्स्यसे ।
ततः पास्यसि पानीयं हरिष्यसि च भारत ॥ २७ ॥

बातों की कुछ परवा न करके ज्योंही जल पिया त्योंही वे मरकर पृथ्वी पर गिर पड़े ॥१४।१९॥

अब युधिष्ठिर ने अर्जुन से कहा—हे अर्जुन! तुम्हारे भाइयों को गये बहुत देर हुई। तुम जाकर उनका पता लगाओ, और शीघ्र जल लाओ। तुम्हारा भला हो। तुम सदा दुःख और सन्ताप के समय भाइयों की सहायता करते रहते हो ॥२०।२१॥

बुद्धिमान् अर्जुन भी धनुष, बाण और धारदार तलवार बांधे हुए उस सरोवर के किनारे गये। वहां जाकर देखा कि दोनों भाई, जो जल लेने आये थे, वहां मरे पड़े हैं ॥२२।२३॥

उनकी वह दशा देखकर अर्जुन को बड़ा दुःख हुआ। वे धनुष पर बाण चढ़ाकर चारों ओर ताकने लगे; किन्तु उन्हें कोई प्राणी कहीं न देख पड़ा। तब थके हुए अर्जुन ज्योंही जल पीने को उस सरोवर में उतरे त्योंही आकाश से फिर यक्ष की यह वाणी सुन पड़ी—हे अर्जुन! तुम क्यों जल पीने जा रहे हो? तुम बलपूर्वक जल नहीं पी सकते। जो मेरे प्रश्नों का उत्तर ठीक-ठीक दे सको तो जल पियो और ले जाओ ॥२४।२७॥

वारितस्त्वब्रवीत्पार्थो दृश्यमानो निवारय ।
यावद्बाणैर्विनिर्भिन्नः पुनर्नैवं वदिष्यसि ॥ २८ ॥
एवमुक्त्वा ततः पार्थः शरैरस्त्रानुमंत्रितैः ।
प्रववर्ष दिशः कृत्स्नाः शब्दवेधं च दर्शयन् ॥ २९ ॥
कर्णिनालीकनाराचानुत्सृजन्भरतर्षभ ।
स त्वमोघानिषून्मुक्त्वा तृष्णयाऽभिप्रपीडितः॥ ३० ॥
अनेकैरिषुसंघातैरंतरिक्षे ववर्ष ह ।
यक्ष उवाच—किं विघातेन ते पार्थ प्रश्नानुक्त्वा ततः पिब ॥ ३१ ॥
अनुक्त्वा च पिबन्प्रश्नान्पीत्वैव न भविष्यसि ।
एवमुक्तस्ततः पार्थः सव्यसाची धनंजयः ॥ ३२ ॥
अवज्ञायैव तां वाचं पीत्वैव निपपात ह ।
अथाऽब्रवीद्भीमसेनं कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ३३ ॥
नकुलः सहदेवश्च बीभत्सुश्च परंतप ।
चिरंगतास्तोयहेतोर्न चाऽऽगच्छंति भारत ॥ ३४ ॥
तांश्चैवाऽऽनय भद्रं ते पानीयं च त्वमानय ।
भीमसेनस्तथेत्युक्त्वा तं देशं प्रत्यपद्यत ॥ ३५ ॥
यत्र ते पुरुषव्याघ्रा भ्रातरोऽस्य निपातिताः ।

यों रोके जाने पर अर्जुन ने कहा—तुम छिपकर मना कर रहे हो, यदि सामने आकर मना करते तो मैं अपने बाणों से तुम्हारे टुकड़े-टुकड़े कर डालता। फिर तुम मुझे मना न कर सकते। अब प्यासे अर्जुन ने कर्णिक, नालीक, नाराच आदि अनेक बाणों से शब्दवेध विद्या का परिचय देते हुए दसों दिशाओं को भर दिया ॥२८।३०॥

यक्ष ने कहा—वृथा बाणवर्षा करने से कुछ फल न होगा। मेरे प्रश्नों का उत्तर देकर जल पियो। जो बलपूर्वक पी लोगे तो मर जाओगे। अर्जुन ने यक्ष का कहा न मानकर ज्योंही जल पिया त्योंही मरकर गिर पड़े ॥३१।३२॥

तब महाराज युधिष्ठिर ने भीमसेन से कहा—हे भाई! नकुल, सहदेव और अर्जुन जल लेने गये थे सो अभी तक नहीं लौटे। जो जाता है, लौटकर नहीं आता। अब तुम जाकर भाइयों को खोज लाओ और जल भी लेते आओ। आज्ञा मानकर भीमसेन चले और जहा उनके भाई मरे पड़े थे वहा पहुँचे। भाइयों की दशा देखकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ। वे भी प्यास से व्याकुल हो रहे थे। उन्होंने सोचा, किसी यक्ष या राक्षस का यह कार्य है। उन्होंने यह भी समझ लिया कि आज युद्ध अवश्य करना होगा।

तान्दृष्ट्वा दुःखितो भीमस्तृषया च प्रपीडितः ॥ ३६ ॥
अमन्यत महाबाहुः कर्म तद्यक्षरक्षसाम् ।
स चिंतयामास तदा योद्धव्यं ध्रुवमद्य वै ॥ ३७ ॥
पास्यामि तावत्पानीयमिति पार्थो वृकोदरः ।
ततोऽभ्यधावत्पानीयं पिपासुः पुरुषर्षभः ॥ ३८ ॥
यक्ष उवाच—मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वा तु कौंतेय ततः पिब हरस्व च ॥ ३९ ॥
एवमुक्तस्तदा भीमो यक्षेणाऽमिततेजसा ।
अनुक्त्वैव तु तान्प्रश्नान्पीत्वैव निपपात ह ॥ ४० ॥
ततः कुंतीसुतो राजा प्रचिंत्य पुरुषर्षभः ।
समुत्थाय महाबाहुर्दह्यमानेन चेतसा ॥ ४१ ॥
व्यपेतजननिर्घोषं प्रविवेश महावनम् ।
रुरुभिश्च वराहैश्च पक्षिभिश्च निषेवितम् ॥ ४२ ॥
नीलभास्वरवर्णैश्च पादपैरुपशोभितम् ।
भ्रमरैरुपगीतं च पक्षिभिश्च महायशाः ॥ ४३ ॥
स गच्छन्कानने तस्मिन्हेमजालपरिष्कृतम् ।
ददर्श तत्सरः श्रीमान्विश्वकर्मकृतं यथा ॥ ४४ ॥
उपेतं नलिनीजालैः सिन्धुवारैः सवेतसैः ।
केतकैः करवीरैश्च पिप्पलैश्चैव संवृतम् ॥
श्रमार्तस्तदुपागम्य सरो दृष्ट्वाऽथ विस्मितः ॥ ४५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि पर्वण्यारणेयपर्वणि नकुलादिपतने द्वादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥३१२॥

इसलिए जल पी लेना अच्छा समझकर वे ज्योंही जल पीने चले त्योंही यक्ष ने कहा—हे भीमसेन ! तुम जल पीने का साहस न करना । इस पर मेरा पहले से ही अधिकार है । पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दो, फिर जल पियो । वैशम्पायन कहते हैं—हे राजा जनमेजय ! पराक्रमी भीमसेन ने भी यक्ष की बात पर ध्यान नहीं दिया । उसके प्रश्नों का उत्तर दिये बिना जल पीकर वे पृथ्वी पर गिर पड़े ॥३३।४०॥

चारों भाई जब वहीं पर रह गये तब युधिष्ठिर को बड़ी चिन्ता हुई । अब वे भी उस निर्जन, रुरु-मृग-वराह और पक्षियों से सेवित, विचित्र वृक्षों से मनोहर, भ्रमरों के शब्द से रमणीय महावन में घुसे ।

वन के भीतर उन्होंने एक सरोवर देखा। उसके चारों ओर सिन्धुवार, वेतस, केतकी, कनेर, पीपल आदि के बड़े और घने पेड़ लगे थे। उन्हें ऐसा जान पड़ा कि मानों विश्वकर्मा ने उस सरोवर का दृश्य बनाया है। बहुत थके हुए होने पर भी युधिष्ठिर किनारे पर पहुँच गये परन्तु वहां भाइयों की दशा देखकर उनके होश उड़ गये ॥११।१५॥

—०—

वनपर्व का तीन सौ बारह अध्याय समाप्त हुआ ॥३१२॥

अथ त्रयोदशाधिकत्रिशततमोऽध्याय ॥३१३॥

वैशम्पायन उवाच—स ददर्श हतान्भ्रातॄँल्लोकपालानिव च्युतान् ।
युगांते समनुप्राप्ते शक्रप्रतिमगौरवान् ॥ १ ॥
विनिकीर्णधनुर्बाणं दृष्ट्वा निहतमर्जुनम् ।
भीमसेनं यमौ चैव निर्विचेष्टान्गतायुषः ॥ २ ॥
स दीर्घमुष्णं निःश्वस्य शोकबाष्पपरिप्लुतः ।
तान्दृष्ट्वा पतितान्भ्रातॄन्सर्वांश्चिंतासमन्वितः ॥ ३ ॥
धर्मपुत्रो महाबाहुर्विललाप सुविस्तरम् ।
ननु त्वया महाबाहो प्रतिज्ञातं वृकोदर ॥ ४ ॥
सुयोधनस्य भेत्स्यामि गदया सक्थिनी रणे ।
व्यर्थं तदद्य मे सर्वं त्वयि वीरे निपातिते ॥ ५ ॥
महात्मनि महाबाहो कुरूणां कीर्तिवर्धने ।
मनुष्यसंभवा वाचो विधर्मिण्यः प्रतिश्रुताः ॥ ६ ॥
भवतां दिव्यवाचस्तु ता भवंतु कथं मृषा ।
देवाश्चापि यदाऽब्रोचन्सूतके त्वां धनंजय ॥ ७ ॥

तीन सौ तेरह अध्याय ॥३१३॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! धर्मराज युधिष्ठिर ने सरोवर के किनारे पहुँचकर देखा कि उनके इन्द्रतुल्य भाई, प्रलयकाल में अपने लोकों से गिरे लोकपालों की तरह, पृथ्वी पर मरे पड़े हैं। अर्जुन का धनुष और बाण सब इधर-उधर पड़े थे। भीमसेन, नकुल और सहदेव की भी यही दशा थी। वे धरती पर निर्जीव पड़े थे। यह देखकर युधिष्ठिर चिन्ता से व्याकुल हो गये। वे आंखों से आंसू बहाते और लम्बी सांसें लेते हुए यों विलाप करने लगे—।१।४।

हे महाबाहु भीमसेन ! तुमने युद्ध में गदा की चोट से दुर्योधन की जांघें तोड़ने की प्रतिज्ञा की थी। कुरुकुल की कीर्ति बढ़ानेवाले वीर और महात्मा तुम मरे पड़े हो। अब उस प्रतिज्ञा को कौन पूरा करेगा ? मनुष्यों की बातें प्रायः असत्य हो जाती हैं

सहस्राक्षादनवरः कुंति पुत्रस्तवेति वै ।
उत्तरे पारियात्रे च जगुर्भूतानि सर्वशः ॥ ८ ॥
विप्रनष्टां श्रियं चैषामाहर्ता पुनरंजसा ।
नाऽस्य जेता रणे कश्चिदजेता नैष कस्यचित् ॥ ९ ॥
सोऽयं मृत्युवशं यातः कथं जिष्णुर्महाबलः ।
अयं ममाऽऽशां संहत्य शेते भूमौ धनजयः ॥ १० ॥
आश्रित्य यं वयं नाथं दुःखान्येतानि सेहिम ।
रणे प्रमत्तौ वीरौ च सदा शत्रुनिबर्हणौ ॥ ११ ॥
कथं रिपुवशं यातौ कुन्तीपुत्रौ महाबलौ ।
यौ सर्वास्त्राप्रतिहतौ भीमसेनधनंजयौ ॥ १२ ॥
अश्मसारमयं नूनं हृदयं मम दुर्हृदः ।
यमौ यदेतौ दृष्ट्वाऽद्य पतितौ नाऽवदीर्यते ॥ १३ ॥
शास्त्रज्ञा देशकालज्ञास्तपोयुक्ताः क्रियान्विताः ।
अकृत्वा सदृशं कर्म किं शेध्व पुरुषर्षभाः ॥ १४ ॥
अविक्षतशरीराश्चाऽप्यप्रमृष्टशरासनाः ।
असंज्ञा भुवि संगम्य किं शेध्वमपराजिताः ॥ १५ ॥

परन्तु तुम लोगों की प्रतिज्ञाएँ कैसे असत्य हो गई? हाय! अर्जुन, तुम्हारा जब जन्म हुआ था तब देवताओं ने माता से कहा था कि हे कुन्ती! तुम्हारा यह पुत्र इन्द्र से किसी बात में कम न होगा। हे भाई! तुम्हारे जन्म के समय उत्तर-पारियात्र पर्वत के निवासियों ने कहा था कि यह बालक खोई हुई राजलक्ष्मी को अपने पराक्रम से प्राप्त करेगा। युद्ध में कोई इसे नहीं जीत सकेगा, यह सबको जीत लेगा। हाय, आज वही महाबली अर्जुन कैसे मृत्यु के वश हो गये! ये अर्जुन आज मेरी आशाओं को मिट्टी में मिलाकर पृथ्वी पर पड़े हुए हैं ॥५।१०॥

हम सब भाइयों ने इन्हीं के भरोसे इतने दुःख सहे हैं। जो महाबली वीर सदा शत्रुओं का नाश करते थे, वे भीमसेन और अर्जुन आज कैसे शत्रु के वश होकर मर गये! इन्हें तो कोई भी अस्त्र नहीं मार सकता था। दोनों भाइयों—नकुल और सहदेव—को इस तरह पृथ्वी पर पड़े देखकर भी मुझ अभागे का हृदय फट नहीं जाता, इससे जान पड़ता है कि वह पत्थर का बना हुआ है। हे भाइयो! तुम सब पुरुषश्रेष्ठ शास्त्रज्ञ, देश और काल की जानकारी रखनेवाले, तपस्वी और अच्छे कर्म करनेवाले होकर भी कैसे अपने योग्य कर्म किये बिना ही इस तरह पृथ्वी पर पड़े सो रहे हो? तुम्हारे शरीर में कोई घाव भी नहीं देख पड़ता, तुमने धनुष में हाथ भी नहीं लगाया,

सानूनिवाद्रेः संसुप्तान्दृष्ट्वा भ्रातॄन्महामतिः ।
सुखं प्रसुप्तान्प्रस्विन्नः खिन्नः कष्टां दशां गतः ॥ १६ ॥
एवमेवेदमित्युक्त्वा धर्मात्मा स नरेश्वरः ।
शोकसागरमध्यस्थो दध्यौ कारणमाकुलः ॥ १७ ॥
इतिकर्तव्यतां चेति देशकालविभागवित् ।
नाऽभिपेदे महाबाहुर्श्चिंतयानो महामतिः ॥ १८ ॥
अथ संस्तभ्य धर्मात्मा तदाऽऽत्मानं तपःसुतः ।
एवं विलप्य बहुधा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १९ ॥
बुद्ध्या विचिंतयामास वीराः केन निपातिताः ॥ २० ॥
नैषां शस्त्रप्रहारोऽस्ति पदं नेहाऽस्ति कस्यचित् ।
भूतं महदिदं मन्ये भ्रातरो येन मे हताः ॥ २१ ॥
एकाग्रं चिंतयिष्यामि पीत्वा वेत्स्यामि वा जलम् ।
स्यात्तु दुर्योधनेनेदमुपांशु विहितं कृतम् ॥ २२ ॥
गांधारराजरचितं सततं जिह्मबुद्धिना ।
यस्य कार्यमकार्यं वा सममेव भवत्युत ॥ २३ ॥
कस्तस्य विश्वसेद्वीरो दुष्कृतेरकृतात्मनः ।
अथवा पुरुषैर्गूढैः प्रयोगोऽयं दुरात्मनः ॥ २४ ॥

फिर तुम किसी से न हारनेवाले होकर पृथ्वी पर इस तरह सज्ञाहीन होकर क्यों पड़े हो ॥११।१५॥

फटकर गिरे हुए पर्वतशिखरों के समान अपने भाइयों को इस प्रकार सुख की नींद सोते देखकर महाबुद्धिमान् युधिष्ठिर बहुत ही दुःखित और शोक से व्याकुल हुए। उनके शरीर से पसीना बह चला। अब धर्मात्मा मन में भाइयों की मृत्यु के कारण को सोचने लगे। पर वे देश-कालज्ञ होने पर भी कुछ कर्तव्य का निश्चय न कर सके। फिर अपने चित्त को कुछ शान्त और स्थिर करके धर्मात्मा युधिष्ठिर सोचने लगे कि इन वीरों को किसने मारा ॥१६।२०॥

इनके शरीर पर न कोई शस्त्र के प्रहार का चिह्न है और न यहां पर किसी के पावों का कोई चिह्न ही देख पड़ता है। जान पड़ता है कि किसी अलौकिक महाप्राणी ने इनका वध किया है। एकाग्र होकर मुझे इस पर विचार करना चाहिए। अथवा इस जल में ही ऐसी कोई बात हो, इसलिए मैं भी जल पियूं तो सब हाल मालूम हो जाय। जान पड़ता है कि दुष्टबुद्धि दुर्योधन ने गान्धारराज कपटी शकुनि की सहायता से मारण विधि के द्वारा यह सरोवर बनवाया है। वह दुष्कर्मा कार्य या अकार्य का कुछ विचार नहीं रखता। ऐसा कोई कुकर्म नहीं है, जिसे वह न कर सकता

भवेदिति महाबुद्धिर्बहुधा तदचिंतयत् ।
नस्याऽऽसीन्न विषेणेदमुदकं दूषितं यथा ॥ २५ ॥
मृतानामपि चैतेषां विकृतं नैव जायते ।
मुखवर्णाः प्रसन्ना मे भ्रातृणामित्यचिंतयत् ॥ २६ ॥
एकैकशश्चौघबलानिमान्पुरुषसत्तमान् ।
कोऽन्यः प्रति समासेत कालांतकयमादृते ॥ २७ ॥
एतेन व्यवसायेन तत्तोयं व्यवगाढवान् ।
गाहमानश्च तत्तोयमंतरिक्षात्स शुश्रुवे ॥ २८ ॥

यक्ष उवाच—अहं बकः शैवलमत्स्यभक्षो नीता मया प्रेतवशं तवाऽनुजाः।
त्वं पंचमो भविता राजपुत्र न चेत्प्रश्नान्पृच्छतो व्याकरोषि॥ २९ ॥
मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वा तु कौंतेय ततः पिब हरस्व च ॥ ३० ॥

युधिष्ठिर उवाच—रुद्राणां वा वसूनां वा मरुतां वा प्रधानभाक् ।
पृच्छामि को भवान्देवो नैतच्छकुनिना कृतम् ॥ ३१ ॥
हिमवान्पारियात्रश्च विंध्यो मलय एव च ।
चत्वारः पर्वताः केन पातिता भूरितेजसः ॥ ३२ ॥

हो । उस पर कौन विश्वास करेगा ? अथवा उसने अपने छिपे हुए मनुष्यों के द्वारा इस सरोवर के जल में विष मिलवा दिया होगा । परन्तु इस जल में यदि विष मिला होता और उससे इनकी मृत्यु हुई होती तो इनके शरीर में कुछ विकार अवश्य देख पड़ता । मरने पर भी इनके चेहरे वैसे ही प्रसन्न देख पड़ते है । विष से मृत्यु होती तो स्याही दौड़ जाती । इस से जान पड़ता है कि यम के सिवा और किसी का यह कार्य नहीं है । इन महाबली पाण्डवों से और कोई युद्ध नहीं कर सकता । इस प्रकार निश्चय करके युधिष्ठिर भी उस सरोवर में उतरे । जैसे ही उन्होंने जल पीना चाहा वैसे ही आकाश से यक्ष के ये वचन सुन पड़े—हे राजपुत्र ! मैं सेवार और मछली खाने-वाला बगला हूँ । मैंने ही तुम्हारे भाइयों की जान ली है । यदि मेरे प्रश्नों का उत्तर दिये बिना जल पियोगे तो इन चारों की तरह पांचवें तुम भी मर जाओगे इसलिए हे कुन्तीपुत्र ! साहस न करना । मैं पहले ही इस जल पर अधिकार कर चुका हूँ । मेरे प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर दे लो, फिर जल पियो ॥२१।३०॥

युधिष्ठिर ने कहा—यह काम पक्षी कभी नहीं कर सकता । सत्य-सत्य बताओ, तुम रुद्र, वसु, मरुद्गण आदि देवताओं में से कौन प्रधान देवता हो ? हिमालय पारियात्र, विन्ध्याचल और मलयाचल के समान इन पराक्रमी और तेजस्वी पुरुषों को किसने गिरा दिया

अतीव ते महत्कर्म कृतं च बलिनां वर ।
यान्न देवा न गंधर्वा नाऽसुराश्च न राक्षसाः ॥ ३३ ॥
विषहेरन्महायुद्धे कृतं ते तन्महाद्भुतम् ।
न ते जानामि यत्कार्यं नाभिजानामि कांक्षितम् ॥ ३४ ॥
कौतूहलं महज्जातं साध्वसं चाऽऽगतं मम ।
येनाऽस्म्युद्विग्नहृदयः समुत्पन्नशिरोज्वरः ॥ ३५ ॥
पृच्छामि भगवंस्तस्मात्को भवानिह तिष्ठति ।
यक्ष उवाच—यक्षोऽहमस्मि भद्रं ते नाऽस्मि पक्षी जलेचरः ॥ ३६ ॥
मयैते निहताः सर्वे भ्रातरस्ते महौजसः ।
वैशम्पायन उवाच—ततस्तामशिवां श्रुत्वा वाचं स परुषाक्षराम् ॥ ३७ ॥
यक्षस्य ब्रुवतो राजन्नुपक्रम्य तदा स्थितः ।
विरूपाक्षं महाकायं यक्षं तालसमुच्छ्रयम् ॥ ३८ ॥
ज्वलनार्कप्रतीकाशमधृष्यं पर्वतोपमम् ।
वृक्षमाश्रित्य तिष्ठंतं ददर्श भरतर्षभः ॥ ३९ ॥
मेघगंभीरनादेन तर्जयंतं महास्वनम् ।
यक्ष उवाच—इमे ते भ्रातरो राजन्वार्यमाणा मयाऽसकृत् ॥ ४० ॥

है ! जो तुम्हारी यह लीला है तो तुमने बड़ा दुष्कर कार्य किया और तुम सब बली प्राणियों से बढ़कर हो। देवता, गन्धर्व, असुर, राक्षस आदि कोई भी युद्ध में जिनका सामना नहीं कर सके उन्हें यों गिराकर तुमने बड़ा अद्भुत कार्य किया। मुझे नहीं मालूम कि तुम क्या करना चाहते हो और तुम्हारा अभिप्राय क्या है। उसे जानने के लिए मुझे बड़ा कौतूहल हो रहा है। भाइयों की मृत्यु से मैं बहुत ही भयभीत और व्याकुल हुआ-हुआ हूँ। मेरे सिर में दर्द हो गया है। हे भगवन्! मैं तुमसे पूछता हूँ, बताओ, तुम कौन यहां पर रहते हो? ॥३१।३५॥

यक्ष ने कहा—तुम्हारा भला हो। मैं यक्ष हूँ; जलचर पक्षी बगला नहीं हूँ। मना करने पर भी नहीं माने तब मैंने ही तुम्हारे इन भाइयों की जान ले ली है। ३६।३७॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! यक्ष के अशुभ कठोर वचन सुनकर युधिष्ठिर तनिक भी नहीं डरे। इसी बीच में उन्हें वह पर्वताकार, ताड़ के पेड़ के समान ऊँचा, विरूप नेत्रों से भयङ्कर, सूर्य और अग्नि के समान तेजस्वी, दुर्द्धर्ष यक्ष एक वृक्ष के ऊपर देख पड़ा। वह यक्ष मेघ के समान गरजकर गम्भीर स्वर में कहने लगा—हे राजेन्द्र! मेरे बार-बार मना करने पर भी तुम्हारे भाइयों ने बलपूर्वक जल लेना चाहा था, इसी से मैंने इनकी यह दशा

बलात्तोयं जिहीर्षन्तस्ततो वै मृदिता मया ।
न पेयमुदकं राजन्प्राणानिह परीप्सता ॥ ४१ ॥
पार्थ मा साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वा तु कौंतेय ततः पिब हरस्व च ॥ ४२ ॥
युधिष्ठिर उवाच—न चाऽहं कामये यक्ष तव पूर्वपरिग्रहम् ।
कामं नैतत्प्रशंसंति संतो हि पुरुषाः सदा ॥ ४३ ॥
यदात्मना स्वमात्मानं प्रशंसेत्पुरुषर्षभ ।
यथाप्रज्ञं तु ते प्रश्नान्प्रतिवक्ष्यामि पृच्छ माम् ॥ ४४ ॥
यक्ष उवाच—किंस्विदादित्यमुन्नयति के च तस्याऽभितश्चराः ।
कश्चैनमस्तं नयति कस्मिंश्च प्रतितिष्ठति ॥ ४५ ॥
युधिष्ठिर उवाच—ब्रह्मादित्यमुन्नयति देवास्तस्याऽभितश्चराः ।
धर्मश्चाऽस्तं नयति च सत्ये च प्रतितिष्ठति ॥ ४६ ॥
यक्ष उवाच—केनस्विच्छ्रोत्रियो भवति केनस्विद्विंदते महत् ।
केनस्विद् द्वितीयवान्भवति राजन्केन च बुद्धिमान् ॥ ४७ ॥
युधिष्ठिर उवाच—श्रुतेन श्रोत्रियो भवति तपसा विंदते महत् ।
धृत्या द्वितीयवान्भवति बुद्धिमान्वृद्धसेवया ॥ ४८ ॥

कर दी ॥३८।४०॥

यदि तुम जीते रहना चाहते हो तो जल पीने का साहस न करना। क्योंकि, मैं इस जल पर पहले से ही अधिकार जमा चुका हूं। हां, मेरे प्रश्नों का उत्तर दे सको तो उत्तर देने के पश्चात् जल पियो और ले जाओ ॥४१।४२॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे यक्ष! तुम्हारा जिस पर अधिकार हो चुका है उस पर अधिकार करने की इच्छा मुझे नहीं है। सज्जन लोग अपने मुँह से अपनी प्रशंसा नहीं करते। किन्तु तुम प्रश्न करो, मैं अपनी बुद्धि के अनुसार उनका उत्तर दूंगा ॥४३।४४॥

यक्ष ने पूछा—सूर्य* को कौन ऊपर उठाता है? सूर्य के चारों ओर भ्रमण करनेवाले कौन हैं? कौन सूर्य को अस्त करता है और किसमें वह स्थित है? ॥४५॥

युधिष्ठिर ने कहा—ब्रह्म सूर्य को ऊपर उठाते हैं। देवता† उनके चारों ओर भ्रमण करते हैं। धर्म से वे अस्तगत होते हैं और सत्य में स्थित हैं ॥४६॥

यक्ष ने पूछा—मनुष्य किससे श्रोत्रिय होता है? काहे से महत् पदार्थ पाता है? किससे सहायक-युक्त और बुद्धिमान् होता है? ॥४७॥

युधिष्ठिर ने कहा—आचार्य के मुँह से वेदार्थ-

* सूर्य=जीवात्मा। † देवता=शम, दम आदि।

यक्ष उवाच—किं ब्राह्मणानां देवत्वं कश्च धर्मः सतामिव ।
कश्चैषां मानुषो भावः किमेषामसतामिव ॥ ४९ ॥

युधिष्ठिर उवाच—स्वाध्याय एषां देवत्वं तप एषां सतामिव ।
मरणं मानुषो भावः परिवादोऽसतामिव ॥ ५० ॥

यक्ष उवाच—किं क्षत्रियाणां देवत्वं कश्च धर्मः सतामिव ।
कश्चैषां मानुषो भावः किमेषामसतामिव ॥ ५१ ॥

युधिष्ठिर उवाच—इष्वस्त्रमेषां देवत्वं यज्ञ एषां सतामिव ।
भयं वै मानुषो भावः परित्यागोऽसतामिव ॥ ५२ ॥

यक्ष उवाच—किमेकं यज्ञियं साम किमेकं यज्ञियं यजुः ।
का चैषा वृणुते यज्ञं कां यज्ञो नातिवर्तते ॥ ५३ ॥

युधिष्ठिर उवाच— प्राणो वै यज्ञियं साम मनो वै यज्ञियं यजुः ।
ऋगेका वृणुते यज्ञं तां यज्ञो नाऽतिवर्तते ॥ ५४ ॥

यक्ष उवाच—किं स्विदावपतां श्रेष्ठं किं स्विन्निवपतां वरम् ।
किं स्वित्प्रतिष्ठमानानां किं स्वित्प्रसवतां वरम् ॥ ५५ ॥

युधिष्ठिर उवाच—वर्षमावपतां श्रेष्ठं बीजं निवपतां वरम् ।
गावः प्रतिष्ठमानानां पुत्रः प्रसवतां वरः ॥ ५६ ॥

निश्चय करने से श्रोत्रिय होता है । तप (ज्ञान) से महत् पदार्थ को पाता है । धैर्य से सहायकयुक्त और वृद्धों की सेवा से बुद्धिमान् होता है ॥४८॥

यक्ष ने पूछा—ब्राह्मणों का देवभाव क्या है ? उनकी कौन बात सज्जनों की सी है ? उनका मनुष्यभाव क्या है ? उनकी कौन बात असाधुओं की सी है ? ॥४९॥

युधिष्ठिर ने कहा—स्वाध्याय ब्राह्मणों का देवभाव है । तप उनकी सज्जनों की सी बात है । मरण ही उनका मनुष्यभाव है । निन्दा उनकी असाधुओं की सी बात है ॥५०॥

यक्ष ने पूछा—क्षत्रियों का देवभाव, मनुष्यभाव, साधुभाव और असाधुभाव क्या है ? ॥५१॥

युधिष्ठिर ने कहा—क्षत्रियों का देवभाव अस्त्र-शस्त्रों का व्यवहार है । डरना मनुष्यभाव है । यज्ञ करना साधुभाव है और दुखियों की रक्षा से विमुख होना असाधुभाव है ॥५२॥

यक्ष ने पूछा—यज्ञ का साम क्या है ? यज्ञ का यजुः क्या है ? यज्ञ का वरण करनेवाला क्या है ? यज्ञ किसका अतिक्रमण नहीं करता ? ॥५३॥

युधिष्ठिर ने कहा—प्राण यज्ञ का साम है । मन यज्ञ का यजुः है । ऋक् यज्ञ का वरण करती है और यज्ञ उसका अतिक्रमण नहीं करता ॥५४॥

यक्ष ने पूछा—बोनेवालों के लिए क्या श्रेष्ठ है ? काटनेवालों के लिए क्या श्रेष्ठ है ? एक स्थान पर

यक्ष उवाच---इंद्रियार्थाननुभवन्बुद्धिमाँल्लोकपूजितः ।
संमतः सर्वभूतानामुछ्वसन्को न जीवति ॥ ५७ ॥

युधिष्ठिर उवाच---देवतातिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्च यः ।
न निर्वपति पंचानामुछ्वसन्न स जीवति ॥ ५८ ॥

यक्ष उवाच---किं स्विद्गुरुतरं भूमेः किं स्विदुच्चतरं च खात् ।
किं स्विच्छीघ्रतरं वायोः किं स्विद्बहुतरं तृणात् ॥ ५९ ॥

युधिष्ठिर उवाच---माता गुरुतरा भूमेः खात्पितोच्चतरस्तथा ।
मनः शीघ्रतरं वाताच्चिंता बहुतरी तृणात् ॥ ६० ॥

यक्ष उवाच---किं स्वित्सुप्तं न निमिषति किं स्विज्जातं न चोपति ।
कस्य स्विद्धृदयं नास्ति किं स्विद्वेगेन वर्धते ॥ ६१ ॥

युधिष्ठिर उवाच-- मत्स्यः सुप्तो न निमिषत्यंडं जातं न चोपति ।
अश्मनो हृदयं नास्ति नदी वेगेन वर्धते ॥ ६२ ॥

यक्ष उवाच---किं स्वित्प्रवसतो मित्रं किं स्विन्मित्रं गृहे सतः ।
आतुरस्य च किं मित्रं किं स्विन्मित्रं मरिष्यतः ॥ ६३ ॥

रहनेवालों के लिए क्या श्रेष्ठ है ? उत्पन्न करनेवालों के लिए क्या श्रेष्ठ है ? ॥५५॥

युधिष्ठिर ने कहा—बोनेवालों के लिए वर्षा श्रेष्ठ है। काटनेवालों के लिए बीज श्रेष्ठ है। एक स्थान पर रहनेवालों के लिए गाय श्रेष्ठ है और उत्पन्न करनेवालों के लिए पुत्र श्रेष्ठ है ॥५६॥

यक्ष ने पूछा—कौन मनुष्य इन्द्रियों के विषयों का अनुभव करने में समर्थ, बुद्धिमान्, लोकपूजित और सब प्राणियों का सम्मत होकर श्वास लेने पर भी मुर्दे के समान है ? ॥५७॥

युधिष्ठिर ने कहा—जो पुरुष इन सब बातों के होने पर भी देवता, अतिथि, भृत्य, पितर और आत्मा, इन पांच की पूजा नहीं करता—इन्हें अन्न नहीं देता- वह जीवित भी मुर्दे के समान है ॥५८॥

यक्ष ने पूछा—पृथ्वी से भी अधिक किसका गौरव है ? आकाश से भी अधिक उच्च कौन है ? वायु से भी अधिक शीघ्रगामी कौन है ? तिनकों से भी अधिक असंख्य कौन है ? ॥५९॥

युधिष्ठिर ने कहा—माता का गौरव पृथ्वी से भी अधिक है। पिता आकाश से भी उच्च है। मन वायु से भी अधिक शीघ्रगामी है। चिन्ता तिनकों से भी अधिक असंख्य और अनन्त है ॥६०॥

यक्ष ने पूछा—सोने पर भी आंखें कौन नहीं मूंदता ? उत्पन्न होकर भी कौन हिलता-डुलता नहीं ? किसके हृदय नहीं है ? कौन वेग से बढ़ता है ? ॥६१॥

युधिष्ठिर ने कहा- मछली सोने पर भी आंखें नहीं मूँदती। अण्डा उत्पन्न होकर भी हिलता-डुलता नहीं है। पत्थर के हृदय नहीं है। नदी वेग से बढ़ती है ॥६२॥

युधिष्ठिर उवाच—सार्थः प्रवसतो मित्रं भार्या मित्रं गृहे सतः ।
आतुरस्य भिषङ् मित्रं दानं मित्रं मरिष्यतः ॥ ६४ ॥
यक्ष उवाच—कोऽतिथिः सर्वभूतानां किं स्विद्धर्मं सनातनम् ।
अमृतं किं स्विद्राजेंद्र किं स्वित्सर्वमिदं जगत् ॥ ६५ ॥
युधिष्ठिर उवाच—अतिथिः सर्वभूतानामग्निः सोमो गवामृतम् ।
सनातनोऽमृतो धर्मो वायुः सर्वमिदं जगत् ॥ ६६ ॥
यक्ष उवाच—किं स्विदेको विचरते जातः को जायते पुनः ।
किं स्विद्धिमस्य भैषज्यं किं स्विदावपनं महत् ॥ ६७ ॥
युधिष्ठिर उवाच—सूर्य एको विचरते चंद्रमा जायते पुनः ।
अग्निर्हिमस्य भैषज्यं भूमिरावपनं महत् ॥ ६८ ॥
यक्ष उवाच—किं स्विदेकपदं धर्म्यं किं स्विदेकपदं यशः ।
किं स्विदेकपदं स्वर्ग्यं किं स्विदेकपदं सुखम् ॥ ६९ ॥
युधिष्ठिर उवाच—दाक्ष्यमेकपदं धर्म्यं दानमेकपदं यशः ।
सत्यमेकपदं स्वर्ग्यं शीलमेकपदं सुखम् ॥ ७० ॥
यक्ष उवाच—किं स्विदात्मा मनुष्यस्य किं स्विद्दैवकृतः सखा ।

यक्ष ने पूछा—प्रवासी का मित्र कौन है ? गृहवासी का मित्र कौन है ? बीमार का कौन मित्र है ? मर रहे मनुष्य का मित्र कौन है ? ॥६३॥

युधिष्ठिर ने कहा—प्रवासी का मित्र साथी है। गृहवासी का मित्र भार्या है। बीमार का मित्र वैद्य है। मर रहे मनुष्य का मित्र दान है ॥६४॥

यक्ष ने पूछा—हे राजेन्द्र ! सब प्राणियों का अतिथि कौन है ? सनातन धर्म क्या है ? अमृत क्या है ? यह सब जगत् क्या है ? ॥६५॥

युधिष्ठिर ने कहा—अग्नि सब प्राणियों के अतिथि हैं। ज्ञानयोग सनातन धर्म है। गाय का दूध अमृत है। वायु यह सब जगत् है ॥६६॥

यक्ष ने पूछा—कौन अकेले विचरता है ? कौन बारम्बार जन्म लेता है ? हिम की ओषधि क्या है ? बोने की प्रधान जगह क्या है ? ॥६७॥

युधिष्ठिर ने कहा—सूर्य अकेले विचरते हैं। चन्द्रमा बारम्बार जन्म लेते हैं। अग्नि हिम की ओषधि है। बोने की प्रधान जगह पृथिवी है ॥६८॥

यक्ष ने पूछा—धर्म का अन्तिम स्थान क्या है ? यश की चरम सीमा क्या है ? स्वर्ग और सुख का एकमात्र आश्रय क्या है ? ॥६९॥

युधिष्ठिर ने कहा—सबके अनुकूल रहना, किसी की बुराई न करना, धर्म का अन्तिम स्थान है। दान यश की चरम सीमा है। सत्य स्वर्ग का और स्वभाव या चरित्र सुख का एकमात्र आश्रय है ॥७०॥

यक्ष ने पूछा—मनुष्य का आत्मा क्या है ?

उपजीवनं किं स्विदस्य किं स्विदस्य परायणम् ॥ ७१ ॥

युधिष्ठिर उवाच—पुत्र आत्मा मनुष्यस्य भार्या दैवकृतः सखा ।
उपजीवनं च पर्जन्यो दानमस्य परायणम् ॥ ७२ ॥

यक्ष उवाच—धन्यानामुत्तमं किं स्विद्धनानां स्यात्किमुत्तमम् ।
लाभानामुत्तमं किं स्यात्सुखानां स्यात्किमुत्तमम् ॥ ७३ ॥

युधिष्ठिर उवाच—धन्यानामुत्तमं दाक्ष्यं धनानामुत्तमं श्रुतम् ।
लाभानां श्रेय आरोग्यं सुखानां तुष्टिरुत्तमा ॥ ७४ ॥

यक्ष उवाच—कश्च धर्मः परो लोके कश्च धर्मः सदाफलः ।
किं नियम्य न शोचन्ति कैश्च संधिर्न जीर्यते ॥ ७५ ॥

युधिष्ठिर उवाच—आनृशंस्यं परो धर्मस्त्रयीधर्मः सदाफलः ।
मनो यम्य न शोचन्ति संधिः सद्भिर्न जीर्यते ॥ ७६ ॥

यक्ष उवाच—किं नु हित्वा प्रियो भवति किं नु हित्वा न शोचति ।
किं नु हित्वाऽर्थवान्भवति किं नु हित्वा सुखी भवेत् ॥ ७७ ॥

युधिष्ठिर उवाच—मानं हित्वा प्रियो भवति क्रोधं हित्वा न शोचति ।
कामं हित्वाऽर्थवान्भवति लोभं हित्वा सुखी भवेत् ॥ ७८ ॥

दैव-विहित सखा कौन है ? उपजीविका और प्रधान आश्रय क्या है ? ॥७१॥

युधिष्ठिर ने कहा—पुत्र मनुष्य का आत्मा है । स्त्री दैव-विहित सखा है । मेघ उपजीविका है और दान प्रधान आश्रय है ॥७२॥

यक्ष ने पूछा—जितनी वातें धन्य समझी जाती है उनमें उत्तम क्या है ? उत्तम धन क्या है ? उत्तम लाभ क्या है ? उत्तम सुख क्या है ? ॥७३॥

युधिष्ठिर ने कहा—सबके अनुकूल रहना ही धन्य बातों में उत्तम है । शास्त्र का ज्ञान उत्तम धन है । आरोग्य उत्तम लाभ है । सन्तोष उत्तम सुख है ॥७४॥

यक्ष ने पूछा—प्रधान धर्म क्या है ? कौन धर्म सदा फलदायक होता है ? किसका संयम करने से शोक नहीं रहता ? किसके साथ मेल करने से फिर बिगाड़ नहीं होता ॥७५॥

युधिष्ठिर ने कहा—आनृशंस्य (दया) प्रधान धर्म है । वैदिक धर्म (यज्ञ आदि) सदा फलदायक होता है । मन का संयम करने से शोक नहीं करना पड़ता । साधु पुरुषों से मेल करने पर फिर बिगाड़ नहीं होता ॥७६॥

यक्ष ने पूछा—क्या छोड़ देने से मनुष्य सब को प्रिय होता है ? क्या छोड़ देने से शोक दूर हो जाता है ? क्या छोड़ देने से मनुष्य सम्पन्न और सुखी होता है ? ॥७७॥

युधिष्ठिर ने कहा—अभिमान छोड़ देने से मनुष्य सबको प्यारा होता है । क्रोध को त्याग करने से शोक

यक्ष उवाच—किमर्थं ब्राह्मणे दानं किमर्थं नटनर्तके ।
किमर्थं चैव भृत्येषु किमर्थं चैव राजसु ॥ ७९ ॥

युधिष्ठिर उवाच—धर्मार्थं ब्राह्मणे दानं यशोर्थं नटनर्तके ।
भृत्येषु भरणार्थं वै भयार्थं चैव राजसु ॥ ८० ॥

यक्ष उवाच—केनस्विदावृतो लोकः केनस्विन्न प्रकाशते ।
केन त्यजति मित्राणि केन स्वर्गं न गच्छति ॥ ८१ ॥

युधिष्ठिर उवाच—अज्ञानेनाऽऽवृतो लोकस्तमसा न प्रकाशते ।
लोभात्त्यजति मित्राणि संगात्स्वर्गं न गच्छति ॥ ८२ ॥

यक्ष उवाच—मृतः कथं स्यात्पुरुषः कथं राष्ट्रं मृतं भवेत् ।
श्राद्धं मृतं कथं वा स्यात्कथं यज्ञो मृतो भवेत्॥ ८३ ॥

युधिष्ठिर उवाच—मृतो दरिद्रः पुरुषो मृतं राष्ट्रमराजकम् ।
मृतमश्रोत्रियं श्राद्धं मृतो यज्ञस्त्वदक्षिणः ॥ ८४ ॥

यक्ष उवाच—का दिक्किमुदकं प्रोक्तं किमन्नं किं च वै विषम् ।
श्राद्धस्य कालमाख्याहि ततः पिब हरस्व च ॥८५ ॥

युधिष्ठिर उवाच—संतो दिग्जलमाकाशं गौरन्नं प्रार्थना विषम् ।
श्राद्धस्य ब्राह्मणः कालः कथं वा यक्ष मन्यसे ॥ ८६ ॥

दूर हो जाता है। कामना का त्याग करने से सम्पन्न और लोभ छोड़ देने से मनुष्य सुखी होता है ॥७८॥

यक्ष ने पूछा—ब्राह्मण, नट, नर्तक, सेवक और राजा को धन देने की क्या आवश्यकता है ? ॥७९॥

युधिष्ठिर ने कहा—धर्म के लिए ब्राह्मणों को, यश के लिए नटों और नर्तकों को, भरण-पोषण के लिए सेवकों को और भय के लिए राजा को धन दिया जाता है ॥८०॥

यक्ष ने पूछा—सब लोग काहे से आवृत (ढके हुए) और अप्रकाशित रहते हैं ? लोग किसलिए मित्रों को छोड़ देते हैं ? और, किस बात से स्वर्ग को नहीं जाते ? ॥८१॥

युधिष्ठिर ने कहा—सब लोग अज्ञान से आवृत और तमोगुण से अप्रकाशित रहते हैं। लोग लोभ के कारण मित्रों को छोड़ देते हैं और सङ्ग में फँस जाने से स्वर्ग को नहीं जाते ॥८२॥

यक्ष ने पूछा—मृत पुरुष कौन है ? मृत राष्ट्र कौन है ? मृत श्राद्ध कौन है ? और, मृत यज्ञ कौन है ? ॥८३॥

युधिष्ठिर ने कहा—दरिद्र पुरुष मृत है। बिना राजा का राष्ट्र मृत है। श्रोत्रिय से हीन श्राद्ध मृत है। दक्षिणा से हीन यज्ञ मृत है ॥८४॥

यक्ष ने पूछा—दिशा क्या है ? जल क्या है ? अन्न क्या है ? विष क्या है ? श्राद्ध का समय क्या है ? इन प्रश्नों का उत्तर देकर जल पियो और ले जाओ ॥८५॥

यक्ष उवाच—तपः किंलक्षणं प्रोक्तं को दमश्च प्रकीर्तितः ।
क्षमा च का परा प्रोक्ता का च ह्रीः परिकीर्तिता ॥ ८७ ॥

युधिष्ठिर उवाच—तपः स्वधर्मवर्तित्वं मनसो दमनं दमः ।
क्षमा द्वंद्वसहिष्णुत्वं ह्रीरकार्यनिवर्तनम् ॥ ८८ ॥

यक्ष उवाच—किं ज्ञानं प्रोच्यते राजन्कः शमश्च प्रकीर्तितः ।
दया च का परा प्रोक्ता किं चाऽऽर्जवमुदाहृतम् ॥ ८९ ॥

युधिष्ठिर उवाच—ज्ञानं तत्त्वार्थसंबोधः शमश्चित्तप्रशांतता ।
दया सर्वसुखैषित्वमार्जवं समचित्तता ॥ ९० ॥

यक्ष उवाच—कः शत्रुर्दुर्जयः पुंसां कश्च व्याधिरनंतकः ।
कीदृशश्च स्मृतः साधुरसाधुः कीदृशः स्मृतः ॥ ९१ ॥

युधिष्ठिर उवाच—क्रोधः सुदुर्जयः शत्रुर्लोभो व्याधिरनंतकः ।
सर्वभूतहितः साधुरसाधुर्निर्दयः स्मृतः ॥ ९२ ॥

यक्ष उवाच—को मोहः प्रोच्यते राजन्कश्च मानः प्रकीर्तितः ।
किमालस्यं च विज्ञेयं कश्च शोकः प्रकीर्तितः ॥ ९३ ॥

युधिष्ठिर उवाच—मोहो हि धर्ममूढत्वं मानस्त्वात्माभिमानिता ।
धर्मनिष्क्रियताऽऽलस्यं शोकस्त्वज्ञानमुच्यते ॥ ९४ ॥

युधिष्ठिर ने कहा—साधु लोग दिशाएँ हैं ! आकाश ही जल है । धेनु ही अन्न है । प्रार्थना अर्थात् किसी से कुछ मागना ही विष है । सत्पात्र ब्राह्मण का मिल जाना ही श्राद्ध का समय है ॥८६॥

यक्ष ने पूछा—तप, दम, क्षमा और लज्जा का लक्षण क्या है ? ॥८७॥

युधिष्ठिर ने कहा—अपने धर्म का पालन करते रहना ही तप है । मन का दमन ही दम है । जाड़ा-गर्मी आदि द्वन्द्वों को सहना ही क्षमा है और कुकर्म से बचे रहना ही लज्जा है ॥८८॥

यक्ष ने पूछा—ज्ञान, शम, दया और आर्जव के लक्षण क्या हैं ? ॥८९॥

युधिष्ठिर ने कहा—तत्त्वार्थ का बोध ही ज्ञान है । चित्त का शान्त रहना ही शम है । सबके सुखी रहने की इच्छा दया है । समचित्त होना ही आर्जव है ॥९०॥

यक्ष ने पूछा—मनुष्य का दुर्जय शत्रु कौन है ? अनन्त व्याधि क्या है ? साधु कौन है ? असाधु कौन है ? ॥९१॥

युधिष्ठिर ने कहा—क्रोध दुर्जय शत्रु है । लोभ अनन्त व्याधि है । सब प्राणियों का हित करनेवाला साधु है । दयाहीन पुरुष असाधु है ॥९२॥

यक्ष ने पूछा—राजन् ! मोह, मान, आलस्य और शोक क्या है ? ॥९३॥

युधिष्ठिर ने कहा—धर्ममूढता (धर्म के विषय

यक्ष उवाच—किं स्थैर्यमृषिभिः प्रोक्तं किं च धैर्यमुदाहृतम् ।
स्नानं च किं परं प्रोक्तं दानं च किमिहोच्यते ॥ ९५ ॥

युधिष्ठिर उवाच—स्वधर्मे स्थिरता स्थैर्यं धैर्यमिंद्रियनिग्रहः ।
स्नानं मनोमलत्यागो दानं वै भूतरक्षणम् ॥ ९६ ॥

यक्ष उवाच—कः पंडितः पुमान्ज्ञेयो नास्तिकः कश्च उच्यते ।
को मूर्खः कश्चः कामः स्यात्को मत्सर इति स्मृतः॥ ९७ ॥

युधिष्ठिर उवाच—धर्मज्ञः पंडितो ज्ञेयो नास्तिको मूर्ख उच्यते ।
कामः संसारहेतुश्च हृत्तापो मत्सरः स्मृतः ॥ ९८ ॥

यक्ष उवाच—कोऽहंकार इति प्रोक्तः कश्च दंभः प्रकीर्तितः ।
किं तद्दैवं परं प्रोक्तं किं तत्पैशुन्यमुच्यते ॥ ९९ ॥

युधिष्ठिर उवाच—महाज्ञानमहंकारो दंभो धर्मो ध्वजोच्छ्रयः ।
दैवं दानफलं प्रोक्तं पैशुन्यं परदूषणम् ॥ १००॥

यक्ष उवाच—धर्मश्चाऽर्थश्च कामश्च परस्परविरोधिनः ।
एषां नित्यविरुद्धानां कथमेकत्र संगमः ॥ १०१॥

युधिष्ठिर उवाच—यदा धर्मश्च भार्या च परस्परवशानुगौ ।
तदा धर्मार्थकामानां त्रयाणामपि संगमः ॥१०२॥

में अनभिज्ञता) ही मोह है । आत्माभिमान ही मान है । धर्माचरण न करना ही आलस्य है अज्ञान ही शोक है ॥९४॥

यक्ष ने पूछा—ऋषियों ने स्थिरता, धैर्य, स्नान और दान किसे कहा है ? ॥९५॥

युधिष्ठिर ने कहा—अपने धर्म में दृढ़ता ही स्थिरता है । इन्द्रियनिग्रह ही धैर्य है । मन के मैल को मिटाना ही स्नान है । प्राणियों की रक्षा ही दान है ॥९६॥

यक्ष ने पूछा—पण्डित कौन है ? नास्तिक कौन है ? मूर्ख कौन है ? काम क्या है ? मत्सर क्या है ? ॥९७॥

युधिष्ठिर ने कहा—धार्मिक पुरुष पण्डित है । मूर्ख ही नास्तिक है । संसार (जन्म-मरण) का कारण ही काम है और मन में कुढ़ना ही मत्सर है ॥९८॥

यक्ष ने पूछा—अहङ्कार क्या है दम्भ क्या है ? दैव क्या है ? पिशुनता क्या है ? ॥९९॥

युधिष्ठिर ने कहा—महा अज्ञान ही अहङ्कार है । दिखाने के लिए धर्म का ढोंग रचना दम्भ है । दान का फल दैव है । दूसरों को दोष लगाना पिशुनता है ॥१००॥

यक्ष ने पूछा—धर्म, अर्थ और काम परस्पर-विरोधी हैं । इन तीनों परस्पर-विरोधियों का एकत्र समावेश कैसे होता है ? ॥१०१॥

यक्ष उवाच अक्षयो नरकः केन प्राप्यते भरतर्षभ ।
एतन्मे पृच्छतः प्रश्नं तच्छीघ्रं वक्तुमर्हसि ॥ १०३ ॥
युधिष्ठिर उवाच ब्राह्मणं स्वयमाहूय याचमानमकिंचनम् ।
पश्चान्नास्तीति यो ब्रूयात्सोऽक्षयं नरकं व्रजेत् ॥ १०४ ॥
वेदेषु धर्मशास्त्रेषु मिथ्या यो वै द्विजातिषु ।
देवेषु पितृधर्मेषु सोऽक्षयं नरकं व्रजेत् ॥ १०५ ॥
विद्यमाने धने लोभाद्दानभोगविवर्जितः ।
पश्चान्नास्तीति यो ब्रूयात्सोऽक्षयं नरकं व्रजेत् ॥ १०६ ॥
यक्ष उवाच राजन्कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन वा ।
ब्राह्मण्यं केन भवति प्रब्रूह्येतत्सुनिश्चितम् ॥१०७ ॥
युधिष्ठिर उवाच—शृणु यक्ष कुलं तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम्।
कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः ॥ १०८ ॥
वृत्तं यत्नेन संरक्ष्यं ब्राह्मणेन विशेषतः ।
अक्षीणवृत्तो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ॥ १०९ ॥
पठकाः पाठकाश्चैव ये चाऽन्ये शास्त्रचिंतकाः ।
सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान्स पंडितः ॥ ११० ॥

युधिष्ठिर ने कहा—जब धर्म और भार्या, दोनों परस्पर वशवर्ती और सहायक होते हैं, तभी इन तीनों परस्पर-विरुद्ध बातों का एकत्र समावेश होता है ।१०२। यक्ष ने पूछा—हे राजेन्द्र, कौन सा कार्य करने से मनुष्य को अनन्त नरक में रहना पड़ता है ? मेरे इस प्रश्न का उत्तर शीघ्र दो ॥१०३॥

युधिष्ठिर ने कहा—कुछ मागनेवाले दरिद्र ब्राह्मण को बुलाकर पीछे से 'नहीं' कहकर जो विमुख कर देता है उसे अनन्त नरक में रहना पड़ता है । जो पुरुष वेद, शास्त्र, ब्राह्मण, देवता और बाप-दादे के धर्म को असत्य सिद्ध करता है वह अक्षय नरक को जाता है । जो धन के रहने पर भी लोभ के वश होकर न तो दान करता है और न आप भोग करता है, और कुछ देने का निश्चय करके पीछे नाहीं कर जाता है वह अक्षय नरक को जाता है ।१०४।१०६।

यक्ष ने पूछा—कुल, चारित्र, स्वाध्याय और श्रुत आदि में कौनसी बात ब्राह्मणत्व का कारण है ? ।१०७

युधिष्ठिर ने कहा—कुल, स्वाध्याय या श्रुत के ऊपर ब्राणह्मत्व नहीं निर्भर है। चारित्र ही ब्राह्मणत्व का कारण है । इसलिए ब्राह्मण को विशेष रूप से चारित्र की ही रक्षा करनी चाहिए। चारित्र जब तक नष्ट नहीं होता तब तक कुछ भी न हो तो भी ब्राह्मण ब्राह्मण का ब्राह्मणत्व बना रहता है । किन्तु चरित्र में बट्टा लगते ही ब्राह्मणत्व नष्ट हो जाता है । जो

चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः स शूद्रादतिरिच्यते ।
योऽग्निहोत्रपरो दांतः स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥ १११ ॥

यक्ष उवाच—प्रियवचनवादी किं लभते विमृशितकार्यकरः किं लभते ।
बहुमित्रकरः किं लभते धर्मे रतः किं लभते कथय॥११२॥

युधिष्ठिर उवाच—प्रियवचनवादी प्रियो भवति विमृशितकार्यकरोऽधिकं जयति।
बहुमित्रकरः सुखं वसते यश्च धर्मरतः स गतिं लभते ॥ ११३ ॥

यक्ष उवाच—को मोदते किमाश्चर्यं कः पंथाः का च वार्तिका ।
वद मे चतुरः प्रश्नान्मृता जीवंतु बांधवाः ॥ ११४ ॥

युधिष्ठिर उवाच—पंचमेऽहनि षष्ठे वा शाकं पचति स्वे गृहे ।
अनृणी चाऽप्रवासी च स वारिचर मोदते ॥ ११५ ॥

अहन्यहनि भूतानि गच्छंतीह यमालयम् ।
शेषाः स्थावरमिच्छंति किमाश्चर्यमतः परम् ॥ ११६ ॥

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पंथाः ॥ ११७ ।

ब्राह्मण केवल पढ़ते-पढ़ाते हैं, या केवल शास्त्रों को देखा करते हैं वे सब मूर्ख हैं, उनका वैसा करना केवल एक व्यसन है। जो ब्राह्मण क्रियावान् है वही पंडित है। दुराचारी ब्राह्मण चारों वेद पढ़े हो तो भी वह शूद्र से भी गया-बीता है। जो मन को मारकर अग्निहोत्र आदि अपने कर्म करता है वही ब्राह्मण है।१०८।१११।

यक्ष ने पूछा—प्रिय वचन बोलनेवाला क्या पाता है? विचारकर काम करनेवाला क्या पाता है? बहुत मित्रोंवाले को क्या मिलता है? धर्मात्मा पुरुष क्या पाता है? ॥११२॥

युधिष्ठिर ने कहा—प्रियवादी पुरुष सबका प्रेम पाता है। विचारकर कार्य करनेवाला दिन-दिन अभ्युदय और विजय पाता है। बहुत मित्रोंवाला व्यक्ति सुख से रहता है धर्मात्मा पुरुष को सद्गति प्राप्त होती है।११३।

यक्ष ने पूछा—कौन सदा आनन्द पाता है? आश्चर्य क्या है? वार्ता (जानने योग्य समाचार) क्या है? मेरे इन चारों प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर दो तो तुम्हारे मरे हुए चारों भाई जी उठें ॥११४॥

युधिष्ठिर ने कहा—जो पुरुष न तो ऋणी है और न परदेश में पड़ा है, वह चाहे अपने घर में पांचवें या छटे दिन साग-पात भी पकाकर खाता हो, तो भी वही सदा आनन्द का अनुभव करता है। प्राणी नित्य मरते हैं, जो बचे हुए हैं वे यह देखकर भी सदा जीते रहने की इच्छा करते हैं, इससे बढ़कर और आश्चर्य क्या होगा! हे यक्ष! तर्क की कोई स्थिरता नहीं है (हर एक तर्क प्रबल तर्क से काटा जा सकता है), श्रुतियां भी जुदी-जुदी हैं, मुनि भी एक नहीं है जिनके वचन का प्रमाण माना

अस्मिन्महामोहमये कटाहे सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन ।
मासर्तुदर्वीपरिघट्टनेन भूतानि कालः पचतीति वार्ता ॥ ११८ ॥

यक्ष उवाच—व्याख्याता मे त्वया प्रश्ना यथातथ्यं परंतप ।
पुरुषं त्विदानीं व्याख्याहि यश्च सर्वधनी नरः ॥ ११९ ॥

युधिष्ठिर उवाच—दिवं स्पृशति भूमिं च शब्दः पुण्येन कर्मणा ।
यावत्स शब्दो भवति तावत्पुरुष उच्यते ॥ १२० ॥
तुल्ये प्रियाप्रिये यस्य सुखदुःखे तथैव च ।
अतीतानागते चोभे स वै सर्वधनी नरः ॥ १२१ ॥

यक्ष उवाच—व्याख्यातः पुरुषो राजन्यश्च सर्वधनी नरः ।
तस्मात्त्वमेकं भ्रातॄणां यमिच्छसि स जीवतु ॥ १२२ ॥

युधिष्ठिर उवाच—श्यामो य एष रक्ताक्षो बृहच्छाल इवोत्थितः ।
व्यूढोरस्को महाबाहुर्नकुलो यक्ष जीवतु ॥ १२३ ॥

यक्ष उवाच—प्रियस्ते भीमसेनोऽयमर्जुनो वः परायणम् ।
स कस्मान्नकुलो राजन्सापत्नं जीवमिच्छसि ॥ १२४ ॥
यस्य नागसहस्रेण दशसंख्येन वै बलम् ।
तुल्यं तं भीममुत्सृज्य नकुलं जीवमिच्छसि ॥ १२५ ॥

जाय । धर्म का तत्त्व गुफा में निहित है अर्थात् अत्यन्त गूढ़ है । इसलिए राह वही है जिससे बड़े लोग और महापुरुष चले हैं । काल पृथ्वी-पात्र में आकाश का ढकना मन्द करके, रात-दिन के ईंधन में सूर्य की अग्नि जलाकर, मास-ऋतु-रूपी डोई चलाकर सब प्राणियों को पकाता है, अर्थात् जीर्ण करता है, यही जानने योग्य वार्ता है ॥११५।११८॥

यक्ष ने कहा—हे शत्रुदमन ! तुमने मेरे सब प्रश्नों का उत्तर दे दिया । अब यह बताओ कि पुरुष कौन है ? और, सबसे बढ़कर धनी कौन है ? ॥११९॥

युधिष्ठिर ने कहा—पुण्य-कर्म करने से मनुष्य की कीर्ति स्वर्ग तक पहुँचती है और पृथ्वी पर व्याप्त होती है । वह कीर्ति जब तक बनी रहती है तब तक वह पुण्यात्मा पुरुष कहलाता है । हे यक्ष ! जो पुरुष भूत और भविष्य को, सुख और दुःख को, प्रिय और अप्रिय को समान समझता है, वही सबसे बढ़कर धनी है ॥१२०।१२१॥

यक्ष ने कहा—हे राजेन्द्र ! तुमने पुरुष और धनी के लक्षण बता दिये, इसलिए तुम इन भाइयों में से जिस एक को चाहो वह जी सकता है ॥१२२॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे यक्ष ! ये सांवले ! अरुण नेत्रों और चौड़ी छातीवाले, महाबाहु नकुल जीकर शालवृक्ष की तरह उठ खड़े हों ॥१२३॥

यक्ष ने पूछा—हे राजेन्द्र ! यह तुम्हारा प्यारा

तथैनं मनुजाः प्राहुर्भीमसेनं प्रियं तव ।
अथ केनाऽनुभावेन सापत्नं जीवमिच्छसि ॥ १२६॥
यस्य बाहुबलं सर्वे पांडवाः समुपासते ।
अर्जुनं तमपाहाय नकुलं जीवमिच्छसि ॥१२७॥
युधिष्ठिर उवाच—धर्म एव हतो हंति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मं न त्यजामि मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥ १२८॥
आनृशंस्यं परो धर्मः परमार्थाच्च मे मतम् ।
आनृशंस्यं चिकीर्षामि नकुलो यक्ष जीवतु ॥ १२९॥
धर्मशीलः सदा राजा इति मां मानवा विदुः ।
स्वधर्मान्न चलिष्यामि नकुलो यक्ष जीवतु ॥ १३०॥
कुंती चैव तु माद्री च द्वे भार्ये तु पितुर्मम ।
उभे सपुत्रे स्यातां वै इति मे धीयते मतिः ॥ १३१ ॥
यथा कुंती तथा माद्री विशेषो नास्ति मे तयोः ।
मातृभ्यां सममिच्छामि नकुलो यक्ष जीवतु ॥ १३२॥
यक्ष उवाच—यस्य तेऽर्थाच्च कामाच्च आनृशंस्यं परं मतम् ।
तस्मात्ते भ्रातरः सर्वे जीवंतु भरतर्षभ ॥ १३३॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि पर्वणआरणेयपर्वणि यक्षप्रश्ने त्रयोदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥३१३॥

भीम तथा तुम्हारी रक्षा करनेवाला अर्जुन है फिर इनको छोड़कर अपनी सौतेली माता के पुत्र नकुल को जिलाने की क्यों इच्छा करते हो ! जिस भीमसेन में दस हजार हाथियों का बल है, उसे छोड़कर नकुल को जिलाने की इच्छा क्यों करते हो ! सन्त लोग यह कहते हैं कि भीमसेन युधिष्ठिर का प्यारा है, उसे छोड़कर सौतेली माता के पुत्र नकुल को क्यों जिलाना चाहते हो ! जिस अर्जुन के बाहुबल के आश्रय से पाण्डव जगत् में रहते हैं, उस अर्जुन को छोड़कर नकुल को जिलाने की क्यों इच्छा करते हो ! १२४।१२७॥

युधिष्ठिर ने कहा—धर्म का नाश होने से वह नाश करनेवालों को भी नष्ट कर डालता है । ऐसे ही धर्म की रक्षा करने से वह भी रक्षा करनेवाले की रक्षा करता है । इसलिए मैं धर्म को कभी न छोडूँगा। धर्म का त्याग मैं इसलिए नहीं करता, जिसमें वह हम लोगों को नष्ट न कर दे । हे यक्ष ! ओछेपन को छोड़ देना ही परम धर्म और परमार्थ है। मैं यही समझता हूं । मैं उदार भाव धारण करता हूँ । इसलिए नकुल जी उठें। सब मनुष्य मुझे धर्मात्मा जानते हैं । मैं अपने धर्म से नहीं डिगूँगा । नकुल जी उठें। कुन्ती और माद्री दोनों मेरी माता हैं । मैं चाहता

हूँ कि दोनों के पुत्र बने रहें। इसलिए आप नकुल को जिलाकर दोनों को पुत्रवती बनावें ।१२८।१३२।

यक्ष ने कहा--तुम अर्थ और काम के विषयों में उदार हो, इसलिए हे भरतश्रेष्ठ ! तुम्हारे चारों भाई अभी जी उठें ॥१३३॥

—०—

वनपर्व का तीन सौ तेरह अध्याय समाप्त हुआ ॥३१३॥

अथ चतुर्दशाधिकत्रिशततमोऽध्याय ॥३१४॥

वैशम्पायन उवाच ततस्ते यक्षवचनादुदतिष्ठंन पांडवाः ।
क्षुत्पिपासे च सर्वेषां क्षणेन व्यपगच्छताम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच--सरस्येकेन पादेन तिष्ठंतमपराजितम् ।
पृच्छामि को भवान्देवो न मे यक्षो मतो भवान् २ ॥

वसूनां वा भवानेको रुद्राणामथवा भवान् ।
अथवा मरुतां श्रेष्ठो वज्री वा त्रिदशेश्वरः ॥ ३ ॥

मम हि भ्रातर इमे सहस्रशतयोधिनः ।
तं योधं न प्रपश्यामि येन सर्वे निपातिताः ॥ ४ ॥

सुखं प्रति प्रबुद्धानामिंद्रियाण्युपलक्षये ।
स भवान्सुहृदोऽस्माकमथवा नः पिता भवान् ॥ ५ ॥

यक्ष उवाच--अहं ते जनकस्तात धर्मो मृदुपराक्रम ।
त्वां दिदृक्षुरनुप्राप्तो विद्धि मां भरतर्षभ ॥ ६ ॥

तीन सौ चौदह अध्याय ॥३१४॥

वैशम्पायन ने कहा हे राजा जनमेजय ! तब यक्ष के यों कहते ही युधिष्ठिर के चारों भाई जीकर उठ खड़े हुए। उनकी भूख और प्यास भी दूर हो गई। राजा युधिष्ठिर ने अपराजित यक्ष को सरोवर में एक पग से खड़े देखकर कहा—हे भगवन् ! आप कौन हैं ? आप तो मुझे यक्ष नहीं जान पड़ते। इसमें सन्देह नहीं कि आप वसु, रुद्र और मरुद्गण में प्रधान अथवा देवराज इन्द्र होंगे। नहीं तो आपके द्वारा ऐसी अद्-भुत घटना का होना सम्भव न था। इस पृथ्वी पर ऐसा योद्धा कौन है, जो इन सैकड़ों हजारों योद्धाओं से युद्ध करने वाले मेरे भाइयों को मारकर गिरा सके ? मेरे भाई सुख से सोये हुए पुरुष की तरह जाग उठे हैं, इनकी इन्द्रियों में किसी तरह का विकार नहीं देख पड़ता। इससे जान पड़ता है कि आप हमारे कोई शुभचिन्तक या पिता होंगे ॥१।५॥

यक्ष ने कहा—हे तात् ! मैं तुम्हारा पिता धर्म हूँ। तुम्हें देखने के लिए यहां आया था। यश, सत्य, दम, शौच, सरलता, लोकलज्जा, धैर्य, दान, तप और ब्रह्मचर्य मेरा शरीर है, अहिंसा, समता, शान्ति, तप, शौच और ईर्ष्या का न होना मेरी इन्द्रिया

यशः सत्यं दमः शौचमार्जवं ह्रीरचापलम् ।
दानं तपो ब्रह्मचर्यमित्येतास्तनवो मम ॥ ७ ॥
अहिंसा समता शांतिस्तपः शौचममत्सरः ।
द्वाराण्येतानि मे विद्धि प्रियो ह्यसि सदा मम ॥ ८ ॥
दिष्ट्या पंचसु रक्तोऽसि दिष्ट्या ते पद्पदी जिता ।
द्वे पूर्वे मध्यमे द्वे च द्वे चांते सांपरायिके ॥ ९ ॥
धर्मोऽहमिति भद्रं ते जिज्ञासुस्त्वामिहाऽऽगतः ।
आनृशंस्येन तुष्टोऽस्मि वरं दास्यामि तेऽनघ ॥ १० ॥
वरं वृणीष्व राजेंद्र दाता ह्यस्मि तवाऽनघ ।
ये हि मे पुरुषा भक्ता न तेषामस्ति दुर्गतिः ॥ ११ ॥
युधिष्ठिर उवाच— अरणीसहितं यस्य मृगो ह्यादाय गच्छति ।
तस्याऽग्नयो न लुप्येरन्प्रथमोऽस्तु वरो मम ॥ १२ ॥
यक्ष उवाच—अरणीसहितं ह्यस्य ब्राह्मणस्य हृतं मया ।
मृगवेषेण कौंतेय जिज्ञासार्थं तव प्रभो ॥ १३ ॥
वैशम्पायन उवाच—ददानीत्येव भगवानुत्तरं प्रत्यपद्यत ।
अन्यं वरय भद्रन्ते वरं त्वममरोपम ॥ १४ ॥
युधिष्ठिर उवाच—वर्षाणि द्वादशाऽरण्ये त्रयोदशमुपस्थितम् ।
तत्र नो नाभिजानीयुर्वसतो मनुजाः क्वचित् ॥ १५ ॥

है । हे राजा युधिष्ठिर ! तुम मेरे पुत्र और मुझे बहुत प्यारे हो । बड़ी प्रसन्नता की बात है कि तुम शम, दम, तितिक्षा, एकाग्रता और उपरति, इन पांच आत्म-ज्ञान के साधनों में अनुरक्त हो । तुमने भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा और मृत्यु को जीत लिया है । मैं तुम्हारी परीक्षा लेने आया था । इस समय तुम्हारे उदार धर्म को देखकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ । तुम्हारा भला हो, तुम मुझसे वरदान मांगो । जो कोई मेरा भक्त और अनुगत है, उसे कभी दुर्गति नहीं भोगनी पड़ती ॥६।११॥

युधिष्ठिर ने कहा—ब्राह्मण की अरणी और मथानी लेकर मृग भाग गया था । उस ब्राह्मण के अग्निहोत्र की अग्नि न बुझे, यही मैं पहला वर मांगता हूं ॥१२॥

धर्म ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर ! मैं तुम्हारी परीक्षा लेने के लिए मृग का रूप रखकर ब्राह्मण की अरणी और मथानी ले गया था । वह अरणी और मथानी मैं तुमको देता हूं । अब हे देवतुल्य ! तुम और वर मुझसे मांगो ॥१३।१४॥

युधिष्ठिर ने कहा—मैं बारह वर्ष वन में बिता चुका, अब तेरहवां अज्ञातवास का वर्ष आ पहुंचा

वैशम्पायन उवाच—दद‌ानीत्येव भगवानुत्तरं प्रत्यपद्यत ।
भूयश्चाऽऽश्वासयामास कौन्तेयं सत्यविक्रमम् ॥ १६ ॥
यद्यपि स्वेन रूपेण चरिष्यथ महीमिमाम् ।
न वो विज्ञास्यते कश्चित्त्रिषु लोकेषु भारत ॥ १७ ॥
वर्षं त्रयोदशमिदं मत्प्रसादात्कुरूद्वहाः ।
विराटनगरे गूढा अविज्ञाताश्चरिष्यथ ॥ १८ ॥
यद्वः संकल्पितं रूपं मनसा यस्य यादृशम् ।
तादृशं तादृशं सर्वे छंदतो धारयिष्यथ ॥ १९ ॥
अरणीसहितं चेदं ब्राह्मणाय प्रयच्छत ।
जिज्ञासार्थं मया ह्येतदाहृतं मृगरूपिणा ॥ २० ॥
प्रवृणीष्वाऽपरं सौम्य वरमिष्टं ददानि ते ।
न तृप्यामि नरश्रेष्ठ प्रयच्छन्वै वरांस्तथा ॥ २१ ॥
तृतीयं गृह्यतां पुत्र वरमप्रतिमं महत् ।
त्वं हि मत्प्रभवो राजन्विदुरश्च ममांऽशजः ॥ २२ ॥
युधिष्ठिर उवाच—देवदेवो मया दृष्टो भवान्साक्षात्सनातनः ।
यं ददासि वरं तुष्टस्तं ग्रहीष्याम्यहं पितः ॥ २३ ॥
जयेयं लोभमोहौ च क्रोधं चाऽहं सदा विभो ।
दाने तपसि सत्ये च मनो मे सततं भवेत् ॥ २४ ॥

है। मैं दूसरा वर यह मांगता हूँ कि इस वर्ष में कोई मनुष्य न तो हमें पहचान सके और न किसी तरह हम लोगों का पता लगा सके ॥१५॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! अब भगवान् धर्म ने 'यह वर भी दिया' कहने के उपरान्त युधिष्ठिर को आश्वास देते हुए कहा—हे पुत्र ! तुम लोग छद्मवेष न रखकर भी चाहे सारी पृथ्वी पर घूमते रहो, किन्तु तीनों लोकों में कोई तुमको पहचान नहीं सकेगा। हे पाण्डवों ! मेरी कृपा से तुम लोग विराट राजा की नगरी में अज्ञान-वास करते हुए सुख से रहोगे। तुममें से जो जिस वेष को रखना चाहेगा वह सहज ही उस वेष को रख सकेगा। यह अरणी और मथानी उस ब्राह्मण को दे दो। मैं तुम्हारी परीक्षा के लिए मृग का रूप रखकर इसे हर ले गया था। हे प्रियदर्शन युधिष्ठिर ! तुम मेरे पुत्र हो, और विदुर मेरे अंश से उत्पन्न हुए हैं। तुमको वर देकर मेरा जी नहीं भरता, इसलिए और वर मांगो ।१६।२२।

युधिष्ठिर ने कहा—हे देवदेव ! आप साक्षात् सनातन देव और मेरे पिता हैं। आपके दर्शन मुझे मिल गये; इसी से मैं कृतार्थ हो गया। अब आप

धर्म उवाच--उपपन्नो गुणैरेतैः स्वभावेनाऽसि पांडव ।
भवान्धर्मः पुनश्चैव यथोक्तं ते भविष्यति ॥ २५ ॥
वैशम्पायन उवाच—इत्युक्त्वाऽन्तर्दधे धर्मो भगवाँल्लोकभावनः ।
समेताः पांडवाश्चैव सुखसुप्ता मनस्विनः ॥ २६ ॥
उपेत्य चाऽऽश्रमं वीराः सर्व एव गतक्लमाः ।
आरणेयं ददुस्तस्मै ब्राह्मणाय तपस्विने ॥ २७ ॥
इदं समुत्थानसमागमं महत्पितुश्च पुत्रस्य च कीर्तिवर्धनम् ।
पठेन्नरः स्याद्विजितेन्द्रियो वशी सपुत्रपौत्रः शतवर्षभाग्भवेत् ॥ २८ ॥
न चाप्यधर्मे न सुहृद्विभेदने परस्वहारे परदारमर्शने ।
कदर्यभावे न रमेन्मनः सदा नृणां सदाख्यानमिदं विजानताम् ॥ २९ ॥

इति श्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वणिपर्वण्यारणेयपर्वणिनकुलजीवनादिवरप्राप्तौ चतुर्दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

प्रसन्न होकर जो वर मुझको देंगे, उसे मैं ले लूँगा। मैं आपसे फिर यही मांगता हूँ कि लोभ, क्रोध और मोह मुझे अपने वश में न कर सकें। तप, दम, दान और सत्य पर सदा मेरा प्रेम बढ़ता ही रहे ॥२३।२४॥

धर्म ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर! तुममें स्वभाव से ही ये सब सद्गुण विद्यमान हैं। फिर भी तुम्हारी इच्छा के अनुसार मैं तुमको वर देता हूँ कि तुम विशेष रूप से इन गुणों से भूषित रहोगे ॥२५॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! लोकरक्षक भगवान् धर्म इतना कहकर वहीं अन्तर्धान हो गये। सुख से सोये हुए पुरुष की तरह पाण्डव भी युधिष्ठिर के साथ अपने आश्रम में पहुँचे। वहां जाकर उन्होंने ब्राह्मण को उसकी अरणी और मथानी दे दी। जो पुरुष पाण्डवों के मरकर जीने की कथा और धर्म के साथ धर्मपुत्र का कीर्ति बढ़ानेवाला संवाद पढ़ता है वह जितेन्द्रिय होकर सौ वर्ष तक जीता है और पुत्र-पौत्र पाकर सुखी होता है। इस उपाख्यान को जाननेवाले पुरुषों का मन अधर्म में, मित्रों को फोड़ने में, पराया धन और पराई स्त्री लेने में या और नीच कार्यों में कभी नहीं लगता ॥२६।२९॥

वनपर्व का तीन सौ चौदह अध्याय समाप्त हुआ ॥३१४॥

अथ पंचदशाधिकत्रिशततमोऽध्याय ॥३१५॥

वैशम्पायन उवाच--धर्मेण तेऽभ्यनुज्ञाताः पांडवाः सत्यविक्रमाः ।
अज्ञातवासं वत्स्यन्तश्छन्ना वर्षं त्रयोदशम् ॥ १ ॥

तीन सौ पन्द्रह अध्याय ॥३१५॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! अब सत्यपराक्रमी पाण्डव लोग धर्म की आज्ञा के अनुसार तेरहवें वर्ष में अज्ञातवास करने का विचार करने लगे। वनवास में अपने साथ रहनेवाले तपस्वियों के पास

उपोपविष्टा विद्वांसः सहिताः संशितव्रताः ।
ये तद्भक्ता वसंति स्म वनवासे तपस्विनः ॥ २ ॥
तानब्रुवन्महात्मानः स्थिताः प्रांजलयस्तदा ।
अभ्यनुज्ञापयिष्यंतस्तं निवासं धृतव्रताः ॥ ३ ॥
विदितं भवतां सर्वं धार्तराष्ट्रैर्यथा वयम् ।
छद्मना हृतराज्याश्चाऽनयाश्च बहुशः कृताः ॥ ४ ॥
उषिताश्च वने कृच्छ्रे वयं द्वादश वत्सरान् ।
अज्ञातवाससमयं शेषं वर्षं त्रयोदशम् ॥ ५ ॥
तद्वत्स्यामो वयं छन्नास्तदनुज्ञातुमर्हथ ।
सुयोधनश्च दुष्टात्मा कर्णश्च सहसौबलः ॥ ६ ॥
जानन्तो विषमं कुर्युरस्मास्वत्यंतवैरिणः ।
युक्तचाराश्च युक्ताश्च पौरस्य स्वजनस्य च ॥ ७ ॥
अपि नस्तद्भवेद्भूयो यद्वयं ब्राह्मणैः सह ।
समस्ताः स्वेषु राष्ट्रेषु स्वराज्यस्था भवेमहि ॥ ८ ॥
वैशम्पायन उवाच—इत्युक्त्वा दुःखशोकार्तो शुचिर्धर्मसुतस्तदा ।
संमूर्छितोऽभवद्राजा साऽश्रुकंठो युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥
तमथाऽऽश्वासयन्सर्वे ब्राह्मणा भ्रातृभिः सह ।
अथ धौम्योऽब्रवीद्वाक्यं महार्थं नृपतिं तदा ॥ १० ॥

बैठकर, उनसे आज्ञा लेने की इच्छा से, हाथ जोड़कर पाण्डव-श्रेष्ठ युधिष्ठिर कहने लगे—हे मुनियो ! धृतराष्ट्र के पुत्रों ने जिस तरह छल करके हमारा राज्य हर लिया है और हमारे साथ जैसा अनुचित व्यवहार किया है सो सब आप लोगों को अच्छी तरह मालूम ही है । उन्हीं के कारण हमें बारह वर्ष तक वन में रहकर कष्ट भोगने पड़े हैं । इस समय तेरहवा वर्ष आ गया । इसमें हमें, प्रतिज्ञा के अनुसार, अज्ञातवास करना पड़ेगा । इसलिए आप लोग हमें आज्ञा दीजिए । दुरात्मा दुर्योधन, शकुनि और कर्ण जो हमारा पता पा जायँगे तो महाअनर्थ हो जायगा । हमारे साथ उनका वैर दृढ़ हो गया है । नगरवासियों और हमारे आत्मीयों ने भी उन्हीं का पक्ष ले रक्खा है । हे ब्राह्मणो ! हम क्या फिर अपने राज्य को पाकर आप लोगों के साथ एक जगह रह सकेंगे ? ॥१।८॥

यों कहते-कहते धर्मराज युधिष्ठिर शोक से विह्वल और मूर्च्छित से होकर पृथ्वी पर गिर पड़े । उनकी आंखों में आंसू भर आये । तब उनके भाइयों ने उनको उठाया और ब्राह्मण लोग उन्हें दिलासा देने लगे । पुरोहित धौम्य ने युधिष्ठिर से इस प्रकार अर्थपूर्ण और

राजन्विद्वान्भवान्दांतः सत्यसंधो जितेन्द्रियः ।
नैवंविधाः प्रमुह्यंते नराः कस्यांचिदापदि ॥ ११ ॥
देवैरप्यापदः प्राप्ताश्छन्नैश्च बहुशस्तथा ।
तत्र तत्र सपत्नानां निग्रहार्थं महात्मभिः ॥ १२ ॥
इंद्रेण निषधान्प्राप्य गिरिप्रस्थाश्रमे तदा ।
छन्नेनोष्य कृतं कर्म द्विषतां च विनिग्रहे ॥ १३ ॥
विष्णुनाऽश्वशिरः प्राप्य तथाऽदित्यां निवसता ।
गर्भे वधार्थं दैत्यानामज्ञातेनोषितं चिरम् ॥ १४ ॥
प्राप्य वामनरूपेण प्रच्छन्नं ब्रह्मरूपिणा ।
बलेर्यथा हृतं राज्यं विक्रमैस्तच्च ते श्रुतम् ॥ १५ ॥
हुताशनेन यच्चाऽपः प्रविश्य च्छन्नमासता ।
विबुधानां कृतं कर्म तच्च सर्वं श्रुतं त्वया ॥ १६ ॥
प्रच्छन्नं चापि धर्मज्ञ हरिणाऽरिविनिग्रहे ।
वज्रं प्रविश्य शक्रस्य यत्कृतं तच्च ते श्रुतम् ॥ १७ ॥
और्वेण वसता च्छन्नमूरौ ब्रह्मर्षिणा तदा ।
यत्कृतं तात देवेषु कर्म तत्तेऽनघ श्रुतम् ॥ १८ ॥
एवं विवस्वता तात च्छन्नेनोत्तमतेजसा ।
निर्दग्धाः शात्रवाः सर्वे वसता भुवि सर्वशः ॥ १९ ॥

युक्तिसङ्गत वचन कहे—हे राजेन्द्र ! आप विद्वान्, जितेन्द्रिय, धीर और सत्यवादी हैं । आपके समान गुणी पुरुष कभी शोक और मोह में पीड़ित नहीं होते। शत्रुओं को जीतने के लिए देवताओं को भी सैंकड़ों बार दैव के दिये कष्ट भोगने पड़े हैं, उन्हें छिपकर भी रहना पड़ा है । निषध देश में, गिरिप्रस्थ पर्वत के आश्रम में, इन्द्र शत्रुदमन के लिए छिपकर रहे हैं ॥९।१३॥

भगवान् विष्णु भी दैत्यों को मारने के लिए हयग्रीव होकर अदिति के गर्भ में अज्ञातभाव से बहुत दिनों तक रहे हैं । विष्णु ने वामनरूप रखकर तीन पग से जिस तरह राजा बलि का राज्य हरा है, सो तुम जानते ही हो । अग्नि ने जल के भीतर छिपकर देवताओं का कार्य सिद्ध किया है ॥१४।१६॥

नारायण ने शत्रुदमन के लिए प्रच्छन्न रूप से वज्र में प्रवेश करके इन्द्र का कार्य बनाया है । ब्रह्मर्षि और्व ने जाँघ के भीतर गुप्त रूप से रहकर देवताओं का कार्य सिद्ध किया है । इन कथाओं को तुम अच्छी तरह जानते हो । इसी तरह महातेजस्वी सूर्य ने पद्म-वेष से पृथ्वी में रहकर शत्रुओं को भस्म किया है ।

विष्णुना वसता चापि गृहे दशरथस्य वै ।
दशग्रीवो हतश्छन्नं संयुगे भीमकर्मणा ॥ २० ॥
एवमेव महात्मानः प्रच्छन्नास्तत्र तत्र ह ।
अजयञ्छात्रवान्युद्धे तथा त्वमपि जेष्यसि ॥ २१ ॥
तथा धौम्येन धर्मज्ञो वाक्यैः संपरितोषितः ।
शास्त्रबुद्ध्यास्वबुद्ध्या च न चचाल युधिष्ठिरः ॥ २२ ॥
अथाऽब्रवीन्महाबाहुर्भीमसेनो महाबलः ।
राजानं बलिनां श्रेष्ठो गिरा संपरिहर्षयन् ॥ २३ ॥
अवेक्षया महाराज तव गांडीवधन्वना ।
धर्मानुगतया बुद्ध्या न किंचित्साहसं कृतम् ॥ २४ ॥
सहदेवो मया नित्यं नकुलश्च निवारितौ ।
शक्तौ विध्वंसने तेषां शत्रूणां भीमविक्रमौ ॥ २५ ॥
न वयं तत्प्रहास्यामो यस्मिन्मोक्ष्यति नो भवान् ।
भवान्विधत्तां तत्सर्वं क्षिप्रं जेष्यामहे रिपून् ॥ २६ ॥
इत्युक्ते भीमसेनेन ब्राह्मणाः परमाशिषः ।
उक्त्वा चाऽऽपृच्छ्य भरतान्यथास्वान्स्वान्ययुर्गृहान् ॥ २७ ॥

पराक्रमी विष्णु ने दशरथ के घर में गुप्त रूप से रहकर रावण को मारा है । सभी महात्मा बली पुरुषों ने इसी तरह छिपकर शत्रुओं को नीचा दिखाया है । तुम भी इसी तरह अज्ञातवास के उपरान्त अवश्य अपने शत्रुओं को नष्ट करोगे ॥१७।२१॥

धर्मात्मा युधिष्ठिर ने धौम्य के इन वचनों से सन्तुष्ट होकर, शास्त्रज्ञान और अपनी बुद्धि के बल से, अपने को सभाला । तब महाबली भीमसेन ने उन्हें प्रसन्न और उत्साहित करने के लिए कहा—हे महाराज ! गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले पराक्रमी अर्जुन ने उस समय आपका और धर्म का खयाल करके ही कोई साहस का काम नहीं किया। शत्रुदल को नष्ट करने में समर्थ नकुल और सहदेव को नित्य मैं रोकता रहता हूँ । आप हम लोगों को जब जो आज्ञा देंगे वही हम करेंगे । इसलिए आप उपाय कीजिए । हम लोग शीघ्र ही शत्रुओं को परास्त करेंगे। ॥२२।२६॥

भीमसेन की बात पूरी होने पर ब्राह्मणों ने पाडवों को आशीर्वाद दिये । फिर वे उनसे बिदा होकर अपने अपने स्थान को चले गये । वेदज्ञ यति और मुनि लोग, पाडवों से फिर मिलने की इच्छा से न्यायानुसार अपने योग्य स्थानों में रहने लगे । पुरोहित धौम्य और पाञ्चाली को साथ लेकर विद्वान् पाण्डव लोग किसी कारण वहा से कोस भर की दूरी

सर्वे वेदविदो मुख्या यतयो मुनयस्तथा ।
आसेदुस्ते यथान्यायं पुनर्दर्शनकांक्षया ॥ २८ ॥
सह धौम्येन विद्वांसस्तथा पंच च पांडवाः ।
उत्थाय प्रययुर्वीराः कृष्णामादाय धन्विनः ॥ २९ ॥
क्रोशमात्रमुपागम्य तस्माद्देशान्निमित्ततः ।
श्वोभूते मनुजव्याघ्राश्छन्नवासार्थमुद्यताः ॥ ३० ॥
पृथक्शास्त्रविदः सर्वे सर्वे मंत्रविशारदाः ।
संधिविग्रहकालज्ञा मंत्राय समुपाविशन् ॥ ३१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि पर्वण्यारणेयपर्वणि ज्ञातवासनिमन्त्रणे पंचदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः समाप्तं चेदमारणेयपर्व । इति वनपर्वं समाप्तम् ॥

पर जा ठहरे। दूसरे दिन से अज्ञातवास करना था, इसलिए पाण्डव उसकी तैयारी करने लगे। वे सभी शास्त्रों के ज्ञाता, सम्मति में चतुर और सन्धि-विग्रह आदि के समय को जानने वाले थे। वे लोग वहां बैठकर आपस में सम्मति करने लगे ॥२७।३१॥

—०—

वनपर्व का तीन सौ पन्द्रह अध्याय समाप्त हुआ ॥३१५॥

इदमारण्यकं श्रुत्वा महापापैः प्रमुच्यते ।
अधनो धनमाप्नोति पुत्रपौत्रसमन्वितः ॥ १ ॥
यं यं प्रार्थयते कामं तं तं प्राप्नोत्यसंशयम् ।
नारी वा पुरुषो वापि शुचिः प्रयतमानसः ॥ २ ॥
आरण्यके श्रुतेऽधीते ब्राह्मणान्पायसादिभिः ।
भोजयेद्वस्त्रगोस्वर्णदानै रत्नैः प्रपूजितान् ॥ ३ ॥
ब्राह्मणेषु च तुष्टेषु संतुष्टाः पांडुनंदनाः ।
ब्रह्मा विष्णुस्तथा रुद्रः शक्रो देवगणास्तथा ॥ ४ ॥

इस वनपर्व को सुनकर मनुष्य महापापों से छुटकारा पा जाता है, निर्धन धन प्राप्त करता है, पुत्र पौत्र से युक्त होता है, जो जो इच्छाएँ करता है सो सब पूर्ण हो जाती हैं, स्त्री वा पुरुष शुद्ध होकर जो पाठ करता है, उसकी सब कामनाएँ पूर्ण होती हैं, वनपर्व को सुनकर वा पढ़कर ब्राह्मणों को वस्त्र, सुवर्ण गऊ और रत्न आदि दान देवे ॥१।३॥

ब्राह्मण के प्रसन्न होने से पाण्डव, ब्रह्मा विष्णु, रुद्र, इन्द्र तथा और देवता लोग, भूत, मुनि, देवी तथा और लोग प्रसन्न होते हैं, बाचनेवाले को अन्न

भूतानि मुनयो देव्यस्तथा पितृगणाश्च ये ।
वाचकं पूजयेच्छक्त्या वस्त्रान्नैः स्वर्णभूषणैः ॥ ५ ॥
विशेषतस्तु कपिला देया तु जपपाठके ।
कांस्यदोहा रौप्यखुरा स्वर्णशृंगी सभूषणा ।
पांडूनां परितोषार्थं दद्यादन्नं द्विजातये ॥ ६ ॥
आरण्यकाख्यमाख्यानं शृणुयाद्यो नरोत्तमः ।
स सर्वकाममाप्नोति पुनः स्वर्गतिमाप्नुयात् ॥ ७ ॥

इत्यारण्यकश्रवणमहिमा दानविधिश्च समाप्तः ।

वस्त्र सुवर्ण के आभूषण विशेषत. कपिला गऊ देना चाहिये, दूध दूहने का कांसे का पात्र, गऊके खुर चांदी से और सींग सुवर्ण से मढकर ब्राह्मणको अन्न के सहित दान दे, इससे पाण्डव लोग प्रसन्न होते हैं, इस वनपर्व की कथा को जो सुनता है उसकी सब इच्छाएँ पूर्ण होती हैं, और अन्तको स्वर्गलोक में जाता है ॥४।७॥

—०—

वनपर्व समाप्त हुआ ।



॥ अस्मिन्पर्वणिवृत्तांताः ॥ पांडवप्रव्राजनम् ॥ पौरानुगमनम् ॥ पौरवाक्यं पौरविसर्जनं च ॥ ब्राह्मणानुगमनम् ॥ युधिष्ठिरचिंता ॥ शौनकवाक्यम् ॥ धौम्यस्तवः ॥ आदित्यनामाष्टशतम् ॥ विदुरनिर्वासनम् ॥ धृतराष्ट्रस्यसंतापः ॥ व्यासागमनम् ॥ सुरभींद्रसंवादः ॥ अर्जुनवाक्यम् ॥ भीमसेनवाक्यम् ॥ व्यासदर्शनम् ॥ कौन्तेयगमनम् ॥ लोकपालागमनम् ॥ विद्यालाभः ॥ शस्त्रप्राप्तिः ॥ किरातयुद्धम् ॥ इंद्रलोकगमनम् ॥ नलोपाख्यानम् ॥ अक्षज्ञानप्राप्तिः ॥ नारदागमनम् ॥ पुलस्त्यतीर्थयात्रा ॥ लोमशागमनम् ॥ तत्तीर्थयात्राप्रस्थानम् ॥ अगस्त्यप्रभावः ॥ विंध्यशैलचरितम् ॥ वातापिनाशनम् ॥ समुद्रशोषणम् ॥ कालेयवधः ॥ सगरपुत्रविनाशः ॥ गंगावतारः ॥ ऋष्यशृंगोपाख्यानम् ॥ वृष्णिपांचालागमनम् ॥ हलधरवाक्यम् ॥ वासुदेववाक्यम् ॥ जामदग्न्यचरितम् ॥ सौकन्योपाख्यानम् ॥ श्येनकपोतीयम् ॥ अष्टावक्रीयम् ॥ गंधमादनप्रवेशः ॥ औत्पातिकम् ॥ घटोत्कचगमनम् ॥ जटासुरवधः ॥ आर्ष्टिषेणाश्रमनिवासः ॥ हनूमद्भीमसमागमः ॥ पुष्पाभिहरणम् ॥ यक्षयुद्धम् ॥ वैश्रवणसमागमनम् ॥ निवातकवचवधः ॥ अर्जुनागमनम् ॥ शस्त्रदर्शनम् ॥ आजगरम् ॥ काम्यकागमनम् ॥ वासुदेवसत्यभामागमनम् ॥ नारदागमनम् ॥ मार्कंडेयागमनम् ॥ मार्कंडेयसमास्याभविष्यम् ॥ ब्राह्मणमाहात्म्यम् ॥ धुंधुमारोपाख्यानम् ॥ सरस्वतीतार्क्ष्यसंवादः ॥ मनुचरितम् ॥ मंडूकोपाख्यानम् ॥ पतिव्रतोपाख्यानम् धर्मव्याधोपाख्यानम् ॥ मधुकैटभोपाख्यानम् ॥ द्रौपदीसत्यभामासंवादः ॥ घोषयात्रा दुर्योधनकर्म ॥ प्रावृड्वर्णनम् ॥ इंद्रद्युम्नोपाख्यानम् ॥ आंगिरसं स्कंदजननम् ॥ धार्तराष्ट्रयज्ञः ॥ व्यासदर्शनम् ॥ मृगस्वप्नदर्शनम् ॥ व्रीहिद्रौणिकम् ॥ द्रौपदीप्रमाथः ॥ दुर्वासउपाख्यानम् ॥ रामोपाख्यानम् ॥ सावित्र्युपाख्यानम् ॥ कुंडलाहरणम् ॥ आरणेययक्षप्रश्नाः ॥ समाप्ता वृत्तांताः ॥

अस्याग्रेविराटपर्व भविष्यति तस्यायमाद्यः श्लोकः—

जनमेजय उवाच—कथं विराटनगरे मम पूर्वपितामहाः ।
अज्ञातवासमुषिता दुर्योधनभयार्दिताः ॥ १ ॥

भूतानि मुनयो देव्यस्तथा पितृगणाश्च ये ।
वाचकं पूजयेच्छक्त्या वस्त्रान्नैः स्वर्णभूषणैः ॥ ५ ॥
विशेषतस्तु कपिला देया तु जपपाठके ।
कांस्यदोहा रौप्यखुरा स्वर्णशृंगी सभूषणा ।
पांडूनां परितोषार्थं दद्यादन्नं द्विजातये ॥ ६ ॥
आरण्यकाख्यमाख्यानं शृणुयाद्यो नरोत्तमः ।
स सर्वकाममाप्नोति पुनः स्वर्गतिमाप्नुयात् ॥ ७ ॥

इत्यारण्यकश्रवणमहिमा दानविधिश्च समाप्तः ।

वस्त्र सुवर्ण के आभूषण विशेषत कपिला गऊ देना चाहिये, दूध दुहने का कांसे का पात्र, गऊके खुर चांदी से और सींग सुवर्ण से मढकर ब्राह्मणको अन्न के सहित दान दे, इससे पाण्डव लोग प्रसन्न होते हैं, इस वनपर्व की कथा को जो सुनता है उसकी सब इच्छाएँ पूर्ण होती हैं, और अन्तको स्वर्गलोक में जाता है ॥५।७॥

—०—

वनपर्व समाप्त हुआ ।



॥ अस्मिन्पर्वणिवृत्तांताः ॥ पांडवप्रव्राजनम् ॥ पौरानुगमनम् ॥ पौरवाक्यं पौरविसर्जनं च ॥ ब्राह्मणानुगमनम ॥ युधिष्ठिरचिंता ॥ शौनकवाक्यम् ॥ धौम्यस्तवः ॥ आदित्यनामाष्टशतम् ॥ विदुरनिर्वासनम् ॥ धृतराष्ट्रस्यसंतापः ॥ व्यासागमनम् ॥ सुरभींद्रसंवादः ॥ अर्जुनवाक्यम् ॥ भीमसेनवाक्यम् ॥ व्यासदर्शनम् ॥ कौन्तेयगमनम् ॥ लोकपालागमनम् ॥ विद्यालाभः ॥ शस्त्रप्राप्तिः ॥ किरातयुद्धम् ॥ इंद्रलोकगमनम् ॥ नलोपाख्यानम् ॥ अक्षज्ञानप्राप्तिः ॥ नारदागमनम् ॥ पुलस्त्यतीर्थयात्रा ॥ लोमशागमनम् ॥ तत्तीर्थयात्राप्रस्थानम् ॥ अगस्त्यप्रभावः ॥ विंध्यशैलचरितम् ॥ वातापिनाशनम् ॥ समुद्रशोषणम् ॥ कालेयवधः ॥ सगरपुत्रविनाशः ॥ गंगावतारः ॥ ऋष्यशृंगोपाख्यानम् ॥ वृष्णिपांचालागमनम् ॥ हलधरवाक्यम् ॥ वासुदेववाक्यम् ॥ जामदग्न्यचरितम् ॥ सौकन्योपाख्यानम् ॥ श्येनकपोतीयम् ॥ अष्टावक्रीयम् ॥ गंधमादनप्रवेशः ॥ औत्पातिकम् ॥ घटोत्कचगमनम् ॥ जटासुरवधः ॥ आर्ष्टिषेणाश्रमनिवासः ॥ हनूमद्भीमसमागमः ॥ पुष्पाभिहरणम् ॥ यक्षयुद्धम् ॥ वैश्रवणसमागमनम् ॥ निवातकवचवधः ॥ अर्जुनागमनम् ॥ शस्त्रदर्शनम् ॥ आजगरम् ॥ काम्यकागमनम् ॥ वासुदेवसत्यभामागमनम् ॥ नारदागमनम् ॥ मार्कंडेयागमनम् ॥ मार्कंडेयसमास्याभविष्यम् ॥ ब्राह्मणमाहात्म्यम् ॥ धुंधुमारोपाख्यानम् ॥ सरस्वतीतार्क्ष्यसंवादः ॥ मनुचरितम् ॥ मंडूकोपाख्यानम् ॥ पतिव्रतोपाख्यानम् धर्मव्याधोपाख्यानम् ॥ मधुकैटभोपाख्यानम् ॥ द्रौपदीसत्यभामासंवादः ॥ घोषयात्रा दुर्योधनकर्म ॥ प्रावृड्वर्णनम् ॥ इंद्रद्युम्नोपाख्यानम् ॥ आंगिरसं स्कंदजननम् ॥ धार्तराष्ट्रयज्ञः ॥ व्यासदर्शनम् ॥ मृगस्वप्नदर्शनम् ॥ व्रीहिद्रौणिकम् ॥ द्रौपदीप्रमाथः ॥ दुर्वासउपाख्यानम् ॥ रामोपाख्यानम् ॥ सावित्र्युपाख्यानम् ॥ कुंडलाहरणम् ॥ आरणेययक्षप्रश्नाः ॥ समाप्ता वृत्तांताः ॥

अस्याग्रेविराटपर्व भविष्यति तस्यायमाद्यः श्लोकः—

जनमेजय उवाच—कथं विराटनगरे मम पूर्वपितामहाः ।
अज्ञातवासमुषिता दुर्योधनभयार्दिताः ॥ १ ॥